माण्डूक्यकारिका

(वैतथ्य प्रकरण) प्रवचन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

महाराजश्री : संक्षिप्त परिचय

पितामहकी प्रार्थनाके ठीक नौ मास पूर्ण होनेके दिन ब्रजके ठाकुर श्रीशान्तनुबिहारीजीकी कृपासे भारतवर्षके पवित्रतम वाराणसी मण्डलके महराई नामक ग्राममें, सरयूपारीण ब्राह्मण वंशमें महाराजश्रीका जन्म संवत् १९६८ श्रावणी अमावस्या तदनुसार शुक्रवार २५ जुलाई १९११ को पुष्य नक्षत्रमें हुआ था। श्रीठाकुरजीकी कृपासे प्राप्त होनेके कारण बालकका नाम 'शान्तनुविहारी' रखा गया।

बड़े-बड़े ज्योतिषशास्त्रियोंने महाराजश्रीकी उम्र १९ वर्ष ठहराई। मृत्युका भय महाराजश्रीको आध्यात्मके मार्गकी ओर ले आया। सभी संत महापुरुषोंने स्पष्ट कहा कि प्रारब्धसे प्राप्त मृत्युसे बचनेका उपाय तो हम नहीं कर सकते; किन्तु ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जिससे मृत्युकी विभीषिका सर्वदाके लिए मिट जाये। वस्तुत: ऐसा ही हुआ। महाराजश्रीके अन्त:करणमें अमृतब्रह्मका आविर्भाव हुआ और मृत्युकी काली छाया सर्वदाके लिए दूर भाग गयी।

एक बार महाराजश्री प्रयागमें झूसीके सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीसे मिलने गये थे। वहीं पहली बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दर्शन हुए थे और उनके साथ वेदान्त सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर हुए। बाबाकी अद्वय-निष्ठा और जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखकी मस्ती देखकर महाराजश्री मंत्रमुग्ध हो गये। बाबाका स्नेह और वात्सल्य उन्हें प्राप्त हुआ। महाराजश्रीके संन्यास ग्रहण करनेमें बाबाकी ही अन्तरंग प्रेरणा थी और ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामीश्री ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। संन्याससे पूर्व गोरखपुरमें 'कल्याण'के सम्पादक-मण्डलमें महाराजश्री सात वर्ष तक रहे।

सर्वप्रथम दस वर्षकी वयमें इनके पितामहने इनसे श्रीमद्भागवतका पाठ कराया और तबसे लीला संवरण पर्यन्त श्रीमद्भागवत एक सुहृदके समान उनका साथी रहा। उनका नित्यका सत्संग भी निजानन्दकी मस्ती थी, जो १७ नवम्बर १९८७ की सायं सत्संग सभा तक अनवरत चलता रहा। आज भी सत्संग-प्रेमी ऑडियो-वीडियो कैसेटों एवं ग्रन्थोंके माध्यमसे उनकी अमृतवाणीका आनन्द लूटते रहते हैं।

१९ नवम्बर, १९८७ मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, प्रात: दो बजेके करीब अर्थात् ब्रह्मबेलामें व्यष्टि-प्राण समष्टि-प्राणसे एक हो, सर्वव्यापक हो गये।

महाराजश्रीके जीवनमें प्रत्यक्ष दीखता था कि चाहे कोई किसी भी सम्प्रदायका हो, मूर्ख हो या विद्वान, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, निर्धन हो या धनी, सबके प्रति आपका समान प्रेम था। जो व्यक्ति जिस कामनासे उनके पास आया, उसे वह मिला। चारों पुरुषार्थ एवं पञ्चम पुरुषार्थ भक्तिको वे अन्त तक लुटाते रहे।

महाराजश्री द्वारा स्थापित 'आनन्द-वृन्दावन आश्रम' श्री वृन्दावन धाममें तीर्थराज प्रयाग सदृश है, जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञानका संगम है। आश्रममें सत्संग, श्रीठाकुर-सेवा, गौ-सेवा, संत-सेवा, वेद-विद्यालयमें शास्त्रोंका स्वाध्याय, नि:शुल्क दवाखाना आदि विभिन्न गतिविधियोंके साथ-साथ महाराजश्रीके द्वारा शुरू की गयी सभी आचार्योंकी जयन्ती मनानेकी प्रथा सांस्कृतिक समन्वयकी दृष्टिसे अविस्मरणीय रहेगी। यह महाराजश्रीके उदार दृष्टिकोणका उत्तम उदाहरण है।

माण्डूक्यकारिका-प्रवचन

वैतथ्य-प्रकरण

प्रवचन :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन :

साध्वी कंचन

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई – 400 006
फोन : (022) 23682055

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन – 281 121
फोन : (0565) 2540481
2540487

●

प्रथम संस्करण :
संवत् 2055
द्वितीय संस्करण : 3000
विजया दशमी 1982
तृतीय संस्करण : 1100
27 जनवरी 1999
संन्यास जयन्ती

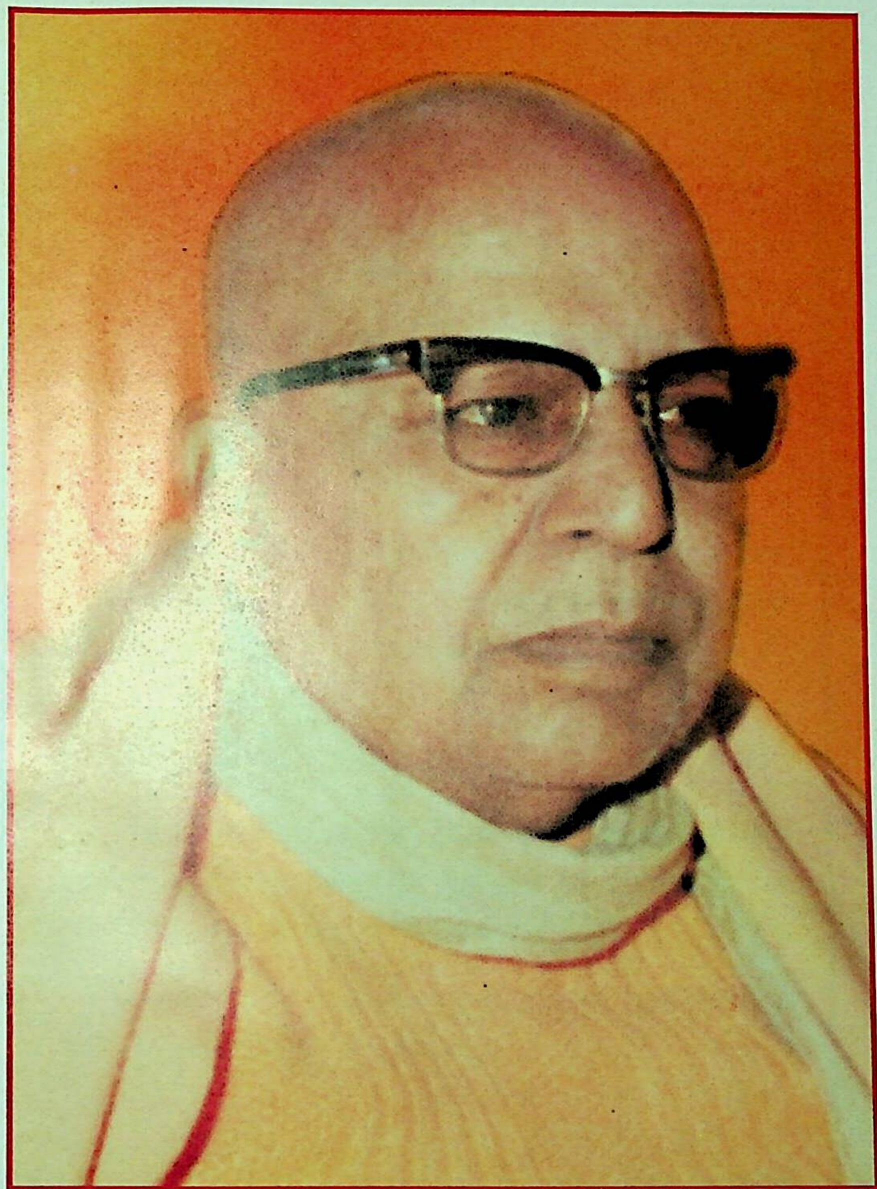
चतुर्थ संस्करण : 1100
संन्यास जयन्ती
29 जनवरी 2007

●

मूल्य : रु० 80/=

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी
फोन : 2392337, 2391326



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

चतुर्थ संस्करण :

प्रकाशकीय

जिज्ञासुओं एवं पाठकोंकी माँगपर महन्तश्री स्वामी ओंकारानन्द सरस्वतीजीकी सत्प्रेरणासे अब यह माण्डूक्यकारिका-प्रवचन वैतथ्य-प्रकरण सुविस्तृत-संवर्द्धित व परिष्कृत संस्करण आपके हाथोंमें पहुँच रहा है।

इस ग्रन्थके संकलन एवं सम्पादनमें 'साध्वी कञ्चन' की भूमिका अत्यधिक प्रशंसनीय है। अति अल्प समयमें प्रेस कापी तैयार करके देनेमें श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानका सहयोग भी प्राप्त हुआ है। इनको भी साधुवाद है।

विषयक्रममें द्वितीय संस्करणकी अपेक्षा विस्तार है।

ग्रन्थ प्रकाशन हेतु बड़ौदा निवासी पूज्य महाराजश्रीके परम कृपापात्र श्रीमती सुहासबेन जीतू भाई शाह का आर्थिक सहयोग ट्रस्टको प्राप्त हुआ है, हम आपके आभारी हैं।

इस प्रकार एक बार फिरसे माण्डूक्य प्रवचनके चारों खण्डोंका पूर्ण 'सेट' अब उपलब्ध है।

—मन्त्री

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई

यत्किञ्चित्

माण्डूक्य-प्रवचनमें आप उपनिषत्के मूल मन्त्र और कारिकाके प्रथम प्रकरणकी व्याख्याका आनन्द ले चुके हैं। अब यह कारिकाका दूसरा वैतथ्य-प्रकरण आपके सामने प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस प्रकरणमें अड़तीस कारिकाएँ हैं। इनपर श्रीशंकराचार्यका भाष्य एवं अनेक टीका-टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं।

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र-प्रथम अध्याय-चतुर्थ पादके चौदहवें सूत्रमें सम्प्रदायविद्के नामसे और दूसरे अध्यायके पहले पादके नवें सूत्रमें सम्प्रदायवेत्ता-आचार्यके नामसे गौड़पादका स्मरण किया है और दो कारिकाएँ प्रमाणके रूपमें उद्धृत की हैं। इससे प्रतीत होता है कि श्रीशंकराचार्यके हृदयमें गौड़पादके प्रति कितना आदरका भाव है। अपने कारिका-भाष्यके अन्तमें गौड़पादको परम गुरु कहकर उन्होंने पादप्रणिपातपूर्वक नमस्कार किया है।

भगवान् शंकराचार्यके शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्यने अपने वेदान्तके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिकमें दो स्थानपर गौड़पादकी तीन कारिकाओंको प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया है। और वहाँ गौड़पादाचार्यको निःशेष वेद-सिद्धान्त-विद्वान् तथा सम्प्रदायविद्के नामसे स्मरण किया है। इस प्रसंगमें इस दूसरे वैतथ्य प्रकरणका भी एक श्लोक उद्धृत किया है। वह श्लोक है—

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥ ३८॥

श्रीसुरेश्वराचार्य अपने दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नैष्कर्म-सिद्धिमें भी नामोल्लेखपूर्वक गौड़पादीय कारिकाका श्लोक उद्धृत करते हैं। इससे सिद्ध है कि श्रीशंकराचार्य और उनके शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्य दोनों ही गौड़पाद और उनकी कारिकाको ऋषि और ऋषि-प्रणीत स्मृतिके समान प्रामाणिक मानते हैं।

श्रीशंकराचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही प्रकरण-चतुष्टयका उल्लेख किया है। उपनिषद्के अन्तरंग और बहिरंग स्वरूपपर दृष्टिपात करनेपर यही उचित भी प्रतीत होता है। यह उपनिषद् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तथा तुरीयके चार भेदोंकी कल्पना करके तत्त्वका प्रतिपादन करती है। आगम-प्रधान प्रथम प्रकरण है। उसमें श्रुतिके द्वारा तत्त्वका श्रवण एवं निरूपण होता है। दूसरा प्रकरण मननकी प्रधानतासे स्वप्न और जाग्रत्का सर्वसाम्य-प्रतिपादन करके दृश्य प्रपञ्चको मिथ्या सिद्ध करता है। तीसरा प्रकरण निदिध्यासनकी प्रधानतासे अद्वैत-स्थितिका बोधन करता है चतुर्थ प्रकरण द्वैतका सम्पूर्ण निषेध करके आत्माको अद्वितीय ब्रह्मता सिद्ध

कर देता है। इस प्रकार ये चारों प्रकरण श्रवण-मनन-निदिध्यासन और साक्षात्कारकी प्रधानतासे विश्व-तैजस-प्राज्ञ तथा तुरीयका ही प्रतिपादन करते हैं। चतुष्पाद ब्रह्मके प्रतिपादनके लिए ही यह प्रकरण-चतुष्टय है।

यदि गवेषणापूर्ण दृष्टिसे देखा जाय तो तुरीय-तत्त्वके निरूपणके लिए चतुर्थ अलात-शान्ति प्रकरणकी प्रक्रियासे श्रेष्ठ और कोई प्रक्रिया नहीं हो सकती। मूलभूत श्रुति **'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं'** आदिमें जिस शैलीसे निषेधावधि-प्रपंचोपशम-शिव तत्त्वका निरूपण है, उसीका विवरण सम्पूर्ण चतुर्थ प्रकरणमें है। ध्यानसे देखनेपर पता चल जायेगा कि श्रुतिके किस पदका विवरण करनेके लिए कितने श्लोक लिखे गये हैं। अन्य मतोंमें परस्पर विरोध और परस्पर विवाद दिखा करके भी **'अव्यपदेश्य'** पदकी ही व्याख्या की गयी है। इस प्रकार ग्रन्थके चार प्रकरण और उनकी निरूपणशैली मूल उपनिषद्के सर्वथा अनुरूप है। यह बात पहले ही कह चुके हैं कि ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें **'अन्यथा गृहणतः स्वप्नो'** और **'मृल्लोहविस्फुल्लिंगाद्यैः'** ये दो कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान् शंकराचार्य कारिकाओंका कितना आदर करते थे।

अब हम वैतथ्य-प्रकरणपर विचार करते हैं। वैतथ्य-प्रकरण स्वप्न-स्थान-चैतन्यका निरूपण करता है। उसके दो भेद हैं, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य तथा उन्नीस मुख हैं। इसलिए भोक्ता-भोग्यके भेदसे इस प्रकरणमें अड़तीस श्लोक हैं। मूल कारिकाओंमें वेदान्त, श्रुति, श्रूयते आदि शब्दोंका इतनी बार प्रयोग है कि जो लोग इस ग्रन्थको अवैदिक कहते हैं, जान पड़ता है, उन्होंने इस ग्रन्थका कभी स्वाध्याय ही नहीं किया है। दूसरे प्रकरणकी तीसरी कारिकामें ही बृहदारण्यक उपनिषद्का अर्थतः उद्धरण किया गया है। मूलमें श्रूयते शब्द है। श्रुति इस प्रकार है—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्राऽऽनन्दाः मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता। (बृ. ४-३-१०)

इसका अभिप्राय है कि स्वप्नावस्थामें रथ, पथ और रथयोग नहीं होते, फिर भी रथ, पथ और रथयोगकी सृष्टि हो जाती है। उस अवस्थामें आनन्द, मोद, प्रमोद नहीं होते फिर भी उसकी सृष्टि हो जाती है। वहाँ सुन्दर पुष्करिणी नहीं होती फिर भी उनकी सृष्टि हो जाती है। स्वप्न-स्थान-चैतन्य ही उसका कर्ता है। वहाँ योग्य देशकाल और द्रव्यका अभाव होनेके कारण वह सब तथ्यके विपरीत ही तो भास रहा है। इसलिए उनका वैतथ्य बताया गया है।

पाँचवीं कारिकामें '**मनीषिण:**' पदका उल्लेख है। '**मनीषी**' पदका अर्थ है ब्रह्मविद्। ऐतरेय श्रुतिमें '**त्रय: स्वप्ना:**'का उल्लेख है। बृहदारण्यक श्रुतिमें '**बुद्धान्तेरत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च**' यह वचन आता है। इसलिए इसका वर्णन भी श्रौत ही है : बारहवीं कारिकाके मूलमें ही '**इति वेदान्तनिश्चय:**' यह वाक्य है। अर्थात् परमात्मामें ही अपनी मायासे स्वयं अपने आपको अनेक रूपोंमें कल्पित करता है और भेदोंको जानता है। सत्रहवें श्लोकमें '**आत्मा विकल्पित:**' और अठारहवेंमें '**आत्मविनिश्चय:**' अभिप्राय यह है कि यह आत्मज्ञानका प्रसंग है, आत्मोच्छेदका नहीं। उन्नीसवें श्लोकमें '**इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते**' इस श्रुतिका अभिप्राय दिया हुआ है। इकतीसवें श्लोकमें स्वकण्ठसे ही वेदान्त शब्दका प्रयोग है—'**वेदान्तेषु विचक्षणै:**' इस कारिकामें स्वप्न, माया और गन्धर्व-नगरके दृष्टान्त हैं। यह कहना सर्वथा गलत है कि ये दृष्टान्त बौद्ध-दर्शनके प्रभावसे आये हैं, क्योंकि व्याकरण-महाभाष्यमें '**स्त्रियाम्**' इस सूत्रकी व्याख्यामें व्याघ्रभूतिक नामसे एक वचनका उल्लेख है—'**असत्तु मृगतृष्णाभं गन्धर्वनगरं यथा।**' व्याघ्रभूति बौद्ध-दर्शनकारोंसे प्राचीन है। इसमें कोई सन्देह नहीं। योगवासिष्ठ और श्रीमद्भागवतमें तो ऐसे दृष्टान्तोंकी भरमार है। श्रीशुकदेवजी गौडपादाचार्यके गुरु हैं, शाङ्कर-सम्प्रदायमें यह सर्वसम्मत मान्यता है, बत्तीसवीं कारिकाके रूपमें तो ब्रह्मविन्दु उपनिषद्का सम्पूर्ण मन्त्र ही उद्धृत किया गया है। अन्यत्र भी यह श्रुति मिलती है और शांकर-सम्प्रदायमें समादृत है। अन्तर केवल इतना है कि वेदान्त-दर्शनमें परमार्थ-तत्त्व, आत्मा और ब्रह्मकी सिद्ध एकताका बोध हो जानेपर निरोध आदिका बाध हो जाता है। अखण्ड, अद्वितीय, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही रहता है। अवैदिक दर्शनोंमें ऐसा माना गया है कि यह निषेध शून्यता-पर्यवसान है।

तैंतीसवीं कारिकामें अद्वयताको '**शिव**' कहा गया है। वही सर्वाधिष्ठान है। माण्डूक्य, उपनिषत्के सातवें मन्त्रमें '**शिव**' पदका प्रयोग है। वहींसे यह लिया गया है। अतएव श्रौत अभिप्रायका ही वर्णन है। चौतीसवें मन्त्रमें प्रपञ्चकी अनिर्वचनीयता भी श्रौत ही है। पैंतीसवीं कारिकामें '**मुनिभिर्वेदपारगै:**' यह वाक्य है। यदि यह ग्रन्थ वैदिक न होता तो इस वाक्यका प्रयोग सम्भव ही नहीं था। इसमें माण्डूक्य उपनिषद्के सातवें मन्त्रका '**प्रपञ्चोपशम**' शब्द ज्यों-का-त्यों आया है। छत्तीसवीं कारिकामें अद्वैतावस्थाका वर्णन है। यह भी बृहदारण्यक श्रुतिके ब्राह्मण-लक्षणसे मिलता-जुलता है। सैंतीसवीं कारिकामें ज्ञानी पुरुष स्तुति, नमस्कार और स्वधाकारसे विनिर्मुक्त हो जाता है; यह वर्णन आता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि

ज्ञान होनेके पूर्व उसमें स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार था। यह स्वधाकार क्या है? वैदिक यज्ञोंमें पितरोंके उद्देश्यसे जो हविर्दान किया जाता है उसमें 'स्वधा' शब्दका उच्चारण होता है। वेदोंमें यह शतशः प्रयुक्त शब्द है, इसका अर्थ है कि ज्ञानी संन्यासीको श्राद्ध करना आवश्यक नहीं रहता। फिर पहले तो रहता ही है। इसलिए यह भी वैदिक है। अड़तीसवीं कारिकामें छान्दोग्य उपनिषद्के इस मन्त्रका समग्र भाव आगया है।

'अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एव पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।' *(छां. ७-२५-२)*

इस प्रकारकी अनेक श्रुतियाँ हैं। जैसे आत्मा शब्दका प्रयोग है, वैसे उन श्रुतियोंमें ***'सः, अहम्, ब्रह्म'*** *आदि शब्दोंका प्रयोग है। आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। ऐसे आत्मासे किसकी प्रच्युति हो? क्यों प्रच्युति हो? कहाँ प्रच्युति हो? इसलिए अनुभवी महात्मा अप्रच्युत हो जाता है।*

वैतथ्य प्रकरणके अन्तरमें प्रवेश करके हमने यह देखा कि यह वैदिक ग्रन्थ है। जो लोग इसको बौद्ध ग्रन्थ बताते हैं वे लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकते हैं। दूसरी बात यह कि इसी दूसरे प्रकरणकी कारिकाएँ ब्रह्मसूत्र+शाङ्करभाष्य, नैष्कर्म्य-सिद्धि और वार्तिकमें भी उद्धृत हैं। ऐसी स्थितिमें दूसरे प्रकरणके औपनिषदिक और शाङ्कर सम्प्रदायानुमोदित होनेमें कोई संशय नहीं रह जाता।

वैतथ्य-प्रकरणके वेदान्त-ग्रन्थ होनेमें एक और आक्षेप सुननेमें आता है। आधुनिक आलोचक कहते हैं— ब्रह्मसूत्र २-२-२९में स्वप्न और जाग्रत्का वैधर्म्य बताया गया है और उसके भाष्यमें शङ्कराचार्यने भी वैसा ही सिद्ध किया है। ऐसी अवस्थामें वैतथ्य-प्रकरणका स्वप्न-जाग्रत्-साम्य वेदान्त-सम्मत कैसे हो सकता है? एक ही शङ्कराचार्य वहाँ वैधर्म्य सिद्ध करें और कारिका-भाष्यमें साम्य सिद्ध करें यह कैसे संगत है? इसलिए ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार शङ्कराचार्य कोई और होंगे और कारिका-भाष्यकार शङ्कराचार्य कोई और। यह आक्षेप भी अविचारित-रमणीय है।

यह बात तो पहले ही कह चुके हैं कि पूर्व आचार्योंने वैतथ्य-प्रकरणके श्लोक उद्धृत किये हैं। शारीरक-भाष्यमें भी यही उद्धृत है। तथापि विषयपर विचार करना आवश्यक है। स्वप्न और जाग्रत्का वैलक्षण्य छिपा सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वप्न अन्तःस्थानमें स्मृतिरूप होता है और जाग्रत्में वह बाधित हो जाता है। अर्थात् यह निश्चय हो जाता है कि वह मिथ्या है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि

स्वप्नके दृश्य ही मिथ्या होते हैं, अवगति नहीं, अर्थात् ज्ञान नहीं। फिर प्रश्न उठता है कि ब्रह्मसूत्र और उसके भाष्यमें स्वप्न और जाग्रत्का भेद-प्रतिपादन किस अभिप्रायसे किया गया है? विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मन्द-बुद्धि अधिकारियोंके लिए जाग्रत् अवस्थाकी दृष्टिसे परमार्थ सत्य-वस्तुके ज्ञान-साधनके रूपमें उनका निरूपण है, वस्तु दृष्टिसे नहीं; क्योंकि श्रुति कहती है—

अन्तरस्मिन्निमे लोकाः। अन्तर्विश्वमिदं जगत्। (तै. ब्रा. २-८-८-१०)

अपने भीतर ही सम्पूर्ण दृश्य और बाह्य जगत्की स्थिति है। क्या आप कह सकते हैं कि यह जाग्रत्-प्रपञ्च आत्मचैतन्यके बिना एक क्षणं भी जीवित रह सकता है? अपनेको दिखा सकता है या सिद्ध हो सकता है? क्योंकि न यह तत्त्व है, न अन्य आत्मा है, न अनात्मा। जाग्रत्-प्रपञ्च अनिर्वचनीय रूपसे ही भास रहा है। तब क्या यह प्रपञ्च आत्मा है? नहीं; क्योंकि यह आत्माका दृश्य है। दृश्य प्रागभाव-प्रतियोगी, प्रकाशक-सापेक्ष, अनेक और विनाशी होता है। वह आत्मा कैसे हो सकता है? फिर क्या यह आत्मासे सर्वथा भिन्न है? नहीं; क्योंकि आत्माके बिना इसकी उपलब्धि ही नहीं हो सकती। इसलिए जैसे स्वप्नमें प्रतिभासमान सम्पूर्ण भेद अपने आत्मामें ही है और उन्हें अपना स्वरूप या अन्य भी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जाग्रत् प्रपञ्चकी स्थिति है। विचार करनेपर स्वप्न-प्रपञ्च और जाग्रत्-प्रपञ्चमें वस्तु-दृष्टिसे किञ्चित् भी भेद सिद्ध नहीं होता। फिर ब्रह्मसूत्रमें और उसके भाष्यमें ऐसा क्यों कहा गया है? उत्तर सुनिये।

विज्ञानवादी बौद्ध बाह्यार्थका अपलाप करते हैं। वे कहते हैं, स्वप्न-प्रत्ययोंके समान जाग्रत्के प्रत्यय भी निरालम्ब होते हैं। उन्हींके अभ्युपगमके द्वारा उनका खण्डन करना आचार्यको अभीष्ट है। इसलिए सिद्धान्तका विरोध नहीं है। आबालवृद्ध-पामर यह तथ्य अनुभवसिद्ध है कि स्वप्नके पदार्थ मिथ्या हैं। परन्तु, सब लोग जाग्रत्के पदार्थको मिथ्या नहीं समझते। इसीलिए स्वप्नका दृष्टान्त देकर जाग्रत्को मिथ्या सिद्ध किया जाता है। संकुचित प्रदेशमें विद्यमान होनेके कारण स्वप्न-पदार्थोंका मिथ्यात्व स्फुट है। इसलिए लोकदृष्टिसे दृष्टान्त है। वह वैलक्षण्य भी वास्तविक नहीं है। जिस समय स्वप्नमें उनका अनुभव होता है उस समय तो वे भी जाग्रतके पदार्थोंके समान सत्य ही भासते हैं। जब स्वप्नमें स्वप्नान्तरका अनुभव होता है तब तो आबालवृद्धपामर सभीको यह अनुभव होता है कि स्वप्नदृष्टिसे स्वप्नान्तर मिथ्या है। स्वप्नकी यही तो विशेषता है कि वह जिस समय दीखता है, उस समय सत्-सा भासता है। यही स्थिति जाग्रत्की भी है। एक बार स्वप्नमें ऐसा अनुभव हुआ कि मैं वृन्दावनमें सोया और काशीका स्वप्न देखा। वस्तुतः मैं बम्बईमें

सोया था। वृन्दावनमें जगनेपर काशीके दृश्य मिथ्या हो गये और बम्बईमें जगनेपर वृन्दावनके। इसी प्रकार जाग्रत्में सत्य और स्वप्न मिथ्या जान पड़ता है। परन्तु वस्तु-दृष्टिसे जाग्रत् भी स्वप्नवत् ही है। स्वप्नमें भी स्वप्नान्तर संकुचित स्थानमें स्मृतिरूप और वाध्यमान भासता है और स्वप्न सत्य भासता है। उसी प्रकार इस जाग्रत्में ही स्वप्न है! तत्त्वदृष्टिसे इस जाग्रत्की यही दशा है। स्वप्नमें कोई भी स्थान संवृत या असंवृत नहीं होता। बाध्यमानता भी जैसे स्वप्नमें स्वप्नान्तरकी होती है, जाग्रत्में स्वप्नकी होती है वैसे ही अधिष्ठानदृष्टिसे तत्त्वेमें जाग्रत्की है। सूत्रकार और भाष्यकारका अभिप्राय बाह्यार्थके अपलापके निर्वचनका खण्डन करनेमें है, जिससे अनिर्वचनीयताकी सिद्धि हो, स्वप्न और जाग्रत्का भेद सिद्ध करनेमें नहीं है। इसलिए ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार और कारिकाके भाष्यकारमें भेदकी कल्पना करना सर्वथा असंगत और अनुचित है।

बौद्ध दार्शनिक अवस्थाओंको मिथ्या सिद्ध करके तत्त्वकी शून्यता सिद्ध करते हैं और वेदान्तके दार्शनिक देश-काल-वस्तुसे अपिरिच्छन्न और सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञानसे सम्पूर्ण प्रपञ्चका बाध मानते हैं। इसलिए बौद्ध-दर्शनमें ज्ञानके पूर्व भी बौद्धिक आचार-विचार, साधन सब मिथ्या होते हैं। और वेदान्त-दर्शनमें तत्त्वज्ञानके अनन्तर सब बाधित होते हैं। अधिकारी भेदसे शास्त्रके सब वचन यथार्थ और हितकारी होते हैं। कारिका वैदिक परम्पराका ग्रन्थ है।

उत्तम अधिकारीको श्रवण मात्रसे ही ज्ञान हो जाता है। परन्तु संशय-विपर्ययशील अधिकारीको मनन-निदिध्यासनकी अपेक्षा होती है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यह वैतथ्य-प्रकरण मनन प्रधान है और युक्तियोंके द्वारा आगम प्रकरणोक्त अर्थको ही सिद्ध करता है। लक्ष्यहीन मनन, कान्दिशीक होकर भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए मननका भी एक उद्देश्य होना चाहिए। वैतथ्य-प्रकरणका मनन '**अयमात्मा ब्रह्म**'की सिद्धिके लिए है। इस बोधसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। प्रपञ्च बाधित होता है और बोधवान् पुरुष यावज्जीवन जीवन्मुक्त रहता है। वस्तुतः वह बोधवान् नहीं, ब्रह्म ही है।

मैं स्वाध्याय-प्रेमी अधिकारियोंसे इस वैतथ्य-प्रकरणके द्वारा मननके लिए सम्पुष्टि-ग्रहण करनेकी आशा रखता हूँ।

अखण्डानन्द (सरस्वती)

गुरु पूर्णिमा २०२५

बम्बई

माण्डूक्यकारिका-प्रवचन

वैतथ्य प्रकरण

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या

*

प्रस्तावना

सम्प्रदाय-परम्पराका महत्त्व

नारायण! हमारे पास जो ज्ञान-धन है, वह कहींसे लूटकर मैंने नहीं पाया है। यह हमारे पितासे हमको मिला है। जैसे पिताका धन जो पुत्रको मिलता है, वह उसके हकका होता है। इसी प्रकार यह जो ज्ञानका सम्प्रदाय है, (सम्यक् प्रकृष्ट दाय माने हक, दानकी पद्धति, हकदारी) नारायणके ज्ञानकी हकदारी, उत्तराधिकार हमें प्राप्त हुआ है, उसका पहले स्मरण करना होता है। अत: सर्वप्रथम हम सम्प्रदाय-वेत्ताओंको नमस्कार करते हैं।

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्रीशंकराचार्यम्..................................

देखो, जहाँ जड़वादसे सृष्टिका प्रारम्भ मानते हैं कि सृष्टिके मूलमें जड़ था, वह जड़ धीरे-धीरे विकसित होता हुआ पहले काईके रूपमें बना, फिर पौधा हुआ फिर छोटे-छोटे कीड़े बने और उसके बाद फिर स्वेदज हुए, अण्डज हुए, जरायुज हुए। फिर उनमें-से मनुष्य हुआ। इस प्रकार जड़से विकसित होते-होते हम सब प्राणी बने हैं। तो इस ज्ञानमें सम्प्रदाय-परम्परा बतानेकी जरूरत नहीं होती। क्योंकि, इस सिद्धान्तमें तो सृष्टि जड़ता माने मूर्खतासे प्रारम्भ हुई और वहाँसे आगे बढ़ती जा रही है, जैसे मनुष्योंके पूर्वज बन्दर। मनुष्योंमें भी पहले सब जंगली थे। उसके बाद हम सब लोग शहरी पैदा हुए और बड़े भारी बुद्धिमान्, विद्वान्, वैज्ञानिक हुए।

अब यह जो अध्यात्म-शास्त्र है, वह कहता है कि चैतन्यसे सृष्टि हुई। अतः इसमें सम्प्रदाय-परम्पराकी आवश्यकता होती है। तो सर्वज्ञान-निधान ईश्वर है। ईश्वर नारायणके रूपमें प्रकट होता है और नारायणसे फिर ब्रह्मा बनता है और वही फिर ब्रह्मासे वसिष्ठ बनता है और वसिष्ठसे शक्ति, शक्तिसे पराशर, पराशरसे व्यास। यह समझो कि चैतन्यसे लेकर वाणी तककी जो परम्परा है, उसको 'व्यास' बोलते हैं। नारायण तो सबके हृदयमें बैठे हुए अन्तर्यामी ईश्वर हैं और बिना अन्तर्यामी हुए जो ईश्वर है, उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। तो अन्तर्यामीसे भी जो सूक्ष्मतम दशा है, उसको 'ब्रह्म' कहते हैं और अन्तर्यामी 'नारायण' है और अन्तःकरणमें 'ब्रह्मा' है और मनमें 'वसिष्ठ' है, प्राणमें 'शक्ति' है, अग्नि 'पराशर' है और वाणीको 'व्यास' बोलते हैं। परावाणीसे लेकर वैखरी वाणी पर्यन्त जो विकास है, उसको इस परम्परासे सूचित किया गया। अब व्यासके बाद शुकदेव हैं महाराज! ये शब्द-रूप हैं। बिना शब्दके अतीन्द्रिय वस्तुका ज्ञान नहीं होता, यह मर्यादा है। जो ऐन्द्रियक-वस्तु होती है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे हो जाता है। परन्तु, जो अतीन्द्रिय-वस्तु होती है, उसका ज्ञान केवल शब्द-प्रमाण से होता है। अब वह शब्दके लिए जो जिज्ञासु है, उसको 'गौड़पाद' बोलते हैं। अब यह श्रोताकी परम्परा आ गयी।

ग्रन्थकारका परिचय

कहा जाता है कि श्रीशुकदेवजी महाराज दक्षिण देशमें मलयाद्रिकी गुफामें निवास करते थे और गौड़पादका जन्म हुआ, गौड़देशमें। गौड़देश उत्तर भारतमें है। तो जब गौड़पादको गुरु-प्राप्तिकी इच्छा हुई, तब वे पाँवसे चलकर गौड़देशसे दक्षिण-देशमें गये। तो शुकदेवजी महाराजने उनको अवधूतवेशमें दर्शन दिया। गौड़देशसे पैदल चलकर दक्षिण देशमें जानेके कारण ही उनका नाम 'गौड़पाद' हुआ।

देखोजी, जो ज्ञान-प्राप्तिके लिए कष्ट नहीं उठाना चाहता, उसको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। उसके लिए थोड़ी तितिक्षा चाहिए, थोड़ी तपस्या चाहिए।

वे श्री गौड़पाद शंकराचार्यजीके दादा-गुरु हैं। शंकराचार्यके गुरु गोविन्दपाद और गोविन्दपादके गुरु गौड़पाद। तो इन गौड़पादाचार्यने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका लिखी है।

ग्रन्थ-परिचय

माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदकी उपनिषद् है। यह उपनिषद् अथर्ववेदकी

सबसे छोटी उपनिषद् है। इसमें केवल बारह ही मन्त्र हैं। बारह भी इसलिए हैं कि चार, चार, चारके तीन हिस्से कर दिये और परमात्माको अवाच्य छोड़ दिया, अलक्षण। प्रथमपाद, द्वितीयपाद, तृतीयपाद और चतुर्थ जो है वह अमात्र है। चतुर्थपादको वाणीका विषय नहीं किया, इसलिए बारह मन्त्रोंमें इसका वर्णन है।

अच्छा, अब इसमें जो बारह मन्त्रोंका वर्णन है, इसकी एक-दो बात आपको जरा वेदान्तकी भूमिका बनानेके लिए सुनाते हैं।

आपलोगोंने यह बात सैकड़ों दफे सुनी होगी कि अस्ति, भाति, प्रिय-ये तीनों आत्माके स्वरूप हैं और नाम, रूप प्रपंचका स्वरूप है। यह मायाका खेल, जादूका खेल है, स्फुरणा है। पर, इसमें जो अस्ति, भाति, प्रिय हैं—इनपर जरा विचार करो।

देखो, यह तो सबको मालूम होगा कि—**'नाहमस्मीति न कश्चित् प्रतीयात्'**—मैं नहीं हूँ, ऐसा अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यह वज्र है।

सेठ गोविन्ददास एक बार अठारह प्रश्न लिखनेके बाद एक दिन हमारे पास आये। उनका पहला प्रश्न यह था कि ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें अकाट्य प्रमाण क्या है? तो थोड़ी उनसे बातचीत की और उसके बाद यह तय हुआ कि कल हम दो ही बात करेंगे, बीचमें कोई नहीं रहेगा। दूसरे दिन मैंने उनसे कहा कि आत्माका जो अस्तित्व है, यही ईश्वरके अस्तित्वका अकाट्य प्रमाण है। दूसरा कोई प्रमाण अकाट्य प्रमाण नहीं है।

तो 'मैं नहीं हूँ'—यह कभी किसीके अनुभवमें आ ही नहीं सकता। व्यष्टिका 'मैं' सिद्ध है, तो समष्टिका 'मैं' भी सिद्ध है और व्यष्टि-समष्टिका यदि प्रलय भी सिद्ध है, तो प्रलयका अधिष्ठान भी सिद्ध है, उसका द्रष्टा भी सिद्ध है। इसलिए, आत्माका जो अस्तित्व है, यह ईश्वरके बारेमें अकाट्य प्रमाण है। यदि 'मैं हूँ' तो ईश्वर है और 'मैं' ही नहीं रहेगा तो ईश्वर मिलेगा भी किसको? वह किसके सामने नाचेगा? किसके सामने गावेगा? किसके सामने आकर ध्येय बनेगा? किसके सामने ज्ञेय बनेगा? मैं ही नहीं रहूँगा तो ईश्वर क्या करेगा?

अच्छा, दूसरी बात है कि 'मैं' अज्ञान-स्वरूप हूँ यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता। क्योंकि 'मैं अज्ञान हूँ'—यदि ऐसा अनुभव होगा, तो वह अनुभव तो ज्ञान होगा। जैसे सुषुप्तिमें मैं कुछ नहीं जानता, मैं सुषुप्तिमें अज्ञान हो गया। ऐसा नहीं है। सुषुप्तिके अज्ञानका ज्ञान भी हमको होता है। नहीं तो स्मृति कैसे होती? इसलिए 'मैं अज्ञानस्वरूप हूँ'—यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता।

अब तीसरी बात देखो! कोई भी सृष्टिमें कहे कि मैं यह अनुभव करके आया हूँ कि मैं अपना अप्रिय हूँ। अरे, कितने प्यारे बनाते हैं। वे तो बनावटी प्यारे होते हैं। उनसे खेलते हैं, उनको बदल देते हैं। दुनियामें तो प्यारोंके खिलौने बनते हैं। जिन्दगी भरमें दस बनें और दस बिगड़ें और दस छूटें!! यह कोई महत्त्वपूर्ण बात थोड़े ही है। लेकिन संसारमें जितना भी प्यार किया जाता है, उस प्यारका रस निचोड़-निचोड़ करके अपने आपको ही दिया जाता है। सब प्यारे अपने प्यारके अंग हैं, आत्म-प्रियताके मददगार हैं।

अब देखो, 'मैं नहीं हूँ'—यह अनुभव नहीं हो सकता, 'मैं अज्ञान हूँ'—यह अनुभव नहीं सकता और 'मैं अप्रिय हूँ'—यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता। तो यही अखण्ड सत्ता, अखण्डज्ञान और अखण्ड प्रियता—इन तीनोंको एकमें मिला दें तो उसका नाम होगा आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म। सर्वदेशमें, सर्वकालमें सर्ववस्तुमें जो अपना अस्तित्व है, अपनी ज्ञानस्वरूपता और अपनी प्रियता है—इसीको बोलते हैं 'सच्चिदानन्द'। वेदमें इसको कहा गया है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (छान्दो. ३.१२.३)

अपना एक पाद है सत्, एक पाद है चित् और एक पाद है आनन्द, प्रिय। अच्छाजी, इनको 'पाद' क्यों बताया भला? इसलिए बताया कि अपने असली स्वरूपमें ये भी वहाँ तक पहुँचनेके साधन ही हैं। 'पाद' माने होता है, गतिका साधन पाँव। पाँव काहेके लिए होता है? एक जगहसे दूसरी जगह पर पहुँचनेके लिए होता है। तो यह जो हमारा मन, हमारी बुद्धि संसारमें फँसी हुई है, वहाँसे निकलकर परमात्माके असली स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए ये भी 'पाद' ही है—***'पद्यते अनेन इति'।*** इससे परमात्माकी प्राप्ति होती है। सत् असत्को मिटा दे और चित् अज्ञानको मिटा दे और प्रिय अप्रियको मिटा दे और उसके बाद स्वयं वे तीनों तीन न रहें, शान्त हो जायें, इसके लिए ये तीन 'पाद' हैं। ये भी समझदारी बढ़ानेके लिए हैं, ज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिए हैं। ये तीनों नहीं हैं, असलमें एक ही हैं और एक नहीं हैं, अद्वितीय हैं।

देखो, एक शब्द तो संख्या है। संख्या माने गिनती। एक, एक दो हो गया। अब दो, दो चार हो गया। एक, एक, एक तीन हो गयां। अगर एक अधूरा न होता तो दो एक होने पर दो बना तो बड़ी संख्या बन गयी ना! अगर एक अधूरा न होता तो एक मिल जाने पर दो कहाँसे बन जाता? अच्छा, एक बटे दो—यह क्या हुआ? अगर एकके दो टुकड़े न हो जाते तो एक बटे दो कैसे होता? तो 'एक'

वह संख्या है, जो दोहरी भी हो सकती है और जो अधूरी भी हो सकती हैं। इसलिए, परमात्माके लिए 'एक' संख्याका प्रयोग नहीं किया जाता। परमात्मा एक नहीं है। वह तो महात्मा लोग समझानेके लिए जहाँ जैसा जरूरी समझते हैं, वैसा समझा देते हैं। अब किसीकी समझमें 'एक' ही नहीं आ रहा है तो 'एक'के परेवाली बात कैसे समझायी जाये?

ईश्वर एक है, क्योंकि वह सबमें अनुगत है। जैसे एक-एक दो, एक-एक-एक तीन होता है। माने जैसे एक बढ़ता जाता है, दो-में भी एक है, तीनमें भी एक है। एकके बिना तो कोई नहीं है। इसी प्रकार विश्व-सृष्टिमें जो सबमें व्याप्त संख्या है, उसको 'एक' बोलते हैं। और, जो सबसे न्यारी संख्या है, उसको 'एक' बोलते हैं। लेकिन जो न सबमें व्याप्त है और न सबसे न्यारी है, जिससे अलग होनेके लिए 'सब' नहीं है और जिसको व्याप्त होनेके लिए 'सब' नहीं है, वह जो वस्तु है उसको 'एक' नहीं बोलते। उसका नाम वेदान्तशास्त्रमें अद्वितीय होता है। इसीलिए बोलते हैं—'एकमेवाद्वितीयम्'। 'एक'के बाद 'अद्वितीय' बोलते हैं।

यह 'अद्वितीय' क्या है? इसमें अद्वितीय, अद्वितीय दो अद्वितीय अथवा अद्वितीय, अद्वितीय, अद्वितीय तीन अद्वितीय नहीं होते। इसमें अद्वितीय बटे दो कुछ होगा? नहीं होगा। न तो अद्वितीयका गुणा होगा, न भाग होगा, न जोड़ होगा और न ही बाकी होगा। गणितमें अद्वितीयकी अनुगति नहीं होगी और गणितसे व्यावृत्ति भी नहीं होगी। शून्य तो एकको दस बना देता है। परन्तु, अद्वितीय एकको दस भी नहीं बनावेगा। चाहे आगे अद्वितीयको रखो, चाहे पीछे रखो, वह एकको दस अथवा सौ नहीं बनावेगा। तो यह जो अनुगत और व्यावृत्त संख्या 'एक' है, इससे विलक्षण होता है 'अद्वितीय'।

तो नारायण, ये जो सत्-चित्, आनन्द तीन हैं, ये तो असत्, अचित् अप्रियकी व्यावृत्तिके लिए हैं। वस्तुतः जो अद्वितीय है, उसमें सत्-चित्, आनन्द, बोलना या सोचना भी नहीं बनता।

अब देखो, फिरसे आपको वेदान्तकी भूमिका सुनाते हैं।

यह सोचो कि तुम्हारा प्रिय कौन है? प्रिय उसको कहते हैं, जिससे आनन्द मिले। संसारके सब कर्म उसीके सुखके लिए हों, सब धर्म उसीके सुखके लिए हों, सब भोग उसीके सुखके लिए हों। यहाँ तक कि मुक्ति भी जब चाहें तो उसीके लिए चाहें!

एक चोर था। वह जेलसे छूटनेके लिए बड़ा व्याकुल था। क्यों व्याकुल

था? उसको जेलमें पता चल गया कि एक सेठकी सम्पत्ति अमुक जगह रखी है। सो जल्दी-से-जल्दी जेलमें-से निकलकर उसको चुरावें, इसके लिए वह जेलमें-से निकलनेके लिए व्याकुल था। क्यों? क्योंकि, सम्पत्तिसे उसका प्रेम था।

एक अन्य पुरुष जेलमें था। वह भी जेलमें-से निकलनेके लिए बहुत व्याकुल था। क्यों? उसकी जो अपनी प्रेयसी थी, वह जेलसे बाहर थी। सो उससे मिलनेके लिए वह व्याकुल था। परन्तु, चोर धन क्यों चाहता था? वह पुरुष स्त्रीको क्यों चाहता था? अपने सुखके लिए, अपनी प्रियताके लिए।

तो संसारमें जितना धर्म होता है, जितना कर्म होता है, जितना भोग होता है, जो कुछ हम चाहते हैं, वह अपने लिए ही चाहते हैं। श्रुति भगवती कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृहदा. २.४.४)

तो आत्मा है 'शेषी' और बाकी सब हैं 'शेष'। माने आत्माके लिए सब है।

तो 'प्रेम'का लक्षण क्या है? अपने प्रियतमके लिए सब कुछ।

अब ***'तन मन धन सब सन्तको, टका सन्तको नाहीं'*** यह तो आप सब जानते ही हैं।

आरती सद्गुरुदेव की कीजै। तन मन धन सब अर्पण कीजै॥

ऐसा गाते हैं महाराज! मालूम पड़ता है कि सब कुछ अर्पणके लिए तैयार हैं। लेकिन, वह तो महाराज असलमें सब अपने लिए होता है।

देखो, एक सज्जन हैं। वे कहते हैं कि वैकुण्ठमें हमको सुख मिलेगा। क्यों? बोले कि हमारा प्रिय तो वैकुण्ठ है। एक सज्जन कहते हैं कि जब हमको समाधि लगेगी, तब हमको हमारा प्रिय मिलेगा। क्योंकि, हमारा प्रिय समाधिमें रहता है, बाहर तो रहता ही नहीं। अब लो, मर गया प्रियतम प्यारा, जो समाधिमें रहता है! बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् बात है कि वह आदमी विक्षेप के समय कितना दुःखी रहेगा, जिसने अपने प्रियतमको समाधिकी जेलमें बन्द कर दिया। बिना समाधिके तो प्रियतम है ही नहीं। अब रोओ उसके लिए! सारी जिन्दगी रोनेमें बीतेगी।

अब एकने कहा कि हमारा प्रियतम परदेशमें रहता है। तो रोओ उसके लिए। एकका प्रियतम मर जाता है, एकका प्रियतम बिछुड़ जाता है।

तो देखो, तुम्हें सुखी होनेके लिए अगर कोई देश चाहिए कि अमुक स्थानमें हम सुखी होंगे, तो तुमने अपने प्यारेको नहीं पहचाना। अगर तुम्हें अपनेको सुखी करनेके लिए कोई समय चाहिए, तो तुमने अपने प्रियतमको नहीं

पहचाना! अगर तुम्हें अपनेको सुखी करनेके लिए कोई स्थिति चाहिए कि आँख ऐसे अधखुली रहे और पीठकी रीढ़ सीधी रहे और सिर बिलकुल कड़ा-कड़ा, सख्त-सख्त रहे, तब हमको सुख मिलेगा! अरे भाई, असलमें अपने प्यारे तुम हो और जब तुम हो-ही-हो, मिले-मिलाये हो, नित्य-प्राप्त हो, तो अपने सुखके लिए अगर कोई चीज तुमको चाहिए तो तुम गलत हो। तुम अपने प्यारेको नहीं पहचानते हो। अगर कोई स्थिति चाहिए तो तुम अपने प्यारेको नहीं पहचानते हो। कोई स्थान चाहिए तो अपने प्यारेको नहीं पहचानते हो। कोई समय चाहिए तो अपने प्यारेको नहीं पहचानते हो। क्योंकि तुम्हारे प्यारे तो तुम हो और वह नित्य-प्राप्त हो। केवल भ्रान्तिसे अप्राप्त सरीखा लगता है।

तो नारायण, एक बार खुश हो जाना चाहिए न कि कितना यह धन्य जीवन है, जिसमें हमारा अपने प्यारेसे वियोग नहीं है।

जो बिछुड़े हैं प्यारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमन को बेकरारी क्या?
कबीरा इश्क का माता, दुइ को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या?

भाई, यह भ्रम हो गया है कि हमारा प्यारा अनमिला है। वह तो अनमिला नहीं है, तुम अपने प्यारेको नहीं पहचानते। तुम्हारे प्यारे तुम हो। दूसरेको अपना प्यारा मानकर रो रहे हो। तुम नित्य-प्राप्त प्यारे हो और उसको अप्राप्त मानकर रो रहे हो। इसी समय तुम प्यारे हो और वह दूसरे समयमें मिलेगा, ऐसा मानकर रो रहे हो। वह मरनेके बाद स्वर्गमें मिलेगा कि वैकुण्ठमें मिलेगा—ऐसी कल्पना कर बैठे और मरनेसे डरते भी हो। एक तो बेवकूफने यह माना कि हमारा प्यारा मरनेके बाद मिलेगा। तो मर जाओ न! बोले कि नहीं, मरनेसे डर लगता है। देखो न, अपने प्यारेको मौतके उस पार फेंक दिया और अब मरनेसे डरता है। अरे भाई, तुम्हारा प्यारा इसी पार है। तुम्हारे और उसके बीचमें मौतकी खाईं नहीं है। तुम्हारे और उसके बीचमें कोई पर्दा नहीं है। वह तो तुम्हीं हो। और, जब अपना प्यारा नित्य-प्राप्त है, तब फिर रोना-धोना काहेके लिए?

वेदान्तमें एक बात यह जाननेकी है कि अपना प्यारा अपना आप है। इसका फल क्या होगा, वह बताते हैं। इसका फल यह होगा कि अपनेसे जो अतिरिक्त है, उससे वैराग्य और असंगता होगी। कोई आवे, कोई जाये, कोई मरे, कोई जीये, कोई मिले, कोई बिछुड़े, अपना प्यारा जब अपनी मुट्ठीमें है तो क्या कहना!! प्रेमी लोग तो . .

कहते हैं कि हम् तुमको लेकर नरकमें खुश रहेंगे। अब दिलमें तो खुश हैं नहीं, तो नरकमें क्या खुश होंगे? जो मिला हुआ है दिलमें, उसको तो लेकर खुश हैं नहीं। बोले कि हम तुमको लेकर नरकमें खुश होंगे। तुम्हारे चेहरेसे ही पता लग गया, तुम्हारी अक्लसे ही इस बातका पता लग गया कि तुम् यहाँ भी अपने प्रियतमको रुलाओगे और वहाँ भी रुलाओगे। माने तुम खुद रो रहे हो तो अपने प्रियतमको भी रुला रहे हो। स्वयंको रुलाना ही प्रियतमको रुलाना है और दूसरा नहीं। स्वयंको दु:खी मानना ही अपने प्रियतमको दु:ख देना है—यह वेदान्तका बिलकुल परिपक्व सिद्धान्त है। तुम अपनेको दु:खी काहेको मानते हो? तुम अपने प्यारे हो और जब अपनेको दु:खी मानते हो तो अपने प्यारेको दु:खी मानते हो और तब तुम्हारी प्रियता जो है, वह तो सैर करने चली गयी, विलायत चली गयी।

दूसरी बात इसके सम्बन्धमें यही कही गयी कि 'मैं ज्ञान-रहित हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। कोई कहे कि मैं बिलकुल अज्ञान हूँ।

स्वामी शिवानन्दजीके पास कोई जाकर कहता कि महाराज, हम संन्यासी होनेके लिए आये हैं। 'अच्छा, संन्यासी होनेके लिए आये हो? सच्ची बात है?' 'हाँ, है।' 'अच्छा, गंगा स्नान कर आओ। किसी सेवकको बुलाते कि अरे, कोई है। जरा कैंची लाना। काट दें इसकी चोटी। और, काट दी चोटी, पहना दिया गेरूआ वस्त्र। लो, हो गये संन्यासी 'सच्चिदानन्द'। अब पीछे न टिके तो बोलते भाई कि तुम्हारे मनमें यह सत्संकल्प आया, सो पूरा कर दिया। अब टिको चाहे मत टिको, वह तो तुम्हारी जिम्मेवारी हो गयी।

चित्रकूट वाले स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजके पास जाकर कोई कहता कि महाराज, हम तो अज्ञानी हैं, बड़े दु:खी हैं। वे कहते कि देखो भाई, जो घड़ेको जानता है, वह घड़ेसे न्यारा होता है, जो मकानको जानता है, वह मकानसे न्यारा होता है। तुम यह अपने दिलमें रहनेवाले अज्ञानीको, दु:खीको जानते हो । अत: तुम अज्ञानी नहीं हो, अज्ञानीको जाननेवाले हो। तुम दु:खी नहीं हो, तुम दु:खीको जाननेवाले हो। जैसे घड़ेको जाननेवाला घड़ेसे न्यारा होता है, ऐसे ही अज्ञानीको जाननेवाला अज्ञानीसे न्यारा होता है। तो तुम ज्ञानस्वरूप हो। क्यों मानते हो कि मैं अज्ञानी हूँ? तुम अज्ञानी नहीं हो, तुम अज्ञानीके द्रष्टा हो। तुम मरनेवालेके द्रष्टा हो। 'महाराज, हम तो साढ़े तीन हाथके हैं। 'नहीं, तुम साढ़े तीन हाथके द्रष्टा हो!' द्रष्टा हो। बोले कि हम तो जीव हैं। 'नहीं, तुम तो जीवके द्रष्टा हो!'

तो नारायण, कोई कहे कि मैं ज्ञान-रहित हूँ। तो यह अनुभव कभी हो ही नहीं सकता। यह अनुभव तो ज्ञान है, ज्ञान-स्वरूप है।

तो 'मैं ज्ञान-रहित हूँ'—यह अनुभव जब नहीं हो सकता, तो इसका फलितार्थ यह निकला कि मैं जड़ नहीं हूँ। अच्छा, जब मैं जड़ नहीं हूँ तो बचपन, जवानी, बुढ़ापे आदिके जितने परिवर्तन होते हैं, जितने जन्म, मरण होते हैं, जितना दृश्य होता है—सब जड़ होता है और मैं तो उससे बिलकुल न्यारा, ज्ञान-स्वरूप हूँ। तो जन्मने-मरनेका, बचपन-जवानी, बुढ़ापेका कोई भी असर हमारे ऊपर नहीं होना चाहिए। हम तो द्रष्टा हैं, अजर हैं, सत्स्वरूप हैं, अन्तमें यह निकला।

तो देखो, अपनी प्रियता अपनेमें है, यह बात मालूम होनेसे वैराग्य और असंगता आती है और 'मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ'—यह मालूम होनेसे जड़ता छूट जाती है और 'मैं सत्स्वरूप हूँ'—यह मालूम होनेसे जन्म-मरणका भय बिलकुल छूट गया। तो वेदान्त जो है, यह तो अभी-अभी इसी जन्ममें और इसी समय मनुष्यको इतनी बड़ी चीज देता है, इतनी बड़ी चीज कि जो करोड़ जन्म योग करनेसे न मिले, करोड़ जन्म उपासना करनेसे न मिले, करोड़ जन्म धर्म करनेसे न मिले। वेदान्त यह वस्तु एक पदे अर्थात् एक कदममें बताता है।

अब देखो, उसको सुगम करनेके लिए महात्माओंने क्या किया?

श्वेताश्वतर उपनिषद् है। वहाँ चार पाँववाला खच्चर उपदेश देता है। 'अश्वतर' माने खच्चर होता है। वह एक पाँव जरा धरतीसे उठाकर खड़ा होता है। अश्विनी कुमारको जिन दध्यङ्ङाथर्वणने उपदेश किया, वे अश्व है। हयग्रीव भी तो हमारे भगवान् हैं। अच्छा, तैत्तिरीय चिड़िया है। तीतर जो पक्षी होता है, उसको 'तित्तरी' कहते हैं। वह तीतर कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'-इसमें तुमको क्या शंका है? अरे, मेरी पूँछ ब्रह्म है। आप लोगोंको बोलनेमें डर लगेगा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'। लेकिन तीतर चिड़िया बोलती है! अब मनुष्य अपनेको अनधिकारी समझे तो उसका दुर्भाग्य ही समझना।

अब यह माण्डूक्य-उपनिषद् है। तो इस उपनिषद्का मण्डूक वक्ता है। समझो, एक ऋषि थे और उनका नाम मण्डूक था। ऋषि लोग हर वेशमें रहते हैं। कोई वृषभके वेशमें रहता है, कोई हाथीके वेशमें रहता है; कोई घोड़ेके वेशमें रहता है। अधिकारी लोग उनको, पहचान लेते हैं, अनधिकारी नहीं पहचानते हैं। तो, यह माण्डूक्य-उपनिषद् है। ऋग्वेदमें एक मण्डूक-सूक्त है। वर्णन आया है कि एक बार धरतीमें दुर्भिक्ष पड़ गया। तो वसिष्ठजी इन्द्रकी स्तुति करने लगे कि

हे इन्द्र, वर्षा करो। उसी समय मेढक बोलने लगे। तो गाँवमें यह बात मानी जाती है कि आषाढ़ महीनेमें जब मेंढक बोलने लगते हैं तो अब वर्षा होनेवाली है—यह बात बिलकुल पक्की हो जाती है। वर्षा होनेका पूर्वरूप है मेंढकका बोलना। तो जब मेंढक बोलने लगे तो वसिष्ठजी बड़े ही प्रसन्न हुए कि इन्होंने हमारी इष्ट-पूर्ति की, अभीष्ट-पूर्तिकी सूचना दी है। सो उन्होंने मण्डूकोंकी स्तुतिमें कई मन्त्र कहा। उनको 'मण्डूक-सूक्त' बोलते हैं। यह कथा निरुक्तमें भी है और सायण-भाष्यमें भी है।

तो ये मण्डूक जो हैं, इनकी बड़ी विशेषता होती हैं। यहाँ तो जो समुद्र-किनारे घूमते हैं, उनको तो देखनेको मिलते नहीं। यह महलमें रहनेवाले लोग मेंढकको क्या जानें? हाँ, आजकल सुनते हैं कि डॉक्टरीमें इनका बहुत उपयोग है। देहाभिमान रहित इन्होंने अपनेको अर्पित कर दिया कि भाई चीर लो! तुम्हारी जैसे मौज हो, वैसे कर लो। हमको देहाभिमान तो है नहीं! प्रयोग करनेके लिए अपनेको अर्पित कर दिया।

तो मण्डूक उसको कहते हैं, जो मज्जन करता है। '*मज्जूका एव मण्डूका भवन्ति*'। जो गर्मीके दिनोंमें मिट्टीमें डूब जाते हैं और वर्षाके दिनोंमें मिट्टीमें-से निकल आते हैं। ये मज्जनशील हैं। ये दो अवस्थामें रहते हैं—देह सहित अवस्थामें भी रहते हैं और देहरहित अवस्थामें भी रहते हैं। तो देखो, मेंढककी वह आत्मा गर्मीके दिनोंमें शरीर न रहने पर भी मिट्टीमें मिलकर रहती है और वर्षा होनेपर शरीरके निकल आनेपर शरीरमें रहती है। तो शरीरधारी और अशरीरधारी दोनों अवस्थामें मेंढक रहता है। यह आत्माका लक्षण है कि नहीं? यह आत्माका लक्षण है। इसलिए, 'मण्डूक-सूक्त'में परमात्माका निरूपण किया हुआ है। कौन? बोले कि जो कारणमें भी रहे और कार्यमें भी रहे और कारण-कार्य दोनोंसे न्यारा भी रहे।

अब देखो, मण्डूकके चार पाँव होते हैं। ये मण्डूक उछलते भी खूब हैं। व्याकरणोंमें एक 'मण्डूक-प्लुति' न्याय मानते हैं। एक सूत्रकी अनुवृत्ति जब दो-तीन सूत्र बीचमें छोड़कर, और बाद वाले सूत्रमें हो जाती है, तब उसको 'मण्डूक-प्लुति' बोलते हैं भला! अच्छा तो, चींटीकी चालमें और मेढककी चालमें फर्क होता है कि नहीं? चींटी एक-एक पाँव सम्हाल कर रखती है और कायदेसे अपने गन्तव्य पर पहुँचती है। लेकिन मेंढक छलाँग भरकर हजारों चींटीको बीचमें छोड़ दे और अपने लक्ष्य पर पहुँच जाय। तो वह छलाँग भरनेमें थोड़ा ऊपर उठता है।

तो यह आत्माका ज्ञान प्राप्त करना हो तो थोड़ा पीछे होकर, फिर ऊपर उठना

होता है। पीछेको होकर माने यह जो इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जा रही हैं, उधरसे उनको हटाना। यह हटाना भी कोई सार्वकालिक नहीं है। हमेशाके लिये हटाना— उसका यह मतलब नहीं होता। यह मत समझना कि हमारा धन छूट जायेगा, मकान छूट जायेगा, स्त्री-पुत्र छूट जायेगा। उसका मतलब होता है कि ऊपर उठनेकी कला मालूम होनी चाहिए। यह एक कला है। क्या कला है? इन्द्रियोंके द्वारा जिन वस्तुओंका ज्ञान होता है, उनसे हट जाना। और फिर, इन्द्रियोंसे हट जाना। इन्द्रियोंको भी जहाँ-का-तहाँ छोड़ देना और फिर अविद्याको भी जहाँ-का-तहाँ छोड़ देना।

तो देखो, स्थूल-शरीरप्रधान एक पाद, सूक्ष्म शरीरप्रधान द्वितीयपाद और अविद्याप्रधान तृतीयपाद इसको बोलते है, विश्व तैजस् और प्राज्ञके लिए तीन अवस्था-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। लेकिन ये आत्मदेव तो उनसे बिलकुल न्यारे हैं। तो छलाँग भरकर जैसे शेर अपने शिकार पर झपट पड़ता है, जैसे संन्यासी अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये हजारों कष्ट सहन करता है, ऐसे ही ये आत्मानु-सन्धानकी शैली है।

जो कष्टसे डरता है, उसको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अगर आप लोग यह सोचो कि हमको टाट पर न बैठना पड़े! अपने जो डनलपके फर्निचर हैं, उन्हीं पर बैठें! तो आपको सत्संग सुननेको कैसे मिलेगा? आप सोचो कि हम एयरकण्डीशनमें ही बंद रहेंगे। तो कैसे सत्संग मिलेगा? तो भाई मेरे, थोड़ी तकलीफ तो उठानी ही पड़ती है।

तो नारायण, पहले अपनी प्रियताको अपनेमें ले आओ। तो देखोगे, तुमको फिर प्यार-ही-प्यार नजर आवेगा। हम आदमीकी बात नहीं कर रहे हैं कि हमको उस आदमीसे प्यार लेना है। हमको अमुक स्थिति हो जाये तो प्रियता मिलेगी! तो ऐसे नहीं। अपनी प्रियताको स्थितिमें मत डालो, आदमीमें मत डालो। अपनी प्रियताको बैकुण्ठमें मत भेजो, स्वर्गमें मत भेजो! प्रियताको विलायतमें मत भेजो। तुम्हीं जो हो, उसीमें तुम्हारी प्रियता समायी हुई है और उसमें अगर तुमको तृप्ति नहीं होती है और बाहर किसीसे प्रीति जोड़ते हो तो वह दुःख देगा भाई! तुम तृप्तिको जो अप्राप्त मानते हो, सबसे बड़ा दुःख यह है। तुम विज्ञानको अप्राप्त मानते हो, यह दोष है। तुम जो अपनी अखण्डता, अमरता, ब्रह्मताको अप्राप्त मानते हो, यह दोष है और यह अज्ञानका कारण है। इसी अज्ञानको दूर करनेके लिये वेदान्त-शास्त्रकी प्रवृत्ति होती है।

माण्डूक्य-उपनिषद् पर गौड़पादाचार्यने चार प्रकरण लिखे हैं। चार प्रकरणका अर्थ यह होता है—जाग्रत्-अवस्थामें चेतनका नाम 'विश्व' है, स्वप्नावस्थामें चेतनका नाम 'तैजस' है, सुषुप्ति-अवस्थामें चेतनका नाम 'प्राज्ञ' है। बोले भाई कि 'तुरीय' किस अवस्थामें उसका नाम है? तीनोंमें 'तुरीय' है। **'तुरीयं त्रिषु सन्ततम्'**। 'तुरीय' नामकी चौथी अवस्था नहीं है। इसी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें तुरीय है। एक-एक अवस्थाके सम्बन्धसे उसका नाम विश्व, तैजस, प्राज्ञ है और अवस्थाओंका अपवाद कर दो तो उसका नाम 'तुरीय' है। इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हीं 'तुरीय' हो! एक, दो, तीन—यह माया है। 'तम' तीन हैं, 'रज' दो हैं और 'सत्त्व' एक है और 'आत्मा' जो है, वह अद्वितीय, तुरीय है।

इस वेदान्तके प्रसंगमें माण्डूक्य उपनिषद्‌में ही एक ऐसी बात कही है,

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥ (गौड. का. १.५)

तीनो अवस्थाओंमें जो भोग्य है—जाग्रत् अवस्थामें स्थूल भोग, स्वप्नावस्थामें सूक्ष्मभोग और सुषुप्ति अवस्थामें आनन्दभोग और इनमें जाग्रत् अवस्थामें विश्व भोक्ता, स्वप्नमें तैजस भोक्ता और सुषुप्तिमें प्राज्ञ भोक्ता—इन दोनोंको जानता है माने तीनों अवस्थाओंके भोग्य और भोक्ता—दोनोंको जो जानता है, **'स भुञ्जानो न लिप्यते'**—वह तुरीय तीनों अवस्थाओंमें भोग करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। वह विश्वके साथ कर्म करेगा, तैजस्‌के साथ मनोराज्य करेगा, प्राज्ञके साथ आनन्द भोगेगा और भोग करता हुआ भी कहीं भी वह आबद्ध नहीं होगा, आसक्त नहीं होगा।

तो यह जो उपनिषद् है, इसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और विश्व, तैजस्, प्राज्ञ—इन तीनोंका वर्णन करके तुरीयका वर्णन किया। तो तत्त्वका निरूपण करनेके लिए इसने चार विभाग बनाया। चार विभागमें बारह मन्त्र हुए।

अब श्री गौडपादाचार्य जी अपनी कारिकाओंको चार विभागमें बाँटते हैं—एक विभागमें तो यह बात कही गयी कि आत्मा ब्रह्म है। यह 'आगम-प्रकरण' है इसका प्रमाण वेद है। क्योंकि, इसमें दूसरेकी गति नहीं है। यह युक्तिसे सिद्ध करनेकी चीज नहीं है। वह तो जिनकी बुद्धि कमजोर होती है, उनको विद्वान् लोग युक्तियोंसे हरा देते हैं। दूसरा विभाग है, युक्तियोंसे द्वैतको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये 'वैतथ्य-प्रकरण' और तीसरा युक्तियोंसे अद्वैतको सिद्ध करनेके लिए है 'अद्वैत-प्रकरण' तथा चौथा, निरुपाधिक तत्त्वका, यथार्थका निरूपण करनेके लिये है 'अलातशान्ति-प्रकरण'।

तो देखो, पहलेमें श्रवण है, दूसरेमें मनन है, तीसरेमें निदिध्यासन है और चौथेमें साक्षात्कार है। व्यवहारमें वेदकी प्रधानता है और अन्तःकरणमें दृश्यके मिथ्यात्व और आत्माके सत्यत्वका निरूपण करनेके लिए युक्तियोंकी प्रधानता है। तो जो संसारको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए युक्ति है, वह 'मनन' है और जो आत्माको सत्य सिद्ध करनेके लिए युक्ति है, वह 'निदिध्यासन' है। क्योंकि, उसमें आत्माकार-वृत्ति होती है। और, जिसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन सब बाधित होकर केवल आत्मसत्य **'आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा'**का, आत्मवस्तुका जो निरूपण है, उसको 'अलात-शान्ति-प्रकरण' बोलते हैं।

देखो जी, आजकल जिसको बुद्धिवाद बोलते हैं न, वह बुद्धिवाद नहीं है। वह ऐन्द्रियकवाद है। आजकलका प्रत्यक्ष-प्रमाण यन्त्रके बल पर है। तो आज प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, ये सब-का-सब इन्द्रियवाद है। माने इन्द्रियाँ जिसको सच बतावें, सो सच और इन्द्रियोंकी जहाँ गति न हो, सो सच नहीं। इन्द्रिय जिसको प्रिय—बतावें सो प्रिय। तो यह तो इन्द्रियवाद हुआ। एक भी इन्द्रियमें ऐसा सामर्थ्य नहीं जो सबका पूर्ण ज्ञान करा दे। किसीकी आँखमें सामर्थ्य है कि वह गन्धका ज्ञान करा दे? किसीकी नाकमें सामर्थ्य है कि वह रूपका ज्ञान कस दे? किसीकी जीभमें सामर्थ्य है कि शब्दका ज्ञान करा दे। तो जब कोई भी इन्द्रिय पूर्णताका ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं है, तो इस इन्द्रियवादके द्वारा परमात्माका ज्ञान कैसे होगा? परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? तो उसके लिए तो दूसरी युक्ति, कोई दूसरी महिमा होती है।

तो नारायण, यह 'माण्डूक्य-कारिका' ऐसा ग्रन्थ है, जो ऐसा साक्षात् अपरोक्ष, परमात्माका दर्शन करावे कि चलते, फिरते, सोते, बैठते, खाते, पीते, व्यवहारका लोप न होये और परमात्माका अखण्ड दर्शन होये। जो लोग व्यवहारका लोप करके परमात्माका दर्शन करना चाहते हैं, वे तो सब-के-सब द्वैतवादी हैं। व्यवहारका लोप होने पर ही अगर परमात्माका दर्शन होगा तो व्यवहार दूसरी चीज हुई और परमात्मा दूसरी चीज हुई। सो वह द्वैत-वाद हुआ। अद्वैत-वादकी विशेषता यह है कि इसमें परमार्थ और व्यवहार, दो नहीं होते। परमार्थमें भी व्यवहार है और व्यवहारमें भी परमार्थ है। इसलिये, यह न किसीकी जातिको, न सम्प्रदायको, न धर्मको, न धनको, न रहनीको बदले और परमार्थ, ऐसा साक्षात् अपरोक्ष हो जाये कि—

सोवत बैठत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने।

जिज्ञासु सावधान!

अच्छा, अब वेदान्तका विचार करनेके लिए एक, दो बात उसकी मर्यादाके रूपमें सुनाता हूँ।

शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि,

'स्वविषयशूराणि प्रमाणानि भवन्ति'

अर्थात् जितने प्रमाण होते हैं, वे अपने-अपने विषयमें बहादुर होते हैं। इसका मतलब क्या है कि वस्तुका जो दर्शन है, साक्षात्कार है, वह प्रमाणसे होता है। तो प्रमाणका अर्थ श्लोक नहीं है। गाँवमें बच्चे क्या करते हैं कि एक दोहा बोल दिया कि देखो, यह बात दोहेमें लिखी है। ऐसे दोहे तो हम दिन भरमें हजार बना दें। बोले—भाई कि यह देखो, श्लोकमें लिखा है। श्लोकको प्रमाण नहीं बोलते हैं। महाभाष्यकारने कहा, **'किं भो श्लोकाः प्रमाणम्?'**—क्यों जी श्लोकका नाम प्रमाण है? हमारे तो कई पण्डित 'घटिकाशतक' होते हैं। माने एक घड़ीमें सौ श्लोक बिलकुल नये बनाक़र दे दें। काशीमें एक पंडित थे शास्त्रार्थ महारथी वेणी माधवाचार्य। उनको 'घटिकाशतक' बोलते थे। तो एक दिन सभामें व्याख्यान देनेके लिए खड़े हुए तो किसीने उसी दिनका 'आज' समाचार-पत्र उनके हाथमें दे दिया कि इसका अग्रलेख सुनाओ और उन्होंने उसी समय आजका अग्रलेख श्लोकोंमें सुना दिया।

तो नारायण, कोई वस्तु छंदोबद्ध होनेसे प्रमाण नहीं हो जाती। छंदस्में प्रमाणकी शक्ति नहीं होती। तो **'स्वविषय शूराणिप्रमाणानि'**। अगर रूपके बारेमें कोई बात बतानी है तो वह आँखसे देखकर बतायी जायेगी। भले ही दूरबीन लगाओ खुर्दबीन लगाओ। लेकिन, गंधके बारेमें बताना हो तो आँख बिलकुल बेकार! ठन-ठनपाल!! और, रूपके बारेमें बताना हो तो नाक बेकार! तो इसका मतलब हुआ कि गंधके बारेमें नाक प्रमाण, रसके बोरमें जीभ प्रमाण, रूपके बारेमें आँख प्रमाण, स्पर्शके बारेमें त्वचा प्रमाण, शब्दके बारेमें कान प्रमाण। लेकिन ये पाँचों जिसमें होवें, उसके बारेमें कौन प्रमाण? तो उस समय फिर इन इन्द्रियोंकी गति नहीं होगी। इन पाँचोंके द्वारा पाँचोंको ग्रहण करनेवाला जो मन है न, वह प्रमाण है। एक गुलाबकी पंखुड़ी हाथमें लो तो नाकने कहा गन्ध है, जीभने कहा कि कड़वा है, आँखने कहा कि गुलाबी रंग है, त्वचाने कहा कि कोमल स्पर्श है और मनने कहा कि इसका नाम गुलाब है भाई, इसमें सब रहता है। तो असाधारण करण है इन्द्रियाँ और सबमें साधारण करण है मन।

अब देखो, यह ईश्वर है, यह बात किस प्रमाणसे जानोगे? आँखसे तो पूरा ईश्वर दिखायी नहीं पड़ेगा। नाकसे पूरा ईश्वर सूँघा नहीं जायेगा। जीभसे पूरे ईश्वरको चाटकर पता नहीं चलेगा। त्वचासे छूकर ईश्वरका पता चलेगा नहीं।

हमारे एक मित्र थे और उम्रमें बहुत बड़े थे और तर्क-विद्यामें बड़े निपुण थे। वे कहते थे कि हमको ईश्वर अभी मिला नहीं है, हम ईश्वरकी तलाश कर रहे हैं। तो मैंने पूछा कि बाबूजी, कैसे पहचानोगे कि ईश्वर यह है! बोले कि ईश्वर उसको कहते हैं, जो सृष्टि बनावे, सबका पालन-पोषण करे और संहार करे। तो जब कोई भी हमारे सामने सृष्टिका पहले संहार करेगा और फिर बनावेगा और फिर उसका पालन-पोषण करेगा, तब तो हम मानेंगे कि ये ईश्वर है और अगर हमको यह करके न दिखावे तो हम उसको ईश्वर मानेंगे ही नहीं। तो मैंने पूछा कि अच्छा बाबूजी, जब वह सृष्टिका प्रलय करेगा तो तुम्हारे शरीरको, इन्द्रियोंको, मनको छोड़कर प्रलय करे कि इनके सहित प्रलय करे? तो बोले कि देखो, अगर इनको छोड़कर प्रलय करेगा, तब तो ईश्वर होगा ही नहीं और इनके सहित प्रलय कर देगा तो मैं देखूँगा कैसे?

तो इसका मतलब है कि हमारा ईश्वर जो है, वह इस तरह तलाश करनेसे नहीं मिलेगा। ईश्वरको ढूँढनेकी पद्धति कुछ और है। अच्छा, कोई कहे कि हम देखेंगे कि ईश्वर सृष्टि कैसे बनाता है। तो वह तो भूतमें सृष्टि बनायी। अब वहाँ तुम्हारी बुद्धि कैसे पहुँचेगी? अनादि भूत—भूतके भी पहले, उससे भी पहले, उससे भी पहले अनादि सृष्टि ईश्वरने कैसे बनायी, वहाँ तुम्हारी बुद्धि कैसे पहुँचेगी? अच्छा अन्तमें प्रलय कैसे होगा? वह भविष्य तो अनन्त है। वहाँ तुम्हारी बुद्धि कैसी पहुँचेगी? तो असलमें ईश्वरको देखनेकी जो रीति है, वह दूसरी है।

अच्छा, बोले भाई कि कृष्ण आये, राम आये, शिव आये, विष्णु आये, देवी आयी, गणेश आये, सूर्य आये, सामने प्रकट हुए। बोले कि ईश्वर है। तो उनको तो सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते किसीने देखा ही नहीं है और वे नन्हेंसे महाराज एक देशमें खड़े हैं और एक कालमें प्रकट हुए हैं और एक तो उनका रूप है। यह कैसे मालूम पड़ेगा कि साढ़े तीन हाथ देशमें खड़ा जो व्यक्ति है, यह देशको बनानेवाला है, यह पचास-सौ वर्षकी उम्रको जो लेकर आनेवाला है, यह कालको बनानेवाला

है और एक रूपमें जो खड़ा है, उसने समूची नाम-रूपात्मक सृष्टिको बनाया है। यह बात किस प्रमाणसे सिद्ध होगी?

तो नारायण, ईश्वरको ढूँढनेका यह तरीका नहीं है। यही बात आदमी यदि अपने आप चाहे कि हम शास्त्र पढ़कर ढूँढ लेंगे, तो यह बात नहीं मिलती है। इसके लिए,

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डक, १.२.१२)

अर्थात् उसका विज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, शान्त सद्गुरुकी शरणमें जाये।

तो सद्गुरु जो है, वह यह कहता है कि देखो, तुम्हारे हृदयमें एक प्रज्ञान है।

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वादु अस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदाहृतम्॥

जिससे देखता है, जिससे सुनता है, जिससे सूँघता है, जिससे बोलता है, जिससे रस, विरसको जानता है, जिससे कठोर, कोमलको छूता है, वह एक 'प्रज्ञान' है—**'तत्प्रज्ञानमुदाहृतम्'**। अब नारायण, यह जो प्रज्ञान है, यह तो देशका भी प्रज्ञान है और कालका भी प्रज्ञान है। और प्रज्ञानका स्वभाव देखो, क्या मजेदार है!

जैसे सामने एक गणेशकी मूर्ति है, चित्र है। तो आँखसे जब गणेशको देखते हैं, तो केवल देखने भरसे ही गणेशका पता नहीं चलता है। विलायतमें ले जाकर वह चित्र रख दो तो कौन कहेगा कि यह गणेश हैं। अच्छा मुसलमानके सामने ले जाकर रख दो तो कहाँ कहेगा कि यह देवता है! अब देखो, आँख जो है, वह इस रंगीन अंकित आकृति विशेषको हृदयमें पहुँचा देती है। तो आँखमें एक चित्र बनता है और देवता संस्कार संस्कृत मनसे देवताका ज्ञान होता है। तो हम अपने भीतर आयी हुई आकृतिको जानते हैं। जैसे फोटो लेते समय कैमरेके भीतर बाहरकी चीज चली जाती है, वैसे ही यह दिलके कैमरेमें यह आकृतिका चली गयी। तो अब क्या हुआ कि हमारे दिलका जो द्रष्टा वही है। तो हुआ क्या कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और गणेशाकृति-अवच्छिन्न चैतन्य—ये दो नहीं हुए, एक हो गये। एक कब हुए? जब यह हमारे दिलमें गया। जहाँ तक हम इसको बाहर मानते हैं, तो बाहरपने सहित गणेश हमारे हृदयमें है। तो एक मिनटके लिए,

इतने स्थानमें यह जो चित्र दीख रहा है, यह चित्र इतने देशमें, इतने कालमें जब हमारी बुद्धिमें आया तब इस चित्रावच्छिन्न चैतन्यका बुद्ध्यावच्छिन्न चैतन्यसे एक होने पर हमें चित्रका ज्ञान होता है। माने तब यह आकृति बुद्धिस्थ हो गयी, तब चित्रावच्छिन्न चैतन्य और बुद्ध्यावच्छिन्न चैतन्य दो नहीं रहे। वेदान्तमें यह प्रक्रिया शुरू-शुरूमें ही पढ़ाई जाती है कि जब अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वृत्तिरूप नालीमें आरुढ़ होकर विषय रूप क्यारीमें जाता है और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और घटावच्छिन्न चैतन्य दोनों जब एक हो जाते हैं, तब घटका ज्ञान होता है। अतः दोनों एक हुए बिना किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता।

नारायण, अब देखो, यह संसारका ज्ञान हमको हो रहा है। सो भी क्या हो रहा है? आप समझो कि मकानकी दीवारके उस पार जो है, वह तो हमारे मनमें ही है। अरे, इन्द्रियाँ तो थोड़ा बहुत बाहरका देखकर उनका फोटो लेती है। उसमें भी बहुत सारा फोटो पहलेका लिये हुए रखा है और जब हम मकानके बाहरकी किसी वस्तुकी कल्पना करते है, तो वह भीतर ही दिखती है। यह नहीं समझना कि हमारी आँख उस वस्तुको देखकर आती है और बाहर जाकर भी देखते हैं तब भी वह आँखके रास्ते भीतर जाकर ही दिखती है। तो देखनेका तरीका ही यह है कि जो हमारे प्रज्ञानमें नहीं आवेगा, जब तक विषय वृत्तिमें नहीं आवेगा और अन्तःकरणमें रहनेवाला चैतन्य और विषयमें रहनेवाला चैतन्य दोनों यदि दो देशमें रहेंगे तो वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। जिस देशमें अन्तःकरण है, उसी देशमें विद्यमान विषयका ज्ञान होता है। बर्हिदेशमें विद्यमान विषयका ज्ञान होता ही नहीं। नारायण, इसलिये भाई, थोड़ी-सी वेदान्तकी प्रक्रिया भी समझनी चाहिए।

तो अब यह समझो कि सम्पूर्ण देश, सम्पूर्णकाल और सम्पूर्ण वस्तुओंकी जो इकाई है, उसको 'ईश्वर' बोलते हैं। संवत्सर समष्टि—हजारों-हजारों वर्ष जो बीत रहे हैं, वे जिसमें डूबते हैं और जिसमें निकलते हैं और हजारों-हजारों पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऊपर, नीचेकी जो ऊर्ध्वाधः समष्टि है, देश-समष्टि, काल-समष्टि और द्रव्य-समष्टि—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश—ये सब जिस इकाईमें डूबते हैं और उतराते है, उस एकको 'ईश्वर' कहते हैं। एकके बिना दो हो नहीं सकता, तीन हो नहीं सकता, चार हो नहीं सकता और तीन, चार, पाँच, छः सब जाकर एकमें मिल जाते हैं और उस एकको हम कहाँ जानते हैं? अन्तःकरणमें ध्येयरूपसे कल्पित रूपसे जब वह आता है, तब उस एकत्वावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, दोनोंकी जब एकता होती

है माने ईश्वर जब हमारे अन्त:करणमें आरूढ़ होता है, तब हमको ईश्वरका ज्ञान होता है।

परन्तु श्रुति भगवती कहती है कि असलमें विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य स्वरूपसे दो है ही नहीं।

अब इसको आप ऐसे देखो! रज्जुमें एक सर्प दिख रहा है। तो सर्प तो भ्रान्तिसे दिख रहा है। क्योंकि, रज्जु ठीक-ठीक नहीं दिखी, इसलिए सर्प दिख रहा है। तो सर्पका रज्जुके साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं है। रज्जुमें वह तो है ही नहीं। अब जो रज्जुमें दीखनेवाला सर्प है, वह शुद्ध रूपसे हमारी वृत्तिमें है कि नहीं? हाँ भाई, वह शुद्ध रूपसे हमारी वृत्तिमें है, रज्जुमें नहीं है। तो वहाँ सर्पावच्छिन्न चैतन्य और अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य बिलकुल एक है कि नहीं? वहाँ सर्पनामका विषय अलग है ही नहीं। अब इसी प्रकार समझो कि जिसको हम 'एक' बोलते हैं, वह हमसे अलग नहीं है। **'एति इति एकः एति व्याप्नोति'**—माने जो सबमें व्याप्त होता है, उसको 'एक' कहते हैं। जो सबमें अनुवृत्त है और सबसे व्यावृत्त है, उसको एक बोलते है। अब यह जो एकत्वावच्छिन्न चैतन्य है और अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य है, इन दोनोंको महावाक्य **'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म'**—एक बताते हैं।

तो ठीक है, ईश्वरावच्छिन्न चैतन्य और जीवावच्छिन्न चैतन्य दोनों तो एक है। परन्तु, यह जीव जो अपनी सृष्टिमें डूबा हुआ है और ईश्वर, जो अपनी सृष्टिमें लगा हुआ है—यह दोनोंकी सृष्टि क्या है? यह प्रश्न उठता है।

तो श्रुति कहती है कि परब्रह्म परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। अच्छा जी, श्रुतिकी बात क्यों कहते हैं? इसलिये कि सारे प्रमाण अपने-अपने विषयमें बहादुर होते हैं। 'बहादुर' माने **'बृहद् उरो यस्य'**—अर्थात् जिसकी छाती चौड़ी हो अथवा **'बृहत् भारं वहति उरो यस्य'**—जो अपनी छाती पर बहुत बोझा ले ले, वह 'बहादुर' है।

तो नारायण, परिपूर्ण, अपरिच्छिन्न वस्तुको समझानेमें ये आँख, कान, नाक, जीभ आदि कोई समर्थ नहीं है। ये तो असलमें सब-के-सब प्रत्यक्षके दास हैं। कैसे? देखो, 'प्रत्यक्ष' शब्दका क्या अर्थ होता हैं? **'अक्षं अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम्'**। एक-एक आँखका जो अलग-अलग हो उसको 'प्रत्यक्ष' बोलते हैं। माने एक-एक इन्द्रियका अलग-अलग। तो श्रोत्र-प्रत्यक्ष, त्वक्-प्रत्यक्ष, चाक्षुष-प्रत्यक्ष, रासन-प्रत्यक्ष, घ्राण-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष—एक-एक इन्द्रियका जुदा-

जुदा हुआ। अब ये पूर्ण वस्तुको लखानेमें समर्थ नहीं है और जब प्रत्यक्षसे पूर्णता देखी जा नहीं सकती, तो अनुमान भी नहीं हो सकता। क्योंकि, अनुमान तो प्रत्यक्षका गुलाम है। व्याप्ति ग्रह प्रत्यक्षसे होता है और तभी अनुमान होगा। तो इसमें भी यह बात जानना कारणको देखकर कार्यका अनुमान, कार्यको देखकर कारणका अनुमान और सामान्य रूपसे सम्बन्ध देखकर अनुमान—ये सारे-के-सारे अनुमान प्रत्यक्षमूलक हैं और प्रत्यक्षफलक हैं। अनुमानसे जो चीज जानी जायेगी, उसका भी प्रत्यक्ष होगा और बिना प्रत्यक्षके अनुमान होगा नहीं। अब देखो, उपमान भी प्रत्यक्षका ही होता है। अर्थापत्तिमें भी प्रत्यक्ष ही होता है। यद्यपि प्रामाणिक लोग उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—इन तीनोंको अनुमानका अंग मानते हैं। परन्तु, विचार करके देखें तो अभावके प्रत्यक्षका नाम 'अनुपलब्धि' है और पीनत्वसे भोजनके अनुमानका नाम 'अर्थापत्ति' है गो देखकर गवयका जो निश्चय है वह 'उपमान' है। तो ये सब प्रत्यक्षके ही भेद हैं।

अब यह ईश्वर जो है, यह न प्रत्यक्षसे, न अनुमानसे, न उपमानसे, न अर्थापत्तिसे और न हीअनुपलब्धिसे जाना जाता है। और, ईश्वर कोई इतिहासका विषय हो तो हमारे किस कामका? बोले कि कभी ईश्वर था तो आज कहाँ गया? अरे, ईश्वर तो वर्तमान है न! इसलिए, ईश्वर ऐतिह्यका विषय नहीं है। बोले कि अच्छा, सम्भव-प्रामाण्यसे ऐसा होना शक्य है। तो संशयकी निवृत्ति नहीं होगी। अच्छा, किसी चेष्टासे ईश्वरको दिखाओ! तो चेष्टासे भी ईश्वरका पता नहीं लगेगा। नाचो, गाओ, तोड़ो तान—तब भी ईश्वर नाटक-प्रमाणसे नहीं मालूम पड़ेगा। अभिनयकी प्रामाणिकतासे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होगी। अब जो है, ईश्वरके बारेमें प्रमाण क्या होगा?

देखो, प्रमाण तो वह होता है, जो वस्तुका साक्षात्कार करा दे! तो नारायण, ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे बड़ा प्रमाण जो है, वह आत्माका अस्तित्व है और श्रुति कहती है कि, **'अयमात्मा ब्रह्म'**—यह आत्मा जो है, यह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। तो आत्मा और ब्रह्म तो एक हो गये। शान्त, शिव, अद्वैत है। यह विश्व भी नहीं है, तैजस भी नहीं है, प्राज्ञ भी नहीं है, विराट् भी नहीं है, हिरण्यगर्भ भी नहीं है, ईश्वर भी नहीं है। यह क्या है? **'शान्तं शिवमद्वैतम्'** यह शान्त, शिव, अद्वैत है। **'अलक्षणं अचिन्त्यं अव्यपदेश्यं अव्यवहार्यं'**—यह इसका स्वरूप श्रुतिने बताया।

अब यह हुआ कि भाई, आत्मा तो ब्रह्म है। पर, यह दृश्य पट्ठेका क्या होगा?

इतनी बड़ी जो यह दुनिया दीख रही है, यह क्या है? बोले कि देखो, यह दुनिया तभी तक बड़ी भारी मालूम पड़ती है, जबतक अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता। यह जितना प्रमाण-प्रमेय व्यवहार है, यह सारा-का-सारा परब्रह्म परमात्माको न जाननेकी ही स्थितिमें है। पर ब्रह्म परमात्माको जान लेनेके बाद विषय-विषयीपनेका व्यवहार प्रमाता-प्रमेयपनेका व्यवहार अपने आप लुप्त हो जाता है। **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं'**—(मुण्डक, २.२.११)—सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है। **'आत्मैवेदं सर्वं स एवेदं सर्वं, अहमेवेदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वं'**। सब प्रकारसे श्रुति इसका वर्णन करती है। **'सद् हीदं सर्वं चिद् हीदं सर्वं, एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै, एकमेवाद्वितीयम्'**। श्रुति भगवती यह वर्णन करती है कि परमात्माके सिवाय और दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। बस, परमात्मा-ही-परमात्मा।

बोले कि प्रमाणकी चर्चा तो अभी थोड़ी और रह गयी! क्या रह गयी? परमात्माको समझानेमें यह श्रुति ही प्रमाण क्यों? तो आपको पहले बताया कि जो नाकका विषय है, उसको नाक ही बता सकती है, आँख नहीं बता सकती और जो आँखका विषय है, उसीको आँख बता सकती है, उसको नाक नहीं बता सकती। तो प्रमाण बोलते ही उसको हैं, जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत और प्रमाणान्तरसे अबाधित वस्तुका साक्षात्कार करावे और स्मृतिरूप न होवे। **'स्मृति व्यावृत्तः'** स्मरण न होवे। ऐसा क्यों?

देखो, स्मृति तो कभी ऐसी गड़बड़ा जाती है कि पच्चीस वर्ष पहलेकी बातको पन्द्रह वर्ष पहलेकी बताती है और पाँच वर्ष पहलेकी बातको बीस वर्ष पहलेकी बताती है। और, स्मृति तो, संस्कारसे होती है। झूठेका भी संस्कार होता है और सहीका भी संस्कार होता है। तो 'स्मृति' प्रमाण नहीं होती।

अब अपने मनमें जो कल्पनाएं बना लेते हैं वे कल्पनाएं भी प्रमाण नहीं होती हैं। कल्पना कर ली कि ऐसा, ऐसा, ऐसा, है महाराज! ऐसा, ऐसा करनेसे कोई ऐसा थोड़ा ही हो जाता है!

तो ईश्वरके बारेमें कहते हैं कि श्रुति प्रमाण है। जो चीज हमारे सामने हो और हम पहचानते न हों, उसमें क्या प्रमाण हो सकता है?

कहते हैं कि एक आदमी था, जब उसका बाप मर गया तो घरमें एक सन्दूकमें बिलकुल चमचम चमकते पत्थर रखे हुए उसे मिले। अब उसने सोचा कि हमारे घरमें तो इतने हीरे हैं! सो हम बहुत धनी! उसने सोचा कि किसीको बता देंगे तो सरकारको पकड़वा देगा अथवा हमको ठग लेगा। अतः कोई

प्रामाणिक व्यक्ति चाहिए। उसके चाचा बड़े जौहरी थे, सो उनके पास गया और उनको एक पत्थर दिखाया और पूछा कि इसकी कितनी कीमत है? चाचा देखते ही पहचान गये कि यह तो कुछ नहीं है। लेकिन सोचा कि अभीसे बतावेंगे तो विश्वास नहीं करेगा। यह चाचा-भतीजेका स्वाभाविक बैर माना गया है। शास्त्रमें लिखा है कि साँप और नेवलेकी तरह बैर होता है। दुनियामें होता है कि नहीं होता—यह तो हमको ज्यादा मालूम नहीं है। नहीं होता है तो उसकी हम तारीफ करते हैं, निन्दा थोड़े-ही करते हैं। बैर बढ़ाना तो कोई काम नहीं है।

तो उसके चाचाने सोचा कि हम बतावेंगे तो काम बिगड़ जायेगा। वह बोला कि देखो बेटा, हम तो हो गये बूढ़े! अब हमारी आँखसे ठीक दिखता भी नहीं और हमारे लड़के इस विषयमें बड़े निपुण हैं। परन्तु, तुम यह करो कि छः-आठ महीने उनके साथ काम करो और तुम खुद सीखो कि हीरा कैसा होता है? अब महाराज, उसने अभ्यास किया। लगन तो बड़ी थी, धनी होनेका शौक भी था कि हमारे पास इतने हीरे निकलेंगे। सो छः महीनेमें इतना निपुण हो गया कि कोई कैसा भी हीरा लावे और वह देखकर ही बता दे कि यह इतनी कीमतका है, यह ऐसा है। तो एक दिन उसके मनमें आया कि हमारे घरमें भी बहुत हैं, जरा देखें तो! अब उसने पेटीमें-से निकालकर एक हीरा देखा तो वह तो काँच था, दो आनेका था।

एक बार दादाजीको एक हीरा मिला था। तो दो-तीन दिन वह हीरा रहा। बदरीनाथ पहुँचते-पहुँचते वह काँच हो गया।

देखो, एक प्रसंगान्तर आपको सुनाता हूँ कि यह मन आदमीको कितनी तकलीफ और कितना दुःख देता है! हुआ यह कि बदरीनाथके रास्तेमें दादाजीकी घड़ी खो गयी। उन दिनों सौ, सवा सौ रुपयेकी होगी। चार-पाँच मील आगे जाने पर पता चला था कि घड़ी कहीं गिर गयी है। तो हम तो बदरीनाथके रास्तेमें आगे बढ़े और दादाजी घड़ी ढूँढनेके लिए लौट आये। चार-पाँच मील पीछे लौटकर आये, कितनी माटी हटायी, कई जगह नीचे उतरे! पर घड़ी नहीं मिली। अब जब लौटकर आये तो हम भी बहुत नाराज हुए कि तुम हमको छोड़कर घड़ी ढूँढनेमें लग गये। हमको बहुत प्यास लगी है। हमसे भी ज्यादा कीमती घड़ी है क्या? अब ये तो बड़े दुःखी थे। इसी बीचमें एक झरने पर पानी लेनेके लिए गये। वहाँ एक अँगूठी गिरी हुई थी। उसमें एक पत्थर लगा था, वह चमचम चमकता था। तो दादाजी उठाकर ले आये। तो मैंने कहा कि देखो किसी यात्रीकी होगी और वह अब बदरीनाथ चला गया होगा, सो वहाँ डालना ठीक नहीं है। चलो, लेते चलें।

अब दादाजीको बड़ी खुशी हुई कि घड़ी गयी और अँगूठी मिल गयी। वह घड़ी बिलकुल भूल गये। अब बदरीनाथ पहुँचकर वहाँ क़िसीको बताया कि यह अँगूठी कितनेकी? उसने कहा कि चार आनेकी।

अब इससे हुआ क्या? हुआ यहा कि दो हजारकी कल्पनाने सौ रुपयेकी घड़ी भुला दी और बादमें जब वह दो हजारके चार आनेकी हुए तो कोई तकलीफ नहीं हुई। बोले कि वह तो हमारी थी ही नहीं। लेकिन घड़ीका जो दुःख था, वह कल्पनासे, कल्पित-सुखसे मिट गया। तो यह जो मनमें सुख-दुःख होता है, वह बिलकुल कल्पनासे होता है। अब उस आदमीको यह ख्याल था कि हम तो करोड़पति हो गये, हमको इतने हीरे मिले। जब जाँच करनेका ख्याल आया—एक देखा तो वह तो पत्थर दो आनेका! दूसरा उठाया तो वह भी, तीसरा उठाया तो वह भी! सारा-ही बाहर उड़ेल दिया।

तो नारायण, यह जो सृष्टि है, जिसको हम लोग परब्रह्म परमात्मासे जुदा, कीमती समझते हैं—यह तो जब तक हमको जाँच करना नहीं आता है, तभी तक़ इसको कीमती समझते हैं। असली, नकलीकी पहचान नहीं है। असल और नकलकी पहचान होवे तो यह जो संसार हमको बड़ा महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है, बड़ी कीमती चीज मालूम पड़ती है, इसमें कुछ नहीं है। धोतीके नीचे सब नंगे है। सब जिन्दगीके साथ मौत लगी हुई है। सब प्यारमें बेवफाई छिपी हुई है। यह संसारकी स्थिति हैं भला! सारे अस्तिमें नास्ति लगी हुई है। वेद भगवान् कहते हैं—

'अश्वत्थे वो निवसनं पर्णे वो वसतिः कृता' (यजुर्वेद)

आप कहाँ रह रहे हैं? पीपलके पेड़पर। और **'पर्णे वो वसतिः कृता'**—वहाँ भी कहाँ? पीपलकी डाली पर तो भूत रहते हैं और आप तो पीपलके पत्तेपर रह रहे हैं, जो जरा-सी हवा आते ही बिलकुल हिलने लगता है। जरा-सी बयार आयी और हिला और आप गिरे। जैसे ओसकी बूँद पत्ते पर लटकी हुई हो और पत्ता जरा हिला और बूँद नीचे गयी। यही जिन्दगी है।

तो देखो, आत्मा तो ब्रह्म है। लेकिन, और सब जो दिखता है, वह कैसा? बोले कि स्वप्न-सरीखा। अब इसके प्रमांणमें श्रुति है, स्मृति है, पुराण है। यह संस्कृतका जो 'मिथ्या' शब्द है, इसका अर्थ होता है 'मिथः' माने परस्पर। आँख किसको कहते हैं? जो रूपको देखे। रूप किसको कहते हैं? जो आँखसे दिखे। तो आँखकी अपेक्षासे रूप और रूपकी अपेक्षासे आँख है। इसका नाम 'मैथुन' है।

यह मैथुनी सृष्टि है। माने सहज स्वभावसे सिद्ध नहीं है। यह उत्पन्न सृष्टि है। रूप कैसे सिद्ध हुआ? आँखसे। और, आँख कैसे सिद्ध हुई? रूप से। और, दोनों किससे सिद्ध होते हैं? तो दोनों जिससे सिद्ध होते हैं, वह सच्चा और ये दोनों तो परस्पर एक-दूसरेसे सिद्ध होकर अन्योन्याश्रित हैं, मिथ्या हैं।

हम बचपनमें पुराणोंके सम्बन्धमें पढ़ते थे। तो कई अंग्रेजोंने मिथ्या शब्दके लिए 'मेथालाजी' शब्द लिखा है। उसका मूल तो 'मिथ' है। तो, यह जो मैथुनी-सृष्टि है, यह टिकाऊ नहीं है। यह मरेगी ही मरेगी। इसीसे देखो, जब परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना होता है तो केवल रूपको ही नहीं आँखको भी छोड़ना पड़ता है।

एक दिन एक सज्जन आये। बोले कि देखो जी, यह सृष्टि तो हमको आँखसे प्रत्यक्ष दीख रही है। तुम इसको मिथ्या कैसे कहते हो?

हमने कहा कि हमने कभी ऐसा नहीं कहा होगा कि रूप मिथ्या है और आँख सच्ची है। तुम आँखको तो सच्ची मानते हो और रूपको मिथ्या मानते हो। अरे भाई, अधिष्ठान ज्ञानसे अन्तःकरण भी मिथ्या होता है, इन्द्रियाँ भी मिथ्या होती हैं, तब विषय मिथ्या होता है। पहले प्रमाण मिथ्या हो जाता है। तब उस प्रमाणसे सिद्ध विषय मिथ्या होता है। माने अन्तःकरण जब बाधित होगा, तब विषय बाधित होंगे।

इसलिए, आपको जरा सपनेकी बात सुनाते हैं। इसको द्वितीय प्रकरणने लिया है। पहला प्रकरण है 'आगम-प्रकरण'। माने उपदेशका प्रकरण गुरु और शिष्यकी परम्परासे आयी बात। गुरुने कहा कि हे शिष्य, तुम परब्रह्म परमात्मा हो। इससे डरना नहीं। परब्रह्म परमात्माका बहुत सीधा अर्थ होता है। उसका मतलब यह है कि तुम जो अपनेको दुःखी मानते हो, वह झूठा है भला! दुःख तो तुमको छू ही नहीं सकता और, तुम जो अपनेको अज्ञ मानते हो, यह तुम्हारी मूर्खता जो है। माने, तुम्हारी मूर्खतामें अपराध जुड़ा हुआ है। तुम मूर्ख नहीं हो। मूर्खताके साक्षी हो। अच्छा, तुम मरनेवाले नहीं हो। तुम जन्म-मृत्युके साक्षी हो।

तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम जन्म-मृत्युसे डरो मत और तुम बेवकूफी और बुद्धिमानीका अभिमान मत करो, अपनेको संसारमें सुखी-दुःखी मत मानो। तुम्हारी तो सत्ता अखण्ड है, ज्ञान अखण्ड है, आनन्द अखण्ड है। तुम तो बिलकुल भरे, पूरे हो। यह दिनभर गाली सुनते हो न! तुम्हारा पड़ोसी तुमको बुरा कह देता है तो कितना बुरा लगता है और कोई तारीफ करता है तो कितना अच्छा लगता है। लेकिन देखो, तुम हीन नहीं हो। अपनेको हीन कभी मत समझना। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने कहा कि अपने दोषोंके ही चारों ओर मँडराना—यह

तुमको नरकमें ले जायेगा। अपने मनको अपने दोषोंके चिन्तनमें मत लगाओ। देखो, परमात्माके तुम अंश हो, परमात्माके तुम स्वरूप हो। तुम्हारे अन्दर सत् है, चित् है, आनन्द है। काहेको भटकते हो?

तो बोले भाई कि आओ, अब जीवनके सत्यपर विचार करें।

स्वामी रामतीर्थने एक जगह पर कहा कि जो लोग केवल जाग्रत-अवस्थाको ही अपना जीवन मानते हैं, उनकी नजर तो अधूरी है। अरे भाई, सपना भी तुम्हारा एक जीवन है और सुषुप्ति भी तुम्हारा एक जीवन है। सपनेमें हजार कल्पना करके भी तुम जिन्दा रहते हो और सुषुप्तिमें कोई कल्पना न रहने पर भी तुम जिन्दा रहते हो। तो तुम्हारे जिन्दा रहनेके लिए न तो जाग्रत्की जरूरत है, न सपनेकी जरूरत है। तुम तो सबसे परे हो।

तो सपना क्या होता है? आओ, पहले इसपर विचार करें। जैसे बड़े-बड़े जो धनी होते हैं, उनको यह भी पता नहीं रहता कि आज हमारे पास कितना पैसा है? एक अन्दाज होता है। जिसके यहाँ हजारों आदमी काम कर रहे हैं, लाखोंका लेंन-देन होता है, उसको एकाएक यह पूछो कि बताओ, ठीक-ठीक तुम्हारे पास कितना है? तो, ठनठनपाल! उनमें भी एक अज्ञानमूलक ही अनुमान होता है। बिलकुल ठीक-ठीक ज्ञान उनको नहीं होता। अच्छा, कोई अपनी ठीक-ठीक उम्र बता दे? एक साधुके बारेमें सुना है कि उससे चाहे जब पूछ लो कि तुम्हारी उम्र कितनी? तो वह बता देगा कि इतना बरस, इतना महीना, इतना घण्टा और इतना मिनट। सैकेण्ड तो नहीं बता सकता। क्योंकि वह जब तक सोचता है, तब तक सैकेण्डकी सुई आगे हो जाती है।

अच्छा, अपने बालोंके बारेमें आप बता सकते हैं कि यह कितने इन्चका रहता है? सारा व्यवहार अज्ञानमें है। बता सकते हैं कि आपके शरीरमें बाल कितने हैं? समझते हैं कि इनको जाननेसे कोई फायदा नहीं है, इसलिए नहीं जानते हैं। अगर इससे कुछ फायदा होनेवाला होता तो बिलकुल गिनकर रखते। ये फायदेवाले बनिया लोग बड़े विकट होते हैं। हमारा मतलब वैश्यसे नहीं बनियासे है। वह तो ब्राह्मण भी बनिया होता है। जिसके अन्दर व्यापारकी वृत्ति है, वह फायदेकी बात करता है। लेकिन, तुमको अपने सपनेका पता नहीं है।

तो आओ, सपनेके स्वरूपको जाननेके लिए माण्डूक्योपनिषद्के इस द्वितीय 'वैतथ्य प्रकरण'में प्रवेश करते हैं।



माण्डूक्यकारिका-प्रवचन

(वैतथ्य प्रकरण)

स्वप्न-पदार्थ मिथ्या क्यों?

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना॥ १॥

श्रुति कहती है कि ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। पर, हमको तो ब्रह्मातिरिक्त मालूम पड़ता है। तो श्रुति कहती है कि आओ, मनन करें, विचार करें। विचार कहाँसे शुरू करें? आओ, पहले स्वप्न और जाग्रत्‌का भली-भाँति विचार करके देख लें।

तो, '**मनीषिणः स्वप्ने सर्वभावानां वैतथ्यमाहुः**'—जो मनीषि हैं, वे स्वप्नावस्थामें सर्वभावोंका वैतथ्य बताते हैं। अब एक-एक शब्दको लेते हैं। '**विगतं तथा यस्मात् तद् वितथं, वितथस्य भावो वैतथ्यं**'—जिसमें तथापन नहीं है, उसे वैतथ्य कहते हैं। जैसा कल, वैसा आज नहीं है, उसका नाम 'वितथ' है। सपना जैसा कल आया, वैसा ही आज आवेगा? कुछ फेर-फार होगा। यह सिनेमाके पर्देपर जो चित्र दिखते हैं, वह पहले सैकेण्डमें जैसा रहता है, दूसरे सैकेण्डमें वैसा नहीं रहता—यह बात आपलोगोंको मालूम है कि नहीं? वह तो काँपती हुई रोशनी होती है। घूमती हुई रीलमें से वह तस्वीर निकलती है और रोशनी चलती हुई होती है। तो पर्दा स्थिर होने पर भी वह तस्वीर स्थिर नहीं होती।

अतः जितना हम सिनेमा देखते हैं, उसमें 'तथापन' नहीं है माने वैसापन नहीं है। पहले मिनटमें जैसा, दूसरे मिनटमें वैसा नहीं है। बदलता हुआ है। यह रील घूमती हुई है। ऐसे ही यह सपनेकी रील भी घूमती हुई है।

तो 'विगतं तथा यस्माद्'—जिसमें तथापन माने वैसापन अर्थात् जैसा भूतमें था, वैसा वर्तमानमें नहीं है, उसको 'वितथ' बोलते हैं और 'वितथ'के भावका नाम है 'वैतथ्यं'। 'वैतथ्य' माने यथार्थ नहीं, सच्चा नहीं, अबाध्य नहीं, एकरूप नहीं, एकरस नहीं।

तो स्वप्नमें जितने भी पदार्थ दीखते हैं, उनमें वैतथ्य है। माने वे ज्यों-के-त्यों नहीं होते, जैसे-के-तैसे नहीं रहते, वैसे-के-वैसे नहीं होते। वे तो बदल जाते हैं।

यह बात कौन कहता है? बोले कि मनीषि लोग कहते हैं। 'मनीषि' का अर्थ क्या होता है? देखो, मन और ईषा, मनीषा। यह मनपर जो ईशण करे वह मनीषा जिसके पास हो, उसको 'मनीषी' कहते हैं। केनोपनिषद्में आया है,—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। (१.१)

अर्थात् किसके द्वारा प्रेरित होकर और किसके द्वारा भेजा यह मन जाकर विषय पर गिरता है? माने मनका प्रेरक कौन है? केनोपनिषद्में ही इसका वर्णन है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (१.६)

तो मनकी प्रेरक होती है बुद्धि, उसको 'मनीषा' बोलते हैं। ये जो बुद्धिमान् नहीं हैं, ये मनके प्रेरक नहीं हैं। वे तो मनके सेवक हैं।

देखो, एक आदमी चौपाटीसे निकला और उसने देखा कि वहाँ चाटकी सामग्री बिक रही है। जीभपर आया पानी। तो मनने कहा कि यह खा लो। बुद्धिने कहा कि अरे! पैसा होगा, तब न खाओगे? पैसा भी है। अब चला गया और चाट खाने लग गया। उसको भूख नहीं थी। पर, चाट देखकर जीभ चली। जीभ चली तो मन चला और मन चला तो बुद्धि चली और बुद्धि चली तो वह उसके पीछे हो गया। यहाँ क्या हुआ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २.६७)

पहले इन्द्रियाँ चलीं, पीछे-पीछे मन चला, उसके पीछे बुद्धि चली और उसके पीछे फिर आप भी चले गये।

अच्छा, अब एक आदमीने निश्चय किया कि भाई, आज लोनावला जाना है। लोनावला जाना है तो अभी तो धूप नहीं है, पर आगे धूप लगेगी। सो कुछ खानेके लिए चाहिए। बोले भाई कि आओ, कोई फल ले चलें। सात्विक भोजन रहेगा, हल्का भोजन रहेगा तो वहाँ शान्तिसे बैठेंगे और भजन करेंगे। अब यह क्या हुआ? देखो, इसमें पहले बुद्धिने काम किया और उसके बाद मनसे संकल्प किया और उसके बाद जाकर फल खरीदा और हाथसे उसको लिया और ले जाकर लोनावलामें खाया। तो एकमें बुद्धि पहले होती है और इन्द्रियाँ बादमें और एकमें इन्द्रियाँ पहले होती हैं और मन बादमें।

तो 'मनीषि' किसको कहते हैं? 'मनीषि' उसको कहते हैं, जिसकी बुद्धि पहले होती है और इन्द्रिय और मन बादमें होते हैं। और, जिसकी इन्द्रियाँ और मन पहले होते हैं और बुद्धि बादमें होती है, वह मनीषि नहीं है। देखो, मन जिसके वशमें होवे, वह वासनाके अनुसार न चले, वही 'मुंशी' होगा 'मुंसिफ' होगा। 'मुंसिफ' अदालतका एक अधिकारी होता है।

तो नारायण, ईश्वरका एक नाम 'मनीषी' है—

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (ईशा० ८)

तो 'मनीषिणः' माने जिन्होंने ईश्वरसे ऐकात्म्य प्राप्त कर लिया है, सचमुच जो बुद्धिको अपनी प्रेरणासे चलाते हैं कि यह काम करना चाहिए। ऐसे जो मनको वशमें रखनेवाले, बुद्धिको काबूमें रखनेवाले, जो ईश्वरके साथ एक हुए- लोग हैं, वे यह बात कहते हैं कि स्वप्नमें जितने पदार्थ दिखायी पड़ते हैं, सपनेका हीरा, मोती, सोना, चाँदी, स्त्री, पुरुष, बच्चा, मकान—यह सब क्या है? बोले कि, 'वैतथ्यं आहुः'—ये सत्य हैं कि मिथ्या हैं—यह बात पीछे तय करना। जैसे दीखते हैं, वैसे नहीं है, दम्भ है।

बड़ा धोता बड़ा पोथा पण्डिता पगड़ा बड़ा।

पगड़ी बड़ी है, पोथी बड़ी है, धोती बड़ी भारी है और बोलनेपर तो मालूम हुआ कि न बोलते तो अच्छा था। ख्याल तो ऐसा था कि पण्डितजी बड़े हैं।

'विशेषतः सर्वविदां समाजे, विभूषणं मौनमपण्डितानां'।

तो देखो, यह जो सृष्टि है, इसको बोलते हैं कि परब्रह्म परमात्मामें यह माया है, दम्भ है, कपट है। यह जैसी दिखती है, वैसी नहीं है। इसको 'वैतथ्य'

बोलते हैं। सच्ची दिख रही है। पर, सच्ची नहीं है। इसमें बड़ी बुद्धि, बड़े ज्ञान, बड़े विज्ञान दिख रहे हैं पर, हैं नहीं। इसमें बड़े सुख दिख रहे हैं। पर,. हैं नहीं। इसमें अनेकता दिख रही है पर, असलमें अनेकता नहीं है, एकता ही है। सारी सृष्टिमें अनेकता दिख रही है पर, एकता ही है। क्यों? इसके तीन कारण हैं— उचित देश नहीं है, उचित काल नहीं है और उचित निमित्त नहीं है। कोई भी वस्तु उचित स्थानमें दिखे, तब वह ठीक होती है। अनुचित स्थानमें दिखनेपर शङ्का हो जाती है। एक बाबाजीको वेश्याके घरमें देखा। शङ्का होगी कि नहीं होगी? अनुचित स्थानपर दिख गया न! एक बाबाजीको आधी रातके समय किसीकी किवाड़ी खोलते देखो। अनुचित कालमें शङ्का होगी कि नहीं होगी?

तो उचित देशमें, उचित कालमें और उचित निमित्तसे जो वस्तु दिखती है, उसमें औचित्य होता है और, यह जो स्वप्नमें दुनिया मालूम पड़ती है, वहाँ न उचित स्थान है भीतर। वहाँ कहाँ हाथी समाये? कहाँ पहाड़ होवे? कहाँ गङ्गाजी बहें? तो उचित स्थान नहीं है और, उचित काल नहीं है। एक मिनटमें बरसोंका सपना आ गया। उचित निमित्त नहीं है वहाँ । वहाँ माता नहीं, पिता नहीं, शत्रु नहीं, यज्ञ नहीं, वेद नहीं। वहाँ तो कुछ नहीं।

तो बिना उचित निमित्त, देश और कालके स्वप्नमें जो सृष्टि दिखती है, वह मिथ्या होती है। स्वप्नकी सृष्टि मिथ्या होती है—यह बात समझमें आ जाय, तब जाग्रतपर विचार प्रारम्भ करेंगे।

अब देखो, जब खूब-खूब सपना देखकर जागते हैं, तो जागनेपर सपनेमें देखी हुई सब चीजें मिथ्या मालूम पड़ती हैं। तो सपनेमें चीज देखी गयी, यह तो सच्ची बात। कोई कहे कि तुमने सपना नहीं देखा। तो मानोगे? कोई कहे कि नहीं-नहीं, तुमको सपना नहीं आया। तो यह बात तुम मानोगे? कोई हजार कहे, नहीं मान सकते। क्यों नहीं मान सकते? क्योंकि, सपना तो तुमने देखा है। अपनी देखी हुई बात दूसरेके कहनेसे कोई झूठी कैसे मान लेगा? तो स्वप्नका देखना बाधित नहीं होता। स्वप्नका जो ज्ञान है, वह मिथ्या नहीं होता। पर, स्वप्नमें जो पदार्थ देखे गये, वे जिस समयमें देखे गये और जिस स्थानमें देखे गये और जिस कारणसे देखे गये—वह स्थान भी गलत है, वह समय भी गलत है और वह कारण भी गलत है। इसलिए, जागने पर स्वप्नके जो पदार्थ हैं, जो वस्तुएँ हैं, वे बाधित हो जाती हैं। माने उनके मिथ्यात्वका निश्चय हो जाता है।

'बाध' माने मिथ्यात्वका निश्चय। यह हम नहीं कहते कि तुमने सपना नहीं देखा। अरे भई, तुमने देखा और जरूर देखा और जो देखा, वह देखनेके समय सब सच्चा ही मालूम पड़ता था, यह भी ठीक है। लेकिन जागनेके बाद मालूम पड़ जाता है कि वह मिथ्या है।

तो देखो आप, जादूका तमाशा कभी देखो। डोंढी पिट गयी कि बड़ा भारी जादूका खेल होनेवाला है, सावधान! एक नन्हीं-सी डिबिया रखी और उसको कपड़े से ढँक दिया गया। अब थोड़ी देरके बाद डिबियाको खोला। उसमें कुछ नहीं। एक चनेका बीज उसमें रख दिया बन्दकर पुनः कपड़ेसे ढँक दिया। देखो भाई जादूका खेल। और, कपड़ेको हटाया और डिबिया खोल दी। क्या देखते हैं कि उसमें चनेका पौधा है और उसमें फल लगे हुए हैं। अब बताओ कि एक मिनटमें वह चनेमें अङ्कुर निकला, पौधा निकला, पत्ते लगे, फूल लगे, फल लग गये और डिबिया छोटी, पर पौधा बहुत बड़ा। आप कहोगे कि यह तो बड़ा आश्चर्य है। बड़ा चमत्कार है। इसी चमत्कारको माया कहते हैं, इसीका नाम है इन्द्रजाल।

'इन्द्र' माने अपना आत्मा। अपने मनने ही यह जाल फैलाया है। जादूगरने आपकी आँखको ऐसा बाँध दिया। न वह डिबिया खाली थी, न वह चनेका बीज था, न वह चनेका पौधा उगा। यह केवल चक्षुर्बन्धसे, केवल आपकी नजर बाँध दी गयी, जिससे यह दिखायी पड़ा। न तो उचित देश है, न उचित काल है और न उचित निमित्त है। बादमें जब होश-हवाशमें आये तो बोले कि यह जादूका खेल था, सब माया थी, सब मिथ्या था, सब चक्षुर्बन्ध था।

इसी प्रकार जब सपनेसे उठते हैं, तो यह बिलकुल निश्चित है कि मनीषि लोग जो हैं, जो विचारवान् हैं, विद्वान् हैं, विवेकी हैं, गवेषणाशील हैं, विश्लेषणपरायण हैं, बुद्धिमान् पुरुष जो हैं, सपनेमें दिखी बदरीनाथकी यात्रा— वह गङ्गाजी बह रहीं, वह पहाड़ खड़ा और वह नारायण बर्फकी चोटी और वह भीड़भाड़, वह पूजा-पत्री। फिर जगनेपर बोलते हैं कि हमारे ऐसे भाग कहाँ कि हम बदरीनाथ जायँ और वहाँका दर्शन करें? क्यों भाई, देख तो आये? बोले कि देख तो आये। पर, वह तो सपनेकी बात। वह तो झूठी थी।

यह 'स्वप्न' के लिए संस्कृतमें एक 'स्वाप' शब्द भी है। इसमें क्या विशेषता है? 'स्वाप' का जो पहला 'स्' है, उसको जरा दन्त्यके स्थानपर मूर्धन्य पढ़ो तो

'ख्वाप' हो जायेगा और जैसे 'पंचाप'का 'पंजाब' हो गया है, ऐसे ही यह उर्दूमें स्वाप, ख्वाप और ख्वाब हो गया है। जैसे ब्रह्मकी महिमा विलक्षण है, वैसे संस्कृत भाषाकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

तो 'मनीषिण: स्वप्ने सर्वभावानां वैतथ्यम् आहु:'—जितने मनीषि, विचारशील पुरुष हैं, वे स्वप्नमें जितने पदार्थ दीखते हैं, उनको 'मिथ्या' कहते हैं।

बोले भाई कि किसीके कहने भरसे ही तो कोई वस्तु मिथ्या नहीं हो जाती। 'मिथ्या' माने जैसी दिखे, वैसी नहीं।

'तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वं मिथ्यात्वं'।

बोले भाई कि ऐसे-ही कह दिया कि मिथ्या है?

तो कहते हैं कि, 'अन्त:स्थानात्तु भावानां'—'तु' क्योंकि, 'भावानां अन्त:स्थानात्'—उस समय जितने भाव होते हैं, वे भीतर होते हैं। जो चीज भीतर अटने लायक न होवे और भीतर दिखायी पड़े, उसको 'मिथ्या' समझना। माने 'उचितदेशाभावात्'। वहाँ स्वप्नके पदार्थोंके रहनेके लिए योग्य देश नहीं है। जब कभी कोई कहे कि देखो, हम आपको यह डिबियामें हाथी दिखाते हैं। तो चमत्कारसे पागल नहीं हो जाना।

एकने कहा कि आओ, बिना माँ-बापका बच्चा आपको दिखाते हैं।

हमारे मोकलपुरके बाबाके पास लोग बच्चा पानेकी कामनासे आते थे कि हमारे बेटा हो। वे तो बड़े फक्कड़ थे। गाली भी देते थे। तो एक दिन एक स्त्री आयी कि महाराज, हमको बेटा दे दो। वे बोले कि मर्दसे बेटा मिलेगा कि नपुंसकसे बेटा मिलेगा? देखो, आपको बात सच्ची बोलते हैं। पुत्र होनेके लिए पिताकी आवश्यकता है न? और, पिता अगर पुरुष न होवे, पितामें पुंसत्व न होवे और माता महात्मासे कहे कि महाराज, हमारे सिरपर हाथ रख दो कि बेटा हो जाये। नारायण! अब हाथमें से बेटा थोड़े ही न निकलेगा। बेटा निकलनेकी जगह पुरुष है। पुरुष, पुरुष होवे और स्त्री, स्त्री होवे; लेकिन यदि किसी पापके कारण प्रतिबन्ध होवे तो महापुरुषके प्रति श्रद्धा भक्ति करनेसे वह प्रतिबन्ध दूर हो गया और बेटा हो गया—वह बात दूसरी हुई। पर, बेटा जब होगा, तो स्त्रीके पेटसे ही होगा और पितासे होगा। अगर कोई कहे कि हम माँ-बापके बिना बेटा तुमको दिखा देते हैं। तो वह बेटा झूठा बेटा है।

तो, वस्तुकी उत्पत्तिके लिए उचित कारण चाहिए। बड़े-बड़े बैरिस्टर,

जज, वकील बिना उचित कारणके वस्तुकी उत्पत्ति चाहते हैं, बिना उचित स्थानके वस्तुकी उत्पत्ति चाहते हैं और बिना उचित समयके वस्तुकी उत्पत्ति चाहते हैं। तो वे असलमें मिथ्या-वस्तुकी उत्पत्ति चाहते हैं और वे लोग ठगे जाते हैं, भूलमें पड़ जाते हैं। इस ठगीसे बचना।

'अन्तःस्थानात्तु भावानां'—यह सपनेमें जितने पदार्थ दिखायी पड़ते हैं, अनुचित स्थानमें दीखनेके कारण 'मिथ्या' हैं। पदार्थ भीतर दिखायी पड़ते हैं, वस्तुतः वहाँ नहीं हैं।

बोले भाई कि भीतर भी तो चीज होती है। मकानके भीतर घड़ा होता है। तो केवल भीतर होनेसे ही कोई चीज न हो—यह तो बिलकुल ठीक तर्क नहीं है। तो बोले कि,

'संवृतत्वेन हेतुना'।

अरे भाई, एक तो यह छोटा-सा शरीर। आपको इसका रहस्य मालूम नहीं है। ऊपरसे चाम लपेटा हुआ है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि अगर इस शरीरपर चाम लपेटा न होता तो इसको मक्खियाँ, मच्छर, चींटी चाट जातीं। कुछ तुम्हारे हाथ नहीं लगता। यह तुम्हारा सोने-सा जो शरीर है, वह तुम्हारे किस काम आता?

वृन्दावनमें हमारे यहाँ एक जन खेल दिखाते हैं। एक डिब्बेमें डिब्बा, फिर दूसरा डिब्बा, फिर तीसरा डिब्बा, फिर चौथा डिब्बा—इस तरह बीस डिब्बा एकमें से निकालता जाता है। अरे भाई अन्तमें डिब्बेमें से क्या निकलेगा? आखिरी डिब्बेमें एक चुहिया बन्द करके रखता और जैसे ही उसे खोलता है कि वह निकलकर भाग जाती है।

तो यह जो तुम्हारी सोनेकी-सी सुन्दरता है—आ-हा, हमारा शरीर बिलकुल सोनेका-सा चमचम चमकता है, यह तो कमलकी पंखुड़ी है, इतना सुकुमार है—अरे बाबा, यह चामसे लपेटा हुआ है। ऊपरकी पैकिंग ही बढ़िया है। इसके भीतर जो माल है, वह माँस, पीप, हड्डी, विष्ठा, मूत्र है—गन्दा है, त्याज्य है। इस शरीरके भीतर कई नाड़ियाँ हैं। स्वप्न एक नाड़ीमें दिखता है। बहुत छोटी नाड़ी है। तो शरीरके भीतर वह माल-मसाला और उसके भी भीतर वह नाड़ी और उस नाड़ीमें क्या दिखता है गाँव, शहर, पहाड़? यह सब देवी-देवता भी वहीं दिखते हैं।

लोग आकर बताते हैं कि हमको बहुत बढ़िया स्वप्न आया, आपको हम

थोड़ी-सी ईमानदारी पर जोर देनेकी बात कहते हैं। आपको सौ-सौ गन्दे सपने आते हैं तो कभी आकर नहीं बताते कि हमारेको इतना गन्दा सपना आया था और एक-आध दिन कोई अच्छा सपना आगया तो उसको अखबारमें छपवा देते हैं कि हमको ऐसा सपना आया। तो 'संवृतत्वेन हेतुना'—वह जो सपना आता है, वह तो इतनी छोटी पुरियामें आता है। जैसे फिल्म दिखाते हैं तो कितनी छोटी पट्टी तथा कितनी छोटी जगहमें-से वह पहाड़, नदी, स्त्री, पुरुष निकलते हैं। तो जैसे फिल्म पट्टीमें-से निकलती है और पर्दे पर दिखती है तो उसमें गङ्गाजी नहीं बहती हैं। नहीं तो वह बह जाये। उसमें पहाड़ नहीं होता है, उसमें रहनेकी जगह नहीं होती है। ऐसे ही यह सपना जिस जगहमें-से निकलता है, वह इतनी संवृत, इतनी छोटी जगह है कि उस जगह वैसी चीजका होना शक्य नहीं है। 'नहि देहे पर्वतो अस्ति'—देहमें पहाड़ नहीं है।

इसका मतलब क्या निकला? आपको जब सच-झूठकी परीक्षा करनी हो तो चक्करमें नहीं पड़ें। यह देखें कि इतनी छोटी जगहमें ऐसी चीज हो सकती है कि नहीं? जो चीज दिख रही है, वह उस स्थानमें है कि नहीं है?

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते॥ २॥

'कालस्य अदीर्घत्वाच्च गत्वा देशान्न पश्यति'—समय थोड़ा होनेके कारण, समयमें लम्बाई न होनेके कारण आदमी जहाँका सपना देखता है, वहाँ जाकर 'गत्वा देशान्न पश्यति'—देशको नहीं देखता।

एक बार मैंने सपना देखा कि हम हवाई जहाजसे इटली गये। जाग्रतमें तो कभी इटली गये नहीं और बचपनमें तो बड़ा कट्टर संस्कार था कि यदि अपना भोजन ठीक रखना हो, अपना चरित्र ठीक रखना हो, अपने पानीका जैसा व्यवहार रखते हैं, उसको यदि ठीक रखना हो, अपने धर्मके संस्कारको अक्षुण्ण रखनेके लिए तो जरा सिमटकर रहना चाहिए, अब वे संस्कार सपनेमें तो चले गये विदेशमें। तो, मैं वायुयानसे इटली गया तो वहाँ तो युद्ध हो रहा था। वो महाराज, तोपके गोले छूटे। अब हुआ क्या कि जिन लोगोंके मैं साथ था, उन लोगोंने हमको युद्धभूमिमें उतार दिया और स्वयं हवाई जहाज लेकर उड़ चले। तबीयत घबरायी कि राम-राम, कहीं गोला न लग जाये। थोड़ी देरमें नींद टूटी तो देखते हैं कि हम तो गोरखपुरकी गीता प्रेसके अपने कमरेमें आनन्दसे तख्ते पर सो रहे हैं।

तो यह क्या हुआ? हम इटली जाकर लौट आये? इटली जाकर नहीं लौट आये। क्योंकि, वहाँ जाने-आनेके लिए जितना समय चाहिए, वह तो था ही नहीं और फिर, जो मित्र हमारे साथ गये थे माधवजी हमारे साथ गये थे, कृष्णदास हमारे साथ गये थे, कृष्णदास हमारे साथ गये थे और जो छोड़कर हमको चले आये थे—उनलोगोंको पूछा कि भाई, तुमको भी ऐसा सपना आया? तो उनको तो आया ही नहीं था। तो जो हमारे साथ सपनेमें गये थे, उनको वैसा सपना नहीं आया, जाने-आनेका समय ठीक नहीं। एक-दो मिनटका सपना आया और जो मित्र वहाँ मिले, वह तो कुछ नहीं। अच्छा, जब जगे तो हवाई-जहाज पर चढ़कर तो वहाँसे आये नहीं थे। जगे तो यहाँ थे। तो इसका मतलब यह हुआ कि जो जाने-आनेकी क्रिया हुई, जो वह मैदान दिखा, जो वह तोपके गोले दिखे, जो इवाई-जहाज दिखे—उनके लिए उचित कालका अभाव है।

तो जब कोई आदमी आपसे ऐसी बात कहे! कैसी? जो काम बरसोंमें होनेवाला नहीं है और कोई आकर कहे कि देखो हम चुटकी बजाकर मिनटोंमें कर देते हैं! तो आप जरा सावधान होकर विचार करना कि कहीं यह ठग तो नहीं हैं! बरसोंमें होनेवाला काम कोई मिनटोंमें कैसे कर देगा? मिनटोंमें कर देगा तो धोखा होगा।

एक आदमी आपके पास एक हीरा लावे और देखने पर तो मालूम पड़े कि यह दस-बीस हजार रुपयेका होगा और वह कहे कि हम आपको सौ-दो सौ रुपयेमें दे देते हैं! तो आपके मनमें शंका होनी चाहिए कि नहीं? कि शायद नकली हो। अत: जो उचित स्थान पर, उचित समय पर, उचित कीमतसे नहीं मिल रहा है, वह असली नहीं होकर नकली होना चाहिए न! उसमें कला नहीं है भला! तब तो नकल है। 'नास्ति कला यस्मिन् तन्नकलं'। 'न सलति'—जो अपने स्वरूपमें बिलकुल पक्का रहे 'तत् असलं'।

'अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति'।

क्योंकि, समयमें लम्बाई नहीं है। लम्बा समय न होनेके कारण जाकरके और आकरके कोई सपना नहीं देखता है। वह तो जहाँ रहता है, वहाँ ही देख लेता है।

अभी तो आपको यह दृष्टान्त समझा रहे हैं। इससे 'मिथ्या' क्या चीज होती है —समझनेमें मदद मिलती है।

'प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते'।

एक दिन मैंने सपना देखा कि मैं गोलोक पहुँच गया हूँ। कौन-सा? जो स्थूलसे परे, सूक्ष्मसे परे, कारणसे परे, ब्रह्मकी शान्तिके बाद जिसकी फुरना होती है और वहाँ पर दिव्य गौएँ है, दिव्य ग्वाले हैं, दिव्य गोपियाँ हैं, वह वृन्दावन है, वह यमुना है, वह गोवर्धन है, वह नित्य-निकुंज और उसमें युगल सरकार दोनों खूब आनन्दमें क्रीड़ा कर रहें।

अब जब जगा तो वह गोलोक नहीं था। वह तो ऋषिकेशकी एक गुफा थी। अब सोचो कहाँ ऋषिकेशकी गुफा और कहाँ गोलोक? तो जागने पर वह स्थान नहीं रहता, हम उस स्थानमें नहीं रहते। तो जागने पर जिस स्थान पर रहते हैं, वह सच्चा? जागने पर सपनेका स्थान बाधित हो जाता है। माने जाग्रत्-सत्यसे स्वप्नका सत्य मिथ्या हो ज़ाता है। निश्चय हो जाता है।

अभी हम जाग्रतको मिथ्या नहीं बता रहे हैं। अभी तो सपनेका विश्लेषण कर रहे हैं कि वह मिथ्या है। आप सपनेको मिथ्या मानते हैं। परन्तु, क्यों मानते हैं— यह बात समझा रहे हैं। क्योंकि, जब युक्ति समझमें आ जायेगी कि इन कारणोंसे हम स्वप्नको मिथ्या मानते हैं तो जाग्रतके बारेमें विचार करनेके लिये आपको एक विवेककी प्रणाली, विचारकी प्रणाली मिल जायेगी।



स्वप्न-पदार्थोंका मिथ्यात्व श्रुति-सम्मत

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्॥ ३॥

न केवल युक्तिसे ही, बल्कि श्रुतिमें जो वर्णन आता है स्वप्नावस्थाका, ख्वाबका—उसके अनुसार भी स्वप्नके पदार्थोंका मिथ्यात्व ही सिद्ध है।

अब आप 'ख्वाब' को उर्दूका शब्द मत समझना। स्वापमें, स्वप्नमें जो देखनेमें आता है रथ तो बोले भाई न वहाँ रथ था, न घोड़ा, न सारथि, न सड़क और न रथकी सामग्री। श्रुति कहती है, *'न तत्र रथाः न रथयोगाः'* (बृहदा० ४.३.१०)—न वहाँ रथ थे और न तो वहाँ रथ की सारी सामग्री थी। वहाँ तो कोई वस्तु थी ही नहीं।

श्रुतिमें सपनेका वर्णन भी बड़ा मजेदार आता है। एक जगह वर्णन आता है कि स्वप्नमें अगर दही दिख जाय न, तो समझना कि अब हमारा काम पूरा होनेवाला है। स्वप्नमें दहीका दर्शन बहुत अच्छा मानते हैं। और स्त्रीका दर्शन भी बहुत बढ़िया होता है। पर, वह रंगीन न हो, सादी हो।

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिस्तत्रजानीयात्

(छान्दो० ५.२.८)

अगर कोई सकाम अनुष्ठान कर रहा हो, काम्य कर्म कर रहा हो—पुत्रेष्टि-यज्ञ कर रहा हो और बीचमें स्त्रीका स्वप्न आवे और स्त्री भी कैसी? बोले कि सफेद वस्त्र धारिणी होवे। तो, स्वप्नमें यदि स्त्री दिखे तो समझना कि हमारा काम पूरा होनेवाला है।

अच्छा, सपनेके बारेमें हमको बहुत सारे अनुभव हुए है! शकुन-शास्त्रमें जैसा लिखा है, वह भी हमको मालूम है। यह मत समझना कि खाली वेदान्तकी रीतिसे हम उसको मिथ्या-ही-मिथ्या बताते हैं। सपनेमें अगर आदमीको साँप काट ले तो उसको धनकी प्राप्ति होती है। सपनेमें काटनेसे वह मरेगा तो है नहीं! अब कहो कि हम रोज यही ध्यान करके सोवें कि सर्पजी, हमको सपनेमें आकर काटो! बाबा यह धन पानेवाले ऐसा भी करें तो कोई आश्चर्य नहीं। इन लोगोंसे ज्यादा कुछ उम्मीद नहीं की जा सकती। क्योंकि धन पानेकी हविश जब मनमें आती है तो मनमें न जाने क्या-क्या करनेको तैयार होते हैं। और, जो संस्कारसे आता है, उस सपनेके बारेमें हम आपको सुनाने लग जायें! कितनी-ही बातें मनमें आ रही है! तो बड़ा आश्चर्य होता है।

देखो, जाग्रत-अवस्थामें जो देखी सुनी बातें हैं, उनका संस्कार अन्तःकरणमें पड़ता है और जाग्रत और सुषुप्ति—दोनोंके बीचमें ये स्वप्नावस्था होती है। यह गाढ़ सुषुप्ति नहीं है। क्योंकि, गाढ़ सुषुप्ति वह होती है, जिसमें कुछ मालूम नहीं पड़ता। सपना भी नहीं दीखता। वह गाढ़ सुषुप्ति भी तीन तरहकी होती है—सात्त्विक सुषुप्ति, राजस सुषुप्ति और तामस सुषुप्ति। तो तामस-सुषुप्तिमें-से जब उठते हैं तो नींद टूटे नहीं और आलस आरहा है और बारम्बार ऊँघर आ रही है। वह क्या है? आज निद्रा पूरी नहीं हुई। अब सुषुप्तिसे उठते ही काम आजाय, क्रोध आजाय, लोभ आजाय तो समझना राजस-सुषुप्ति हुई और सुषुप्तिसे उठते ही ध्यान लग जाये, भगवान्‌का स्मरण आवे—'प्रसन्नं मे मनः'—आज मेरा मन सोकर खूब हल्का, खूब निर्मल हो रहा है। तो यह सात्त्विक सुषुप्ति हुई।

इसी तरह स्वप्न भी तीन तरहके होते है। सात्त्विक, राजस और तामस। तामस स्वप्नका कोई फल नहीं होता और राजस स्वप्नका फल विलम्बसे होता है और लौकिक होता है और सात्त्विक स्वप्नका फल आध्यात्मिक होता है। स्वप्नका शास्त्रमें इतना विवेक है, इतना विवेक है कि आश्चर्य होता है।

अब देखो, हमारे उपासक लोग कहते हैं कि स्वप्न भी सच्चा होता है। वेदान्तकी बात पीछे सुना देंगे। जरा, भक्ति, उपासनाकी बात भी सुनो। उपासक लोग कहते हैं कि यह जो स्वप्न आता है, यह भी हमारे कर्म, उपासना और योगाभ्यासका फल है और ईश्वर देता है। तो कहते हैं कि जो कर्म हमारा प्रबल होता है, वह तो वस्तुको जाग्रत अवस्थामें ले आता है। कर्मके फलसे ही तो वस्तुएँ आती हैं। सुख गया, दुःख आया। जाग्रत-अवस्थामें जीना हुआ, मरना हुआ। यह सब प्रबल कर्मके फलसे हुआ। परन्तु, कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल जाग्रत-अवस्थामें वस्तु, व्यक्ति या क्रियाके रूपमें नहीं मिल सकता। हल्के कर्म हैं। तो ईश्वर क्या उन कर्मोंका फल नहीं देगा? ईश्वर तो कर्मोंका फल देता है। तो उन कर्मोंका फल ईश्वर स्वप्नमें दे देता है। किसीने इतना पुण्य किया कि उसको हीरा सोना मिले, अच्छी स्त्रीसे उसका विवाह होवे, अच्छे पुरुषसे विवाह होवे! उसको स्रक्, चन्दन, वनिताका भोग प्राप्त होवे! लेकिन इतना प्रबल कर्म नहीं है कि ठोस वस्तु उससे मिले! तो ईश्वर क्या करता है कि स्वप्नावस्थामें उसको मानस भोग दे देता है।

तो क्या तात्पर्य निकला? सपना सत्य है। क्यों? बोले कि कर्मके फलके रूपमें ईश्वरने भोग दिया है। जैसे जाग्रतमें कर्मके फलस्वरूप भोगकी प्राप्ति ईश्वरके संकल्पसे होती है वैसे ही ईश्वरेच्छासे स्वप्नमें भी कर्मानुसार भोगकी प्राप्ति होती है।

ऐसे-ऐसे विलक्षण स्वप्न आते हैं महाराज!

हमारे एक महात्मा हैं। बीस वर्षकी उम्रसे वे ब्रह्मचारी हैं और साठ-पैंसठ वर्षकी उम्र हो गयी। संन्यासी हुए। बहुत प्राणायाम किया, बहुत भक्ति की, वेदान्तका बड़ा चिन्तन किया, वेदान्तकी कई पुस्तकें लिखीं। परन्तु, जब सोते हैं, तब उनको ऐसा स्वप्न आता है कि माँस खा रहे हैं। उनके घरमें उनके दादा, बाप; माँने कभी माँस नहीं खाया। क्योंकि, वैश्य जातिके हैं और उनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ीमें कभी माँस नहीं खाया गया। अच्छा, उन्होंने भी कभी खाया नहीं। लेकिन, जब वे सोते हैं तो उनको माँस खानेको मिलता है। अब उन्होंने उस स्वप्नको मिटानेके लिये बड़े प्रयास किये। वे कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि स्वप्न मिथ्या है। मैं स्वप्नको नहीं, जाग्रतको भी मिथ्या जानता हूँ, सुषुप्तिको भी मिथ्या जानता हूँ, परन्तु, उस स्वप्नको मिटानेके लिये एड़ीका पसीना चोटी तक पहुँचा देना! क्या नहीं किया उन्होंने? उसके लिये उन्होंने योगियोंसे शक्तिपात करवाया, गायत्रीके बड़े-बड़े अनुष्ठान किये, स्त्रीका वेश धारण करके सखी बनकर रहते हैं। लेकिन, वह स्वप्न वैसा-ही आता है। मिटता ही नहीं है।

तो घबराना नहीं। यह सब सपने ऐसी-ही आते-जाते रहते हैं। असलमें जब हम उनको मिटाने चलते है, तो वे जोरदार हो जाते हैं। माने जब हम उनको कीमत देते हैं कि ये हमारा कुछ नुकसान कर सकते हैं। उनको कीमती मान लिया कि हमारा दुश्मन हमारा नुकसान कर सकता है, तब न हम दुश्मन पर पहले आक्रमण करने चले और पहले आक्रमण करने चले तो अवचेतन मनमें हमारे अनजानेमें ही वह प्रबल बन गया। अब हम चाहते हैं उसको मिटाना और वह चाहता है निकलना। अब यह जिन्दगीमें द्वन्द्व छिड़ गया। तो कभी सपनेके पीछे नहीं पड़ना। यह दुनियामें जो लोग जाग्रतमें किसी चीजके पीछे पड़ जाते हैं, उनका भी यही हाल होता है।

अब देखो, एक आदमीने गाली दी। बोले कि उसने हमको गाली दी तो हम इसको एक ही जगह चार गाली देंगे और मौका मिलेगा तो मारेंगे भी। अब क्या हुआ कि वह तो बेचारा फुर्रसे गाली देकर निकल गया और और तुमने अपने दिलमें जो उसके साथ दुश्मनी जोड़ी, यह अब जल्दी मिटायें नहीं मिटेगी। अगर कह देते कि गाली दी तो क्या हुआ? उसकी जबान गन्दी हुई। आसमानमें गाली उड़ गयी। हमारे कानमें कहाँ प्रविष्ट हुई? हमारे दिलमें कहाँ आयी? अगर गालीको उड़ा देते तो उड़ जाती। लेकिन, जब तुमने पकड़कर कलेजेमें रखा, तब वह जम जायेगी। यह संसारकी रीति है। तो सपना भी इस तरहसे जम जाता है।

भक्तोंकी बात थोड़ी यह रह गयी कि जब वे कर्मका फल और ईश्वरका दिया हुआ, सपनाको मानते हैं, तो जब आदमी जप करता है, भजन करता है तो उससे ईश्वर प्रसन्न होकर सपनेमें जो दर्शन देता है, सत्संग देता है, प्रेम देता है, सपनेमें भगवान्के लिए रो रहे हैं, आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं—यह भी भक्त लोग ईश्वरका दिया हुआ मानते हैं। ईश्वरने हमारी भक्तिसे प्रसन्न होकर हमको दिया है। सो सपनेमें जो ईश्वर-दर्शन होजाता है, उसको भक्त लोग बहुत कीमती मानते हैं कि आ-हा, आज तो हमको स्वप्नमें भगवान्का दर्शन हुआ।

पर, वह बात न्यारी है और यहाँ जो बात वेदान्तमें समझानी है, वह न्यारी है। वह क्या है? वे यह नहीं कहते हैं कि स्वप्न तुम्हारे कर्मका संस्कार है कि नहीं? हम यह भी मान लेते हैं कि कर्मका संस्कार है। अच्छा, ईश्वरने दिया है, यह भी मानते हैं। क्योंकि जब ईश्वरने जाग्रत-अवस्था बनायी है, सुषुप्ति बनायी है तो स्वप्न भी बनाया है, उसमें हमको क्या मतलब? बोले भाई कि, उससे सूचना मिलती है कि आगे क्या होनेवाला है! ठीक है, वह भी मिले।

तो सुषुप्ति भी सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारकी और स्वप्न भी सात्त्विक, राजस, तामस—तीन प्रकारका होता है। तो रजोगुणकी प्रधानतासे राजस-सात्त्विक, राजस-तामस और राजस-राजस तीन प्रकारका स्वप्न तथा तमोगुणकी प्रधानतासे तामस-सात्त्विक, तामस-राजस और तामस-तामस तीन प्रकारकी सुषुप्ति होती है। यह इनकी महिमा है।

अब वेदान्ती कहता है कि सपनेसे सूचना मिलती है, यह ठीक है पर, झूठे इशारेसे क्या सूचना नहीं दी जाती? अच्छा देखो, यह रेलगाड़ी चलती है। तो लाल झंडी दिखाते हैं माने रास्ता बन्द है। हरी झंडी दिखाते हैं माने रास्ता साफ है। अच्छा, कोई राज्य ऐसा कानून बनावे कि रास्ता साफ होनेपर हम लाल झंडी दिखावेंगे और बंद होने पर हरी झंडी दिखावेंगे। तो वहाँ वही सत्य माना जायेगा कि नहीं? तो यह हरेपनमें जो रास्ता खुलाका जो सूचन है, वह कल्पित-रीतिसे है, कानूनन है। वस्तुतः हरेपनमें खुलेका निशान नहीं है और लालमें बन्दका निशान नहीं है। पर, इशारा तो करते हैं। वह झूठी कल्पनासे इशारा बनता है कि नहीं? सो झूठी कल्पनासे भी इशारा बनता है।

अतः हम यह नहीं कहते कि स्वप्नसे पहले कर्म नहीं है, कारण नहीं है। या यह भी नहीं कहते कि स्वप्न ईश्वरका दिया हुआ है। और, यह भी नहीं कहते हैं कि स्वप्नका कोई फल नहीं है। स्वप्नका फल भी है। हम यह कहते हैं कि जिस समय

स्वप्न, जहाँ दिखता है—स्वप्न कालमें, स्वप्न देशमें, जो एक हाथीसे दूसरा हाथीका बच्चा पैदा होता है, उसमें बाप और बेटा, दोनो हाथी, उस समय, उस जगह पर, नहीं है। जहाँ दीख रहे हैं, जब दीख रहे हैं और जो दीख रहे हैं, वे उस समय पर नहीं है। वह केवल मन ही है। मनके सिवाय वहाँ न मिनट है, न इंच, फुट है, न ही छटाँक, रत्तीभर कोई वजन है, न कोई हाथी, घोड़ा अथवा बैल है, न आदमी है, न हवाई जहाज है, न पहाड़ है, न गंगा है। वहाँ जिस समय, जिस स्थानमें, जिस रूपमें जो चीज दीख रही है, उस समय वहाँ वह चीज नहीं है। हमारा उसके फलांशमें दृष्टान्त नहीं है, कारणांशमें दृष्टान्त नहीं है, उसके दाताके अंशमें दृष्टान्त नहीं है। हमारा दृष्टान्त तो केवल वहाँ दीखनेवाली वस्तुके सम्बन्धमें है।

तो श्रुतिने न्यायपूर्वक युक्तियुक्त रीतिसे यह बात बतायी है कि, **'न तत्र रथाः न रथयोगाः'**—वहाँ कोई वस्तु नहीं होती।

इसलिये **'वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्'**—महात्माओंने यह कहा कि स्वप्नमें जो कुछ प्रकाशित होता है, वह मिथ्या है। **'देहान्तःस्थान-संवृत्तत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं'**—देहके भीतर छोटेसे स्थानमें, छोटे-से समयमें जो चीज दीख रही है, वह बिलकुल झूठी है—यह बात श्रुति बताती है और युक्ति सहित बताती है। क्यों? बोले कि **'प्रकाशितम् स्वयं ज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः'**।

श्रुति ऐसा वर्णन क्यों करती है कि वहाँ देश नहीं, काल नहीं, वस्तु नहीं और, सब प्रकाशित हो जाता है। असलमें खुदाका करिश्मा है। जो खुद आवे, सो खुदा। माने स्वयं प्रकाश, स्वयंभू। **'स्वप्न आहुः प्रकाशितम्'**—यह कहती है कि यह जो आत्मदेव है, यह बिना देश, काल, वस्तुके ही देश, काल, वस्तु बना लेता है। इसकी प्रयोगशाला बड़ी विलक्षण है। वस्तुके अभावमें वस्तुको दिखाना किसका काम? बोले कि अधिष्ठानका। देशके अभावमें देशको दिखाना किसका काम? बोले कि अधिष्ठानका। कालके अभावमें कालको दिखाना किसका काम है? अधिष्ठानका। अर्थात् यह अधिष्ठान जो वस्तु है, यह स्वयं प्रकाश है। जो बिना देश, काल, वस्तु के निमित्तान्तरनिरपेक्ष—बिना किसी निमित्तके यह स्वप्नमें प्रकाशित होती है। तो,

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरिया, यह सब आत्मदेवकी पुरिया।

देखो, जो बड़े लोग होते है उनके सोनेका कमरा अलग होता है, लोगोंसे मिलने बैठनेका कमरा अलग होता है और यदि वे कोई प्रयोग करते हों, कोई चीज बनाते हों एकान्तमें बैठकर—तो वह कमरा दूसरा ही होता है। तो कहते हैं कि

आत्मदेवके तीन निवास स्थान हैं—'**त्रयः अस्य आवसथाः**'—एक तो दूकान है। यह जाग्रत्—अवस्था दूकान है। जैसे हमारे कोई श्रोता कथामें बैठे हैं और उनके पास बैठे व्यक्तिने उनके कानमें कुछ कहा तो एक कानसे उनकी बात सुनते हैं और दूसरे कानसे कथा सुनते हैं। तब वे क्या हो गये? बोले कि दूकान हो गये। उनके दो कान हो गये न! वैसे तो दो कान सबके रहता है। लेकिन वे कथामें बैठकर दो कानका उपयोग करते है।

यह जाग्रत-अवस्था दूकान है। क्यों दूकान है? इसको श्रुतिने बताया कि यह 'आपण' माने व्यवहार-स्थली है। क्यों? इसमें लेना-देना होता है। देना-लेना क्या होता है? पाप करो तो दुःख लो, पुण्य करो तो सुख लो। इसमें तौलकर पापके फलके रूपमें दुःख मिलता है, और पुण्यके फलके रूपमें सुख मिलता है। इसलिये, यह दूकानदारीकी जगह होनेके कारण जाग्रत्-अवस्थाको दूकान कहते हैं। जैसे सेठजी दूकानमें जाकर बैठते हैं, ग्राहकसे पैसा लेते हैं, माल देते हैं। माल खरीदते हैं और उसे पैसा देते हैं, वैसे ही यह जाग्रत अवस्था आत्मदेवकी दूकान है।

और, स्वप्नावस्था क्या है? '**तत्र स्वप्ने महिमानं एष देवः स्वमहिमानमनु भवति**'—ये देवता जब स्वप्नावस्थामें जाते हैं, तब अपनी महिमाका अनुभव करते हैं। अपनी महिमाका क्या अनुभव करते हैं? देखो, हम दुनिया बनानेमें समर्थ हैं। ईश्वरने जाग्रत-अवस्थाकी सृष्टि बनायी है। तो एक दिन जीवने पूछा कि हे ईश्वर, हम तुम भाई-भाई और तुमने जो यह जाग्रत-अवस्थाकी इतनी बड़ी सृष्टि बना दी और हमको क्या कुछ बनानेका अधिकार नहीं दिया? सब बनानेका अधिकार बँटवारेमें तुमने ही ले लिया? तो ईश्वरने कहा कि भाई, एक अवस्था बनानेका हक मैंने तुमको दिया है। वह स्वप्नावस्था है। जाग्रतमें जो कुछ मैं बनाता हूँ—पहाड़, नदी, आदमी, पशु, पक्षी, स्वर्ग, नरक आदि—उनको तुम सपनेमें बनाकर देख सकते हो। देखो, तुम्हारे अन्दर एक शक्ति है। हमने तुम्हारी शक्ति नहीं छीनी है भला! तुम जब चाहो, हमसे बदल सकते हो। अपनी शक्ति तुम हमको दे दो और हम अपनी शक्ति तुमको देते है। आओ, तुम हमारी कुर्सी पर जब चाहो तब बैठ जाओ! कुर्सी खाली है। हमने तुम्हारे साथ कोई बेईमानी नहीं की है।

तो यह जीवात्मा स्वप्नावस्थामें जाकर इसका अनुभव करता है, प्रयोग करता है कि वह शक्ति हमारे अन्दर है कि नहीं? बोले कि है तो भाई! तो वहाँ दुःख बना ले, सुख बना ले! बड़ी भारी ताकत है। '**तत्र एष देवः स्वमहिमानमनुभवति**'—अपनी महिमाका अनुभव करता है कि हम भी लम्बा-सा साँप बना सकते हैं। पूर्व-पश्चिम,

उत्तर-दक्षिण बना सकते हैं। महीना, संवत्सर बना सकते हैं। वहाँ पाँच बरसका बेटा, पच्चीस बरसका बाप बना सकते हैं। सपने में ऐसा करोड़पति सेठ बनाया महाराज! सेठ जी मिले। पूछा कि सेठ जी, बड़ा दान-पुण्य तुमने किया होगा, तब सेठ बने हो? वह बोला कि हाँ महाराज, पहले जन्मका फल है। पहले पुण्य किया है। अच्छा, अब तो सेठजी तुम और दान, धर्म कर रहे हो? और आगे बहुत बढ़िया-बढ़िया जन्म तुमको मिलेगा? हाँ, आप सब सज्जनोंकी कृपा है।

अब देखो, उस सेठ पट्ठेका न वहाँ पूर्व जन्म है और न उत्तर जन्म है। कर्मके फलसे थोड़े ही जन्ममें आया है और आगे जो सपनेमें कर्मकर रहा है। वहाँ तो जीव ही नहीं है, वह तो जीवाभास है अत: उसका पूर्वजन्म नहीं है, उत्तरजन्म भी नहीं है। तो ऐसे-ऐसे सेठ, राजा-महाराजा हम स्वप्नमें बनाते हैं।

गायत्रीदेवी स्वप्नमें आयी और बोली कि 'वरं ब्रूहि' वर माँग लो! वह गायत्री कहाँसे आयी? हमने उसे बनाया।

विलायतमें एक बहुत बड़ा विद्वान् था। उसको यह अभिमान था कि हम सबको जीत सकते हैं, बहसमें सबको हरा सकते हैं। एक दिन उसने सपना देखा कि कोई और विद्वान् आया है और उसने ललकार दिया कि आओ, हमसे शास्त्रार्थ कर लो! अब दोनों भिड़े। तो शास्त्रार्थ और शस्त्रार्थमें एक ही मात्राका फर्क है। ये दोनों एक ही चीज है। इसलिए, भले मानुस लोग इसमें नहीं पड़ते। तो, दोनों भिड़े तो यह जो जाग्रत्-अवस्थाके बड़े अभिमानी थे कि हम बड़े विद्वान्। वे स्वप्नावस्थामें अपने मुकाबलेके बड़े विद्वान्से हार गये। हार गये तो बड़ा दु:ख हुआ। रोने लगे कि हाय-हाय हमारा तो अपमान हुआ। बड़ी बेइज्जती हुई। अब क्या मुँह दिखावेंगे? इतनेमें स्वप्न टूट गया, जाग्रत-अवस्था आ गयी। जाग्रत-अवस्थामें भी बड़ा दु:खी हुआ कि मैं सपनेमें भी क्यों हार गया? फिर जब स्वस्थ होकर विचार किया कि तब उसने सोचा कि सपनेमें जो वह विद्वान् आया था, वह कौन है? बोले कि अरे, हमारे मन ही ने तो विद्वान्का रूप धारण किया था। उसकी जो विद्या-बुद्धि थी, सो कौन था? बोले कि हमारी ही विद्या-बुद्धिका लेश ही तो उसमें था। हमारी बुद्धिके लेशसे उसने ऐसी बढ़िया-बढ़िया युक्ति दी, ऐसे बढ़िया-बढ़िया तर्क दिये। इतना उसको शास्त्र कण्ठस्थ! वाह-वाह-वाह! हमारे बुद्ध्याभासमें इतनी विद्या है, तो हमारे अन्दर कितनी विद्या है।

यह देखो विचार करो! यह जब जाग्रत-अवस्थाके समान स्वप्नावस्थाको समझते हैं न, तो यह जाग्रत-अवस्थामें जितने सम्राट् हैं, जितने सेनापति हैं, विद्वान्

हैं, देवता हैं—वे सबके-सब स्वप्नमें अपने बुद्ध्याभास हो जाते हैं। यह अपना ही मन खेल रहा है। अतः स्वप्नावस्था प्रयोगशाला है।

सुषुप्ति क्या है? आनन्द भवन है। जाकर सो गये मजेसे। वहाँ कुछ नहीं। वहाँ माताजीकी सेवा नहीं करनी पड़ती। नहीं तो माताजी बहू-बेटीको बहुत परेशान करती हैं। सो जाओ तो माताजीसे भी छुट्टी मिल जाय और पिताजीसे भी छुट्टी मिल जाय। **'तत्र माताऽमाता भवति'**—वहाँ माता, माता नहीं रहती, पिता पिता नहीं रहता, देवता देवता नहीं रहता। वहाँ देवताकी पूजा नहीं करनी पड़ेगी। बोले कि हनुमान्‌जीके सामने हाथ जोड़कर एक पाँव पर खड़े हो जाओ! लेकिन सुषुप्तिमें हनुमान्‌जी गायब। जाग्रत्‌में बोले कि वेदके अनुसार धर्माचरण करो। यज्ञ करो। अब सुषुप्तिमें महाराज, 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति'। वेदकी गति तो मनोमय कोश पर्यन्त है। विज्ञानमय, आनन्दमयमें भी वेद नहीं है। तो सुषुप्ति-कालमें वेद नहीं है। बोले कि, ***'जहाँ वेदकी गन्ध नहीं, चौकी तहाँ हमार'***—जहाँ वेदकी गन्ध नहीं, उस चौकीपर बैठते हैं।

झण्डा गाड़ो जाये के, हद-बेहद के पार। हद-बेहद के पार, तूर जहँ अनहद बाजे॥

तो सुषुप्तिमें वह आनन्दसे मौज़ कर रहे हैं। न वहाँ माता-पिता हैं, न धर्माधर्म हैं, न कर्त्तव्य है, न वेद है, न देवता है और सारा भार भाड़में डालकर जाकर सुषुप्तिमें सो गये। किसीकी आवाज़ ही नहीं पहुँचती।

तो, 'त्रय अस्य आवसथः'—यह आत्मदेव के तीन निवास स्थान हैं। उनमें यह स्वप्न प्रयोगशाला है। स्वप्नमें आकाश किसने बनाया? हमने। वहाँ हवा किसने चलायी? हमने। वहाँ समुद्र किसने उमड़ाया? हमने। वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र किसने बनाया? हमने। वहाँ धरती और मर्त्यलोक किसने बनाया? हमने। बोले कि वही हो तुम। जाग्रत् अवस्थामें भी तुम वही हो। जैसे स्वप्नावस्थामें तुमको मालूम नहीं पड़ता था कि यह सब हमारी रचना है, सब झूठा है, हमारी कल्पना है; वैसे ही इस समय नहीं मालूम पड़ रहा है। जैसे जाग्रत्-अवस्थामें ज्ञान होने पर स्वप्नकी सब सृष्टि तुम्हारी कल्पित रचना थी; वैसे ही यदि तुम्हें अपने ब्रह्म-स्वरूपका बोध होवे तो यह सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्था तुम्हारी कल्पित रचना हो जाय। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब कल्पित रचना हो जाय। तो अब उसी ब्रह्म-स्वरूपका बोध करानेके लिए श्री गौड़पादाचार्यजी महाराज माण्डूक्यकारिकामें श्रुतिके अनुसार प्रवचन करते हैं।

★

जाग्रत्-पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते॥ ४॥

प्रथम तीन कारिकामें बताया गया कि स्वप्नमें थोड़ी-सी तो जगह और थोड़ा-सा समय और स्वप्नसे जागनेके बाद जो चीजें स्वप्नमें मिलती हैं, जो आदमी स्वप्नमें मिलते हैं, उनसे पूछो कि तुम मिले थे? तो कुछ अता-पता नहीं लगता। अतः यह बात हुई कि उचित कारणके बिना, उचित स्थानके बिना और उचित समयके बिना स्वप्नमें वस्तुएँ दिखती हैं। इसलिए, वे मिथ्या हैं।

परन्तु, बात तो केवल इतनी है कि वे दीखती हैं, इसलिए मिथ्या हैं। दर्शन-शास्त्रका यह बड़ा विलक्षण तर्क है। इसीको सामान्य-जन नहीं समझते हैं। वे कहते हैं कि दृश्य होना ही 'मिथ्या'का लक्षण है। अद्भुत बात है। हमारे पास बहुत पढ़े-लिखे लोग आते हैं और वे तर्क यह करते हैं कि जब इतनी दुनिया हमको दीख रही है, तो यह 'मिथ्या' कैसे? और, वेदान्ती लोग तर्क करते हैं कि जो दीखता है, वह तो सच्चा होता ही नहीं। 'अद्वैत-सिद्धि' में प्रपञ्चको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए जितने तर्क दिये गये हैं, उनमें पहला तर्क यही है, 'प्रपञ्चो मिथ्या,

दृश्यत्वात् स्वप्न-दृश्यवत्'—यह प्रपञ्च मिथ्या है। क्यों? दृश्य होनेके कारण, स्वप्नके दृश्यके समान जो-जो दृश्य होता है, वह-वह मिथ्या होता है। क्या आश्चर्य है?

अब दृश्यकी थोड़ी बात देखो।

हम दृश्य उसको नहीं कहते, जो आँखसे दिखता है, जो नाकसे सूँघा जाता है, जो जीभसे स्वाद लिया जाता है। असलमें आत्माकी साक्षितामें माने जिसके दीखनेका गवाह अपना आत्मा है, इसके सामने जितनी वस्तुएँ आती-जाती है, वे सब दृश्य हैं। साक्षी-भास्यको ही दृश्य कहते हैं। जहाँ-जहाँ किसी वस्तुको मालूम पड़नेके लिए हमारे होनेकी जरूरत पड़े, हमको मालूम पड़े और हमारे बिना मालूम न पड़े और हमारे सामने आवे और चला जाये—उसको 'मिथ्या' बोलते हैं। क्या आश्चर्य है?

निराकार साकार रूप धरि, आयो कई एक बारा।
सपने होय-होय मिट गये, रह्यो सार-को-सारा॥

'दृश्य' जाग्रत्-अवस्थामें अलग, स्वप्नावस्थामें अलग, सुषुप्ति-अवस्थामें अलग है। सुषुप्ति-अवस्थामें केवल बीज रह जाता है और स्वप्नावस्थामें उसके भीतर जैसे लकीरें खींचकर आभासमात्र आकृतियाँ दीख रही हों और जाग्रत्-अवस्थामें बिलकुल प्रकट हो जाती हैं। पर, यह देखो कि बिना द्रष्टाके दृश्य नहीं हो सकता। दृश्य बदलता है और द्रष्टा नहीं बदलता है। दृश्यमें विकार होता है, द्रष्टामें विकार नहीं होता। दृश्य सापेक्ष होता है, द्रष्टा सापेक्ष नहीं होता। तो जो लोग विचारकी भूमिमें अपना पाँव रखते हैं, उनलोगोंके लिए यह संसार बिलकुल नये ढंगसे दिखायी पड़ता है।

अच्छा, जो चीज न दीखें, सो मिथ्या—यह नियम बनाओ। तो, नहीं बनेगा। अपना आपा ही इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दिखता है। तो क्या वह मिथ्या है? हम स्वयं इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दिखते हैं या हम, हमको नहीं दिखते हैं। तो न दीखनेके कारण हम क्या मिथ्या हो जायेंगे? तो 'मिथ्या' शब्दका अर्थ होता है दिखायी तो पड़े, परन्तु ऐसी जगह दिखायी पड़े, जहाँ वह बिलकुल न हो।

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वें।

अपने अभावके अधिकरणमें भासना—इसका नाम 'मिथ्या' है। साँप कहाँ दीख रहा है? उस रज्जुमें जहाँ साँप बिलकुल नहीं है। इसलिए साँप मिथ्या है। चाँदी कहाँ दिख रही है? उस सीपमें, जिसमें बिलकुल चाँदी नहीं है। तो,

जिसमें जो चीज बिलकुल न हो, उसीमें अगर मालूम पड़े तो उसको 'मिथ्या' कहते हैं।

तो, यह दृश्य कहाँ दिख रहा है? द्रष्टामें। द्रष्टामें यह दृश्य बिलकुल नहीं है और द्रष्टामें ही दिख रहा है। इसलिए, दृश्य मिथ्या है।

अब कई प्रश्नोत्तर आपको सुनाते हैं। जो लोग वेदान्तका स्वाध्याय करते हैं, उनके लिए है। जो लोग शिवोऽहं, शिवोऽहं करके सन्तोष कर लेते हैं, उनकी चर्चा तो करनेकी कोई जरूरत नहीं। उनका ठीक है। क्यों ठीक है? जैसे कृष्ण-कृष्ण करके कृष्णकी उपासना करते हैं, राम-राम करके रामकी उपासना करते हैं, वैसे शिवोऽहं-शिवोऽहं करके कोई भी ब्रह्मकी उपासना करे तो उसकी उपासनामें कोई दोष है, ऐसा कहनेका हमारा अभिप्राय नहीं है। उपासना तो उपासना ही है। परन्तु, जो लोग खोज करते हैं, अपनेको अक्लवाला मानते हैं, जो आकलन करनेमें समर्थ हैं, उनलोगोंसे उम्मीद रखनी पड़ती है।

तो देखो, सुषुप्ति भी साक्षीको मालूम पड़ती है, स्वप्न भी साक्षीको मालूम पड़ता है, जाग्रत् अवस्था भी साक्षीको मालूम पड़ती है। लेकिन जाग्रत्-अवस्था मालूम करनेमें बड़ा बखेड़ा साथ लगा रहता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ चाहिए, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चाहिए, पाँच प्राण चाहिए, अन्तःकरणकी चारों वृत्तियाँ चाहिए। इतना अड़ंगा। इतना मसाला अपने देहमें पोतकर तब साक्षी जाग्रत्-अवस्थाको देखता है। इतनी अक्ल लगानी पड़ती है। मतलब यह है कि एक खास तरहकी पोशाक पहनकर, एक खास तरहका चश्मा लगाकर, एक खास तरहका श्रवण यन्त्र लगाकर, एक खास तरहका घ्राण यन्त्र लगाकर अर्थात् तरह-तरहकी मशीनोंमें कैद होकर जब साक्षी देखता है, तब यह दुनिया दिखायी पड़ती है। यदि इन मशीनोंकी कैद न हो तो? नाक न हो तो साक्षीको गन्ध मालूम पड़ेगा? आँख न हो तो साक्षीको रूप मालूम पड़ेगा? कान न हो तो साक्षीको शब्द सुनायी पड़ेगा? त्वचा न हो तो साक्षी को स्पर्श मालूम पड़ेगा? इसका अभिप्राय यह है कि जब हम देहाभिमान धारणकर लेते हैं, देहमें जो अन्तःकरण-वृत्ति है उस पर जब हम आभासित हो लेते हैं, उसमें जब 'अहं' कर लेते हैं, तब देहस्थ-वृत्तिमें 'अहं' करनेके बाद हमको यह सारी दुनिया दिखायी पड़ती है। यदि साक्षी अपना विवेक करके और अपनेको देहकी परिच्छिन्नतासे अलग कर ले? तो, देश-भेद, काल-भेद, वस्तु-भेद—यह सब अन्तःकरणकी वृत्तियोंके द्वारा भासता है और अन्तःकरणकी वृत्तियोंको छोड़ देनेके बाद साक्षीको यह सब भेद विभेद कहाँसे भासेंगे?

तो इसका अभिप्राय यह होता है कि साक्षीमें प्रपञ्च नहीं है। साक्षी तो प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनोंका साक्षी है। तो जब साक्षी प्रपञ्चाभावका भी साक्षी है और वही प्रपञ्चका भी साक्षी है, तो साक्षीमें प्रपञ्च मिथ्या है। क्योंकि, प्रपञ्चाभावके अधिकरणमें जो प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है, वह 'मिथ्या' है—यह युक्ति है।

अब आपको एक कल्पनाकी बात सुनाते हैं।

समझो कि आपको आपके शरीरके पेटमें स्वप्न दीखता है, छातीमें दीखता है, दिमागमें दीखता है। कहाँ दीखता है, यह विवेक जो खोज करते हैं उनके ऊपर छोड़ दो। परन्तु, सपना दीखता है शरीरके भीतर—इसमें कोई विवाद नहीं है। आप साढ़े तीन हाथके शरीरधारी हो और आपके दिमागकी किसी नसमें स्वप्न दीखता है। उपनिषद्में लिखा है कि गलेकी एक नसमें दीखता है। उसका नाम 'हिता' नाड़ी रखो कि उसका नाम 'पुरीतत्' नाड़ी रखो। सपना दीखता तो भीतर ही है। वैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके लिए अलग-अलग नाड़ी स्वीकार करते हैं।

देखो, नालीको ही 'नाड़ी' बोलते हैं। जैसे घरमें गन्दा पानी बहानेके लिए नाली होती है, रसोई बनानेके लिए जो गैस आता है, वह एक नलीमें आता है, रोशनीके लिए बिजली आती है तो एक नलीमें आती है, जैसे आपके शरीरमें खूनकी नालियाँ, नाड़ियाँ बहती हैं धमनी, शिरा आदि, वैसे ही विराट्के शरीरमें ये नदियाँ जो हैं, ये नाड़ीकी तरह हैं और समुद्र आशयकी तरह रहते हैं और सूर्य, चन्द्रमा उसके नेत्र हैं। इसमें पहाड़ हैं, जङ्गल हैं। ऐसे सम्पूर्ण विश्व-समष्टि जो है, वह एक शरीर है और उस शरीरमें बहुत सारे जीव हैं, नदियाँ हैं, नाले हैं, समुद्र हैं। जब योगी लोग स्थूल शरीरका अभिमान छोड़कर, इस व्यष्टि शरीरका अभिमान छोड़कर समष्टि-शरीरमें अपने अभिमानको स्थापित करते हैं, तब उनको सब दिखायी पड़ता है।

देहेऽस्मिन् पर्वताः सर्वे नदाः नद्यश्च सागराः।

तो जो परमात्मा है, तुम्हारा अहमर्थ भी वही है। लेकिन अब देखो, हम तो यह स्वप्न देखनेकी प्रणाली आपको सुना रहे हैं। हमारी कल्पनाका अभिप्राय क्या है? कल्पनाका अभिप्राय है कि जैसे तुम अपने सपनेकी सब चीजोंको अपने मनसे कल्पित, स्थूलतासे रहित मनोविलास मात्र जानते हो; वैसे हिरण्यगर्भ हम सब लोगोंको—मनुष्य, पशु, पक्षी, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, हिमालय, समुद्र, धरती, सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुव, ग्रह-नक्षत्र, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड—सबको अपने

स्वप्नमें देखता है। जरा अपने तैजस्‌को उस हिरण्यगर्भसे एक कर दो। तब मालूम पड़ेगा कि यह सारी सृष्टि स्वप्नवत् भास रही है। जैसे तुम्हारे व्यष्टिके स्वप्नमें नन्हा-मुन्ना सपना आता है, वैसे ही हिरण्यगर्भके स्वप्नमें '**दीर्घस्वप्न इमं विद्धि दीर्घंवा चित्तविभ्रमं**'—यह दीर्घ स्वप्न है अथवा यह दीर्घ चित्तविभ्रम है।

अच्छा, अब जब हिरण्यगर्भ होता है तो कहाँ सोता है? बोले कि ईश्वरमें सोता है तो सुषुप्ति हो जाती है। अब उस सुषुप्तिमें भी कौन जागता रहता है? जो सुषुप्तिके अज्ञानका भी साक्षी है, प्रज्ञाके घनीभावका साक्षी है, बीजात्मा सत्‌के ईश्वरत्वका साक्षी है, वह समष्टि-सुषुप्तिमें भी जाग्रत् रहता है। उसको 'ज्ञान-ब्रह्म' बोलते हैं। ज्ञान कभी सोता नहीं। हमारी सुषुप्तिमें भी ज्ञान सोता नहीं और हिरण्यगर्भकी सुषुप्तिमें भी ज्ञान सोता नहीं। जैसे हमारी प्रज्ञाके घनीभावमें ज्ञान जागकर सुषुप्तिको 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषं'—सुषुप्तिके अज्ञानंको और सुषुप्तिके विश्रामको जानता है, इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी जो सुषुप्ति है, उसमें रहकर जो ज्ञान है, वह समष्टि-अज्ञानको, उस मूलाविद्याको, उस महामायाको जानता है। एक जीव कहो तो उसको 'अविद्या' कहनेमें कोई हर्ज नहीं है और एक जीव न बोलना हो, ईश्वर बोलना हो तो उसको 'महामाया' बोलो।

हे भगवान्! तुम तो आँखके चक्करमें पड़े डोल रहे, कामके चक्करमेंपड़े डोल रहे, नाकके चक्करमें पड़े डोल रहे—यह परिच्छिन्न, नन्हीं-सी, छोटी-सी दिलड़ी जो है, इसके साथ जब तक ब्याह करके बैठोगे, तब यह सारी सृष्टि सच्ची मालूम पड़ेगी।

देखो, जाग्रत्-वृत्तिके साथ धर्म-विवाह होता है और स्वप्न-वृत्तिके साथ गान्धर्व-विवाह होता है। वह तो आती है, जाती है। वहाँ तो तलाक हो जाता है। जैसे सिनेमाके पर्देपर देखी हुई अभिनेत्रीके साथ कोई मनसे विवाहकी कल्पना कर ले और सिनेमाका दृश्य दूर हो जानेपर वह मिट जाये—सपनेका तो ऐसा है और प्राज्ञका जो जीवन है, वह वानप्रस्थका जीवन है। वहाँ वृत्ति भी है, प्राज्ञ भी है, परन्तु शरीरिक सम्बन्ध नहीं है। निराकारता है। जैसे वानप्रस्थमें पति भी है पत्नी भी है। परन्तु, दोनोंका शारीरिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसे-ही प्राज्ञकी स्थिति है।

अब आपको यह सुनाते हैं कि ईश्वरके भीतर ही यह सृष्टि है कि नहीं? ईश्वरके मनमें ही यह सृष्टि है कि नहीं? ईश्वरको दीखती हुई और बदलती हुई यह सृष्टि है कि नहीं? तो यह सृष्टि है कैसी? जैसी आपको दीखती है वैसी कि जैसी

आपको नहीं दीखती है वैसी? देखो, एक दूरबीन होता है जो सूर्य और चन्द्रमाको ग्रहणके समय बिलकुल साफ-साफ देख लेता है और एक तुम्हारी दूरबीन है, जो दो मीलकी चीज भी नहीं देख सकती। तो सूर्य, चन्द्रमाके ग्रहणके सम्बन्धमें तुम्हारी दूरबीनसे देखा हुआ जो दृश्य है, वह सच्चा कि वह बड़ी भारी शक्तिवाली दूरबीनसे देखा हुआ दृश्य सच्चा?

तो यह जो सृष्टि है, यह ईश्वर रूप अधिष्ठानमें, ईश्वररूप द्रष्टाके द्वारा देखी हुई जैसी स्वप्नवत् है, वह दृष्टि ठीक है कि यह तुम्हारी छोटी-सी मशीनके भीतर देखी हुई जैसी सृष्टि है, वैसी सच्ची है?

यह बात तो बड़ी मजेदार है कि जब तक ईश्वरसे भेंट नहीं हो जाती है, तब तक यह दुनिया वज्रकी तरह ठोस मालूम पड़ती है और जब ईश्वरसे भेंट होती है तो यह दुनिया सपनेकी दुनियाकी तरह कोमल हो जाती है। ऐसी बदलती रहती है। बिलकुल फुरफुराहट है। यह सृष्टि नहीं है, यह ईश्वरके सङ्कल्पोंकी फुरफुराहट है। और, तुम जब अपने सङ्कल्पोंका अभिमान छोड़कर ईश्वरके सङ्कल्पसे एक कर देते हो तो यह सारी सृष्टि तुम्हें अपनी फुरफुराहट मालूम पड़ती है।

अतः यह व्यष्टि-स्वप्न और समष्टि-स्वप्न—यह भेद केवल इसलिए बताया कि आपको जल्दीसे यह बात समझमें आ जायेगी।

अच्छा समझो, हम एक तख्ते पर बैठे हैं। तो हमारे सामने दक्षिणकी तरफ आपलोग हैं और उत्तरकी तरफ भीत है, दाहिने स्वामीजी हैं और बायीं तरफ दादाजी हैं और ऊपर छत है, नीचे तख्ता है। अब समझो कि आकाश जिसके पेटमें है, उसके लिए तुम किधर? तुम दक्षिण हो कि उत्तर हो? जिसके पेटमें यह आकाश है, उसके लिए दादाजी पूर्व हैं और स्वामीजी पश्चिम हैं? तख्ता नीचे है और छत ऊपर है? तो मतलब यह हुआ कि एक खास जगह पर बैठकर, एक खास नजरसे जब हम देखते हैं तब यह दुनिया ऐसी मालूम पड़ती है। और, जब यह स्थान हम छोड़ देते हैं, इस जगहका अभिमान हम छोड़ देते हैं, तब यह दुनिया बिलकुल दूसरी तरहकी दिखायी पड़ती है। इस संसारमें ठोस-पना कब तक दिखायी पड़ता है? जब तक देहमें अहंभाव रहता है। जब देहमें अहंभाव नहीं रहता तब संसारमें ठोस-पना नहीं दीखता।

वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्।

श्रुतिने कहा कि '**अत्र एष देवः स्वयं ज्योतिर्भवति**'। यह जो श्रुति है

कि —'न वहाँ रथ है, न रथयोग है'—वह रथका मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुई है। आत्माका स्वयं प्रकाशत्व प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त हुई है।

आत्मा स्वयं प्रकाश है। आप अपनी महिमा नहीं जानते। आपकी महिमा बड़ी भारी है। मैंने सुना है और पढ़ा भी है कि बाइबिलमें ऐसा लिखा है कि हम और हमारे बाप, दोनों एक हैं। तो 'हम' रहकर दुनिया देखोगे, तब दूसरी और अपने बापसे एक होकर दुनिया देखोगे, तब दूसरी। बापसे एक होकर देखोगे तो बापकी सारी सम्पत्ति तुम्हारी होगी ओर बापसे अलग होकर देखोगे तो सिरपर गरीबी आ जायेगी।

देखो, एक बात यह भी है कि अगर बापकी सम्पत्ति लेनी हो तो दुनियामें तो इन्तजार कर सकते हो कि बाप जब मरेगा, तब उसकी चीज हमको मिल जायेगी। सो उसमें भी बाधा है। अगर वह अन्य किसीके नामसे 'विल' बना जाय तो वह भी जल्दी नहीं मिलेगी। अब बोले कि ईश्वरकी सम्पत्ति हमको कैसे मिले? इन्तजार करें कि जब ईश्वर नहीं रहेगा, तब ईश्वरकी सम्पत्ति हमको मिलेगी? नारायण, ऐसा नहीं है। वह कभी नहीं रहेगा—ऐसा तो होगा ही नहीं। अच्छा, जहाँ ईश्वरका राज्य नहीं होगा, वहाँ हम अपना राज्य बना लेंगे? चलो सात समुद्र पार, जहाँ, ईश्वरका राज्य नहीं है, वहाँ हम अपना राज्य बनावें। तो वह भी ईश्वरके राज्यमें है। अच्छा, उस समयका इन्तजार करें, जब ईश्वर नहीं रहेगा और उस समय हमारा राज्य रहेगा? अच्छा भाई, ढूँढो यदि आप यह कि जो चीज ईश्वरकी न हो, सो हम अपनी बना लेंगे।

तो इस तरहसे न तो तुम्हें राज्य करनेके लिए कोई जगह मिलेगी, न राज्य करनेके लिए कोई समय मिलेगा और न राज्य करनेके लिए कोई वस्तु मिलेगी। जिन्दगी-भर ठनठनपाल रहोगे। अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक ठनठनपाल ही रह जाओगे। अगर ईश्वरसे अलग होकर कोई राज्य बनाना चाहोगे, राजत्व-काल बनाना चाहोगे, दुनियाकी किसी चीजको अपनी बनाना चाहोगे, तो बना नहीं सकते। छिन जायेगी और, अगर ईश्वरके तनसे अपना तन मिला दो, ईश्वरके विराट्-रूपमें अपनेको मिल जाने दो और ईश्वरके मनसे अपना मन मिला दो, उसके हिरण्यगर्भमें अपने तैजस्को मिला दो और ईश्वरके रूपमें अपने कारणको मिला दो और ईश्वरकी आत्मा और अपनी आत्मा एक कर दो। देखो, ईश्वरकी सारी सम्पत्ति तुम्हारी हैं कि नहीं?

ईश्वरकी सम्पत्ति पानेकी यही युक्ति है कि हम अपनेको ईश्वरसे एक कर दें। ईश्वरकी वस्तु पानेकी यह युक्ति नहीं है कि हम उससे अलग अपनेको रखें। जो अपनेको अलग रखेगा वह ईश्वरकी सम्पत्तिसे, ऐश्वर्यसे अलग हो जायेगा। वह अमृतकी जगह जहर पावेगा। वह सुखकी जगह दुःख पावेगा। वह ज्ञानकी जगह अज्ञान पावेगा। वह सत्ताकी जगह असत्ता पावेगा। और, ईश्वरसे अपनेको एक करके देखो तो सारी सृष्टिसे तुम एक हो।

अरे, ऐसा मजा है। यह सृष्टि तो सपनेकी है भाई! जब तुम ईश्वरसे अपने को एककर लोगे तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें सेज-सज्जा पर अलग-अलग शयन करने वाले जो विष्णु हैं, ब्रह्मा हैं, शिव हैं, स्वर्ग हैं, महर्लोक हैं, जनः लोक हैं, तपः लोक हैं सत्यलोक हैं—ये सब तुम्हारे मनःसंकल्पमें हो जायेंगे। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अलग-अलग सूर्य, चन्द्रमा, तारे-नक्षत्र सब तुम्हारे अन्दर नृत्य कर रहे हैं। तब तत्त्वज्ञानी क्या बोलता है? *'जक्षत् क्रीडन् रममाणः'*। वही विष्णुके शरीरमें है, वही ब्रह्माके शरीरमें है, वही रुद्रके शरीरमें है, *'एष सर्वेषामात्मा भवति'*— यह सबका आत्मा हो जाता है। *'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'*— इन्द्र जिसको 'मैं' कहता है, वह कौन है? तुमको मालूम है? मैं ही हूँ भला! विष्णु जिसको 'मैं' बोलता है, वह कौन है? वह मैं ही हूँ। ब्रह्मा, रुद्र जिसको 'मैं' बोलता है, वह कौन है? वह मैं ही हूँ। रम्भा, उर्वशी आदि जिसको 'मैं' बोलती हैं, वह कौन है? वह मैं ही हूँ। सूर्य, चन्द्रमा आदि जिसको 'मैं' बोलते हैं, वह कौन है? वह मैं हूँ। यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, यह पञ्चभूत, यह प्रकृतिका विस्तार, यह महामाया—इनका जो 'मैं' है, इनका जो सार-सार है, जो असलियत है, इनमें जो अस्ति, भाति, प्रिय है, वह मैं हूँ। सबका प्यारा 'मैं' सबका ज्ञान 'मैं' और सबका अस्तित्त्व 'मैं'।

यह वेदान्त विद्या किसीको दीन-हीन-मलीन नहीं रहने देती। यह अखण्डतत्त्वके साक्षात्कारकी विद्या है और, इस विद्याकी प्रासिके लिए इस हड्डी, मांस, चामकी मैली पोशाकको छोड़ना होगा। यह बड़ी गन्दी पोशाक है।

देखो, किसी बड़े आदमीसे मिलना हो और एकदम गन्दी पोशाक पहनकर उसके पास जाओगे क्या? लोग तिरुपति बालाजी जाते हैं तो रास्तेमें गरीब लोग क्या करते हैं कि झूठमूठका कोढ़ बना लेते हैं, कपड़े रंगकर बाँध लेते हैं, मोम गलाकर उसपर पोत लेते हैं। देखने पर मालूम होता है कि कोढ़

है। तो उनकी ओर देखनेका मन नहीं होता। किसीकी गन्दी पोशाक हो, गन्दी शक्ल-सूरत हो तो उसकी ओर देखनेका मन नहीं होता न! अब तुम चाहते तो हो ईश्वरसे मिलना और यह जो तुमने पहनी है गन्दी पोशाक वह काहेकी? बोले कि चमड़ेकी। यह लठिया काहेकी? बोले कि हड्डीकी। शरीरमें अंगराग, स्नो काहेका लगाया? चर्बीका स्नो लगाया। लिपस्टिक काहेका लगाया? बोले कि खूनका। आँतोकी पर्स ले-लेकर कहाँ जा रहे हैं? बोले कि ईश्वरसे मिलनेके लिए जा रहे हैं।

तो जबतक यह स्थूल शरीरसे अपने अहंको ऊपर नहीं उठावेंगे, तब तक ईश्वरसे भला कैसे मिल पायेंगे? इसमें एक बात और सुना देते हैं। इसमें सगुण, निर्गुण, साकार-निराकारका कोई भेद नहीं है। साकार भगवान्का राम, कृष्णादिका दर्शन भी इस गन्दी पोशाकसे नहीं होगा। यह पोशाक छोड़कर जब भावमय शरीर बनता है, उस भावमय शरीरसे उनका दर्शन होता है। निराकारमें स्थिति भी इस पोशाकमें नहीं होती। इसको छोड़कर समाधि लगानी पड़ती है, तदाकार-वृत्ति करनी पड़ती है। कर्मकाण्डमें यह बात आती है कि—

देवो भूत्वा देवं यजेत्।

अर्थात् देवता होकर देवताका यजन करना पड़ता है।

अब चोरी करके आवेंगे और महात्मासे कहेंगे कि हमको ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर दो। तो कैसे बनेगा? पहले चोर शरीरको छोड़ो। व्यभिचारी शरीरको छोड़ो। उससे अलग हो जाओ। यह लोभी, कामी, क्रोधी यह जो हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रका पुतला है—इसमें तो 'मैं' करके बैठे हैं। कहाँ साकार मिले, कहाँ निराकार मिले, कहाँ समाधि लगे और कहाँ ब्रह्मज्ञान होवे?

इसलिए, पहली शर्त परमात्माके मार्गमें चलनेकी यह है कि हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रकी जो पोटली है, इसमें-से अपने 'मैं' को निकालो। इसमें-से अपने 'मैं' को निकालकर देखोगे कि तुम्हारा 'मैं' तो व्यापक हो गया, तुम्हारा 'मैं' तो द्रष्टा है, भरपूर है। देहाभिमानको छोड़ते ही इस द्रष्टाकी दृष्टि कितनी बड़ी है कि उसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका नियन्ता अन्तर्यामी ईश्वर और नियम्यजीव, दोनों उस दृष्टिके पर्देपर आकर नाचने लगते हैं।

तो आओ, आपको सुनावें कि 'स्वप्र आहुः प्रकाशितम्'। यह स्वयंज्योति जो परमात्मा है, यह चमड़ेके सहारेसे किसीको नहीं छूता है।

एक आदमी अपने घरमें आया। तो उसको हाथसे नहीं छूआ। काहेसे छूआ? बोले कि एक चमड़ेका कोड़ा बना रखा था, उससे छू दिया। तो उसको कैसा लगेगा? तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होगा? विष्ठा, मूत्रकी एक थैली लाकर उसके आगे रख दी। इससे वह प्रसन्न हो जायेगा?

ईश्वरकी प्राप्तिके लिए *'देवो भूत्वा देवं यजेत्'*—देवता होकर, इस देहाभिमानसे ऊपर उठकर अपने 'मैं'को इन परिच्छिन्न इन्द्रियोंके अधीन मत रखो। इसकी जो दृष्टि है, उसको अपनी दृष्टि मत मानो! तुम तो स्वयं ज्योति हो। स्वयं प्रकाश हो। स्वप्नमें कैसी-कैसी सृष्टि बनाकर देखते हो? स्वप्नमें तुमने कभी कृष्णको देखा कि नहीं? रामको देखा कि नहीं? स्वप्नमें तुम्हें कभी शिवके दर्शन हुए कि नहीं? स्वप्नमें बड़े-बड़े महात्माओंके दर्शन हुए कि नहीं? स्वप्नमें स्वर्गका राज्य देखा कि नहीं? यह सब तो तुम बनानेवाले हो। सपनेमें जैसे बना कर देखते हो, वैसे ही तुम चाहो तो बिलकुल असली, बिलकुल सच्चा राज्य देख सकते हो!

तो आत्मा स्वयं प्रकाश है।

अब भेद क्या है? **'संवृतत्वेन भिद्यते'**। दृश्य, दृश्यमें कोई फर्क नहीं है। फर्क इतना ही है कि स्वप्न-दृश्य शरीरके भीतर दिखायी पड़ता है और जाग्रत-दृश्य शरीरके बाहर दिखायी पड़ता है। दृश्यत्व-हेतु दोनों तरफ समान ही है।

एकने कहा कि महाराज, सपना तो ऐसे दिखता है कि जाग्रत-अवस्थामें जो देखी, सुनी बात होती है, उसका संस्कार मनमें पड़ जाता है और जब आँख बन्द होती है, न पूरी नींद आयी और न पूरी जाग्रत है, तो बीचमें सपना आ जाता है। तब क्या होता है कि वही जो जाग्रत-अवस्थामें देखी हुई बातें है, सुनी हुई बाते हैं उनका सपना आता है, इन्द्रादिका श्रवण होता है, स्वर्गादिका श्रवण होता है और इनका भी सपना आता है। ये देखे हुए कहाँ होते हैं? सपना तो हनुमान्जीका भी आता है। इनको कभी देखा कहाँ है?

तो बोले भाई कि सपना संस्कारसे आता है, ठीक है। लेकिन जो जाग्रत्में दिखायी पड़ रहा है, सो तो संस्कार नहीं है न? बोले कि यह भी संस्कार है। यह कैसे संस्कार है? यह पूर्व जन्मका संस्कार है। ज्ञानके साथ जो संस्कार जुड़ गया है, उसीसे जैसे सपना दिखता है, वैसे-ही यह जाग्रत् दिखता है। संस्कार दोनोंमें है। संस्कारोपाधिक ज्ञानमूलक होनेसे, संस्कार विशिष्ट अन्तः-

करणोपाधिक ज्ञान मूलक होनेके कारण आत्माको स्वप्न एवं जाग्रत् दीखता है। दोनोंमें समानता है। वहाँका दृश्य भी संस्कार विशिष्ट अन्तःकरणोपाधिक आत्माको दीखता है और यहाँका दृश्य भी संस्कार विशिष्ट अन्तःकरणोपाधिक आत्माको दीखता है।

तब फिर यह सपना और जाग्रत्—ये दोनों जब एक ही हैं, तब इनको दृष्टान्त क्यों बनाते हो? दृष्टान्त तो भिन्न वस्तु होती है। दृष्टान्त अलग होता है, दार्ष्टान्त अलग होता है। जब कहेंगे कि रामकी तरह श्याम है। तो राम अलग, श्याम अलग! राम और श्याममें कोई समानता है, जिसके कारण बताते हैं कि रामके समान श्याम है श्यामके समान राम है। बोलते हैं न कि चन्द्रमाके समान मुख है तो किसीने पूछा कि चन्द्रमा तो आसमानमें रहता है और मुख तो धरतीमें रहता है। भला दोनों में क्या समानता है? चन्द्रमामें तो धड़ नहीं है और मुखमें तो धड़ है। चन्द्रमामें तो आँख, कान, नाक आदि मुँहके छेद अलग-अलग नहीं हैं। बोले कि भाई, समानता यह है कि वह भी देखनेमें बड़ा सुन्दर लगता है और तुम्हारा मुख भी देखनेमें बड़ा सुन्दर लगता है।

मैंने एक कविता पढ़ी। उसमें लिखा था कि एक सज्जनने अपनी पत्नीकी बड़ी तारीफ की कि तेरा मुख चन्द्रमाके समान है। वह तो राधा-कृष्णकी लीलामें भी आता ही है। तो इतनेमें वे सज्जन बाहर घूमने गये। देखा कि अखबारमें छपा है कि चन्द्रमामें तो बड़ी रेत है, बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। माने चन्द्रमा कोई बहुत सुन्दर नहीं है। अब विज्ञानसे लोगोंने देख लिया। अब वे बेचारे घर आनेमें डरें! वापस न आवें। उनके मित्रने पूछा कि क्या बात है? बोले कि हम अपनी घरवालीके मुखको चाँद-सरीखा बताकर आये थे। अब यह अखबार तो उसने भी पढ़ा होगा। सो लेकर डंडा खड़ी होगी कि हमारे मुखको चाँद-सरीखा क्यों कह दिया?

तो तुलना तो चन्द्रमाके सौंदर्यके साथ करते हैं।

तो स्वप्न और जाग्रत्में क्या ऐसा साम्य है कि उसकी तुलना करें?

बोले कि देखो, सपने और जाग्रत्में भेद तो यह है कि सपना भीतर है और जाग्रत् बाहर है। समझानेके लिए देखो देह-दृष्टिसे देहके भीतर स्वप्न है और देहके बाहर यह जाग्रत्-दृश्य है। और समानता क्या है? बोले कि दृश्य वहाँ भी है और दृश्य यहाँ भी है—यह समानता है। तो 'दृश्यत्वेन हेतुना'—साक्षी भास्य होनेके

कारण, साक्षीसे पृथक् जैसे यह विषय रूप वे दृश्य नहीं है, वैसे-ही साक्षीसे भास्य होनेके कारण यह जाग्रतके जो दृश्य हैं, ये भी नहीं हैं।

तो, '**अन्तःस्थानात्तु भेदानां**'।

देखो, जाग्रत्में जो कुछ दीखता है, उसमें 'वैतथ्य' है, यह प्रतिज्ञा है।

जाग्रतदृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा।
दृश्यत्वादिति हेतुः, स्वप्नदृश्यभाववत् इति दृष्टांतः।

जैसे सपनेमें देखे जानेवाले पदार्थ दृश्य होनेके कारण मिथ्या हैं और उनका द्रष्टा जो साक्षी है, वह सत्य है, इसी प्रकार जाग्रत्में जितने पदार्थ देखे जाते हैं वे देखे जानेके कारण मिथ्या हैं और उनका देखनेवाला जो द्रष्टा है साक्षी है—वह बिलकुल सत्य है।

'**यथा तत्र तथा स्वप्ने**'—दृश्यता तो जैसी सपनेमें है, वैसी जाग्रत्में है। भेद क्या है? बोले कि '**संवृतत्वेन**'—भीतर और बाहरका भेद है और भीतर और बाहरका भेद काहेको है? देहाभिमानके कारण है! देहाभिमानको छोड़ दो तो भीतर-बाहर क्या?



सृष्टिके स्वप्नवत् भासनेका फलागम

अब इसका थोड़ा नतीजा देखो। थोड़ा फल पर भी दृष्टि ले जानी चाहिए। जब यह सृष्टि स्वप्नवत् भासने लगती है तो जिससे हम राग करके सृष्टिमें फँसे हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके बिना मर जायेंगे, तो वह राग हल्का हो जायेगा। जब राग हल्का होगा, तब दुःख हल्का होगा कि नहीं? यह देखो, फायदेकी बात है! अच्छा, जिससे द्वेष है! अब यह ख्याल है कि इससे तो हमारी दुश्मनी है और इसके जिन्दा रहते हम सुखी नहीं हो सकते! दुश्मनी होनेपर क्या होता है? दिलमें जलन हो जाती है और जलन, जिससे होती है—उसको तकलीफ नहीं देती। बल्कि जिसके दिलमें होती है, उसको तकलीफ देती है।

देखो, दो तरहका जहर भगवान्‌ने बनाया—एक मीठा जहर और और एक कड़वा जहर। तो राग जो है, वह मीठा जहर है। दुनियामें कहीं फँस जाओ, मोह हो जाय। उर्दूमें भी 'मोहब्बत' शब्द मोहसे ही निकलता है। मोहवत् है, और मोहव्रत है। तो मोह होगा किसीको तो तकलीफ होगी और जब यह मालूम पड़े कि यह मोह तो सपनेमें जैसा होता है, वैसा है तो तकलीफ नहीं होगी।

तो नारायण, जब सृष्टिको स्वप्नवत् मानने लगते हैं, तो मानने मात्रसे ही राग शिथिल हो जाता है, श्लथ हो जाता है, ढीला पड़ जाता है। द्वेष ढीला पड़ जाता है, मोह ढीला पड़ जाता है। काम, क्रोध, लोभ—ये सब ढीले पड़ जाते हैं। और, इसका फल यह होता है कि तब हम शान्त चित्तसे परमात्माके स्वरूपका विचार करने लगते हैं और जब आत्माके, परमात्माके स्वरूपका ज्ञान होता है तो जितना-जितना ज्ञान होता है, उतनी-उतनी सृष्टि स्वप्नवत् भासती है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि हमारा मन दुनियादारीके दृश्योंमें लग गया है। छोटी-छोटी चीजोंमें लग गया।

एक बच्चा रो रहा था। काहेके लिए? हमको 'टॉफी' चाहिए। अब माँ उसको समझावे कि बेटा पढ़ो! आओ, क, ख सीखो! अब वह नहीं सीखे! क्यों नहीं सीखता है बेटा? इसलिए कि उसका मन 'टॉफी' में फँस गया है। वह कहता है कि हमको खेलनेके लिये चाकू दो! और, नहीं दिया तो रोने लगा। अब कहो कि आओ, पढ़ो! तो कैसे पढ़ेगा? क्योंकि, उसका मन तो चाकूमें लगा है, टॉफीमें लगा है।

तो जैसे जब मन टॉफीमें और चाकूमें लग जाता है तो पढ़नेमें नहीं लगता। इसी प्रकार, जब मनमें संसारका राग-द्वेष आ जाता है—किसीकी मुहब्बतमें पड़कर कई लड़के, लड़कियाँ फेल हो जाते हैं। मैट्रिक परीक्षा पास करनेके बाद वे मैत्री करनेमें लग जाते हैं। अब मैत्रीमें जब मन लग जाता है, तो पढ़ाईमें मन नहीं लगता। देखो, यह बात तो आप अपने घरमें साफ-साफ देखते हो न! जिन बच्चोंका मन चोरी, अनाचारमें लग जाता है, उनकी पढ़ाई कम हो जायेगी।

तो जो संसारमें मैत्री करनेमें लग जाता है, दोस्ती अथवा दुश्मनी करनेमें लग जाता है, उसका मन अध्यात्म-विचारमें कैसे लगेगा? जिसकी लत दुनियामें मोह करनेकी हो गयी, राग करनेकी हो गयी, द्वेष करनेकी हो गयी, चोरी, बेईमानी करनेकी हो गयी, गन्दी जगह रहनेकी हो गयी—शरीरमें फँस गये, यह गन्दी जगह है—तो अब कहो कि उनको तत्त्वज्ञान कैसे होगा? क्योंकि परमात्माके बारमें सोचने, विचारेमें उनका मन ही नहीं लगेगा।

लोग कभी-कभी अपने बच्चोंको हमारे पास ले आते हैं और कहते है कि महाराज, आप इनको समझा दो! अब जब उनका रहस्य मालूम पड़ता है, तो यह पता लगता है कि इनका मन तो कहीं और लगा हुआ है। अब वह और लगा हुआ मन ईश्वरके बारेमें कैसे सोचेगा? उनको यह नहीं मालूम पड़ेगा, कि मैं द्रष्टा हूँ और यह दृश्य मिथ्या है।

तो जिन लोगोंने दृश्यमें आसक्ति कर रखी है, मोहकर रखा है, दुश्मनी कर रखी है—उनका मन परमात्माके बारेमें विचार करनेमें कैसे लगेगा? जिसका मन इसीमें लगा है कि हमारी पोशाकसे मैच करानेवाली जूती चाहिए। आज घरमें नहीं है, तो चलो बाजारमें—इसीमें मन लगा है तो वह ईश्वरके बारेमें क्या सोचेगा?

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि छोटी-छोटी चीजोंमें जब मन लग जाता हैं, मोह हो जाता है, राग-द्वेष हो जाता है तो यह परमसत्य जो परमात्मा है, उसके बारेमें विचार करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। तो सपनेके साथ जाग्रत्-सृष्टिको मिलाओ

और उसका राग-द्वेष हल्का करो और फिर परमात्माके बारेमें विचार करो और परमात्माके बारेमें विचार करने पर परम आनन्द होगा।

आपको मालूम है कि नहीं, ईश्वरकी मुस्कानका नाम सृष्टि है। ईश्वरकी चितवनका नाम पञ्चभूत है। वह उसकी चितवन, उसकी मुस्कान क्या बना रही है, क्या बिगाड़ रही है? जरा उसके चेहरेकी ओर तो देखो! वेदान्तियोंकी भाषामें जिसको 'स्फुरण' बोलते हैं, उसीको भक्तोंकी भाषामें 'मुस्कान' बोलते हैं, शैवोंकी भाषामें उसको 'उल्लास' बोलते हैं। तो 'आनन्दोल्लास' का नाम 'मुस्कान' है और 'ज्ञानोल्लास'का नाम 'चितवन' है।

अतः यह जो परमात्माका रसात्मक, आनन्दात्मक उल्लास है, इसीका नाम 'सृष्टि' है। अरे बाबा, हम आनन्दके समुद्रमें डूब, उतरा रहे हैं।

आनंद सिन्धु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरत पियासा॥

यह मछलीसे डरे, मगरसे डरे! अरे उनकी ओर देखनेकी क्या जरूरत है? जब अमृत के समुद्रमें डूब, उतरा रहे हो।

धोबिया जल बिच मरत पियासा।
जलमें ठाढ़ पिये ना मूरख, अच्छा जल है खासा॥

तो यह परमानन्द कन्द परमात्मा अपना स्वरूप है। 'कन्द' माने मेघ। '*कं जलं ददाति इति कन्दः*'—जो जलकी वर्षा करे, उसका नाम 'कन्द'। '*कं सुखं ददाति, इति कन्दः*'—जिसको खानेमें खूब मजा आवे, उसका नाम 'कन्द'।

तो यह परमानन्द कंद, परमानन्दका घनीभाव, जिसमें दुःख, अज्ञान और मृत्यु बिलकुल है नहीं! ऐसे परमात्माके पास रह कर लोग दुःखी हो रहे हैं। क्यों? दुःखी होनेका कोई कारण नहीं है। बस आनन्द-ही-आनन्द है, परमानंन्द-ही-परमानन्द है।



अवस्था-त्रयका स्वरूप

यह मनुष्य जब वर्तमान छोड़कर भूत और भविष्यके सम्बन्धमें सोचने लगता है, तो एक प्रकारका स्वप्न ही देखता है। क्योंकि, जो बात बीत गयी, वह तो अब लौट नहीं सकती और जो आगे आने वाली है, वह अपने हाथोंमें नहीं है, उसका कुछ पता नहीं है। तो जब हम वर्तमान, जो सामने है, उसको छोड़ देते हैं और अतीतमें वृत्ति चली जाती है, तो मनकी स्थिति वैसी-ही हो जाती है, जैसी स्वप्नमें होती है। आप कल्पना करके देखो कि इन्द्रियोंसे विषयोंको जब हम ग्रहण करते हैं, तब उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं और जब इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण न हो रहा हो और केवल मन-ही-मन उसकी कल्पना कर रहे हों तो मनमें स्वप्न दिखता है वैसा-ही मनमें भूत, भविष्य दिखता है। इसीसे कोई-कोई महात्मा ऐसा मानते हैं कि असलमें हमारे जो स्मृति और कल्पना होती है, वह विश्वको नहीं होती, तैजसको होती है।

यह एक मतवाद आपको सुनाते हैं कि जो भूतकी स्मृति हमारे मनमें उदय होती है और जो-जो भविष्यकी कल्पना हमारे मनमें उदय होती है, वह विश्वको न हो कर तैजसको होती है। क्योंकि, वह तो सूक्ष्म-शरीरमें होती है। तो ये दोनों एक प्रकारका सपना ही है।

अच्छा, एक और देखो आश्चर्य! यह हमारा भाई है और यह हमारी पत्नी है और यह हमारा चाचा है, ताऊ है, यह ननद है—यह इन्द्रियोंसे मालूम पड़ता है क्या? आँखसे तो एक औरत दिखेगी, एक मर्द दिखेगा। उसमें जो चाचापन, ताऊपन, पत्नीपना, पतिपना है—यह तो ऐन्द्रियक ज्ञानका विषय नहीं है। एक शकल दिखती है—एक औरत है, एक मर्द है, एक बच्चा है, एक जवान है, एक बुड्ढा है। लेकिन, यह मेरा बेटा है, यह क्या आँखसे दिखता है? मेरापन जो है, वह मनमें होता है।

ये जितने सम्बन्ध हैं, ये सब स्वाप्निक हैं। सम्बन्ध भी जितना मालूम पड़ता है, वह विश्वको नहीं तैजसको ही मालूम पड़ता है। ईश्वर सृष्टि जितनी है, उसको आप व्यावहारिक-सत्य बोलो! जाग्रत-अवस्थामें इन्द्रियोंसे बाहर जो कुछ मालूम

पड़ता है या शरीर जो कुछ मालूम पड़ता है—उसको आप जाग्रत्-अवस्था मानो! परन्तु, जो बात केवल मनसे ही मालूम पड़ती है, उसको जाग्रत्-अवस्था माननेका क्या कारण है? तो असलमें, यह अन्यथा-ग्रहण है। एक पञ्चभूतकी बनी हुई स्त्रीको, पञ्चभूतके बने हुए पुरुषको जो मनसे मेरा मानते हैं और उसमें सम्बन्धकी कल्पना करते हैं—वह जीव सृष्टि है, ईश्वर-सृष्टि नहीं है। जीव-सृष्टि होनेसे वह जिन्दा रहते ही कट सकती है। हमारी बनायी हुई जो चीज होती है, उसको काटनेमें हमको स्वातन्त्र्य होता है।

अच्छा तो, हम लोग कहाँ फँसे भाई? बोले कि 'अन्यथा ग्रहण' में।

जिस समय हम गाढ़निद्रामें शयन करते हैं, उस समय 'अग्रहण' होता है अर्थात् कुछ मालूम नहीं पड़ता। शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गन्ध है, माँ है, बाप है, पत्नी है, पति है, धर्म है, अधर्म है, वेद है—ये सब सुषुप्ति कालमें नहीं।

हमारे काशीमें एक विद्वान् थे। वे किसी संस्थामें वेदका अध्यापन करते थे। इसलिए वेदके मन्त्र तो उनको बहुत आते थे पर, अर्थ किसी मंत्रका नहीं जानते थे। तो शास्त्रमें लिखा है कि जिसको मन्त्र तो याद हों, लेकिन अर्थ न मालूम हो तो वह 'उलूक' है ! वेद ही में लिखा हुआ है कि वह केवल भारवाही है, भार ढोता है।

विज्ञाय वेदं न विजानाति योऽर्थं, स केवलं भारहरः चिनायं

जो वेदको कण्ठस्थ तो कर लेता है और उसका अर्थ नहीं जानता है, वह 'भारहरः'—फुरुषवेशमें केवल भारहारी है।

वे तो 'वेदतीर्थ' थे; लेकिन हम विद्यार्थी लोग आपसमें उनको 'भंवेदतीर्थ' ही बोलते थे।

तो, गाढ़-सुषुप्तिमें जिस समय हम सो जाते है, उस समय माता, पिता, वेद, शास्त्र, धर्म, अधर्म—सबका अग्रहण हो जाता है। तिजोरीमें रखा हुआ पैसा, रिश्ते-नातेदार, गोदमें सोता हुआ बच्चा और बगलमें सोता हुआ पति—सबका गाढ़-सुषुप्तिमें अग्रहण हो जाता है।

और, स्वप्नमें क्या होता है? अन्यथा-ग्रहण होता है। जाग्रत्‌में क्या होता है? अन्यथा ग्रहण होता है। जो अपना नहीं है, उसको अपना मानते हैं और जो अपना है, उसको भूल जाते हैं। देखो, यह सपने और जाग्रत्‌की महिमा! श्रीमद्‌भागवतमें बताया है,

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताज्ञता॥

—(भागवत, १०.१४.२७)

लोगोंकी यह मूर्खता तो देखो! क्या मूर्खता है? बोले कि—*त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च*—तुम तो हो अपने स्वरूप आत्मा और उसको मानते हैं कहीं सातवें आसमानमें वह छिपा है।

अच्छा जी, ऐसा कौन-सा ढक्कन है, जो ईश्वरको ढँक देता है। ऐसा कौन-सा लिहाफ है, जिस चादरके भीतर ईश्वर छिप जाता है? अपना आत्मा है परमात्मा और उसको तो मानते हैं कि कहीं दूर है, उसके मिलनेमें कोई देर है, वह किसी पर्देमें ढँका हुआ है और '***परमात्मानमेव च***'—यह देह बिलकुल पराया है, पाँच भौतिक, रज, वीर्यमें-से निकला और जलकर राख होनेवाला है और इसको मानते हैं 'आत्मा'।

'त्वामात्मानं परं मत्वा, परं देहं आत्मानमेव च, आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताज्ञता'।

कहाँ जा रहे हैं? बोले कि आत्माको ढूँढ़ने जा रहे हैं। अरे ढूँढ़नेवाले! तुम कौन हो? अपना कुछ अता-पता नहीं कि तुम्हारा घर कहाँ है? तुम्हारी जात कौन है? तुम्हारी हस्ती क्या है?

तो अपने आपको तो जानते नहीं कि हमारा घर कहाँ, गाँव कहाँ, हम कौन? बोले कि ईश्वरको ढूँढ़ने जा रहे हैं! तो यह अपना जो अग्रहण है माने अपने स्वरूपको न जानना, इससे क्या होता है कि अन्यथा ग्रहण हो जाता है। माने जो अपने नहीं हैं—स्त्री, पुत्र, घर, जमीन देह आदि—उनको अपना मान लेते हैं और अपने आपको 'देह' मान लेते हैं और फिर, परमात्माको ढूँढ रहे हैं। यह समझदार लोगोंकी मूर्खता है।

एकबार स्वाम्री पूर्णानन्दजी महाराजके वेदान्त सम्मेलनमें गया। तो संयोगवश वहाँ भागवत श्लोक बोल दिया। श्लोक तो बहुत प्रसिद्ध है। पर जब मैं प्रवचन करके उठा तो वहाँके एक बड़े भारी पंडित बोले कि स्वामीजी, श्रीमद्भागवतका प्रवचन तो हम भी बहुत दिनसे करतें'हैं! लेकिन यह श्लोक हमारे ध्यानमें आया नहीं था कभी! वह श्लोक क्या था?

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ' (१०.१४.२६)

अज्ञानके दो नाम हैं—एक हमारा जन्म हुआ, और दूसरा हमारा मोक्ष होगा। माने जन्म और मोक्ष, दोनों अज्ञान-कल्पित हैं। ज्ञाताके भावसे अलग न जन्म है

और न ही मृत्यु है। जब ज्ञाता भाव कर लेता है कि मैं जन्मवाला हूँ तो वह जनम गया और जब उसमें भाव होगा कि 'मैं मुक्त हो गया' तो मुक्त हो गया। यह बन्ध और मुक्ति, दोनों ज्ञाताके भाव हैं। तुमने अपनेको बद्ध माना तो बद्ध और अपनेको मुक्त माना तो मुक्त! बोलो कि हमारा मन पतित हो रहा है, तो पतित हो और कहो कि हमारा मन उठ रहा है, तो उठ रहा है। मनका उत्थान और पतन, मान्यताके सिवाय और कुछ नहीं है।

'द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्'।

और,

'अजस्रचित्यात्मनि केवले परे'

यह आत्मा चेतन है, केवल पर है।

'विचार्यमाणे तरणाविवाहनी'।

जैसे विचार करने पर सूर्यमें न रात है न दिन है। इसी प्रकार, विचार करने पर आत्मामें न बन्ध है, न मोक्ष है।

तो पण्डितजी बोले कि हम बचपनसे श्रीमद्भागवतकी कथा करते हैं, परन्तु इस श्लोक पर तो हमारा ध्यान-ही नहीं गया।

श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक है—

'गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा' **(१०.१४.२४)**

गुरु-रूप सूर्यसे जब उपनिषद् रूप नेत्रकी प्राप्ति होती है, तब क्या होता? यह जो बन्धन और मोक्षका झूठा संसार है, इसको पार-सा कर जाते हैं। ***'तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्'***। यह संसार रूपी जो झूठा समुद्र है, इसको मानो पार कर जाते हैं। अरे, होता तो पार करते। जब है ही नहीं, तब कहाँसे करेंगे?

एक आदमी सोच रहा था कि जब हम नदी पार होंगे, तब अपने घर पहुँचेंगे। दूसरे व्यक्तिने पूछा कि क्या बात है भाई? वह बोला कि हमारा घर नदीके उस पार है, सो नाव चाहिए, मल्लाह चाहिए! वह बोला कि अरे बाबा, तुमको दिग्भ्रम हो गया है, तुम नशेमें आ गये हो। तुम तो अपने घरमें बैठकर, अपने दरवाजे पर बैठकर और यह सोच रहे हो कि हमारा घर नदीके उस पार है।

तुम परमात्मासे मिले हुए, परमात्मासे एक! तुम्हारे दिलमें परमात्माका निवास स्थान,तुम स्वयं परमात्मा और समझते हो कि कहीं दूर है वह!

तो यह जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, यह स्वप्नवत् दिखायी पड़ रही है।

☆

सृष्टि स्वप्नवत् कैसे? विभिन्नमत

अब देखो, बौद्ध-लोग भी सृष्टिको स्वप्नवत् मानते हैं और श्रीमद्‌भागवतमें भी सृष्टिको स्वप्नवत् लिखा है और रामचरितमानसमें भी सृष्टिको स्वप्नवत् लिखा है। हम आपको सबका भेद बताते हैं।

बौद्ध लोग बुद्धिसे विचार करते हैं। बुद्धिसे जो विचार करे, सो 'बौद्ध'। शास्त्रसे नहीं श्रद्धा-सम्पत्तिसे नहीं, बुद्धि-प्रधान जिसका मार्ग होवे, उसको 'बौद्ध' बोलते हैं। वे असीम देशमें सीमित देशको कल्पित मानते हैं। तो सीमित देशकी कल्पनाका अधिष्ठान जो देश है, वह शून्य है। वे सीमित जो काल गणना है—रात-दिन, क्षण, संवत्सर, मन्वन्तर कल्पादि—इसके आधारसे जो असीम काल मानते हैं, उसको शून्य मानते हैं। देखो, सृष्टिका न आदि है, न अन्त है। कालका न आदि है, न अन्त है। तो काल-शून्य है, देश शून्य है और वह जगत्‌का मूल जो है, वह शून्य है। तब फिर यह जगत् कैसा दीख रहा है? बोले कि 'स्वप्नवत्'।

तो बुद्धिसे जब जगत्‌का विचार करते हैं, तो 'शून्याद्वैत' की उपलब्धि होती है और जब यन्त्रसे जगत्‌के मूलका विचार करते हैं, तब 'जडाद्वैत' की उपलब्धि होती है। और, जब विचार करें, तब क्या मिलेगा? ईश्वराद्वैत मिलेगा। वैष्णव लोग 'ईश्वराद्वैत' को मानते हैं। 'जडाद्वैत' में भी 'मृत्तिकाद्वैत' अलग है और 'शक्त्यद्वैत' अलग है। 'शक्त्यद्वैत' उरला है और मृत्तिकाद्वैत परला है। माने शक्तिसे पदार्थ और पदार्थसे शक्ति—सेर भर कोयला ले लो और उसको बिजली बना लो! माने कोयलेसे इतनी बिजली बन जाय कि बरसों तक सारे बम्बईको रोशनी दे और सब कारखानोंको चलावें। 'मैटर' शक्ति हो जाता है और 'शक्ति' जब थोथी पड़ती है, तब वह 'मैटर' अर्थात् पदार्थ बन जाती है। तो 'शक्त्याद्वैतवादी' जो हैं, वे व्यावहारिक हैं और 'पदार्थाद्वैतवादी' अर्थवादी हैं, पदार्थवादी हैं। शक्ति अद्वैतवादमें कर्मकी प्रधानता होती है और जडाद्वैतवादमें वस्तुकी प्रधानता होती है।

अब प्रश्न है कि वस्तु बड़ी कि कर्म बड़ा! नहीं दोनोंसे मनुष्य बड़ा। अधिकारी दोनोंसे बड़ा है। तो चेतन बड़ा हुआ। यह चेतनवाद हो गया।

अब देखो, इसके बारेमें एक चौथी बात सुनाते हैं।

भावकी दृष्टिसे भावाद्वैतमें ईश्वर और बौद्धाद्वैतमें शून्य और यन्त्राद्वैतमें जड़ और अनुभवाद्वैतमें ब्रह्म! प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका जब अनुसन्धान करो तो अनुभवाद्वैतकी सिद्धि होती है। इसीसे जो लोग बिना प्रक्रियाके वेदान्तका अनुसन्धान करते हैं वे गड़बड़ाध्यायी हैं भला! माने यह अद्वैत आत्माके ब्रह्मत्वकी

अनुभूति भी एक विशेष प्रक्रियासे विचार करने पर ही होती है। यदि उस प्रक्रियासे विचार नहीं करेंगे, तो कहीं जड़ाद्वैतमें बिलकुल पदार्थवादी हो जाओगे। भूतवादी हो जाओगे। और, कहीं शून्याद्वैतमें शून्यवादी और कहीं भावाद्वैतमें ईश्वरवादी हो जाओगे और परमार्थ बिलकुल दूर चला जायेगा। यह अनुभवाद्वैत, 'केवलाद्वैत' है।

सृष्टिके मिथ्यात्वमें बौद्ध लोग भी स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं और जगत्को स्वप्नवत् मानते हैं। परन्तु, निरधिष्ठान मानते हैं। यह केवल शून्यमें प्रकट जो विज्ञान है, चित है—वह नाना आकार, प्रकार, विकारमें दीख रहा है। इसमें देखनेवाला भी चित्त-विज्ञान और दीखनेवाला भी चित्त-विज्ञान और उसमें जो ऐसा मालूम पड़ता है कि द्रष्टा एक है, वह तो केवल विज्ञानकी धारामें एकत्वकी भ्रान्ति है। असलमें द्रष्टा नामकी कोई चीज नहीं है, शून्य है।

अब उपासक लोग भावसे देखते हैं कि भला हम इस सृष्टिको बनानेवाले कैसे हो सकते हैं? जगत्के मूलमें जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, जिसका नियमन है, जिसकी व्यवस्था है, जो अर्न्तयामी है—उसके अन्तःकरणमें यह जगत् स्वप्नवत् है। ***'एकाकी नारमत'***।

तो तुलसीदसजी जब कहते हैं कि जगत् स्वप्न है—

झूठहु साँच जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई॥

स्वप्न-भ्रम दूसरे ढंगसे बताते हैं—

सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोय॥

तो ये वैष्णव लोग जो जगत्को स्वप्नवत् बताते हैं, वे जगत्से वैराग्यके लिये बताते हैं कि इसमें फँसना नहीं।

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत् सब सपना॥

माने स्वप्नमें मत फँसो! सच्ची चीज भगवद्भजन है वह करो।

तो बौद्धकी दृष्टिमें भगवान् और भगवान्का भजन भी स्वप्न है और तुलसीदासजीकी दृष्टिमें जगत सपना है और भगवान् और उनका भजन, दोनों सत्य हैं। अब दोनोंमें फर्क पड़ गया न!

अच्छा; अब वेदान्तियोंके स्वप्नको लो! इनका स्वप्न तो महाराज बड़ा विलक्षण है!

एक सज्जन वेदान्त-शास्त्रसे एम० ए० पास थे। देखनेमें जरा सुन्दर थे। कवियोंकी तरह बाल-वाल खूब रखते थे। कवि भी थे। उनको ऐसा ख्याल था कि मैं बहुत सुन्दर हूँ तो उनके सामने यदि हम कह दें कि यह जगत् स्वप्नवत् है,

तो चिढ़ते थे। बहुत नाराज होते थे। बोले कि वाह, ऐसी सुन्दर तो हमारी स्त्री, ऐसे सुन्दर हम, इतनी बढ़िया हमारी दुनिया। इसको तुम स्वप्नवत् बोलते हो? थोड़े दिनोंके बाद उनके पुत्रकी मृत्यु हो गयी। पहले उन्होंने बहुत कोशिश की कि वे पुत्रसे सम्पर्क स्थापित करें। हम लोग मानसिक शक्तियोंका विकास जानते हैं कि कैसे दूसरेके मनकी बात जानी जा सकती है।

वे बड़े पढ़े-लिखे! पहले तो अपने पुत्रकी आत्मा बुलानेकी कोशिश की। लेकिन, बादमें उनकी समझमें आती गयी कि आत्माको बुलाया नहीं जा सकता। एक स्थान पर तुलसीदासजी बुलाये गये तो उन्होंने कहा कि अमुक चौपाई गलत और दूसरी जगह बुलाये गये तो बोले कि नहीं, यह चौपाई सही। अब दोनोंमें बात गड़बड़ा गयी! अन्तमें बात यह उनके मन आयी कि हम उस बच्चेको फिर मिल सकते हैं या नहीं? इसका उत्तर है कि नहीं। तब फिर उस बच्चेका पैदा होना, हमारी गोदमें खेलना, तोतली बोलीमें बोलना, उसका बुद्धिमान् होना, प्रतिभाशाली होना, उसका सौन्दर्य आज जो हमको याद आता है, वह कहाँ गया?

देखो, वेदान्ती लोग बोलते हैं कि यह स्वप्न है!

तो वेदान्ती लोग केवल स्वप्नावस्थाको ही स्वप्न नहीं कहते हैं। जाग्रतकी जो वस्तुएं आकर चली जाती हैं और लौटायी नहीं जा सकती—वह पति, वह धन, वह सम्बन्धी, तुम्हारा वह बचपन, फूल-सरीखा कोमल और वह जवानी—भोग भोगनेमें बड़ी निपुण, बड़ी शक्तिशाली—वह सब क्या हुआ? आप लौटा सकते हो? स्वप्नका यही लक्षण है कि जो भोगते समय, करते समय, देखते समय तो जाग्रत मालूम पड़े और बादमें बाधित हो जाय, उसको लौटाया नहीं जा सके। सपना ऐसा होता है कि नहीं? देखो, सपना देखते सगय, सपनेमें काम करते समय, सपनेमें भोगते समय, सपनेमें व्यवहार करते समय यह मालूम पड़ता है कि जाग्रत-अवस्था है। लेकिन जब टूट जाता है तो उसको लौटानेका कोई उपाय नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत-अवस्थामें हम जो देखते चल रहे हैं, अब वे जवानीवाले काले बाल तुम लौटा सकते हो क्या? वह कपोलोंपर चिकनायी थी, वह लौट सकती है क्या? वह जो टूटे हुए दाँत हैं, उनको फिर जोड़ सकते हो क्या? वे काले बाल सपनेके थे, वे जो दाँत टूट गये हैं—वे सपनेके थे और ये भी सपनेके हैं। क्योंकि इस समय जाग्रत् मालूम पड़ते हैं! यह दिन नहीं लौटाया जा सकता! यह मिनट नहीं लौटाया जा सकता। यह स्थान नहीं लौटाया जा सकता। यह वस्तु नहीं लौटाये जा सकती। ये व्यक्ति नहीं लौटाया जा सकते। अनुभव करते समय सच्चे और अनुभवके बाद बिलकुल वैसे ही स्मृतिके विषय, जैसा कि स्वप्न!

★

जाग्रत्-स्वप्नकी समानतामें हेतु

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥ ५॥

'मनीषि' माने जज, जो सच और झूठका निर्णय करनेवाला है। मन पर जिसका नियन्त्रण है, उस वृत्तिको 'मनीषा' कहते हैं। मनः+ईषा=मनीषा। आपको 'ईषा' शब्दका इतिहास बतावें। खेत जोतते समय हलके आगे-आगे चलनेवाला जो काष्ठ है, उसे गाँवमें हरिस, हरिसा कहते हैं। जूआमें उसका सम्बन्ध होता है और हलका फाल धरतीको जोतता चलता है। तो उसको 'हरिसा' क्यों बोलते हैं? जोतनेवाले हल पर उसीका नियन्त्रण रहता है। उसको दायें घुमाओ तो दायें और बायें घुमाओं तो बायें! बैलोंके गलेमें वही बँधी रहती है।

तो यह मन जो है, दुनिया बनाता चलता है। परन्तु, इसके आगे-आगे कौन चलता है? बोले कि 'मनीषां' यह हलमें जैसे 'हलीषा' वैसे ही मनमें 'मनीषा'। संस्कृत भाषामें 'हलीषा' कहते हैं। जरा ध्यान दोगे तो संस्कृतके शब्दके साथ क्या भाव रहता है, वह आपकी समझमें आ जायेगा। यह जो मन है—इसमें संकल्प-विकल्प होते हैं कि यह काम करें कि न करें। इसका नाम 'मन' होता है। लेकिन आप ध्यान देकर देखो तो ज्ञातके विषयमें संकल्प होता है, अज्ञातके विषयमें संकल्प नहीं होता। माने जिस चीजको हम जानते हैं, उसको पावें कि उसको छोड़ दे, यह संकल्प होगा। नितान्त अज्ञातके बारेमें कोई संकल्प नहीं होता है। जो चीज न कभी देखी, न कभी सुनी, न कभी जानी—उसके बारेमें कभी संकल्प न पानेका और न छोड़नेका होगा ही नहीं। तो 'मनीषा' वह चीज है, जो पदार्थोंकी ज्ञातता है। उनके बारेमें हेय-उपादेय बुद्धि कि यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है—ऐसी बुद्धिको 'मनीषा' बोलते हैं। वह हमारे मनका संचालन करती है और वह 'मनीषा' जिसको प्राप्त है, उसको बोलते हैं 'मनीषि'। 'मनीषा अस्ति अस्य इति मनीषी'। 'मनीषि' बिलकुल दो टूक फैसला कर सकता है कि यह चीज पकड़ने लायक है और यह चीज छोड़ने लायक है।

विवेकीको ही असलमें 'मनीषि' कहते हैं। इसमें भी 'मनीषा' दो तरहकी होती हैं—एक निर्णयात्मक और एक निश्चयात्मक। निर्णय करना दूसरी चीज है और निश्चय करना दूसरी चीज है। यह आत्मा है, यह अनात्मा है—इसका निर्णय कर लिया और मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा हूँ—यह निश्चय हुआ। पहले आत्मा-अनात्माका विवेक किया, विवेक करके निर्णय कर लिया। बिलकुल असंदिग्ध और फिर असंदिग्ध निर्णय करनेके बाद इस निश्चयमें आरूढ़ हो गये कि हम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हैं। तो निर्णय तो विवेकसे होता है और निश्चय तो सार-सार है। संग्रहसे निश्चय होता है और वह संग्रहात्मक है। तो ब्रह्मात्मैकत्व निश्चय होता है और आत्मा-अनात्मा निर्णय होता है।

तो जो मनीषी हैं, वे कहते हैं कि स्वप्न स्थान और जाग्रत स्थान, दोनों एक ही हैं। क्यों? दोनोंमें भेद रहते हैं, एक बात और दोनोंमें दृश्य ही रहते हैं, यह दूसरी बात और समय बीत जानेके बाद दोनों बाधित हो जाते हैं, यह तीसरी बात। तो **'समत्वेनैव हेतुना'**—दोनोंमें कारण एक सरीखा ही है। सपना भी सपनेके समय सपना नहीं मालूम पड़ता, जाग्रत मालूम पड़ता है। सपनेमें भी दृश्य ही होते हैं और जाग्रतमें भी दृश्य ही होते हैं सपनेमें भी भेद होते हैं और जाग्रत्में भी भेद होते हैं और सपना टूटनेके बाद सपनेकी वस्तुएँ बाधित हो जाती है और ब्रह्मज्ञान होनेके बाद यह जाग्रत-अवस्था भी बाधित हो जाती है। इसलिये, यह जाग्रत भी असलमें स्वप्नके समान ही है। तो स्वप्नसे डरना नहीं भला! जाग्रतको स्वप्नके समान कहनेसे एक बड़ा भारी सामर्थ्य प्राप्त होता है जिज्ञासुको। जैसे सपना टूट जाने पर हम रोते नहीं है, वैसे-ही जाग्रत्को लेकर अशान्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

कोई-कोई तो कहते हैं कि हमको सपना नहीं आता है। तो कोई-कोई भाग्यवान् ऐसे भी होते हैं, जिनको सपना नहीं आता है। सृष्टिमें कोई यह नियम बना लेना कि सपना सबको ही आता है, ठीक नहीं! अनिर्वचनीयमें नियम नहीं बनता, मर्यादा नहीं बनती। लेकिन, कई लोगोंको ऐसा होता है कि सपना आता है, लेकिन वह इतना हल्का होता है कि उठने पर याद नहीं रहता, भूल जाता है। कई लोग देखो, कथामें सो जाते हैं और उनसे पूछो कि क्यों भाई, सो गये थे? तो पहले ही झटकेसे उनके मुँहसे निकलेगा कि 'न'। क्योंकि, अगर वे मान लें कि हम सो गये थे तो उनकी समझ पर आक्षेप होता है। जिनको वेदान्तकी बात समझ नहीं आती, उनको नींद आ जाती है। दिलचस्पी न होना नींद आनेका लक्षण है।

तो आओ एक-दो सपने अपने मैं आपको सुनाता हूँ!

एक बार मैं कलकत्तेमें था और हिन्दू-मुसलमानोंके दंगे हो रहे थे। ज्वाला प्रसाद कानोडिया, हनुमान् प्रसाद पोद्दार, जयदयाल कसेरा और मैं, एक ही मोटरमें घूम रहे थे। दंगेसे डरते नहीं थे। हिंदुओंके मुहल्लोंमें जा-जाकर कहते थे कि दंगा मत करो। चलते-चलते महाराज हमें तो नींद आ गयी। नींद आ गयी तो हमने क्या देखा कि हम एक भगतके घरमें हैं, और वे और कोई नहीं, ज्वाला प्रसाद कानोडिया ही थे। वे खिलानेके बड़े शौकीन थे! बहुत खिलाते थे। तो उस दिन सपनेमें उन्होंने इतना खिलाया, इतना खिलाया कि मेरा पेट ही फट गया।

शास्त्रमें लिखा है कि यह जो बहुत प्रेमी होते हैं, वे खिला-खिलाकर मार डालते हैं और जो बड़े विवेकी होते हैं, वे बका-बकाकर मार डालते हैं। ज्ञानी लोग बुलवाते ज्यादा हैं, खिलाते नहीं है और भगत लोग खिलाते ज्यादा हैं, बुलवाते नहीं हैं। क्योंकि समझते कम हैं।

तो उन्होंने इतना खिलाया कि हमारा पेट फट गया, मैं मर गया। लोग उठाकर श्मशानमें ले गये। अर्थी गयी और वह मैंने देखी फिर चिता-जलायी गयी, उसपर शरीर रखा गया और वह जले और एक ओर जयदयाल गोयन्दका, जयदयाल कसेरा, हनुमान प्रसाद जी, ज्वाला प्रसादजी सब बैठे और बात कर रहे कि पण्डितजी ऐसे थे, ऐसे थे। हम उस समय पण्डितजी थे, स्वामीजी नहीं थे। वे परस्पर बात करें कि पण्डितजी, वेदान्त बड़ा अच्छा समझते थे। हमारी उस समय भी वेदान्तके बारेमें बहुत प्रसिद्धि थी। क्योंकि, हम उड़ियाबाबा महाराजको माण्डूक्य-कारिका सुनाते थे। करपात्रीजी महाराजके शिक्षा-गुरु विश्वेश्वर आश्रमजी महाराज भी सुनते थे। हमारी वेदान्तके बारेमें बड़ी प्रसिद्धि थी। तो मरनेके बाद वे लोग हमारी चर्चा करें और मैं सुन रहा! जिन्दगीमें वे लोग तारीफ करनेवाले नहीं थे भला! उनका नियम ही है कि जिन्दा रहते तारीफ नहीं करना। गीता प्रेसकी यह मर्यादा ही है कि जीवित व्यक्तिका चित्र, चरित्र नहीं छापना। अब तो उनके मुखसे तारीफ सुननेको मिली। इतनेमें ख्याल आया कि मेरा शरीर तो जल रहा है और फिर मैं सुन कहाँसे रहा हूँ? तो मैं जिन्दा हूँ, अमर हूँ, मैं तो साक्षी हूँ। यह मरना और शरीरका जलना तो एक स्वप्न है।

एक बार सचमुच बुखार आया हुआ था। सुदर्शन सिंहजी हमारे ही घरमें रहते थे और उनको प्राकृतिक चिकित्सा करनेका बड़ा शौक था। वे स्वयं स्वप्नदोष न हो, इसके लिये टबमें कटि स्नान करते थे। सो उस समय भी घरमें

टबमें पानी भरा हुआ था। मैं जब तीव्र ज्वरसे वमन आने पर बेहोश हो गया तो उन्होंने उठा कर टबमें रख दिया। अब टबमें मैंने क़्या देखा कि बुढ़िया स्त्री, जिसके बाल बिखरे हुए और हाथमें तलवार लिए हुए हमको मारनेके लिए दौड़ रही है! वह मौत आयी। इतनेमें देखा कि दूसरी ओरसे लाल-लाल हनुमान्जी हाथमें पहाड़ लिये और गदा लिये उस मौतके ऊपर दौड़े तो मौत भाग गयी। आधे घण्टेमें होश आ गया। होश आ गया तो शरीरमें बुखार बिलकुल नहीं था। और तबियत एकदम स्वस्थ हो गयी।

ऐसे देखो, सपने आते हैं।

एक और विलक्षण सपना बताता हूँ।

एक दिन मैंने सपना देखा। जो लोग कहते हैं न कि ज्ञानीको सपना नहीं आता, वे लोग इस बातको ठीक-ठीक समझते नहीं हैं। ज्ञानीको जब सुषुप्ति होती है और जाग्रत्-अवस्था होती है माने अन्तःकरण जागता भी है और सोता भी है, ज्ञानीका तो उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि, वह तो ब्रह्म है। तो ब्रह्ममें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थायें विवर्त रूपसे दीखती रहती है। इनमेंसे किसीका निषेध करना युक्ति-सङ्गत नहीं है।

तो मैंने क्या स्वप्न देखा कि मैं कहीं रास्तेमें आ रहा था कि हमारे परिचित तीन बड़े महात्मा प्रकट हुए। जिनपर मैं श्रद्धा करता हूँ। वे तीनों गद्दीपर एक साथ बराबर बैठे हुए थे, जाकर मैंने साष्टांग दण्डवत् किया। अब वे तीनों एक साथ बोले। जैसे कोई-कोई दो मण्डलेश्वर एक साथ व्याख्यान देते हैं, वैसे वे तीनों एक साथ बोले। देखो, तुम्हारा यह कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य है। अरे महाराज, दसियों कर्त्तव्य बता दिये। अब मैं चुपचाप सिर झुकाये खड़ा। तो मेरे मनमें ख्याल हुआ कि ये महात्मा तो सब तत्त्वज्ञानी हैं, ब्रह्मविद् हैं। न इनका कोई कर्त्तव्य है और न मेरा कोई कर्त्तव्य है। मैं तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ। अधिकारी नहीं हूँ। तो मेरा कर्त्तव्य कैसे हुआ? तो ये वे महात्मा हैं कि नहीं हैं? मैंने सोचा कि अरे, ये असली महात्मा नहीं है, ये तो नकली हैं। ये तो हमको ब्रह्म नहीं बताते हैं, ये तो हमारा कर्त्तव्य बताते हैं। जो आँख उठाकर देखा महाराज, सो मालूम हुआ कि वे तीनों महात्मा नहीं हैं; वे तो कठपुतली हैं। माने तीनों महात्माओंकी केवल शक्ल है और, इसके बाद मैंने और गौरसे देखा तो तीनोंमें आग लग गयी और तीनोंका शरीर ज्ञानाग्निमें भस्म हो गया।

तो, कैसे-कैसे विलक्षण सपने आते हैं। अब इसमें बात क्या है कि,

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

जो वस्तु आदिमें नहीं होती और अन्तमें भी नहीं रहती, वह वर्त्तमानमें भी नहीं है। यह नियम है, मर्यादा है।

अब देखो, हमलोग सङ्गति जोड़ते हैं। गौडपादाचार्यजी शुकदेवजीके शिष्य थे। श्रीमद्भागवतमें यह बात एक बार नहीं, बीस बार आयी है।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

(भागवत, १०. ८७. ३७)

'न यदिदमग्र आस न भविष्यत्'—यंह जो सृष्टि दिख रही है, यह पहले नहीं थी—'अग्र न आस;' 'न भविष्यत्'—और बादमें नहीं रहेगी। 'अतो मध्ये मितं'—इसलिए, बीचमें यह दीखती हुई भी 'एक रसे त्वयि मृषा विभाति'—एक रस परमात्मामें यह झूठी भास रही है।

यह श्रीमद्भागवतकी वेद-स्तुतिमें है और, ग्यारहवें-स्कन्धमें जहाँ परमार्थका निरूपण है,

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चाद् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। (११. २८. २१)

'जो चीज पहले नहीं थी और बादमें नहीं रहेगी, वह बीचमें भी नहीं है। वह तो केवल नाममात्र है।'

यह शरीर जन्मके पहले नहीं था, मृत्युके बाद नहीं रहेगा। इसलिए, बीचमें जो शरीर और शरीरके सम्बन्धी मालूम पड़ रहे हैं, ये बिलकुल स्वप्नके समान हैं। इसमें युक्ति दी कि—

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्, तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा।

जो वस्तु जिस उपादानसे पैदा होती है, और जिस द्रष्टाकी दृष्टिसे सिद्ध होती है—उपादान माने कार्य जिसका उपादान कि रहता है माने लिये रहता है; जैसे घड़ा मिट्टीको लिये हुए है। अतः कार्यमें जो अनुगत रहता है, उसको 'उपादान' कहते हैं। तो जैसे मिट्टीसे घड़ा पैदा हुआ। तो मिट्टीके अलावा घड़ा और कुछ नहीं है। कोई भी कार्य अपने उपादान कारणसे बिलकुल अलग नहीं होता है। तो परब्रह्म परमात्मासे यह सृष्टि प्रकट हुई, परब्रह्म परमात्मामें है, परब्रह्म परमात्मासे जुदा नहीं है। परब्रह्म परमात्मा अद्वय है। तो यह एक युक्ति हुई कि जो जिस उपादान कारणसे प्रकट होता है, वह उससे जुदा नहीं होता और, दूसरी बात बताी कि

'प्रसिद्ध च'—जिसकी सिद्धि जिससे होती है, वह उससे न्यारा नहीं होता दुनियाकी सिद्धि किससे होती है? आत्मासे। मैं हूँ, तब न.दुनियाको देख रहा हूँ।

वृन्दावन की कुञ्ज गली में, नाचत नन्द किशोर।

कौन देख रहा है? बोले कि भक्ति-संस्कारसे संस्कृत अन्तःकरण वाला जो चैतन्य है, वह देख रहा है।

तो जिसको, जो देखता है अर्थात् जिस द्रष्टासे जिस पदार्थकी सिद्धि होती है। ऐसा समझो कि सिनेमाका एक पर्दा है। अगर पर्दा न हो तो सिनेमा कहीं दिखेगा क्या? और, एक रोशनी है जो उस-उस तसवीरसे संस्कृत फिल्ममें-से निकल रही है। तो रोशनी न हो तो सिनेमा दिखेगा? सिनेमामें रोशनी और पर्दा, इन्हीं दोका खेल है, और कुछ नहीं है भला। वहाँ न स्त्री है, न पुरुष है, न मुहब्बत है, न दिल है और उसके टुकड़े हैं, न वे कहीं गिरते हैं। ये सब कुछ नहीं है। तब क्या है? वहाँ रोशनी है अमुक संस्कारसे संस्कृत, जिसमें फिल्म भरी हुई है, जिसमें संस्कार डाले हुए हैं। तो द्रष्टामें संस्कार कहाँसे आये? अन्तःकरणके सम्बन्धसे। तो अन्तःकरणके सम्बन्धसे द्रष्टा ब्रह्मरूप पर्देपर, अधिष्ठानपर यह दृश्य देख रहा है। तो यदि अन्तःकरण और उसके संस्कारको छोड़ दें और पर्देको छोड़ दें तो कुछ नहीं दिखेगा।

तो असलमें यह सम्पूर्ण विश्व सृष्टिका पर्दा और द्रष्टा, प्रकाश एक ही है। द्रष्टा भी बिना संस्कारका है स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान भी बिना संस्कारका है और, संस्कारका यदि अपवाद कर दिया जाय तो द्रष्टा और अधिष्ठान एक है। अतः यह जो पर्देपर तसवीर दिख रही है, यह पहले नहीं थी, और बादमें नहीं है। अतः वर्तमानमें बिना हुए दिख रही है।

वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।

इसीसे संस्कृत भाषामें 'वितथ' शब्दका प्रयोग करते हैं। 'वितथ'—यथा दृश्यते तथा न भवति। 'वि' माने विपरीत और 'तथा' माने वैसा। जैसा दीखता है, वैसा नहीं—उसको 'वितथ' बोलते हैं।

अब देखो, यह सृष्टि अनेक दिखती है। पर, यह अनेक नहीं है, एक ही है। यह सृष्टि जड़ दिखती है। पर, जड़ नहीं, चेतन ही है। यह सृष्टि अपनेसे अन्य दिखती है। पर, अन्य नहीं है, स्व है। यह दुःख दिखती है पर, आनन्द है। यह जन्म-मरणवाली दिखती है परन्तु, अमृत सत्ता है। भिन्न दिखती है; पर अभिन्न है। इसलिए, जैसी दिखती है, वैसी नहीं है। जरा विचार करके इसकी गहरायीमें

घुसो। तो यह जो सृष्टि दिख रही है, यह बिलकुल 'वितथ'के समान है। जैसी दिखती है, वैसी नहीं है। लेकिन सत्यके समान दिख रही है। क्यों दिख रही है? इसके ऊपर हम चढ़ बैठे। माने अन्तःकरण भी तो बिलकुल वैसा ही है न!

बोले कि देखो महाराज! आँखसे यह किताब दिख रही है। सो किताब झूठी कैसे? बोले कि पहले तुम हमारी यह बात समझो कि आँख झूठी है, अन्तःकरण झूठा है। जब तुम अन्तःकरणको कल्पित समझोगे, इन्द्रियोंको कल्पित समझोगे, तब इनके द्वारा देखे हुए संसारको भी कल्पित समझ सकोगे और जब तक इस देहमें-से, इन इन्द्रियोंमें-से, इस अन्तःकरणमें से अपनी सत्ताको, अपने ज्ञानको, अपनी प्रियताको तुम हटा नहीं लेते, तब तक सब सच्चा दिखेगा। इसीपर चढ़कर इसीकी बातको सच्ची मानते हो।

एक वेश्या किसीको बर्गलाती थी। अब उस आदमीको कोई कितना समझावे, जब उस वेश्यासे मिले तो उसीकी बातोंमें आजाय। तो उसके गुरुने, पिताने कहा कि भाई, एक बार तुम तटस्थ हो जाओ। अभी तो तुम्हारे मनमें राग है, मोह है, पक्षपात है। वह वेश्या जो कुछ कहती है, उसीको तुम सच मान लेते हो। एक बार जरा मोहसे, रागसे अपनेको अलग करो तो! अन्तःकरणसे, देहसे जो तादात्म्य हो गया है, इस अभिमानको छोड़ो। यहाँसे अपने आपको निकाल लो और फिर तटस्थ दृष्टिसे देखो तो जैसी सृष्टि है, वैसे ही देह है, इन्द्रियाँ हैं, अन्तःकरण है और जैसे तुम इनसे जुदा हो, वैसे ही सारी सृष्टिसे जुदा हो।

अतः इस सीमितके असीमित आधार तुम हो। इस सीमित दृश्यके असीम द्रष्टा तुम हो। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न द्रष्टा होनेके कारण तुम्हारे अन्दर यह सारी-की-सारी सृष्टि कल्पित है। यह तो जब हम अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे तादात्म्यापन्न होकर सारी सृष्टिको देखते हैं, तब यह सृष्टि सच्ची मालूम पड़ती है।

अब इस 'माण्डूक्य' कारिकामें आगे ऐसा वर्णन आता है कि विचारवान्के लिए तो यह तत्काल ही ईश्वरका दर्शन करानेवाला है। जो सचमुच ईश्वरको देखना चाहते हैं, उनको तत्काल ईश्वरका दर्शन करा दे।



वर्तमान का वास्तविक स्वरूप

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ ६॥
सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥ ७॥

'आदावन्ते च यन्नास्ति'—यह श्लोक इतना प्रसिद्ध है कि जैसे गाँवके लोग बात-बातमें रामचरितमानसकी चौपाई बोलते हैं, वैसे ही वेदान्तके संस्कारसे सम्पन्न विरक्त लोग इस श्लोकको बात-बातमें ज्यादा बोलते हैं।

'जो वस्तु आदिमें न हो और अन्तमें न हो, वह वस्तु वर्तमानमें भी नहीं है।'

श्रीमद्भागवतकी 'रास पञ्चाध्यायी'में एक दृष्टान्त आया है—

गोपियोंने श्रीकृष्णसे पूछा कि तुम हमलोगोंको छोड़कर अन्तर्धान क्यों हो गये? तो उन्होंने कहा कि प्रेमसे। भला यह क्या प्रेम है? छोड़कर भाग गये? तो श्रीकृष्णने एक दृष्टान्त दिया कि एक बहुत गरीब आदमी था—खाता था, पीता था, पहनता था, बहुत मस्त रहता था। एक दिन रास्तेमें चलते-चलते उसको हजारों रुपयेकी सम्पत्ति मिल गयी। अब उसने उठा लिया और घरमें ले जाकर रखा। बड़ा प्रेम हो गया। अभिमान हो गया कि हमारे पास हजार हैं। एक दिन कोई चुरा ले गया। चुरा ले गया तो रोने लगा कि हाय-हाय, हमारी तो चोरी हो गयी। तो लोगोंने कहा कि भाई, चोरी हो गयी तो दुःखी होनेकी क्या बात है? पहले जैसे तुम्हारे पास नहीं था और मस्त रहते थे, खाते थे, पीते थे, सोते थे; वैसे अब भी खाओ, पीओ, रहो। यह तो बीचमें एक गड़बड़ आ गयी और चली गयी। इसके लिए रोनेकी भला क्या जरूरत? बोला कि नहीं, अब तो इससे प्रेम हो गया। अब इसे कैसे छोड़ सकते हैं?

'यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद'।

(भागवत, १०. ३२. २०)

'जैसे कोई निर्धन व्यक्ति एकाएक प्राप्त-धनका नाश हो जाने पर उसकी चिन्तासे इतना व्याकुल हो जाता है कि उसको दूसरा कुछ सूझता ही नहीं।' ऐसे दुनियाके जो लोग हैं, उनकी दशा है। आये थे जब, तब अपने

साथ क्या लेकर आये थे? नङ्गे आये थे, तनपर कपड़ा भी तो नहीं था। कुछ पूँजी भी लेकर नहीं आये थे। कुछ भी अपने साथ नहीं था—मकान नहीं, मोटर नहीं, कपड़ा नहीं, रुपया नहीं और, बीचमें यह मिल गया। अब यदि यह जाने लगे तो रोना क्यों? भई, अब कैसे रहेंगे? बोले कि इसके बिना जैसे पहले रहते थे, वैसे अब भी रह सकते हैं। जैसे ब्याहके पहले मस्त थे अकेले, वैसे बादमें भी अकेले रह सकते हैं। जैसे बेटेके पहले मस्त थे, वैसे बेटेके बाद भी अकेले रह सकते हैं। जैसे धनके पहले अकेले मस्त थे वैसे धनके बाद भी मस्त रह सकते हैं। क्योंकि, जब वस्तुकी आदि है और वस्तुका अन्त है; तो अगर वह सच्ची चीज होती तो आदि-अन्तवाली न होती। अत: बीचमें उस चीजका आना ऐसे-ही है, जैसे सपनेका आना। सपनेमें जेसे कोई ब्याह हो जाय, कोई धन आजाय।

आपको भक्तोंकी एक बात सुनाता हूँ। नवद्वीपमें एक पण्डित थे। श्री चैतन्य महाप्रभु उनके घरमें कीर्त्तनके लिए आनेवाले थे। महाप्रभुके आनेके पहले ही उनका बेटा बड़े जोरसे बीमार पड़ गया और मर गया। अब उन्होंने सोचा कि अगर यह बात हम जाहिर कर देंगे तो महाप्रभु हमारे घरमें आवेंगे नहीं और आवेंगे भी तो संकीर्तन नहीं करेंगे। तो उसने, अपने बेटेकी लाशको कमरेमें बन्दकर दिया और महाप्रभु आये तो खूब हँस-हँसकर स्वागत किया और कीर्त्तन होने लगा। देखो, उसका चित्त देखो। महाप्रभुको मालूम पड़ा कि घरमें कुछ उदासीका वातावरण है। उन्होंने पूछा कि क्या बात है? उसने कहा कि कोई बात नहीं है। महाप्रभु बोले कि नहीं, कुछ-न-कुछ है। बताओ। तो उसने बताया कि है कुछ नहीं। भगवान्ने अपनी चीज हमको थोड़े दिनोंके लिए दी थी और आज फिर उन्होंने हमारी गोदमें-से अपनी गोदमें ले ली। उस जीवका तो कल्याण हो गया। आप खूब आनन्दमें कीर्त्तन करो।

देखो, यह एक भक्तका हृदय है। उसको यह दिखता है कि भगवान् ही आदि और भगवान् ही अन्त। बीचमें उन्हींकी दी हुई चीज आयी थी और उन्होंने ले ली।

सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृतिमें एक फूल खिला। पहले फूल कहाँ था? थोड़ी देर खिला और मुरझा गया।

वैशेषिकवादी कहते हैं कि कुछ अणु आपसमें मिले तो एक फूल तैयार हुआ। जब तक अणु मिले रहे, तब तक फूल रहा और बिछुड़ गये तो फूल भी नहीं रहा।

मायावादी कहते हैं कि जादूके खेलमें जैसे कोई चीज ऊपरसे पटक दो, आवे और फिर जब जादूगरने जादू समेटा तो चीज नदारद। दुनियाका यही खेल है। एक प्रकृतिका फूल है, एक परमाणुओंका समूह है, एक जादूका खेल है, एक ईश्वरका सङ्कल्प है, एक ब्रह्मकी स्फुरणा है। अपने स्वरूपमें एक स्फुरणा हुई और सृष्टि दिखी और लुप्त हो गयी।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

पहले नहीं थी, बादमें नहीं रहेगी। यह बीचकी जो स्फुरणा है, उसको इतना क्यों पकड़ते हो? जादूके खेल को इतना क्यों पकड़ते हो? सब तकलीफोंकी जड़ यही है। संसारमें जितना कष्ट होता है, उसका कारण इस मिथ्या सृष्टिको पकड़कर रखना है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता—२.२८)

अदर्शनादापतितः, पुनश्चादर्शनं गतः।
न स तव न तस्य त्वं, वृथा किं परितप्यसे॥

एक अनजानी जगहसे एक चीज टपक पड़ी और फिर वहीं खो गयी 'अदर्शनादापतितः'—अनजानी जगहसे आयी और 'अदर्शनंगतः'— अनजानी जगहमें उड़ गयी। 'न स तव'— वह तुम्हारा नहीं था, 'न तस्य त्वं'—तुम उसके नहीं हो। 'वृथा किं परितप्यसे'? व्यर्थ क्यों शोक करते हो? शोक करनेका कारण क्या है?

तो, 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।'

जो मृगतृष्णा होती है, जैसे ऊसरमें पानी दिखायी पड़े, जैसे सीपमें चाँदी, जैसे रस्सीमें साँप, जैसे आकाशमें नीलिमा; ऐसे-ही तो यह 'वितथाः'। ये सब-के-सब 'वितथैः सदृशाः सन्तो'—झूठी चीजोंके समान ही सब पदार्थ दिख रहे हैं। परन्तु, जब तुम उनसे मोहकर बैठते हो, ममता कर बैठते हो, तब वे सच्चे दिखायी पड़ते हैं।

☆

जाग्रत्-पदार्थों की सप्रयोजनता कैसी?

अब कहो भाई कि जाग्रत् और स्वप्नमें एक बड़ा भेद है। तो क्या भेद है? कि, जाग्रत्-अवस्थाकी जो वस्तु होती है, उससे प्रयोजनकी सिद्धि होती है और स्वप्नके जो पदार्थ होते हैं, उनसे प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती। स्वप्नमें खूब धन होवे तो उससे कोई साड़ी थोड़े खरीदी ज़ायेगी, मकान थोड़े लिया जायेगा? उससे कोई खाना-पीना थोड़े मिलेगा? तो बोले कि स्वप्नकी वस्तुसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और जाग्रत्की वस्तुसे प्रयोजन सिद्ध होता है। इसलिए, सपनेकी चीज झूठी और जाग्रत्की चीज सच्ची।

वैसे आपको एक बात बतावें। सपनेकी एक चीज इतनी सच्ची निकलती है, कभी कोई उसको काट नहीं सकता। वह क्या होती है? यदि स्वप्नमें कोई ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु मिल जाय और वह तत्त्वमस्यादि महावाक्यका ठीक-ठीक अर्थ स्वप्नमें समझा दे और वहाँ अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य और अव्याकृतावच्छिन्न चैतन्य—दोनों की एकताका बोधसे यदि हो जाय तो सचमुच अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत्के ज्ञानमें ही नहीं, स्वप्नके ज्ञानमें भी यह सामर्थ्य है कि वह एक ही चोटमें अज्ञानको मिटा दे। माने हल्का-फुल्का ज्ञान भी अगर हो जाय तो अज्ञानको मिटानेमें समर्थ है। इतना प्रबल है ज्ञान! यदि स्वप्नमें अनुभव हो जाय कि आत्मा-परमात्मा एक हैं, तो वास्तविक बोध हो जाये। यह बुद्धि-वुद्धिसे नहीं होता।

कल आपको सुनाया था कि यन्त्रसे अगर तुम तत्त्वको जाननेकी कोशिश करोगे तो केवल 'जड़ाद्वैत'का ज्ञान होगा और बुद्धिसे जाननेकी कोशिश करोगे तो 'शून्याद्वैत' का ज्ञान होगा और श्रद्धा, भक्तिसे जाननेकी कोशिश करोगे तो 'ईश्वराद्वैत' का ज्ञान होगा और वेदान्तकी प्रक्रियासे जब जानोगे तब, आत्मा ब्रह्म है—यह ज्ञान होगा। यह जो हमारे महापुरुषोंने इसको वेदान्तैक्यवेद्य बताया है, इसका कारण यह है कि कहीं तुम यह मत समझ लेना कि यह मशीनसे, श्रद्धासे, बुद्धिसे जाना जा सकेगा। इससे एक बात निकलती है, वह यह है कि हमारे महात्माओंको पता था कि यह वेदान्तोक्त-प्रक्रियासे ही केवल आत्मा और ब्रह्मकी

एकताका ज्ञान होता है। वे सब बुद्धिमान् बकवादी हैं, वेदान्तकी सुनी हुई युक्तियोंको अपनी बुद्धि बताकर और सिद्ध करते हैं कि इस युक्तिसे हो गया, इस युक्तिसे हो गया। वे तो सब सुनी हुई, मानी हुई युक्तियाँ हैं। इसीसे वेदान्तके बिना ब्रह्मात्मैक्य-बोध नहीं होता।

तो इसमें ऐसा समझो कि चाहे ब्रह्मज्ञान विश्वको होवे कि मैं स्थूलका अभिमानी विश्व नहीं, अनन्त ब्रह्म हूँ और चाहे ज्ञान होवे तैजस्को कि मैं सूक्ष्मका अभिमानी तैजस् नहीं, ब्रह्म हूँ और चाहे प्राज्ञको कदाचित् ज्ञान होवे— कदाचित् इसलिए कि जहाँ वृत्ति नहीं रहती है, वहाँ ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए समाधि दशामें किसीको ज्ञान नहीं हो सकता; ज्ञान होगा तो समाधि टूटने पर ही होगा। अतः मूर्च्छा, सुषुप्ति, समाधिमें, जहाँ वृत्ति, अविद्याकी निवर्तक रूपसे नहीं रहती है। माने जहाँ ब्रह्माकार-वृत्ति नहीं हो सकती, वहाँ ज्ञान होना भी कठिन! यह बात है कि यदि प्राज्ञ भी कदाचित् यह समझ जाय कि जो कारण उपाधिसे निर्मुक्त हमारा आत्मचैतन्य है, वही ब्रह्म है, तो उसको ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। इसलिए, यह वेदान्तकी जो पद्धति है, यह बड़ी विलक्षण है।

अब जरा वह स्वप्नवाली बात सुनाते हैं। इसके पहले एक बात और! अपने इष्टको शैतानके सामने कभी खड़ा मत करना। इसका अभिप्राय क्या है कि जिसको तुम नहीं चाहते हो, वह क्या है? 'अनिष्ट' है और, जिसको तुम चाहते हो, उसका नाम 'इष्ट' है। तो तुम्हारा काम इष्टको अनिष्टसे लड़ानेका नहीं है। तुम्हारा कोई प्यारा होवे, तो प्यारेको ले जाकर दुश्मनके सामने रख दो कि तुम इसको मारो—यह तो तुम्हारा प्रेम नहीं हुआ न! अपने प्यारेको तो दुश्मनसे बचाया जाता है, दुश्मनके सामने ले जाकर नहीं रखा जाता। तो यह जो हमारा 'इष्ट' अद्वैत है, यह द्वैतसे लड़ाई करनेके लिए बिलकुल नहीं है। अगर द्वैतसे लड़ाई करेगा तो द्वैत-अद्वैत, दोनों समान सत्तामें हो जायेंगे। इसलिए, अद्वैताकारवृत्ति ही द्वैतका नाश करती है, अद्वैत द्वैतका नाश नहीं करता है, अद्वैतकी जो सेना है, वही द्वैतका नाश करती है, अद्वैत स्वयं द्वैतसे लड़ाई नहीं करता है। इसलिए, अनिष्टके साथ इष्टका द्वन्द्व मत करवाओ।

एक वेदान्तकी सबसे ऊँची बात है कि यदि तुम कोई पक्ष लोगे तो विपक्ष तुम्हारे सामने जरूर खड़ा होगा। इसलिए, पक्ष-विपक्षको छोड़कर अपने स्वरूपमें रहना—यह वेदान्त सिखाता है। वेदान्त पक्ष नहीं है, वेदान्त पक्षी नहीं है। अद्वैत

स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक है। यह किसीके साथ द्वन्द्व करनेवाला, युद्ध करनेवाला नहीं है। इसीसे अद्वैत-ज्ञानसे जीवनमें समताका प्रकाश होता है, सर्वज्ञताका विकास होता है। माण्डूक्य-कारिकामें ये दोनों बात आयी हैं,

अविवादो ऽविरुद्धश्च यो धर्मस्तं निबोधत।

हमारा वेदान्त धर्म किसीका विरोधी नहीं है। एक दिन मैं एक जगह गया। तो बड़े भारी वेदान्तके पण्डित थे, वे बोले कि हम द्वैतवादियोंको कुचल डालेंगे। मालूम होता था, जैसे हिन्दुस्तान-पाकिस्तानकी लड़ाई हो रही हो। अब देखो, एक यह भी भाषा हुई कि हम सम्पूर्ण द्वैतको प्रकाश देते हैं, सबको ज्योति देते हैं, सबको जीवन देते हैं, सबको सत्ता देते हैं, सबको ज्ञान देते हैं, सबको आनन्द देते हैं। यावद् द्वैत है, मुझसे ही सत्ता, स्फूर्ति प्राप्त करता है, मुझसे ही आनन्द प्राप्त करता है, मुझसे ही ज्ञान प्राप्त करता है।

अद्वैतसे जीवनमें निष्पक्षता, समता आती है और जीवनमें परमानन्दका विकास होता है। यह अनिष्टसे लड़नेवाला इष्ट नहीं है। यह ऐसा इष्ट है, जिससे इष्ट और अनिष्ट बनते हैं। 'इष्ट' शब्द न हो तो 'अनिष्ट' बनेगा क्या? अनिष्टको किसने बनाया? इष्टने 'अन्' में घुसकर अनिष्टको बना दिया।

अच्छाजी, अब अपने प्रसंगपर लौट आओ।

'सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते'।

किसीने कहा कि जाग्रत्की वस्तुओंसे बड़ा प्रयोजन सिद्ध होता है। तो कहते हैं कि नहीं, यह 'विप्रतिपन्न' है अर्थात् असिद्ध है। जाग्रत्की वस्तुओंसे जाग्रत्में ही कभी-कभी काम नहीं चलता है। सपनेकी तो बात ही छोड़ो।

एक आदमी खूब खा-पीकर मस्त होकर सोया। अब सपनेमें लगी प्यास, भूख। घरमें तो घड़ों पानी। हर-हर नल गिर रहा। सामने गङ्गाजी बह रहीं और सपनेमें बेचारा प्यासा मर रहा। तो जाग्रत्की वस्तु सपनेमें काम नहीं देती। विप्रतिपन्न हो गया! उससे प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह सिद्ध नहीं हुआ। सपनेमें प्यास लगे तो सपनेका पानी चाहिए। सपनेमें भूख लगे तो सपनेका भोजन चाहिए। सपनेमें कामना हो तो सपनेकी अंगना चाहिए। और, जाग्रत्में जाग्रत्का चाहिए।

कहते हैं कि एक गाँव ऐसा था, जो स्वर्णका हो गया। अब वहाँ न गेहूँ, न चावल, न दाल। जब लोगोंको भूख लगी तो गाँव भरमें सोना-ही-सोना। अब कोई सोना खाया जाता है?

बचपनमें हमलोगों एक पुस्तकमें एक कथा पढ़ी थी। एक आदमीने एक

देवताकी आराधना की। देवता प्रसन्न हुआ तो उसने कहा कि वर माँगो बेटा! तो उसने कहा कि हम यह वर माँगते हैं कि जिस चीजको छूएं, तो वह सुवर्ण हो जाये। देवताको हँसी तो आयी। पर उसने कहा कि अच्छी बात है। अब वह आदमी लौटकर घर आया तो भूख लगी थी। सो उनकी श्रीमतीने थालमें लाकर रोटी, दाल रखी। हाथ लगाया रोटीमें तो स्वर्ण हो गयी, दाल भी स्वर्ण हो गयी। गिलास भर पानी उठाया तो वह स्वर्ण हो गया। बोले कि हाय-हाय, भूखे मरे। फिर देवताने कृपा करके उसको सब ठीक कर दिया।

तो देखो, जाग्रत्‌की वस्तु जाग्रत्‌में भी काम नहीं दे सकती। लगी हो प्यास, तो भजन क्या करेगा? और, भूख लगी हो तो संगीत क्या करेगा? हाथी पर चढ़ने जा रहे हों तो आँखोंके सामने रंगीन-रूप-माधुर्य क्या करेंगे? जाग्रत्‌की वस्तु तो जाग्रत्‌में भी काम नहीं देती। अब स्वप्नमें इन जाग्रत्-वस्तुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, कोई काम बनता है, यह बात भी सिद्ध नहीं होती।

अच्छा, अब दूसरी बात देखो।

सपना तो इतना प्रबल है कि जाग्रत्-अवस्थामें उसकी याद रहती है। लेकिन, जाग्रत्-अवस्था तो इतनी कमजोर है कि स्वप्नमें इसकी याद भी नहीं आती। आपको स्वप्नमें जाग्रत्‌की याद आती है? स्वप्न ही जाग्रत् मालूम पड़ता है।

अच्छा देखो, क्या मजेदार बात है कि जाग्रत्‌में प्राज्ञ और तैजस्—दोनों विश्वमें अनुगत रहते हैं। इसलिए, प्राज्ञके अनुभव सुषुप्तिका भी स्मरण जाग्रत्‌में होता है और तैजस्‌के अनुभव स्वप्नका भी स्मरण जाग्रत्‌में रहता है। परन्तु, जब स्वप्नावस्था आती है, तब विश्व, तैजस्‌में डूब जाता है माने जाग्रत्, स्वप्नमें डूब जाता है और जाग्रत् स्वप्न दोनों सुषुप्तिमें डूब जाते हैं माने विश्व और तैजस्—दोनों प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं। इसीसे जाग्रत्‌में स्वप्न और सुषुप्तिकी स्मृति होती है। परन्तु, सुषुप्तिमें स्वप्न और जाग्रत् दोनोंकी स्मृति नहीं होती और स्वप्नमें जाग्रत्‌की स्मृति नहीं होती। यह एक प्रश्न है कि याद क्यों नहीं आता? साक्षी विश्वके यन्त्रोंको छोड़कर स्वप्नमें रहता है और तैजस्‌के यन्त्रोंको छोड़कर सुषुप्तिमें रहता है और विश्व, तैजस और प्राज्ञ—तीनोंके यन्त्रोंको छोड़कर एक वह साक्षी है। इसलिए, जो यंत्रगत वैषम्य है, वह जैसे बिजली पर नहीं लगता है, आपका बल्ब फ्यूज हो जाय तो इसका मतलब यह तो नहीं हुआ कि बिजलीका नाश हो गया? मशीनमें कोई खराबी आवे तो उससे बिजलीका तो कोई नुकसान नहीं हुआ न! इसी प्रकार, जाग्रत्‌में जो धर्माधर्म है, स्वप्नमें जो सुख-दुःख है, सुषुप्तिमें जो विश्राम है—इसके

साथ साक्षी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। साक्षी तो साक्षी है। दुनियाका व्यवहार चाहे आवे, चाहे जाय, सपना आवे, चाहे जाय सुषुप्ति भी चाहे तामस हो, चाहे राजस हो, चाहे सात्त्विक हो! जिस सुषुप्तिके बाद चित्त प्रसन्न होता है, वह सात्त्विक। जिस सुषुप्तिके बाद तकलीफ मालूम होती है, वह राजस और जिस सुषुप्तिके बाद निद्रा, आलस लगा रहे, ऊँघ आती रहे, वह तामस।

तो देखो भाई, असलमें सच्चे और झूठेकी यही पहचान है कि जिसमें आदि और अन्त है, वह वर्तमानमें भी मुट्ठीमें नहीं है।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि संसार किसको कहते हैं?

बोले कि जिसको कभी कोई पकड़कर रख न सके, उसका नाम 'संसार' है। किसीकी मुट्ठीमें नहीं आया। सरकना, संसरण ही संसारका लक्षण है। अरे जवानीको रहने देते। काहेको काले बालोंको नहीं रहने दिया? रख लेते! अपने बचपनको ही रख लेते! देह भी तो नहीं रहा। किसीको दुनियामें प्रेम हुआ। अच्छा, प्रेम ही को रख लेते। प्रियतमको रख लेते!

यह सब संसार है। 'संसार' शब्दमें एक गाली रखी हुई है, इसको सबलोग नहीं पहचानते हैं!

नेहरूजी एक बार हमारी तरफ देहातमें गये थे तो वे व्याख्यान देते समय बोले कि सारे-के-सारे लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं! अब देहाती लोग कहें कि ये सारे-के-सारे क्या होता है?

तो यह 'संसार' सरकने वाली चीज है! यह तुम्हारा प्रेम लेकर, तुम्हारा दिल चुराकर भागने वाली चीज है, तुमको तकलीफ देनेवाली चीज है। इसीको 'संसार' बोलते हैं। और, परमात्मा किसको बोलते हैं? जिसको तुम चाहो, तब भी नहीं छोड़ सकते! अपने आत्माको तिजोरीमें बन्द करके आते हैं? अरे नहीं लाख तिजोरीमें बन्द करो! उसको लेकर ही आना पड़ेगा!

देखो, यह संस्कृतका जो आदि और अन्त शब्द है यह भी बड़ा विलक्षण है। 'आदि' माने एक तो होता है, जैसे कोई काम साढ़े सात बजे शुरू हुआ, तो साढ़े सात बजे आदि हुई न! और साढ़े आठ बजे समाप्त हुआ, तो साढ़े आठ बजे अन्त हुआ। तो यह तो कालकी दृष्टि हुई। अच्छा, यहाँ दो सौ फुट पर कोई रास्ता शुरू हुआ और दो सौ फुट बाद खतम हो जाता है। तो देशमें उसकी आदि हुई और देशमें अन्त हुआ। तो आदमी कालकी आदि और कालका अन्त तो समझता है और देशकी आदि और अन्त तो समझता है। पर, 'आदि' 'अन्त' शब्द इससे

ज्यादा सूक्ष्म हैं। थोड़ी इन्तजार करनी पड़ती है, यह बात जरूर है। हमारे एक मित्र हैं, वे इतनी जल्दी-जल्दी बोलते हैं कि आदमीको इन्तजार करनेका मौका नहीं देते हैं। क्योंकि अगर वह इन्तजार करेगा तो समझदार हो जायेगा। उनकी बात समझ जायेगा। तो उसको बात-पर-बात, बात-पर-बात उगलते जाते हैं कि उसको समझनेका मौका न मिले! समझनेका मौका मिलेगा तो सारी पोल-पट्टी ही समझमें आ जायेगी कि इसमें कोई मसाला नहीं है। तो, थोड़ी इन्तजार करनी चाहिए।

देखो, देशमें आदि-अन्त और कालमें आदि-अन्त! तो असलमें देश और कालमें आदि और अन्त नहीं होता। आदि-अन्त तो वृत्तिमें होता है। एक चीज जब हमको मालूम पड़ने लगती है, तब आदि है और जब उसको मालूम पड़ना बन्द हो जाता है, तब उसका अन्त है। स्वप्नमें कितनी देर तक कब स्त्री मालूम पड़ना शुरू हुआ और कब स्त्री मालूम पड़ना बन्द हो गया? तो संस्कृत भाषामें 'आदि' माने होता है 'आदान'। 'आदान' माने लेना, पकड़ना। '*आदानं आदि:*'। 'दा' धातुसे 'आ' उपसर्ग लगने पर देनेसे उलटा अर्थ हो जाता है। 'दान' माने देना और 'आदान' माने लेना। तो वृत्तिके द्वारा किसी चीजको लेनेका नाम 'आदान' है और '*आदानं आदि:*'। अत: किसी भी चीजको पकड़में लेना इसका नाम 'आदि' है और पकड़से उसका छूट जाना, यही उसका 'अन्त' है—*अंतति इति अन्त:*। वृत्तिका आदि काल और वृत्तिका चरमकाल। जैसे घटाकार वृत्तिका उदय होना और वृत्तिकी शान्ति। अब मध्यमें जो घटाकारता अवस्थान है वह कैसा है? वह आदिमान् है और अन्तवान् है।

यदि, 'इकार' पहले होगा तो 'मान्' शब्द पीछे होगा और 'अकार' पहले होगा तो 'वान्' शब्द पीछे लगेगा। जैसे आदिमान्, लक्ष्मीमान्, गतिमान्, बुद्धिमान्, बोधवान्,अन्तवान् आदि।

आदिमान् और अन्तवान् कौन है? जो तुम्हारी बुद्धिमें घड़ा है, वह आदिमान् भी है और अन्तवान् भी है। क्योंकि, वृत्तिने उसको पहले-पहल पकड़ा और छोड़ दिया और फिर, कपड़ेको पकड़ा और छोड़ दिया और बिना वृत्तिसे पकड़े किसी वस्तुका ज्ञान होता ही नहीं। तो दुनियाकी सभी चीजें अपने वृत्तिज्ञानमें आती हैं और वृत्तिज्ञानमें-से निकलती हैं। तो जितनी भी वस्तुएँ वृत्तिज्ञानमें आती हैं और जाती हैं, वे सब आद्यन्तवत् हैं।

तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता:।

जैसे सपनेमें कोई चीज मनमें आयी और चली गयी, वैसे ही जाग्रत्‌में भी कोई चीज मनमें आयी और चली गयी। बस इतना ही उसका सम्बन्ध है। जिस समय वह मनमें मालूम पड़ी, उस समय भी मनमें नहीं थी। जैसे कोई कहे कि और लोग तो यहाँ बैठे कथा सुनते रहे और मैं तो चला गया पेरिस और वह मजा लेकर आया हूँ! कई लोग कथामें बैठे रहते हैं और दूकान पर हो आते हैं, घरमें हो आते हैं—ऐसा होता है न! अच्छा, अब देखो कि जैसे तुमको पेरिस थोड़ी देर तक मालूम पड़ा या घर अथवा दूकान मालूम पड़ती है, ऐसी ही दुनियाँकी सब चीजें जितनी देर मालूम पड़ती हैं उतनी ही देर तुम्हारे साथ रहती हैं! वे भी तुम्हारे मनमें आती हैं और चली जाती हैं। जब बच्चेको गोदमें लेकर सो जाते हैं और नींद आ जाती है तो तुम्हारे साथ बच्चा नहीं रहता है। जब पति-पत्नी सोते हैं और दोनोंको नींद आ जाती है, तो पति-पत्नी साथ नहीं रहते हैं। साथ कब तक? जब तक दोनोंको दोनोंकी याद है।

तो असलमें जितनी भी चीजें दुनियामें आती जाती हैं, मालूम पड़ती हैं—उनका आदान होता है और विसर्जन भी होता है। हमलोग यह बात बचपनमें ही सीखकर आते हैं। आप शहरके लोगोंका ध्यान इस ओर नहीं जाता होगा। हमारे पिताजी रोज पार्थिव बनाते थे और बायें हाथ पर मिट्टीका पार्थिव बना कर रखा—एक मुख्य शिव और ग्यारह रुद्र बनाये और उनका पूजन करते। और फिर? जब पूजा हो जाती तो विसर्जन कर देते। तो वह जो मिट्टीकी मूर्तिमें रुद्रका आवाहन और विसर्जन होता था, वह क्या था? वह मिट्टीकी मूर्तिमें रुद्रत्वका आरोप हुआ और रुद्रत्वका अपवाद हुआ। वेदान्तकी भाषामें इसको अध्यारोप और अपवाद कहते हैं।

अच्छा, जब हम सत्यनारायणकी कथा करवाने लग गये , यज्ञोपवीत कराते, ब्याह कराते, तब क्या करते? गोबरकी गौरी बनाते और सुपारीका गणेश बनाते—रक्षासूत्रसे बाँधकर उस पर चन्दन चढ़ा देते। गौरी-गणेशका आवाहन करते, फिर विसर्जन करते।

इसी तरह दुनियामें जितनी चीजें हैं, उनका आवाहन और विसर्जन हम अपने दिलमें करते हैं। किसीको अपने दिलमें बुलाते हैं और किसीको निकाल देते हैं। यह अध्यारोप-अपवाद ही सृष्टिकी प्रक्रिया है। अध्यारोप किया तो आदि हो गयी और अपवाद कर दिया तो अन्त हो गया। संसारमें जितना गुण-दोष है, जितना व्यक्तित्व है, जितना यह ब्राह्मणत्व आदि वर्ण है, जितना ब्रह्मचर्यादि आश्रम है, जितनी मनुष्यादि जाति है, जितने हिन्दुत्वादि सम्प्रदाय हैं।

ये सब क्या है?

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

एक निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें यह अध्यारोप-अपवाद सिद्धान्तसे ही आया हुआ है।

अच्छा, यह हिन्दुस्तान-पाकिस्तान कैसे आया है? आप बताओ! अभी आपलोगोंके सामने ही तो बना है न! हमको अपने बचपनकी याद है, जब बर्मा हिन्दुस्तानमें था। बर्माका नाम भारत था। अच्छा, पाकिस्तान और हिन्दुस्तानके बीचमें कोई नया पहाड़ पैदा हो गया, कोई नदी बह गयी, कोई समुद्रकी खाई पड़ गयी क्या? अध्यारोप हो गया कि यह सीमा है! अरे, धरती एक है, हवा एक है, पानी एक है, आसमान एक है, सूर्य-चन्द्रमा एक है, मनुष्य एक सरीखे हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तानका भेद किसने बनाया? इसीको 'अध्यारोप' बोलते हैं।

तो यह जो सृष्टि है, यह ब्रह्ममें अध्यारोप है। जैसे दोनों जगहके साधारण मनुष्यों पर हिन्दुस्तानी नागरिकता और पाकिस्तानी नागरिकता ऊपरसे थोप दी गयी है, ऐसे-ही यह परब्रह्म परमात्मामें यह पाप-पुण्य, दुःख-सुख, नरक-स्वर्ग, आना-जाना, पुर्नजन्म, बन्धन-मोक्ष आदि थोप दिये गये हैं, 'अध्यारोप' है। ***अधि उपरि आरोप्यते इति***। एकके ऊपर दूसरेको थोप देनेका नाम 'अध्यारोप' है। उस किये हुए अध्यारोपको हटाकर देखो, बिलकुल शुद्ध वस्तु ब्रह्म है।

जैसे हिन्दुस्तान और पाकिस्तानकी आदि है—अमुक सन्, अमुक महीना और बारह बजे रातसे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान, दोनों अलग-अलग। एक समय ऐसा आवेगा-अमुक सन, अमुक महीनेमें, अमुक तारीखकी आधी रातको हिन्दुस्तान पाकिस्तानका अपवाद हो जायेगा! माने दोनों दो नहीं रहेंगे।

द्वैत वह अध्यारोपित होता है और अद्वैत जो होता है, वह अध्यारोप और अपवाद—दोनोंका अधिष्ठान होता है।

तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः।

जिसकी आदि है, अन्त है, जिसका अध्यारोप है और अपवाद है और जिसका आवाहन तथा विसर्जन है, वह कल्पित है। जो टॉकीसे गढ़कर बना है, वह हथौड़ेसे टूट भी सकता है। यह नियम है। इसलिए, सृष्टिमें जितने भाव दिखायी पड़ते हैं, ये सब-के-सब अध्यारोपित हैं, अपवादित हैं, आवाहित है, विसर्जित हैं। ये माने हुए हैं और मना किये हुए हैं। ये सब-के-सब मिथ्या हैं।

★

स्वप्नकी विलक्षणता

हम सपनेमें देखते हैं कि हम रथ पर बैठे हुए हैं और हमारी आठ भुजायें हैं और चार मुख हैं। ऐसे सपने भी आते हैं। इतना तो देखनेमें साफ ही आता है कि बुड्ढा आदमी भी सपनेमें अपने को जवान देखता है! यह तो सार्वजनिक अनुभव है। स्त्री जितनी हैं, वे अपनेको जवान-ही सपनेमें देखती हैं—वृद्ध कभी नहीं देखती हैं। क्योंकि, उनके मनमें बुढ़ापेकी संवित् होती ही नहीं। आप लोग इसका आश्चर्य नहीं मानना। देख लेना, बचपनके जितने सपने आते हैं, बुढ़ापेके उतने नहीं आते हैं। पढ़ते समयके आते हैं, गुरुजीके आते हैं, साधनके आते हैं, अभ्यासके आते हैं। उनका संस्कार बड़ा पक्का होता है।

तो यह स्वप्नकी एक विचित्र गति है। वह क्या है? जैसे कोई भी स्वर्गमें जाय, तो अपनेको देवता रूपमें देखेगा। वह स्वर्गका स्थानी धर्म है। जैसे वकीलको जजके सामने जाना होता है तो वह काला चोगा पहन लेता है। यह क्या है? स्थानी धर्म है। उतनी देरके लिये वैसा चोगा पहनना पड़ता है। इसी प्रकार, जब कोई जाग्रत्-देशको छोड़कर स्वप्न-देशमें जाता है तो वहाँका चोला पहनना पड़ता है! वहाँका चोला, इस चोलेसे न्यारा होता है। यहाँ जो बहुत कुरूप है, पूछ लेना, उससे, अगर वह शर्म न करे और बता दे—खूब चेचकके दाग हैं, मुँह काला है, देखनेमें बड़ा कुरूप है, उससे पूछना कि तुम सपनेमें भी ऐसे ही रहते हो कि दूसरे ढंगके हो जाते हो? तो देखना, वह बतायेगा कि सपनेमें हम बहुत सुन्दर हो जाते हैं। क्योंकि, उसका दिल सुन्दर है। दिल सुन्दर है तो सपनेमें उसमें सौंदर्य आ जाता है। यह क्या है बोले कि,

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः॥ (८)

यह स्वप्न-स्थानका धर्म ही है कि वहाँ जाने पर जाग्रत्‌का मकान, उम्र, कुरूपता नहीं रहती, बदल जाती है।

हम देखते हैं कि हमको जाग्रत्‌में संस्कृतमें श्लोक बनाना हो तो एक श्लोक लिखनेमें पाँच मिनट लग सकता है, कभी दो मिनट भी लग सकता है। लेकिन

सपनेमें हम बिलकुल फरा-फर बोलते हैं! एक मिनटमें सौ श्लोक बोलते हैं वहाँ तो बनता ही जाता है, बनता ही जाता है। यह जो जाग्रत्-अवस्थामें अभ्यासकी कमी है, वह सपनेमें नहीं रहती। बिलकुल पूरी हो जाती है। अच्छा, जागने पर फिर याद आता है कि कौन-सा श्लोक बोला था। तो व्याकरणकी दृष्टिसे, काव्यकी दृष्टिसे वह बिलकुल ठीक होता है, उसमें कोई दोष नहीं होता है।

तो यह धर्म कहाँसे आया?

बोले कि, '**अपूर्वं स्थानिधर्मो हि**'—यह स्वप्नावस्थाकी विलक्षणता है कि जाग्रत्-अवस्थामें यह जो चाम,माँस, हड्डी, विष्ठा, मूत्रका जो ऊपरसे लिहाफ पड़ा हुआ है, यह सपनेमें काम नहीं करता।

एकने पूछा कि स्वामीजी, यह भला ईश्वरने हमारे दिव्यरूपके ऊपर क्या गन्दी चीज डाल दी है? आप इसको गन्दी चीज नहीं समझना। अगर मान लो कि यह स्थूल शरीर न होता और आपका सूक्ष्म-शरीर ही होता तो आपकी स्थिति क्या होती, आपको मालूम है? जब आपके मनमें चोरी करनेकी बात आती, तो सबको दिखती कि यह चोर हो गया। जब सूक्ष्म शरीर आपका चोर होता, तो सबलोग आपको चोर देखते। जब आप मनमें व्यभिचारी होते तो आपको सब लोग व्यभिचारी देखते। आपके अन्दर किसीके प्रति द्वेष आता तो लोग आपको द्वेषी देखते! जब गुस्सा आता तो देखते कि वह साँप फड़फड़ा रहा है! आपके उतने ही रूप हो तो! माने कभी आप साँप हो जाते, कभी बाघ हो जाते, कभी कामी हो जाते, कभी क्रोधी हो जाते और सबको मालमू पड़ता। तो भगवान्‌ने कहा कि यह हमारा दोस्त है, यह जीव ईश्वरका दोस्त है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

यह हमारा मित्र, इसके ऊपर पर्दा डाल देना चाहिए कि इसके दोष लोगोंको मालूम नहीं पड़ें।

तो आप दिल-दिलमें जलते हैं और बाहरसे मुस्कराकर बात करते हैं। यह आपको विलक्षणता किस वजहसे मिली है?

नाटकमें एक पति-पत्नी अभिनय करते थे। थे तो पति-पत्नी, लेकिन नाटकमें नायक नायिका बन गये। एक दिन घरमें पति-पत्नीमें लड़ाई हुई और रंगमंच पर दोनोंको प्रेमका अभिनय करना था। क्या मजा आया? भीतरसे तो जल रहे हैं और बाहर मुस्करा-मुस्कराकर बात कर रहे हैं। यह अभिनय कहाँसे आया? भगवान्‌ने नाटक करनेके लिये यह पोशाक दे दी है। 'नाटक' माने आप

जानते हैं? 'न-अटक' माने इसको सच्चा मत समझो! इसमें न-अटक। तो इसमें अटकना नहीं, नहीं तो भटक जाओगे! नाटककी नायिका-नायकमें अटकना नहीं। तो इसलिए, भगवान्ने यह शरीर ऐसा दिया है।

जब स्वप्नमें जाते हैं तो वहाँकी पोशाक पहननी पड़ जाती है।

देखो, हमने नेहरूजीको देखा था कि जब आदिवासियोंमें जाते, तब वहाँकी पोशाक पहन लेते। यह भी एक प्रकारका सत्कार है। वहाँकी संस्कृति, सभ्यताका आदर करनेके लिए वे जिस देशमे जाते है वहाँकी भी पोशाक पहनकर बता देते कि भाई, तुम्हारे प्रति हमको कोई नफरत नहीं है।

तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षिताः।

यहाँ जैसी शिक्षा दी जाती है, माँ-बाप जैसी शिक्षा देते हैं, गुरुजन जैसी शिक्षा देते हैं—बताते हैं कि स्वर्ग कैसा? तो देखो, हिन्दुओंके स्वर्गमें देवता होते हैं और अप्सराएँ होती हैं। तो अप्सराएँ भी छोटी उम्रकी होती हैं। देवता भी किशोरावस्थाके होते हैं। यह सब क्या हुआ? मन जो है, वह हमेशा किशोरा-वस्थाको ही पकड़ता है। यह असलमें समझने लायक बात है।

अभी एक सज्जन पूछ रहे थे कि स्वर्ग-नरकमें क्या होता है?

तो सीधे-सीधे तो लोग कह देते हैं कि इसी लोकमें स्वर्ग है और इसी लोकमें नरक है। पर मरते समय क्या होता है कि जो पापी आदमी होता है, माने जिसने भीतर-भीतर पाप करके अपने मनसे, अपनी नजरसे अपनेको पापी बना लिया है, और जब मरने लगता है, जब बन्धन ढीले पड़ते हैं तो सोचता है कि हम तो बड़े पापी हैं, अब यमराजके दूत हमको लेने आये! यह काला भैंसा, यह यमराजके दूत और यह आकर फन्दा लगाया। उस समय देह भूल जाता है।

कस्यचिद् हेतोः मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।

उस कल्पनामें इतना डूब जाते हैं कि इस शरीरको भूल जाते हैं। अब क्या हुआ? नरकमें चले गये। माने जब नरकाकार वृत्ति हुई, नरककी कल्पना जो चित्तमें हुई, उसमें तादात्म्यापन्न हो गये। ऐसा समझो कि एक ऐसा सपना आया कि सपना तो देखते रह गये और खाट पर लेटा हुआ जो शरीर है, वह छूट गया। ऐसे-ही स्वर्ग कैसे होता है? सूक्ष्म-शरीरसे होता है। जिसको यह ख्याल है कि हमने दान किया, धर्म किया, पुण्य किया, व्रत किया। अब जब मरने लगा तो बोला कि देखो, वह देवता लेने आये! यह विमान आया सो हम तो सीधे स्वर्गमें जायेंगे। टन-टन-टन घण्टा बज रहा है, अप्सराएँ संगीत सुना रही हैं, गंधर्व बाजे

बजा रहे हैं। देवता लोग कहते हैं, 'एहि-एहि'—आइये, आइये! तो यह सपना जब आया तो उसमें इतने तन्मय हो जाते हैं, इतने तादात्म्यपन्न हो जाते हैं कि यह शरीर भूल जाता है। यह शरीर तो लोग ले जाकर जला देते हैं और सूक्ष्म-शरीरका सपना लगा रहता है।

तो उस व्यक्तिको जिसने पूछा था, मैंने यह बात सुनायी, भागवतमें भी लिखा है—

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः॥

(१०.१.४१)

तो उसने कहा कि मैं इसी प्रश्नको लेकर चार दिन विनोबाके पास रहा और पन्द्रह-बीस दिन तक काका कालेलकरके पास रहा, तो उन लोगोंने जिस ढंगसे समझाया था उससे तो आपका बिलकुल मिल गया। बोले कि वे भी ऐसे-ही बतलाते हैं।

इस स्थूल-शरीरको छोड़कर सूक्ष्म-शरीरसे जैसे हम तादात्म्यापन्न हो जाते हैं और अपनेको बुरे मानते होंगे, जानते होंगे तो बुरी कल्पनामें और अपनेको अच्छा जानते होंगे तो अच्छी कल्पनामें! अब अपने बारेमें आपकी जानकारी कैसी है? ईश्वर आपको पापी समझता है कि पुण्यात्मा—इसका ख्याल पीछे करना! आप अपनेको पापी समझते हो भीतर-ही-भीतर! जबानी जमा खर्च नहीं भाई! लोगोंके सामने तो लोग झूठी-ही हेकड़ी जमाते हैं कि हम बड़े अच्छे, बड़े अच्छे! तो लोगोंके सामने अपनेको जैसा बताते हो, वैसा नहीं। भीतर-भीतर जैसा अपनेको समझते हो, '**यथा विद्या तथा स्मृतिः**'—अपने आपको जैसा मानते हो, जैसा समझते हो, वैसा ही स्वप्न आयेगा।

तो लोग अपनी किशोरावस्थाको अच्छा समझते हैं। सो स्वप्नमें भी वह स्थानी-धर्म है। वहाँ बिलकुल दिव्य होकर रहते हैं।

देखो, एक स्थान पर बैठ जानेसे ही देखनेमें एक विशेषता आ जाती है। जैसे किसी शंकराचार्य अथवा महामण्डलेश्वरकी गद्दीपर बैठ जाओ, तो जो दर्शन करने आवे—वह अपना चेला ही मालूम पड़ेगा, भक्त ही मालूम पड़ेगा। शिष्य कोटिमें प्रविष्ट हो जायेगा। यह गद्दीकी महिमा है। कैमरेसे जब फोटो लेते हैं, तो कैमरेको जिस कोणका बना देते हैं, उसी ढंगका फोटो आता है। लम्बेको छोटा कर सकते हैं, फोटोमें और छोटेको लम्बा कर सकते हैं। मोटेको दुबला कर सकते

हैं और दुबलेको मोटा कर सकते हैं। वहाँ वस्तुकी विशेषताका ग्रहण नहीं हुआ, वह कैमरेका कोण ऐसा बनाया गया कि वस्तु विलक्षण दिखायी पड़ने लगी। ऐसे-ही हम संसारको देखते हैं, इसमें देखनेके जिस स्थान पर हम बैठते हैं, उस दृष्टिकोणसे यह सृष्टि मालूम पड़ती है। रागी होय, तो सृष्टि रागी दिखे और द्वेषी होय, तो सृष्टि द्वेषी दिखे!

सर्वं धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्।
नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थतः॥

लोभीको सारी सृष्टि धनमय दीखती है और कामीको कामिनीमय। जो बुद्धिमान् पुरुष है उनको यह सृष्टि 'नारायणी' दिखायी पड़ती है।

इसीसे कहते हैं कि तुम अपना शोधन करो! तुम स्वयं अपनी उपाधिको अपनेको जितना ठीक-ठीक समझ सकोगे, उतना-ही सृष्टिके ठीक रहस्यको समझ सकोगे! देखो, आँख जरा-सी टेढ़ी कर देते हैं और आसमानमें दो चन्द्रमा दिखायी पड़ता है। किसी वस्तुको बीचमें रखकर अगर दोनों ओर शीशा रख दिया जाय तो वह बीचकी चीज सैकड़ों दिखती है। एक बार हम खुर्जा गये थे। वहाँ एक सेठकी कोठीमें शीशे लगे हैं। स्वयं जब आदमी अपनेको शीशे में देखता है तो अपना मुँह गधेकी तरह लम्बा देखता है। ऐसे-ऐसे शीशे होते हैं कि कपड़े उठते दीखते है, लम्बा आदमी नाटा दीखता है।

तो जैसी उपाधिमें, अपनेको जैसी स्थितिमें करके हम देखते हैं, वैसा-ही दिखायी पड़ता है। चश्मेंका रंग सृष्टिमें दीखता है। यदि अपना हृदय बिलकुल ठीक-ठीक होवे, ठीक दृष्टिकोणमें होवे, तब तो परमात्माका दर्शन होवे। और, अपना हृदय ही विषम हो जाय तो सत्यका दर्शन; सत्यका साक्षात्कार नहीं होता है।

'यथैवेह सुशिक्षित:'—जैसे इस लोकमें किसीको खूब-खूब शिक्षा देकर, अभ्यास कराकर उसको सिखा देते हैं, तो वह वैसा-वैसा देखने लगता है। **'यथा इव इह सुशिक्षिताः'**—जैसे यहाँ सुशिक्षित, तत्-तत् संस्कारसे संस्कृत व्यक्ति अपनेको और दूसरेको तत्-तत् रूपमें देखता है। बच्चेको अगर कल्पना करा दो कि वह जो आदमी आ रहा है, वह चोर है। वह मान लेगा! कल्पना करा दो कि यह तुम्हारा चाचा है, तो चाचा मान लेगा जबकि कोई रिश्ता नहीं है। बच्चेमें जैसी कल्पना हो जाती है, वैसा वह मानने लगता है। इसी प्रकार, यह जो स्वप्नमें स्वर्गादिमें विलक्षणताका अनुभव होता है, वह भी अपने मनमें जो कल्पनाकी

विलक्षणता हो जाती है, उसीसे दिखता है। वहाँ आदमी जाकर देखे कि चार दाँतका हाथी है और आठ हाथका मैं हूँ और हाथी पर बैठकर विचरण करता हूँ। तो श्रीमद्भागवतमें आया कि असलमें मनुष्यके मनमें ऐसी कल्पना ही हो जाती है—

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।

मनोराज्य करते समय अथवा स्वप्न देखते समय हम अपना एक ऐसा-ही शरीर और देखते हैं और उस शरीरमें इतने तल्लीन हो जाते हैं, इतने डूब जाते हैं कि यह शरीर बिलकुल भूल जाता है।

यतो यतो धावति दैवचोदितं मनोविकारात्मकमाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते॥

(भागवत, १०.१.४२)

जैसी कल्पना अपने मनमें हो जाय।

हमने देखा, पहले विद्यार्थियोंके बीचमें लोग व्याख्यान देते थे तो उनको कल्पना कराते थे कि गाँधीजी अच्छे आदमी नहीं हैं, नेहरूजी अच्छे नहीं है! अब वे छोटे-छोटे विद्यार्थी जब क्लॉसमें आपसमें बात करें और कोई नेहरूकी गाँधीजीकी तारीफ करे तो गाली देने पर लड़ने पर उतारू हो जायँ। क्योंकि, उनके मनमें वैसी-ही कल्पना हो गयी थी कि वे अच्छे नहीं हैं।

तो आदमीको कल्पनासे बचना चाहिए। नहीं तो सत्यके दर्शनमें, सत्यके साक्षात्कारमें बड़ी बाधा पड़ती है।

तो यहाँ स्वप्नका दृष्टान्त देकर समझा रहे हैं कि स्वप्नमें जो विलक्षणता है, वह स्थानीका धर्म है। माने जो हम बाहरको छोड़कर भीतर जाकर सपना देखने लगते हैं, तो कोई रुकावट नहीं रहती है। स्वच्छन्द मन, वहाँ अपने संस्कारके अनुसार, वासनाके अनुसार कल्पना कर लेता है।



मनःकल्पित एवं इन्द्रिय-ग्राह्य दृश्यका साम्य

स्वप्नमें मन अपने संस्कार एवं वासनाके अनुसार दृश्य कल्पित करके देखता है, यह तो ठीक, किन्तु बाहर जो हम सृष्टिमें देखते हैं, वह तो वैसा नहीं है? तो दोनोंकी समता बतानेके लिये अगला प्रसंग प्रारम्भ कर रहे हैं।

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद् दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥ ९॥
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १०॥

कहते हैं कि देखो, सपनेमें तो भीतर दिखता है और जाग्रत्में बाहर दिखता है। तो भीतर-भीतर जो चीज दिखती है, उसका तो 'वैतथ्य' तुम भले बताओ! यह वितथ है, जैसे दिखता है, वैसा नहीं है। लेकिन जाग्रत्-अवस्थामें जो बाहर दिखता है, वह तो बिलकुल सच्चा है!

श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराज कहते हैं कि आओ, पहले स्वप्न पर ही विचार करके देखो! **'स्वप्नवृतौ स्वप्नावस्थायाः'**—स्वप्नके व्यवहारमें 'वृत्ति' शब्दका अर्थ संस्कृतमें व्यवहार होता है। **'वर्तनं वृत्तिः'**—बर्तावका नाम 'वृत्ति' है। ब्रह्माकार-वृत्ति और घटाकार-वृत्ति माने अन्तःकरणका ब्रह्माकार होकर भासना और अन्तःकरणका घटाकार होकर भासना। यही अन्तःकरणका व्यवहार है। तो, स्वप्नावस्थामें क्या होता है? स्वप्नावस्थामें भी एक आदमी होता है। **'अन्तश्चेतसा कल्पितं तु असत्'**। स्वप्नावस्थामें भी एक पुरुष होता है जो देखता है कि मैं गंगा-स्नान कर रहा हूँ, मैं देवताका दर्शन कर रहा हूँ, मैं क्लबमें बैठा हूँ! अब उस

आदमीको देखो, एक चीज भीतर मालूम पड़ती है और एक चीज बाहर मालूम पड़ती है। उसको विचार करने पर यह मालूम पड़ता है कि मेरे मनमें धनका लोभ है और बाहर यह हीरा दिख रहा है। सपनेमें ऐसा मालूम पड़ेगा कि नहीं मालूम पड़ेगा? हमारे मनमें स्त्री-पुरुषके प्रति काम है और बाहर ये स्त्री-पुरुष है। वहाँ भी बाहर-भीतरका भेद होगा कि नहीं होगा? सपनेमें भेद होगा! वह मीलों मैदान और घण्टों समय और हजारों आदमी—बाहर भी दिखायी पड़ते हैं और भीतरकी मनोवृत्तियोंका भी ज्ञान होता है कि हमारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह है। माने बाहर और भीतरका भेद सपनेमें भी रहता है।

अब आप विचार करके देखो कि सपनेका बाहर-भीतर क्या है? वहाँ भी ऐसा लगता है कि जो मैं अपने मन-मनमें सोचता हूँ, वह तो हमारी मानसिक कल्पना है, और जो बाहर देख रहा हूँ, वह बिलकुल ठीक है, सही है। गंगाजीके किनारे खड़े हैं, समुद्रकी याद आयी। तो ख्याल हुआ कि समुद्रकी कल्पना तो मैंने मनमें की है, लेकिन हम खड़े तो गंगाजीके किनारे हैं। बाहर गंगाजी हैं और भीतर समुद्र है—ऐसी कल्पना होती है।

बोले कि '**स्वप्नवृत्तावपि**' स्वप्नावस्थामें भी '**अन्तश्चेतसा कल्पितं तु असत्**'—ऐसा मालूम पड़ता है कि मनमें हमने जिस बातकी कल्पना की है, वह बात झूठी है और वहाँ ऐसा मालूम पड़ता है कि '**बहिश्चेतोगृहीतं सद्**'—बाहर जो मैं चित्तसे देख रहा हूँ, वह सच्ची चीज है। लेकिन जागने पर क्या होता है? '**दृष्टं वैतथ्यमेतयोः**'—जागने पर सपनेका बाहर और सपनेका भीतर, सपनेका भूत और भविष्य-वर्तमान, सपनेका यह-वह-मैं, सपनेका यहाँ-वहाँ और सपनेका बीचो-बीच—अर्थात् सपनेका वस्तुओंका भेद, देश-भेद और काल-भेद जाग्रत्-अवस्था होने पर सारा-का-सारा झूठा हो जाता है। '**दृष्टं वैतथ्यमेतयोः**'। दोनोंका '**वैतथ्य**' माने वैसा न होना—यह देखा गया है।

वैष्णव लोग इस स्वप्नके दृष्टान्तका बड़ा सुन्दर उपयोग करते हैं—

सत हरि भजन जगत्सब सपना।

भगवद्भजन सच्ची चीज है और सब स्वप्न है। वे कहते हैं कि वह वैराग्यके लिए उपयोगी है। जिसको हम स्वप्नवत् समझेंगे, उससे वैराग्य होगा और जिसको सत्य मानेंगे, उससे प्रीति होगी। तो परमात्मासे प्रीति करनेके लिए और परमात्माके सिवाय जो दूसरा दीखता है, उससे वैराग्य करनेके लिये यह दृष्टिकोण बहुत आवश्यक है।

बौद्ध लोग कहते हैं कि यह चित्त भी स्वप्न है और **'स्वप्नदृक् चित्तदृश्यास्ते, न विद्यन्ते ततः पृथक्'**—स्वप्न देखनेवाले चित्तमें जो कुछ दिखायी पड़ता है, वह चित्तसे जुदा नहीं होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि चित्तरूप ही है और इसमें जो कुछ दिखायी पड़ता है, वह सब चित्तका खेल है।

वेदान्ती कहते हैं कि यह स्वप्नका दृष्टिकोण द्रष्टाके स्वयं प्रकाश रूपका बोध करानेके लिए है न कि केवल वैराग्यके लिए है। उपासना-सिद्धान्तमें स्वप्नका उपयोग वैराग्य करानेमें हुआ और बौद्ध-सिद्धान्तमें यह उपयोग हुआ कि सम्पूर्ण चित्त और चैत्य—यह शून्यरूप ही है, विज्ञानरूप ही है। तो इससे वासना का क्षय हुआ। निर्वाण हो गया, आत्मोच्छेद हो गया। परन्तु, वेदान्तियों ने जो इस स्वप्नरूपताका वर्णन किया है, उसका प्रयोजन बिलकुल दूसरा है। वे यह नहीं कहना चाहते कि चित्त और चैत्य मिथ्या हैं, शून्य हैं, विज्ञान हैं। वे यह नहीं कहना चाहते कि जगत्से वैराग्य करो! वह यह कहना चाहते हैं कि अपना आत्मा सर्वरूपमें भासनेका सामर्थ्य रखता है। आत्माका जो स्वयंज्योति स्वरूप है,'स स्वयं अकुरुतं'-वह स्वयं अपने आपको ही सर्वप्रपञ्चके रूपमें देख रहा है। इस प्रकार अपने आत्माका ज्ञान होवे, राग-द्वेषकी निवृत्ति होवे, जीवनमें जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख उदय होवे—इसके लिए वेदान्ती जगत्को स्वप्नवत् बताते हैं। देखो, प्रयोजनका भेद होनेसे, बात एक होने पर भी इसका प्रभाव दूसरा हो गया। अपने आपको ऐसा जानना कि मैं सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान हूँ और सम्पूर्ण जगत्का कल्पक हूँ और मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अपने असीम सामर्थ्यको, असीम स्वयंप्रकाशताको, असीम स्वयं-ज्योतिष्ट्वको जानना—यह वेदान्तका लक्ष्य है। जगत् हीन है—यह बतानेमें वेदान्तका तात्पर्य नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, यह बतानेमें वेदान्तका तात्पर्य है।

कोई लोग स्वप्नका नाम सुनकर चिढ़ते हैं, ऐसे लोग जो बोलते हैं कि सपनेका नाम हमारे सामने मत लेना। श्रीअच्युतमुनिजी महाराज कहते थे कि यदि स्वप्न न होता तो जाग्रत् मिथ्या है, यह सिद्ध करनेके लिए कोई युक्ति ही न होती। यह अपनी ही एक अवस्था—इसको यदि हम विचारका विषय और विचारका निमित्त नहीं बनावेंगे, तो हम दुनियाको पूरी तरह नहीं समझ सकेंगे।

स्वामी रामतीर्थने कहा कि तुम अपनी एक अवस्थाके आधार पर जो जगत्के मूल सत्यको समझना चाहते हो कि हम जो जाग्रत्में दूरबीनसे देखते हैं, इन्द्रियोंसे देखते हैं, वही सच्चा है! यह तो तुम्हारा ज्ञान ही अधूरा है, कल्पना ही

अधूरी है। जिस आधार पर तुम विचार कर रहे हो , वही अधूरा है। अरे विचार करना है बाबा, तो सुषुप्तिमें क्या होता है, इसपर भी विचार करो; स्वप्नमें क्या होता है, इसपर भी विचार करो! जाग्रत्में क्या होता है, इस पर भी विचार करो! विचारसे कतराना—यह बुद्धिकी दुर्बलता, निर्बलताका सूचक है। यदि कोई कहे कि इस विषयपर तो हम विचार ही नहीं करते, तो समझना कि इस विषयके विचारमें उसकी बुद्धि बहुत कमजोर है।

तो 'बहिश्चेत: गृहीतं सत्'—यह बात देखनेमें आती है कि सपनेमें भीतर दीखे, सो और सपनेमें शरीरके बाहर दीखे, सो—दोनों 'वितथ' हैं माने जैसे दीखते हैं, वैसे नहीं हैं। उसमें तथ्य नहीं है। वह तथ्यके विपरीत दीख रहा है। बौद्धलोग 'तथता' बोलते हैं और वेदान्तमें उसको 'तथात्व' बोलते हैं। जो भी तुम्हें स्वप्नमें दीख रहा है, वह तथ्यके विपरीत दीख रहा है। जो बाहर दीख रहा है, वह भी तथ्यके विपरीत है और जो भीतर दीख रहा है, वह भी तथ्यके विपरीत है।

अब बोले कि अच्छा, जाग्रत्का आओ विचार करो!

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः॥

जैसे आपने स्वप्नावस्थाका विचार किया, वैसे-ही देखो कि जाग्रत्-अवस्थामें भी कुछ बाहर और कुछ भीतर दिखायी पड़ता है। बोले कि भीतर जो दिखायी पड़ता है, सो झूठा और बाहर जो दिखायी पड़ता है, सो सच्चा! यह भौतिक-दृष्टिका व्यामोह है।असलमें बाहर और भीतर—इन दोनोंको एक ही तो देख रहा है और एक ही में दीख रहे हैं। तो जब देखने वाला एक और देखी जानेवाली वस्तु एक-तब हो तो दोनों सच्चे हों और हों तो दोनों झूठे हों! उसमें एक सच्चा और एक झूठा बताने वाला गलत है!

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।

डॉ० राधाकृष्णन्ने एक स्थान पर एक दृष्टान्त लिखा है, वैसे उनके ऊपर श्रीरामानुज-सिद्धान्तका प्रभाव बहुत अधिक था। वे लिखते हैं, एक आदमी बहुत गरीब था। दिनमें वह मिट्टीके बर्तन और खिलौने बनानेका काम करता था। उसकी पत्नी थी, कई बच्चे थे। जाकर बाजारमें बर्तनोंको बेचता था और उससे बड़ी मुश्किलसे अपनी जीविका चलाता था। दु:खी रहता था। परन्तु, जब सब काम करके रातको खा-पीकर सोता था, तब उसको यह स्वप्न आता कि मैं

बादशाह हूँ। हमारे पास बहुत बड़ी सेना है, बहुत बड़ा राष्ट्र है, हमारे मन्त्री हैं, सेनापति हैं, कोषाध्यक्ष हैं, महारानी है, पुत्र हैं, पुरोहित हैं, गुरु हैं।

देखो, राज्यके सात अंग होते हैं-एक तो स्वयं राजा। वह स्वयं अंगी है। उसके मन्त्री होवें, महारानी होवे, पुत्र होवे, उसकी प्रजा सम्पन्न होवे! तो राज्यमें ये सात प्रकृति होती है।

तो वह रातको जहाँ सोया, सोते-ही बादशाह। बड़ा सुख, बड़ा आनन्द! अब फिर जब सबेरा हो, वह सोकर उठे तो फिर कुम्हार-का-कुम्हार! तो एक-दो दिन यह सपना आया, सो बात नहीं। रोज उसको ऐसा-ही हो कि जब सोवे तो बादशाह और जब जागे तो गरीब। अब उसको रात्रिका जीवन इतना प्यारा हो गया! वहाँ नाच होवे, संगीत होवे, खान-पान होवे, मित्रोंके साथ मिलना होवे! दरबार लगे, सब पर उसकी हुकूमत चले। तो दिनमें जब जागता रहता था, यही चाहता था कि कब यह दिन बीत जाय, यह घड़ा बनाना छूटे! यह कहाँसे कुम्हारिन हमारे साथ लग गयी। इसको खिलानेकी फिक्र करनी पड़ती है। यह बेटे कहाँसे आ गये इतने पलटन-के-पलटन! अब वह बड़ा व्याकुल रहता कि कब रात्रि आवेगी!

अब यह बताओ कि उसके लिए उस स्वप्नके दृश्यमें इतना प्रेम क्यों हो गया? तो स्वप्नके दृश्यमें इतना प्रेम यों हो गया कि वह बिना-नागा रोज-रोज उसके सामने आवे! यह संसारकी जो बहुत सारी-चीजें हमको प्यारी लगती हैं—ऐसा अन्न, ऐसा पानी! मनुष्य बड़े भ्रममें रहता है। हम पहले समझते थे कि हमारे घरमें जैसी रोटी खानेको बनती है, वैसी बढ़िया रोटी दुनियामें और कहीं नहीं बनती! पन्द्रह-सोलह वर्षकी उम्रतक अपने मनमें यह ख्याल रहा होगा! क्योंकि, बाहरकी खाते ही नहीं थे। हमको आठ-नौ बरसकी उम्रकी बात याद है कि जब भी हम रातको कहीं क्षत्रिय, राजपूतके घर रह जाते, तो वे ब्राह्मण बुलाकर तब हमारे लिए रसोई बनवाते थे। और जब घर छोड़कर निकले तो मालूम हुआ कि जैसा ख्याल हमारा था, मारवाड़ियोंका भी वैसा ही ख्याल है कि हमारे घरमें जैसी रसोई बनती है, वैसी किसी और के यहाँ नहीं। गुजरातियोंका ऐसा ख्याल है कि खाना तो हम लोग जानते हैं। बंगालियोंका भी ऐसा ख्याल है। मद्रासमें गये तो वहाँ इडली, डोसा, सांबरके सामने किसी दूसरेको गिनते ही नहीं हैं। एक दिन न मिले तो उनका पेट न भरे!

तो, यह क्या है? जैसी प्रज्ञा होती है, जैसा पूर्वाग्रह होता है, अपनी पकड़ जैसी होती है, जैसा कर्म होता है, जैसी आदत पड़ जाती है—उसमें आदमी फँस जाता है।

हमको यह जाग्रत् सच्चा क्यों लगता है और सपना सच्चा क्यों नहीं लगता? क्योंकि बोले कि ऐसा मालूम पड़ता है कि रोज-रोज़ जाग्रत् एक ही रहता है और सपने बदलते रहते हैं। तब? यह जाग्रत् सत्य होकर दिमागमें बैठ गया। क्यों? बारंबार इसीका अनुभव होता है। जैसे उस व्यक्तिको रोज सोजाने पर अपने बादशाहपनेका अनुभव होता था, वैसे हमें रोज सोकर उठ जानेपर उसी सृष्टिका अनुभव होता है। इसलिए, इसमें सच्चे और झूठेका विवेक नहीं है, आदतका विवेक है। आदत्त हो गया। 'आदत्त' माने गृहीत। जिसका आदान हो गया। तो जैसी पकड़ हमको लग गयी, जैसी आदत बन गयी, जैसे वातावरण में रहने लग गये, वही बिलकुल ठीक लगता है।

कभी-कभी किसी नयी जगहमें जाते हैं तो पहले दिन लगता है कि यहाँका बॉथरूम कैसा, कमरा कैसा! यह सब अनुकूल नहीं है। किन्तु पाँच-सात दिन वहाँ रह लें तो वही अनुकूल लगने लगता है! अभ्यासके कारण ही संसार हमें प्रिय लगता है। स्वप्नमें पत्नी जो है, वह पच्चीस बरसकी है—यह लगता है कि नहीं? हमलोग सात-आठ बरससे एक साथ हैं—ऐसा लगता है कि नहीं? ये हमारे मित्र हैं, ये हमारे दुश्मन हैं—ऐसा लगता है कि नहीं! तो, वहाँ भी बिल्कुल ऐसा ही भासता है। इसलिए, ऐसा कहना कि वह झूठा है और यह सच है, ऐसा नहीं। असलमें आत्मदेवकी महिमा ही यह है कि ये जहाँ रहते हैं, उसमें कुछ-न-कुछ अच्छाई ढूँढ लेते हैं।

देखो, जो लोग जंगलमें रहते हैं, उनसे हमने बात करके देखी! उनके घरमें स्त्रीके पास पहननेको साड़ी नहीं है। उत्तरकाशीमें कई घर ऐसे थे उन दिनोंमें कि एक साड़ी घरमें और स्त्री छः थीं। तो वे दिन भर घरमें लंगोटी लगाकर रहती हैं और जिस स्त्रीको बाहर जाना होता है, वह साड़ी पहनकर बाहर चली जाती है। आदिवासी लोग बस एक लंगोटी लगाते हैं। अब उनसे पूछो कि भाई, तुमलोग यहाँ रहते क्यों हो? बोले कि महाराज, नीचेके लोग बहुत छल, कपट करते हैं, चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं। हमलोग कपड़ा बढ़िया नहीं पहनते तो क्या हुआ? हम यहाँ बहुत अच्छे हैं। आपलोग कभी ऊँटी जाते होंगे! वहाँ तो छप्परके घरोंमें रहते हैं, उनका दृष्टिकोण इन सूट-बूट पहनने वाले भलमानुषोंके प्रति कोई अच्छा नहीं है! क्यों नहीं है? कांग्रेसी जनसंघीको क्यों अच्छा नहीं समझता। जनसंघी कम्युनिस्टको क्यों अच्छा नहीं समझता? यह सपना है कि जाग्रत् है? जैसी बुद्धि मनुष्यकी बन जाती है—

यादृशां सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृदिच्छेत् भवितुं तादृक् भवति पूरुषः॥

मनुष्य जैसे लोगोंके बीचमें रहता है और जैसे पुरुषको श्रेष्ठ मानकर उसकी सेवा करता है और अपने मनमें स्वयं जैसा बननेकी इच्छा होती है, उसके अनुसार वह बन जाता है।

बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः॥

सच देखो तो दुनिया अपने-अपने सपनेमें डूबी हुई है। स्त्रीका यह स्वप्न है कि उसका पति उससे बहुत प्रेम करता है। अब पति प्रेम करता है कि नहीं करता है-यह स्त्रीके स्वप्नमें सच्चा आया कि झूठा आया, इसका कोई विवेक नहीं है। पतिका स्वप्न है कि पत्नी हमारे प्रति बहुत वफादार है। पत्नी भीतरसे कैसी है, यह बात सचमुच पतिको नहीं मालूम है। जैसा सपना दीखता है, वैसा ही वह मानता है। अपने स्वप्नको ही सत्य मान रहा है।

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।

जाग्रत्-अवस्थामें भी हम अपने चित्तसे जो कल्पना करते हैं, वह मनोराज्य तो हमारा झूठा है और बाहर जो देखते हैं, वह सब सच्चा है! बोले कि 'युक्तं वैतथ्यमेतयोः'—यह बात गलत है भाई! असलमें दोनों वैतथ्य हैं। भीतरवाला जो भीतर दिख रहा है, वह भीतर नहीं है और बाहरवाला जो बाहर दिख रहा है, वह बाहर नहीं है। वह तो जो दोनों अपने मनमें भरा हुआ है, सो ही बाहरमें दीखता है और सो ही भीतर भी दीखता है।

बोले कि भई, तुम जो यह जाग्रत् और स्वप्नको एक करने चले, तो यह तो बड़ी हिमाकत अर्थात् साहसकी बात है!

देखो भाई, असलमें विश्व और तैजस् दोनोंका जो शरीर है, बिलकुल एक है। यह बात हम केवल तर्क, वितर्कसे नहीं कह रहे हैं। यह बात बिलकुल वैदिक-प्रमाणसे कह रहे हैं। वैदिक-प्रमाणसे कैसे? आपने पहले माण्डूक्योपनिषद्के मूलमें यह बात सुनी होगी कि जाग्रत्-अवस्थाका जो अभिमानी है, उसका नाम 'वैश्वानर' है और उसके सात अंग हैं और उन्नीस मुख हैं। जाग्रत्-अवस्थामें बहिः विषयाप्रज्ञा मालूम पड़ती है। और वही सज्जन सात अंग और उन्नीस मुखवाले—सपनेमें भी हैं! यह क्या हुआ? यह देह मैं हूँ इस कल्पनाको काटनेके लिए वेदने बड़ी विलक्षण कल्पना की है कि हमारे सात अंग हैं! सात अंग क्या हैं? बोले कि यह धरती हमारा पाँव है, जल वस्ति है, अग्नि मुख

है, वायु प्राण है और विशाल आकाश हमारा शरीर है, द्युलोक मूर्धा है और सूर्य हमारी आँख है। तुम यह नहीं हो, जो अपनेको मानते हो! मैटर नहीं है यह! यह देखो, नाक बन गयी है, आँखके छेद निकल आये, मुँहका छेद निकल आया कानके छेद निकल आये, दो हाथ निकल आये, दो पाँव निकल आये—इससे यह नहीं समझना कि कोई चीज बन गयी। यह तो ऐसी है, जैसे पहाड़की किसी चट्टानमें एक मानसिक मूर्ति खोद दी गयी हो। जैसे कोई कारीगर जाकर देखे कि एक बड़ी भारी चट्टान है और अपने मनमें सोचे कि यहाँ टॉकी मारेंगे तो नाक निकलेगी, यहाँ कान निकलेगा, यहाँ आँख निकलेगी, यहाँ गला, यहाँ हाथ! तो वह अपने मनमें कल्पना करके, फिर पत्थरकी ओर देखने लगा कि यह मूर्त्ति ऐसी दिखेगी। इसी प्रकार, यह पञ्चभूतकी सृष्टिमें यह जो शरीर दीख रहा है, यह ठोस पञ्चभूतके भीतर जैसे शिल्पकारके मनमें कल्पित मूर्त्ति है, इसी प्रकार यह शरीर दीख रहा है। यह तसवीर है और सो भी मानसिक। सात अङ्ग हैं और उन्नीस मुख हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। ये जो उन्नीस मुख और सात अङ्ग हैं, ये जैसे वैश्वानरके हैं, वैसे ही तैजस्के भी हैं। बात जो कही गयी, वह बिलकुल वेद-वेदान्तके सिद्धान्तकी कही गयी। जो सपना देखनेवाला अहं है, वही जाग्रत् देखनेवाला अहं है और जैसे वह अपनेको सपनेमें सम्पूर्ण दृश्योंके रूपमें जाहिर करता है, वैसे-ही जाग्रत्में भी अपनेको सम्पूर्ण दृश्योंके रूपमें जाहिर करता है। यह आत्मा स्वयंज्योति है, स्वयं प्रकाश है। यह स्वप्नमें जैसे सब रूपोंमें जाहिर हुआ, जाग्रत्में भी वैसे-ही सब रूपोंमें जाहिर हो रहा है। वैश्वानर और तैजस् असलमें दो नहीं हैं, एक हैं। इसलिए, स्वप्न और जाग्रत् दोनों एक हैं। अतः माण्डूक्योपनिषद्में जिस मूलसिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया था, कारिका उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रही है। इसमें पार्थक्य बिलकुल नहीं है।



स्थान-भेद होनेपर भी भेद मिथ्या

श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराजने यह बात बतायी कि दुनियाका फोटो लेनेके लिए दो स्थान हैं—एक देहमें बैठकर इन्द्रियोंसे फोटो लेते हैं और एक देह और इन्द्रियोंकी गति, मति बन्द हो जानेपर, देहाभिमान शान्त हो जानेपर भीतर बैठकर मनसे ही फोटो लेते हैं। तो क्या आत्मा दो है? मनकी आत्मा दो नहीं है। स्वप्नमें बोलता है। क्या बोलता है?

एक आदमीको ऐसा स्वप्न आता था कि हमको टट्टी तो लगी है, लेकिन जगह नहीं मिलती। अब मन क्या कह रहा है कि तुम्हारे पेटमें मल बहुत इकट्ठा हो गया है। जाग्रत्-अवस्थामें तुमको जुलाब लेकर पेट साफकर लेना चाहिए। स्वप्नावस्थामें मन बोलता है। एक दिन देखा कि एक बहुत बड़े महात्मा नीचे बैठे हैं और हम उनसे ऊपर बैठे हैं; तो मन कहता है कि तुम्हारे अन्दर जरा अभिमान ज्यादा है। उसपर विचार करके उसको जरा हटा दो। तो मन बोलता है। कब बोलता है? जब बाहरका बोलना बन्द हो जाता है। इन्द्रियोंकी शान्तिमें, शरीरकी शान्तिमें, विश्रामकी दशामें मन बोलता है। यह स्वप्न मनकी भाषा है। यहाँ जो बात हमें नहीं बता सकता, सपनेमें वह बात बता देता है। मन अपना-ही है, किसी परायेका नहीं है। हम अपनेको समझते हैं कैसा, कैसा, कैसा! बोले कि अब हम काम-विजयी हो गये। अब हमको क्रोध नहीं आता है। अब हमारे मनमें लोभ नहीं है। तो सपनेमें चोरी कर ली, स्वप्नमें पर-स्त्रीपर कुदृष्टि डाली, सपनेमें किसीसे लड़ायी हुई। मनने कहा कि देखो, अपनेको नङ्गा करके भीतर देखो। यहाँ दूसरा नहीं देखता है। हम तुमको एकान्तमें बताते हैं कि अभी तुम्हारे भीतर क्रोध है, तब तुम लड़ रहे हो; काम है, तब तुम पर-स्त्री पर कुदृष्टि डाल रहे हो; लोभ है, तब चोरी कर रहे हो। अभी यह जो तुम्हारा ख्याल है कि मैं निर्लोभ हूँ, निष्काम हूँ, निष्क्रोध हूँ—यह ऊपर-ऊपर है। मनकी ऐसी दशा नहीं हुई है। अपना मन भीतर-ही-भीतर समझाता है। वह मनकी भाषा है और तुम दोनों जगह एक हो। जैसे तुम खुर्दबीनसे देखते हो; वैसे बिना खुर्दबीनके भी देखते हो। खुर्दबीन आँखपर लगाकर देखनेवाला कौन? तुम। आँख नहीं देखती है, तुम देखते हो। अच्छा, आँख बन्द करके मनमें देखनेवाला कौन? तुम। अच्छा, भीतर जब मन कोई कल्पना नहीं करता है, तब उस शान्तिको देखनेवाला कौन? तुम।

हे नारायण, अपने आपको ढूँढो।

'विश हृदि मनसा त्वं चिन्वता मज्जता वा'।

जरा अपने दिलको टटोलो। अपने दिलकी ओर चलो। अपने आपको ढूँढो। अपने आपमें डूब जाओ। दोनोंमें से एक करो। यह दूसरेको जो तुम पकड़ते हो, यह तुम्हारी पकड़ ढीली पड़ जायेगी। कितना भी जोरसे पकड़ो, पर चौबीस घण्टे तक पकड़े नहीं रख सकते।

एक बार एक परिवार बदरीनाथ गया। सड़क अभी बनी नहीं थी। एक पन्द्रह-सोलह वर्षका बालक उनके साथ था। भैरवघाटीके पास, गङ्गोत्तरीके रास्तेमें, नीलगङ्गा बहती है। बड़ा ही भयानक रास्ता है। हजारों फुट ऊपर पहाड़ और हजारों फुट नीचे खड्ड और थोड़ी-सी सँकरी गलीमें चलना पड़े। अब हुआ यह कि लड़केका पाँव फिसल गया, गिरा। गिरनेपर एक पेड़ नीचे लटका हुआ था; सो उसकी डाल उसने दोनों हाथसे पकड़ ली। उसकी माँ थी, बाप थे। उन्होंने कहा कि बेटा, पकड़े रहो, पकड़े रहो। हम कोशिश करते हैं। अब सब आस-पासके पहाड़ी लोग आये कि कैसे उस बच्चेको बचावें? चौबीस घण्टे तक वह लड़का दोनों हाथसे, बिना खाये-पीये, डाल पकड़कर लटका रहा और अन्तमें कोई युक्ति नहीं चली कि उसको कैसे बचाया जाये। न पहाड़ियोंकी चली, न कुलियोंकी चली, न माँ-बापकी चली। अन्तमें उसके बापने कहा कि बेटा, अब देखा नहीं जाता है। अब तुम डाल छोड़ दो। हाथ छोड़ दिया तो गङ्गाजीमें गया आँखके सामने।

आखिर कब तक आदमी पकड़कर रख सकता है?

एक स्त्री किसीको चाहती नहीं है, अपने पतिको नहीं चाहती है और वह चाहता है कि हम तो तुमको पकड़े रहेंगे। पति, पत्नीको नहीं चाहता है और वह चाहती है कि हम तो तुमको पकड़े रहेंगे। कब तक पकड़कर रखेंगे? बेटा, बापको नहीं चाहता है; बाप, बेटेको नहीं चाहता है। मुट्ठी बाँधकर हम चौबीसों घण्टे नहीं रह सकते। देखो, यह वेदान्तने सहज भावकी रहनी बतायी है।

तो जाग्रत्-अवस्था बदल जाती है, स्वप्नावस्था बदल जाती है, सुषुप्ति-अवस्था बदल ज़ाती है। शान्ति, शान्ति, शान्ति! जब जीभ मौन होती है और मन मौन होता है, तब आत्माकी वाणी मुखरित होती है। आप अपनेको भीतर करो तो देखो, क्या आश्चर्यजनक दृश्य दिखते हैं। हमारे गाँवमें उसको बोरो बोलते हैं। 'बोरो' के माने है, अब वर्षा होगी। आप आकाशमें कभी-कभी इन्द्र-धनुष देखते हो, तो उसमें क्या होता है कि आकाशमें कुछ बादल होते हैं और उसपर सूर्यकी

किरणें पड़कर टेढ़ी हो जाती हैं। तो जो सूर्यकी किरणोंका वक्रीभवन होता है, उससे वे किरणें रङ्ग-बिरङ्गी होकर दीखती हैं। तो ऐस-ही जब हमारे मनकी किरणें शरीरमें फैलतीं हैं, एक-एक नस-नाड़ीसे अँगुलीमें आती हैं, पाँवमें आती हैं, हाथमें आती हैं; तो जब हम इनको मोड़ते हैं कि अरे ओ मनकी रश्मियों, बाहर मत जाओ, भीतर रहो। तो उनका वक्रीभवन होता है, वे टेढ़ी हो जाती हैं। तब वह झाँकी दिखती है, जो दुनियामें बाहर नहीं दिखती।

रस गगन गुफा में अजर झरै।
सुरति विरहुलिया छाई निज देस।
जहाँ न सूरत, जहाॅ न मूरत, पूरन घनी दिनेस॥

मानसिक किरणोंका जहाँ वक्रीभवन हुआ, उसमें गोलोक बनता है, साकेत लोक बनता है, वैकुण्ठ बनता है, स्वर्ग बनता है। उसमें साकार बनता है, उसमें निराकार भी बनता है। यह बाह्य स्वप्नका नाम 'जगत्' है और आन्तर-स्वप्नका नाम गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत, स्वर्ग है। शान्तिका नाम निराकार ईश्वर महादेव और जो द्रष्टा, साक्षी है, जो इसमें एकरस है, वह अपना आपा है।

पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण—ये सब सिद्ध पदार्थ नहीं हैं। क्यों? यह घड़ी कहाँ है, बताओ? पूरब है कि पश्चिम है कि उत्तर है कि दक्षिण है? आप कहोगे कि उत्तर है, तो मैं तुरन्त कह दूँगा कि दक्षिण है। एक कहेगा कि पश्चिम है, तो दूसरा कहेगा कि नहीं, पूरब है। ऊपर बैठनेवाले कहेंगे कि नीचे है और नीचे बैठनेवाले कहेंगे कि ऊपर है। तो यह घड़ी कहाँ है? अस्ति सिद्ध नहीं है। पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण अस्ति सिद्ध नहीं है, केवल भाति-सिद्ध हैं और, जो समय है—एक मिनट, दो मिनट, संवत्सर, कल्प आदि—ये सब भी अस्ति-सिद्ध नहीं हैं, भाति सिद्ध हैं। यह हमारा दोस्त है और यह दुश्मन है—यह भी अस्ति-सिद्ध नहीं है। यह भाति सिद्ध है। भासता है ऐसा, है नहीं।

यह पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणकी जो समष्टि है, उसको 'पूर्णता' कहते हैं और वह जिसमें अध्यारोपित है, उसका नाम 'ब्रह्म' और मिनट, वर्ष, मन्वन्तर, कल्प रूप कालकी जो समष्टि है, उसको 'नित्य' बोलते हैं और वह नित्यता जिसमें आरोपित है, उसका नाम 'ब्रह्म' और यह मैं-मैं-मैं, तू-तू-तू, यह-यह-यह, वह-वह-वह—जितनी व्यष्टियाँ हैं, इनकी ऐक्यदशाको जड़वादी लोग 'प्रकृति' बोलते हैं, बौद्धलोग 'शून्य' बोलते हैं, भक्त लोग 'ईश्वर' बोलते हैं। और, वह ऐक्यावस्था, वह ईश्वर जिसमें अध्यारोपित है, उसका नाम है 'ब्रह्म'।

अरे बाबा, ऐसा ब्रह्म कौन है? कैसे मालूम पड़े? ऐसा ब्रह्म 'मैं' हूँ। तब मालूम पड़ेगा। 'वह ब्रह्म है'—ऐसे मालूम नहीं पड़ेगा। क्योंकि, 'वह' और 'यह' कहने पर 'मैं' अलग रह जाता है। पर, 'मैं' कहने पर 'यह' और 'वह' अलग नहीं रह जाते। क्योंकि, 'यह' 'वह' 'मैं' से प्रकाशित होते हैं। परन्तु 'मैं', 'यह' और 'वह' से प्रकाशित नहीं होता।

अब यह बात निश्चय की कि स्थान दो होनेपर दोनोंका भेद मिथ्या है।

यह घड़ी पूरबमें क्यों मालूम पड़ी? क्योंकि तुम एक स्थान पर बैठे हो। पश्चिम क्यों मालूम पड़ी? क्योंकि तुम एक स्थानपर बैठे हो। माने स्थानकी प्रधानतासे घड़ी पूर्व या पश्चिम मालूम पड़ी। नीचेसे फोटो लिया तो लम्बा आ गया और ऊपरसे फोटो लिया तो छोटा आ गया। स्थान-भेदसे देखनेमें भेद मालूम पड़ता है।

एक महात्मा हैं। उनसे जाकर कोई पूछे कि ईश्वर, साकार है? बोले कि हाँ बेटा, तुम जहाँ बैठे हो वहाँसे ऐसा-ही दीखता है। एकने कहा कि महाराज, हमको तो ईश्वर निराकार मालूम पड़ता है। बोले कि हाँ भाई! जहाँ तुम बैठे हो वहाँसे ऐसा ही मालूम पड़ता है।

जिस कोण पर कैमरेको रखते हैं, उस ढंगका फोटो आता है। जब व्याकृत नाम, रूपमें रुचि नहीं होती है, तब अव्याकृत-वस्तुका दर्शन होता है और जब अव्याकृत वस्तुको पकड़नेकी योग्यता नहीं होती है, तब नाम, रूपवाली व्याकृत-वस्तु दिखायी पड़ती है और जब दोनोंको देखनेवालेकी तरफ दृष्टि जाती है कि यह कौन है? तब, अपना आप ब्रह्म दिखायी पड़ता है।

तो यह जो स्वप्न और जाग्रत्का भेद है, यह जो अन्तर्वृत्तिका भेद है—यह क्या है? बोले कि ये दोनों भेद 'वितथ' हैं। अविनाशीकी दृष्टिसे स्वप्न, जाग्रत्का भेद नहीं है। पूर्णकी दृष्टिसे स्वप्न, जाग्रत्का भेद नहीं है। अद्वयकी दृष्टिसे स्वप्न और जाग्रत्का भेद नहीं है। यह तो स्थानके भेदसे स्वप्न और जाग्रत्का भेद है। देहाभिमानसे देखो तो जाग्रत् है और सूक्ष्म-शरीरके अभिमानसे देखो तो स्वप्न है, कारण-शरीरके अभिमानसे देखो तो सुषुप्ति है और सब अभिमान छोड़ दो तो तुम ब्रह्म हो।

☆

भेदकल्पक एवं साक्षी कौन?

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वैतेषां विकल्पकः॥ ११॥

अब यह प्रश्न उठाया कि जब जाग्रत्-अवस्थामें कैमरेका एक कोठा-ही दीखता है, सच्चाई नहीं दीखती है—जैसे आँख दबानेपर चन्द्रमा दो दीखता है। कोणका अर्थ यही हुआ। भागवतमें यही दृष्टान्त दिया है। इसीको 'माया' बोलते हैं। *'द्विचन्द्रत्व'*—यह माया है।

तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः। (भागवत, २.९.३३)

और, राहुका होकरके भी नहीं दीखना—इसका नाम 'माया' है।

इसका मतलब हुआ कि न जाग्रत् पूर्ण है और न स्वप्न पूर्ण है। स्वप्न-दृष्टिसे जाग्रत्का भेद मिथ्या है और जाग्रत्की दृष्टिसे स्वप्नका भेद मिथ्या है। परन्तु, ये भेद सच्चे दिखें तो सच्चाईकी हालतमें और ये भेद झूठे दिखें तो इनके मिथ्यात्वकी दशामें 'क एतान्बुध्यते भेदान्, को वैतेषां विकल्पकः?'

यह जाग्रत्-अवस्था जैसी दीखती है, वैसी नहीं है। गौरसे देखो। जहाँ कल्पना होती है, माया होती है, वहाँ ऐसा ही होता है।

देहरादूनमें एक बड़े आदमीकी यहाँ बारात गयी। तो उन्होंने जब बारातियोंके सामने भोजन परोसा तो कोई मछली, मेंढ़क, कोई कछुआ। बाराती बड़े ही नाराज हुए कि यह क्या है? हमारा अपमान करते हो? हमलोग ऐसी चीज नहीं खाते हैं। तब वे आये और बोले कि यह सब फलाहारी चीज है। केवल इनकी शक्ल ही ऐसी है। उन्होंने कहा कि आखिर तुमने ऐसी शक्ल बनायी क्यों? भाव-दुष्ट हो गया। वैष्णव लोग भाव-दुष्ट मानते हैं। कट्टर वैष्णव लोग लीची नहीं

खाते क्योंकि छील देने पर वह गोल-गोल अण्डेकी तरह दीखती है। तरबूज नहीं खाते क्योंकि देखनेपर वह रक्त-दिग्ध मालूम पड़ता है। यह दृष्टिकोणकी ही तो बात है।

एक आदमीको आँखसे एक चीज जैसी दीखती है, जब वैज्ञानिक लोग उसकी जाँच करते हैं तो कहीं अणुओंका समूह निकलता है, कहीं शक्तिकी फुरफुराहट निकलती है। ये पिण्ड जैसे दिखते हैं, ऐसा नहीं है यह।

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः।

अब प्रश्न यह नहीं है कि यह क्या है? प्रश्न यह है कि मैं कौन हूँ?

अच्छा, दोनोंमें-से क्या प्रश्न होना चाहिए? 'यह क्या है?'—यह प्रश्न होना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?'—यह प्रश्न होना चाहिए। विचारवान् लोग प्रश्नमें संकोच नहीं करते हैं। चाहे कुछ पूछो! विचारवान् लोग यह नहीं कहते कि यह प्रश्न ही नहीं है। अरे भई, प्रश्न हुआ, आया, ठीक है! अब उसपर विचार करो! लेकिन अगर दोनोंमें-से चुनना हो—'यह क्या है?' और 'मैं कौन हूँ?'—तो आप दोनोंमें-से क्या चुनोगे? आपकी बुद्धिमानीकी परीक्षा हो जायेगी?

देखो, जिसको ब्याह करना होगा, वह पहले लड़कीका पता लगावेगा कि कैसी है और जिसको खाना होगा, वह भोजनका पता लगावेगा। जिसको ऑफिसमें नौकरी करनी होगी, वह ऑफिसके पास पूँजी कैसी है—इसका पता लगावेगा। हमेशा चलनेवाला है कि नहीं है? लेकिन, जिसको सत्य वस्तुका पता लगाना है और कोई फायदा उठाना नहीं है, उसको यह जाँच करनी पड़ेगी कि यह-यह-यह तो हजारों हैं। अगर हम 'यह' को जानना चाहेंगे तो लाखों, अरबोंको जाननेके बाद भी 'यह'का कभी अन्त नहीं होगा। कैसे जान सकेंगे? तो यह-यह-यहको जानना ही शक्य नहीं है। दृश्यत्वेन हो जायेगा। पर, कब होगा? जब अपनेको जानेंगे कि 'मैं कौन हूँ?'

देखो, 'यह' के बिना 'मैं' रहता है। परन्तु, 'मैं' के बिना तो 'यह' नहीं रहता है न? हजार 'यह' आते हैं और जाते हैं और 'मैं' एक ही रहता है। यह तो बिलकुल खुली बात है। 'मैं' को जान जाओ तो हजारों 'यह' को जान जाओगे। पर हजारों 'यह' को जान जाओ, तब भी एक 'मैं' को नहीं जान सकते। 'मैं' में सातत्य है और 'यह' में सातत्य नहीं है। 'मैं' हमेशा रहता है और 'यह' हमेशा नहीं रहता। 'यह' अनेक है और 'मैं' एक है। स्थानभेदसे, कालभेदसे, आकृतिभेदसे, नामभेदसे, उपयोग-भेदसे, प्रयोजनभेदसे बाहरकी वस्तुएं अनेक होती हैं और अपना आपा बिलकुल

एक होता है। 'मैं' है तो सब है और सब होवे और 'मैं' न हो तो हमारे लिए क्या हुआ? इसलिए, 'मैं' का पता लगाना महत्त्वपूर्ण है।

'क एतान्बुध्यते भेदान्'—इन भेदोंको जाननेवाला कौन है?

अच्छा, 'भिन्न' माने क्या होता है? टूटा-फूटा। जैसे डण्डेसे घड़ेपर मारा तो घड़ा क्या होगा? बोले कि भिन्न हो गया। तलवारसे किसीके हाथपर मार दिया तो क्या हुआ? छिन्न हो गया। तो दुनियाकी जितनी चीजें हैं, वे छिन्न-छिन्न हैं, भिन्न-भिन्न हैं, वे छिन्न-भिन्न हैं। अलग-अलग उनका देश, अलग-अलग उनका काल, अलग-अलग उनका रूप, अलग-अलग उनका गुण, अलग-अलग उनका प्रभाव। और, अपना जो आत्मा है, यह न छिन्न है, न भिन्न है और सर्वदेशमें एक, भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंका द्रष्टा एक है। अब यह बात है जरूर है कि यह अद्वितीय है, यह बात बुद्धिसे नहीं मालूम पड़ती। कोई कितनी अक्ल लगावे। यही सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय परब्रह्म है—यह बात बुद्धिसे सोचनेपर नहीं मालूम पड़ती। इसके लिए शंकराचार्यने कहा कि यह श्रुत्यैकसमधिगम्य है।

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। (छांदोग्य ६. १. ४)

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं'।

जिसने वेद नहीं पढ़ा, वह इस अद्वितीय-वस्तुको नहीं जान सकता। बिना आचार्यके नहीं जान सकता। आचार्य बतावेगा कि यह जो द्रष्टा है, जिसने हजार चीजोंको देखा, हजार जगहोंको देखा, हजारों मिनटोंको देखा, हजारों नामोंको देखा, हजारों रूपोंको देखा और उनकी समष्टियोंको देखा—यह जो देखनेवाला द्रष्टा तुम्हारा 'मैं' है, यह ब्रह्म है, अद्वितीय है। इसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है।

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः।

इन भेदोंको जाननेवाला कौन है? इनके विकल्पका साक्षी कौन है? इनके विकल्पका द्रष्टा कौन? इसका उत्तर श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराज अगले श्लोकमें देते हैं।



आत्मा ही भेद-साक्षी एवं कल्पक है

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥ १२॥

देखो, मूलमें ही '**वेदान्तनिश्चयः**' आया है। अब कोई बौद्ध होता तो क्या बोलता कि 'इति वेदान्तनिश्चयः'। थोड़ी-सी अकल भी अगर किसीके सिरमें होवे तो कैसे कहेगा कि गौड़पादकी कारिकाकी बौद्ध-मतकी है।

'**आत्मा देवः**'—यह आत्मा स्वयं प्रकाश है। खिलाड़ी है। 'देवता' का अर्थ है, खिलाड़ी। क्रीड़ा प्रधान है। रोनेकी भी क्रीड़ा करता है यह और हँसनेकी भी क्रीड़ा करता है। मरनेकी भी क्रीड़ा करता है और जीनेकी भी क्रीड़ा करता है। 'क्रीड़ा' माने नाटक है।

तो 'आत्मा देवः'—यह आत्मा देव है। 'आत्मा' शब्दका चार अर्थ प्राचीनकालसे ही माना जाता है—एक, जो सबमें व्यापक हो—'*यच्चाप्नोति*'। जैसे घड़ेमें मिट्टी व्यापक है, वैसे सम्पूर्ण दृश्यमें जो व्यापक हो, उसका नाम 'आत्मा'। दूसरा, '*यदादत्ते*'—जो सबको ग्रहण करता हो। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह घट है, यह पट है।

तीसरा, '*यच्चाति विषयानिह*'—जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करता है—यह शब्द है, यह स्पर्श है, यह रूप है। '*येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च, तत्प्रज्ञानं।*' (शु. र. ३. १) —जिससे आँख देखती है, जिससे कान सुनते हैं, जिससे नाक सूँघती है, जिससे जीभ स्वाद लेती हैं, जिससे त्वचा छूती है—उस 'मैं' का नाम आत्मा है।

चौथा है, '*अत्ति इति आत्मा*' और '*अतति इति आत्मा*'—जो हमेशा रहती है।

तो 'आत्मा' शब्दका चार अर्थ हुआ। क्या? सबमें व्यापक होना माने उपादान कारण होना और सबको प्रकाशित करना, सबका आदान करना और सम्पूर्ण विषयोंका सुख लूटना माने जानना, देखना, सुनना आदि और हमेशा बने रहना—ये चार अर्थ 'आत्मा' शब्दके प्राचीनकालसे प्रचलित हैं।

यच्चाप्रोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

इसलिए, आत्माको आत्मा कहते हैं। तो यह तुम दूसरेकी कथा नहीं समझना किसी दूसरेको 'आत्मा' कहते हैं। यह तुम्हारी ही है।

एक महात्मा थे। पञ्चदशी पढ़ते थे। एकने आकर उनसे कहा कि बाबाजी, आप तो ब्रह्मनिष्ठ हैं, ब्रह्मविद्, वरिष्ठ है। आपको अब किताबमें पढ़नेके लिए क्या बाकी है? क्यों पढ़ते हैं पुस्तक? तो बोले कि देख रहा हूँ कि इसमें मेरी क्या-क्या तारीफ लिखी हुई है! जरा तुम भी देखो तो कि इस किताबमें मेरी क्या-क्या तारीफ लिखी हुई है।

तो, ये जितनी किताबें हैं, ये आपकी ही तारीफ करती हैं! जब मैं बोलता हूँ 'मैं ब्रह्म हूँ', तो श्रोता समझे कि वक्ता तो ब्रह्म है, लेकिन श्रोता ब्रह्म नहीं है। तो उसका नाम क्या होगा? उसका नाम बेवकूफ श्रोता होगा। तो जैसे वक्ताका 'मैं' ब्रह्म हैं, वैसे श्रोताका 'मैं' ब्रह्म है। जब 'मैं' के ब्रह्मपनेका ज्ञान होगा, तब ये जो उपाधियाँ हैं, ये तो धोखे-की-टट्टी रह जायेंगी 'मैं' के ब्रह्मपनेका ज्ञान होने पर यह जो अलग-अलग व्यक्तित्व है, यह तो बिलकुल धोखे-की-टट्टी हो गया न! यह तो मायाका खेल हो गया।

तो आत्मा कैसा? बोले कि 'देव:'। यह अपना आत्मा 'देव' है। दिवु, क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गतिषु—इतने अर्थ 'देव' शब्दके हैं। तो यह खेल रहा है आत्मा। इसका खेल क्या है? '*स्वमायया आत्मनात्मानम् कल्पयति*'—अपनी मायासे, अपने आपसे अपने आपको कल्पित करता है। बड़ी अद्भुत लीला है इसकी!

देखो, जड़वस्तु यदि अकेली रह जाये, तो वह स्वयं कोई भी कल्पना नहीं कर सकती इसीसे जब हम नास्तिकोंका यह वाद सुनते हैं—वे जड़ सत्ताको स्वयंभू मानते हैं तो उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है। ठीक है, स्वयंभवन सामर्थ्य जड़ सत्तामें है। लेकिन, यह जो व्यवस्थित काल, व्यवस्थित देश, व्यवस्थित व्यक्ति हैं, इनमें जो नियमबद्धता है, वह क्या जड़ उत्पन्न कर

सकेगा? और, जब चेतनका निरूपण करते हैं कि चिद्वस्तुमें स्वयं प्रकाश सामर्थ्य है। तो यह सामर्थ्य 'माया' है। 'सामर्थ्य' माने शक्ति। 'शक्ति' माने अध्यारोपित माया। न सत्‌में भवन सामर्थ्य है, न चित्‌में प्रकाशन सामर्थ्य है। लेकिन यह सब प्रकाशित और भूत देखकर इसके कारणका जब अध्यारोपण किया गया, तब उसको 'माया' कहते हैं।

देखो, जो जाने सो चेतन और जाननेके लिए कोई दूसरा है नहीं! ठसाठस भरपूर है। एक महात्मासे पूछा कि परमात्मा कैसा? बोले कि ठसाठस। उसमें कील नहीं ठोंक सकते। ऐसा कपड़ा नहीं है परमात्मा जिसमें सुई घुस सके। ऐसा समुद्र नहीं है, जिसमें डुबकी लगायी जा सके। बिलकुल ठसाठस!! ऐसा अद्वैत, जिसमें द्वैतके घुसनेकी गुंजाइश नहीं। लेकिन, गुंजाइश यों निकल आयी कि ये महाशय, जाने बिना रहते नहीं। तो जानें तो किसको जानें? बोले कि दूसरा तो कोई है ही नहीं। तब अपनेको ही जानते हैं और जब अपनेको जानते हैं, तब अपनेको दो रूपमें देखते हैं—एकरूपमें देखनेवाला और एक रूपमें देखा जानेवाला। द्रष्टा और दृश्य, दोनों इन आत्मदेवके विवर्त हैं। वाच्य-वाचक-भेदेन, द्रष्ट-दृश्यस्वरूपेण, व्याप्य-व्यापकरूपेण ये स्वयं निरूपित होने लगते हैं।

असलमें द्रष्टापना, दृश्यकी अपेक्षासे इस निरपेक्ष वस्तु तत्त्वमें यह स्वमायया, अध्यारोपिततया दीख रहा है। कैसे? **'आत्मनात्मानं कल्पयति'**—अपने आपको ही देख रहे हैं! **'स एव बुध्यते भेदान्'**—और वही सभी भेदोंको समझ रहे हैं। **'इति वेदान्तनिश्चयः'**—यह सम्पूर्ण वेदान्तोंका निश्चय है।



अन्तःकरण-शुद्धि अनिवार्य

भगवान्‌का अंतःकरण नहीं होता। अन्तःकरण चाहे ज्ञानीका हो कि अज्ञानीका—उसमें संस्कार रहते हैं। जैसा समझते आये हैं, जैसा देखते आये हैं, जैसा करते आये हैं, उसीके अनुसार संकल्प उठते हैं, इच्छाएं उठती हैं और ज्ञानी-अज्ञानी सबका व्यवहार होता है। तो जब किसीको सत्यका प्रतिपादन करना होता है, तो जब वह बोलने लगतां है तो सत्यमें ज्ञानमें अपने जो संस्कार हैं, वे जुड़ जाते हैं। जुड़ जाते हैं तो सत्यको भी संस्क़ारयुक्त रूपमें देखते हैं, ज्ञानको भी संस्कारयुक्त रूपमें देखते हैं और सत्य, ज्ञानका निरूपण भी संस्क़ारयुक्त ही करते हैं।

संसारमें जितने मतभेद होते हैं, वे ज्ञानकी दृष्टिसे नहीं होते, वे सत्यकी दृष्टिसे नहीं होते। एकका संस्कार, दूसरेके संस्कारसे टकरा जाता है। मतभेद यह होगा कि चन्दन खड़ा लगाना कि पड़ा लगाना। अब जिसको खड़ा लगानेका संस्कार है, वह कहेगा कि पड़ा लगाना ठीक नहीं है और जिसको पड़ा लगानेका संस्कार है, वह कहेगा कि खड़ा ठीक नहीं है।

तो सत्यको संस्कारसे अलग करके, ज्ञानको संस्कारसे अलग करके पहचान लेना चाहिये। उसके बाद संस्कारके अनुसार ज्ञान होता रहे और संस्कारके अनुसार व्यवहार होता रहे तो कोई हर्ज नहीं है। संस्कारोंके झगड़ेमें सत्‌को नहीं डालना। संस्कारोंके झगड़ेमें ज्ञानको नहीं डालना। यह तो सर्वाधिष्ठान है, स्वयंप्रकाश है। राम बड़े कि कृष्ण बड़े? जिसके अन्तःकरणमें जैसा संस्कार पड़ गया उसकी दृष्टिसे निर्णय होगा परन्तु राम, कृष्णमें जो सत् है, ज्ञान है—वह एक ही है, दो नहीं।

इस सत्यको, ज्ञानको कौन बतावे? इस बातको जाहिर करनेके लिए ज्ञानका एक रूप अपौरुषेय कल्पित किया गया। पुरुषको अपनी इन्द्रियों और

मनोवृत्तियोंसे संसार एवं विषयोंके सम्बन्धमें और परोक्षके बारेमें कल्पना करके जितना भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह सब ज्ञान पौरुषेय होता है और जो संस्कार, विकारसे रहित ज्ञानका सहज स्वरूप है, वह अपौरुषेय है। इसीसे कहते हैं कि सत्यका असली ज्ञान अपौरुषेय वेदसे होता है। अपने अन्तःकरणमें जो बैठाये हुए संस्कार हैं, जो आये हुए विकार हैं, जो मानी हुई बातें हैं—उनसे ज्ञान नहीं होता है। अन्तःकरण शुद्धि माने यही होता है कि यथाशक्य, यथासम्भव अपने विकारोंको और संस्कारोंको भी हटावे।

देखो, अधर्मके कारण विकार हैं और अभिमानके कारण संस्कार हैं। पशु-पक्षियों आदि योनियोंमें ले जानेवाले विकार हैं और देवता आदि योनियोंमें ले जानेवाले संस्कार हैं। तो जब संस्कार और विकार—दोनोंसे छूटकर मनुष्य शुद्धान्तःकरण होता है, तब उसको परमात्माका ज्ञान होता है।

आपन खेल आप करि देखैं।

तो आओ, क्या बढ़िया सृष्टिका मूल रहस्य बता रहे हैं—

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः॥

पहली बात यह कहते हैं कि 'आत्मनः कल्पयति'—अपने आप ही कल्पित करता है। तो 'कल्पना' किसको कहते हैं? ***'कल्पना नाम मनसो रचना'***—मनकी कारीगरीका नाम 'कल्पना' है।

बढ़ई जो है, वह लकड़ी पर कारीगरी करता है। लुहार लोहेमें कारीगरी करता है—टॉकी मारता है, टप्पे लगाता है, धातुको गलाता है। और ईश्वर क्या करता है? ***'आत्मना कल्पयति'।*** इसमें मनका काम नहीं है! ***'करणनिरपेक्षं कल्पयति'।***

काहे कै करनी, काहे कै भरनी। काहे कै ताना, काहे कै बाना॥

यहाँ अपने आप ही ताना, अपने आप ही बाना, अपने आप ही करनी और अपने आप ही भरनी।



आपन खेल आप करि देखै!

तो, '*आत्मनःकरण निरपेक्षं*'—ईश्वरने जबानसे या आँखसे या हाथसे या पाँवसे यह संसारकी कारीगरी नहीं की है। अपने आपसे की है। '*आत्मनः कल्पयति*'।

अच्छा भाई, माना कि ईश्वरने हाथ नहीं उठाया, बिना कलमकी लिखावट है, बिना कूचीकी तसवीर है। यह संसार बिना तूलिकाका चित्र है।

शून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे!

अद्भुत खेल है। '*आत्मनः कल्पयति*'! तूलिका नहीं है, चित्र बन गया। कलम नहीं है, लिखावट हो गयी! यह है '*आत्मनः कल्पयति*'।

कं कल्पयति? किमुपादानमादाय तस्मिन् सृष्टिं कल्पयति?

रंग होता है, तो उससे तसवीर बनाते हैं। मिट्टी होती है तो उससे घड़ा बनाते हैं। यह दुनिया बनानेमें उपादान क्या? '***यदुपादाय कार्यं प्रवर्तते***'—जिसको लेकर कार्य चलता है, उसका नाम 'उपादान'। जैसे घड़ेमें माटी, तसवीरमें रंग। बोले कि किस चीजसे तसवीर बनायी? वह धातु कौन-सी है? माना कि कलम नहीं है, पर फिर भी रंग तो है न! वह रंग कौन-सा है? वह स्वर्ण क्या है, वह माटी क्या है, वह लोहा क्या है?

तो बोले कि '**आत्मनः आत्मानं उपादाननिरपेक्षं**'। दूसरे उपादानकी कोई जरूरत नहीं है। अपने आपको और अपने आपसे सृष्टिके रूपमें दिखाता है।

बोले कि अच्छा, बनानेवाला तो कोई होता है न! किसने बनाया? किसको बनाया? और किससे बनाया? इसका उत्तर दिया कि खुदमें बनाया। हाथ आदिसे काम नहीं लिया। किसको बनाया? माटीको बनाया? न, ही! खुदको बनाया। बोले कि किसने बनाया? बनानेवाला तो कुम्हार होता है। बोले कि खुदने बनाया। इसमें बनानेवाला कोई कुम्हार नहीं है। '**कल्पयत्यात्मनात्मानम्**'।

देखो, यहाँ निर्मितवान् अथवा रचयामास नहीं कहा। 'कल्पयति' कहा। 'अकल्पयत्'—पहले कल्पना की, सो नहीं। 'कल्पयति'—वर्तमानमें कल्पना कर रहा है!

फिर बोले कि अच्छा, कुम्हार माटीसे हाथके द्वारा घड़ा बनाता है। तो ठीक है। पर, रोशनी तो चाहिये न! रोशनी होगी, तब तो घड़ा बनावेगा। बोले कि **'आत्मा देवः'**—माने, **'प्रकाशान्तरनिरपेक्षं'**—दूसरा कोई रोशनी देनेवाला नहीं है। खुदकी रोशनीमें, खुद कुम्हार, खुद माटी, खुद हाथ, खुद चाक और खुदको ही सृष्टिके रूपमें बना रहा है। यह तो बड़ी विलक्षण लीला है।

आपै अमृत, आप अमृतघट, आपै पीवनहारी।
आपै ढूँढे, आप ढूँढावे, आपै ढूँढन हारी॥

यह खेल कैसे कर देता है? स्वयं तो रोशनी दे, स्वयं बनावे, स्वयंको बनावे, स्वयंसे बनावे और बनावे नहीं कल्पना कर ले। एकसे यह खेल कैसे बन गया?

तो बताते हैं, **'स्वमायया-विवर्तरूपमित्यर्थः'**। जब परमाणु नहीं, प्रकृति नहीं, कर्म नहीं, संस्कार नहीं, चित्त नहीं, तब यह सृष्टि कैसे हो गयी? बोले कि यह जादूकी मूठ है। माया, इन्द्रजाल है। हुआ कुछ नहीं और मालूम पड़े सब! **'विरुद्धं वर्तनं'**—मायाका यही खेल है।

पहले लोग आपसमें लड़ते थे कि यह सृष्टिकी प्रक्रिया कैसे?

एक बोले कि मिट्टीसे पौधा पैदा होता है, पानीसे मिट्टी पैदा होती है, गर्मीसे पानी पैदा होता है, गतिसे गर्मी पैदा होती है।

हमारे मोकुलपुरके बाबा ऐसे समझाते थे कि देखो तुम बैठे हो, तो शान्त आकाश। अब जरा दौड़ो, तो गति आयी। स्थितिमें गति आयी। आकाशमें वायु आ गया। और दौड़े तो गर्म हो जायेगा। तो दौड़नेमें गर्मी आ गयी और गर्मी आवेगी, तब पसीना आ जायेगा। आगमें पानी आ जायेगा और पसीना शरीर पर जम जायेगा। तब क्या हो जायेगा? माटी हो जायेगा।

आकाशद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः औषधीभ्योऽन्नम्। (तैत्तिरीय० २.१.१)

यह कार्य-कारण भावका दृष्टान्त हुआ।

बोले कि नहीं, जैसे बहुतसे पुर्जे जोड़कर मोटर आदि बना लेते हैं, ऐसे-ही यह 'पुरज' है। 'पुरज' माने जिससे 'पुर' बन जाय। पुरं जायते—जिससे एक पुरी बने। मकानमें भी पुर्जे होते हैं, मोटरमें भी पुर्जे होते हैं!

किसीने कहा कि नहीं-नहीं परमाणुसे नहीं, प्रकृतिसे सृष्टि हुई।

किसीने कहा कि चित्तमें जो संस्कार थे, उससे सृष्टि हुई।

किसीने कहा कि हमारे गणेशजीने सृष्टि बनायी है। किसीने कहा कि नहीं-नहीं, जगदम्बा जगज्जननीने बनायी है। किसीने कहा कि नहीं, सूर्य देवतासे सृष्टि होती है। सब लोग अपने-अपने बाप-दादाकी तारीफ करने लग गये।

लोग ज्यादा तारीफ ऐसे करते हैं कि यह देखो, हमारी श्रीमतीजीने कैसा बढ़िया पर्स अपने आप बनाया है। भोजन जिस दिन बढ़िया बन जाता है तो कहते हैं कि मैंने खुद बनाया है। दूकान से खरीदी हुई चीज उतनी अच्छी नहीं होती? पर उसमें क्या तारीफ है? पैसा लग गया! वह बात नहीं बताते हैं कि महाराज, हम दूकानसे खरीदकर लाये हैं। बोलते हैं नहीं महाराज! घरकी चीज है! किसने बनाया? घरवालीने या बहूने! और, बहुत तारीफ करनी होती है तो कहते हैं कि मैंने खुदसे बनाया है!

यहाँ देखो न! सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है अपना आपा!

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।

खण्डनखण्डखाद्यमें बहुत बढ़िया संवाद है—एक महात्मा मस्तीमें बैठे हुए थे। एक जिज्ञासु आया। तो उसने पूछा, 'महाराज! यह सृष्टि कैसे हुई? किसने बनायी'? महात्माजी कुछ नहीं बोले। क्योंकि वह एक ऐसी बात पूछ रहा है, जिसको कोई आँखसे नहीं देख सकता। माने ऐसा पूछ रहा कि महाराज, आपने सृष्टि बनाते समय देखा कि किसने बनायी? अब जब सृष्टि बनी थी तब आँख ही नहीं थी। तब क्या बतावें? न हमने देखा, न हमारे बापने देखा।

'अच्छा महाराज, आपके मनने तो देखा होगा?'

'नहीं', उस समय मन भी नहीं था।

'अच्छा', आप अपनी बुद्धिसे सोचकर बताइये। बोले कि बुद्धि भी तब पैदा नहीं हुई, जब सृष्टि हुई।

पिताको जनम कि जानै पूतं?

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगाद् ऋषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजंवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥

(भागवत, १०.८७.२४)

अरे, जब सृष्टि नहीं थी, तब वेद भी नहीं थे। मन नहीं, बुद्धि नहीं।

कई लोग बताते हैं महाराज कि जब ईश्वरने पहले-पहल सृष्टि बनायी, तो हम खड़े-खड़े, टुकर-टुकर देख रहे थे! ऐसे-ही बनायी है। देखकर आये हैं।

'को अद्धा वेद कः प्रवोचत्'

ऋग्वेदमें यह मन्त्र आता है, 'किसने साक्षात् देखा?' किसने इसका प्रवचन किया कि सृष्टि ऐसे हुई? *नीहारेण प्रावृता असुतृपाः जल्प्याः ।*

यह तो जिनकी बुद्धि पर कुहरा छाया हुआ है, केवल बकवादी हैं 'जल्प्याः', 'असुतृपाः'—इन्द्रियोंके पोषणमें लगे हुए हैं, 'उक्थशासः'—यह करो, यह भोगो, वह करो, वह भोगो—इसमें लगे हुए हैं—वे इस ढंगका निरूपण करते हैं। इनसे बचो बाबा,क्योंकि देखा-वेखा किसीने नहीं। यह बड़ी अद्भुत लीला है।

बोले कि अच्छा भाई, बुद्धिसे विचार करो कि आदिकालमें सृष्टि कैसे हुई? और, अन्तकालमें सृष्टिका प्रलय कैसे होगा? बुद्धि तो आखिर भगवान्‌की दी हुई है। कुछ तो उपयोग करो।

तो देखो, जो बुद्धि कालका आदि पकड़ती है, वह मूर्ख बुद्धि है। यह समझदारकी बुद्धि नहीं है। क्यों कि उसके पहले, उसके पहले, उसके पहले भूत जो होता है, वह अनादि होता है। तो यदि बुद्धि कहे कि कालके अमुक अंशमें सृष्टि हुई, तो बिलकुल गलत! कालके अमुक अंशमें सृष्टि नहीं रहेगी—यह भी बिलकुल गलत! बिना किसी अनुभवके अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य जो सृष्टि है, जिसमें बुद्धि सोती है और जागती है, किसी भी उपायसे अनादि भूत और अनन्त भविष्यसे उस बुद्धिका संयोग नहीं हो सकता।

बोले, 'महाराज, बताओ फिर सृष्टि कैसे हुई?'

यह खण्डनखण्डखाद्यमें प्रश्नोत्तर है।

बोले, बाबा, देखो हम तो अपनी मौजमें बैठे हैं। *'स्वयं प्रकाशे चिदात्मनि सुखमास्महे वयं'*—हम तो स्वयंप्रकाश चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मामें मौजसे बैठे है। यह सृष्टि कैसे हुई—इस गड़बड़झालेमें पड़नेकी हमको कोई जरूरत नहीं। जाओ, तुम पता लगाओ।

जिज्ञासु बोला कि नहीं महाराज, आप महात्मा हैं, अनुभवी हैं, कुछ तो बताइये।

बोले कि अच्छा बताओ कि तुम्हें कैसा लगता है?

बोला कि हमको लगता है कि परमाणुओंसे सृष्टि हुई होगी? कणोंके मूलमें अणु होंगे, परमाणु होंगे और उनके संयोजन-वियोजनसे सृष्टि हुई होगी।

तो महात्माने पूछा कि परमाणु जो हैं, वे हिस्सेवाले होते हैं कि बिना हिस्सेके होते हैं? सावयव कि निरवयव? यदि सावयव हैं, तो वे भी टूटेंगे। तो उनके पहले कुछ और रहा होगा। और, निरवयव हैं, तो दो परमाणुओंके संयोगसे एक अणुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और छः अणुओंसे त्रसरेणु नहीं हो सकता। तो, परमाणुसे तो सृष्टि हो नहीं सकती बाबू। तुम्हारी कल्पना बिलकुल स्वयंमें असंगत है। तुम परमाणुको सावयव मानो, तब भी सृष्टि नहीं और परमाणुको निरवयव मानो, तब भी सृष्टि नहीं। अतः परमाणुसे तो सृष्टि नहीं हो सकती।

वह बोला कि अच्छा, प्रकृतिसे सृष्टि हुई महाराज!

महात्माने पूछा कि प्रकृति नित्य है कि अनित्य? यदि अनित्य है, तो बताना पड़ेगा कि प्रकृतिकी सृष्टि कैसे हुई? और, यदि कहो कि प्रकृति नित्य है, तो प्रकृति फूटकर, विकारको प्राप्त करके सृष्टि बनती है और नित्य भी बनी रहती है क्या? मुर्गी अण्डा भी देवे और पकाई भी जाय,ऐसा संभव नहीं। *'न हि कुक्कुटया एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते'*। मुर्गीका एक भाग पक रहा है और एक भाग अण्डा दे रहा है—ऐसा नहीं हो सकता।

प्रकृति एक अंशमें नित्य भी होवे और एक अंशमें फूटकर सृष्टि भी बन जाय—ऐसा नहीं हो सकता।

बोला कि अच्छा महाराज, तब सृष्टिके प्रारम्भके कर्मोंके संस्कार रहे होंगे। उनसे सृष्टि हुई।

अरे, भले मानुष! कर्मोंके संस्कार आये कहाँसे? यदि उनसे पहले सृष्टि न होती, देह न होता, किसीने कर्म न किया होता तो बिना कर्मके संस्कार आते कहाँसे? और, बिना देहके कर्म होते कहाँसे? तो सृष्टि पहले थी, तब संस्कार हुए। सो, संस्कारसे सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

बोला—महाराज! तब फिर ईश्वरने सृष्टि बनायी!

वे बोले कि अच्छा बताओ, ईश्वरने सृष्टि अपने बाहर बनायी कि भीतर बनायी? ईश्वरने सृष्टि किसी निमित्तके बनायी कि बिना निमित्तके बनायी?

देखो, ईश्वरके बाहर अगर कुछ हो तो ईश्वर अधूरा और ईश्वरके भीतर खाली जगह होवे तो उसमें बनावे। और, ईश्वर बिना निमित्तके बनावे तो भिन्न प्रकारकी सृष्टि कैसे हुई कि कोई सुखी और कोई दुःखी। और यदि निमित्त पहलेसे मौजूद था, तो ईश्वरने सृष्टि बनायी कहाँ? वह तो पहलेसे मौजूद थी।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस ढंगसे तुम सृष्टि मानते हो, उस ढंगसे सृष्टिकी उत्पत्ति की प्रक्रिया बैठती नहीं है। तब?

बोला—महाराज! आप ही बताओ न कि सृष्टि कैसे हुई?

महात्मा बोले कि हमारे तो सृष्टि है ही नहीं भाई! हमारे तो साक्षात् ब्रह्म है। हम क्या बतावें कि सृष्टि कैसे हुई? हमारे तो एक अद्वितीय प्रत्यक् चैतन्याभिन्नतत्त्वके सिवाय और कुछ नहीं है ही नहीं।

वह बोला—महाराज! एक तरहकी सृष्टि और देखनेमें आती है। कई बीजोंके मिलानेसे सृष्टि होती है। रज-वीर्यके संयोगसे सृष्टि होती है। तो यह एक प्रक्रिया हुई और बीजमें-से पौध निकलती है, यह दूसरी प्रक्रिया हुई। पानी पर हवा लगती है तो तरंग पैदा होती है, यह तीसरी प्रक्रिया हुई। जैसा दुनियामें देखनेमें आता है, वैसा ही।

महाराज, कृपा करके बताओ, हमने एक बार एक जादूगरको देखा कि वहाँ कुछ नहीं था और उसमें आकाशमें हाथ हिला दिया तो वस्तु प्रकट हो गयी। सो क्या है?

हमने ऐसे जादूके बहुत खेल देखे हैं। वृन्दावनमें तो ऐसे जादू दिखानेवालों की चालाकी पकड़ी गयी। एक जन तो गोलोकसे मलाई कुल्हड़ ले आते थे। एक भगत उनके ऐसे पैदा हुए, ऐसे पीछे पड़े महाराज कि पूछो मत। वे माताजी थीं, उन्होंने एक थैला बनवा रखा था और खूब कीर्तन करतीं, नाचतीं थी और मंद अंधकार देखती, लोगोंकी नजर इधर-उधर देखतीं तो झट अपने छिपाये हुए थैलेमें कुल्हड़ निकाल कर देती कि यह देखो, भगवान् गोलोकसे प्रसाद दे गये। बादमें तो पता चल गया कि वे कुल्हड़ कौन कुम्हार बनाया करता था और कहाँसे आता था और वह मलाई किस दूकान पर बनती थी, सो भी पता चल गया।

एक श्रीमतीजी गुजरातकी थीं। वह हाथकी मुट्ठी ऐसे घुमाती तो हाथमें-से अबीर आदि रंग निकलकर बरस पड़ता। कुछ दिन बेवकूफ लोग बहुत पूजे! ये लोग परमार्थको, ईश्वरकी प्राप्तिको जादूको खेल समझते हैं।

एक सज्जन थे, वे हाथसे पेड़े बरसाते थे। एक पैसा बरसाते थे। ये दरिद्राचार्य लोग हैं जिनके पास खानेको रोटी नहीं।

अपने बचपनकी एक बात आपको सुनाता हूँ पर, परमार्थमें उस समय भी हमारी रुचि थी। हम लोग तीन-चार मित्र थे। उसमें से एक हमारे भाई लगते थे, उनका लड़का पागल हो गया। तो उसको ठीक करनेके लिये एक फकीर बुलाये

गये। मुसलमान फकीरोंमें ऐसी रिवाज ज्यादा है। अब वे आये तो हमको मालूम हुआ कि वे बड़ा चमत्कार दिखाते हैं। बिलकुल नंगे बैठे हुए थे धरती पर। देखकर बोले कि आओ, पण्डितजी आओ! हमारे साथ एक ठाकुर साहब थे, एक सेठजी थे। हम सब जाकर बैठे तो वे बोले कि आपका क्या स्वागत करें? क्या खाओगे? हाथमें स्फटिक माला घुमा रहे थे। ठाकुर साहबने कहा कि हम अनार खायेंगे। वहाँ अनारका कोई पेड़ नहीं था। हम लोगोंके देखते-देखते उन्होंने हाथसे आकाशकी ओर संकेत करके कहा 'चल'! और, आसमानमें-से अनारका फल गिर पड़ा। यह नहीं समझना कि उस फकीरको कोई ईश्वर, परमेश्वरकी प्राप्ति हो गयी थी। यह जादूका खेल दूसरी चीज है। फिर दूसरी बार बोले 'चल'! और किसमिश गिरने लगी। बोले, 'चल' और इत्रकी शीशी गिरी। अब हम लोगोंसे कहा कि ले लो!

यह क्या होता है? यह जादूका खेल होता है।

कर्णवासमें एक महात्मा थे। उनके बारेमें यह ख्याल था कि चाहे जो कोई आवे, उसको भोजन जरूर करा देते थे। महाराज! एक दिन कुछ लोग रातके समय आये। उन्होंने पूछा कि कुछ खाओगे, पीओगे? तो वे लोग बोले कि महाराज, आज तो हम मालपूआ खानेके लिए आये हैं। अब ग्यारह बजे रातको मालपूआ कहाँ मिले?

'अब इस समय इतनी रात्रिको मालपूआ कहाँ मिलेगा?'—महात्माने दस गाली उनको सुनायी।

थोड़ी देरमें क्या हुआ कि एक आदमी एक टोकरी मालपूआ लेकर वहाँ आये! महात्माने कहा कि लो, खाओ। और हँसते-हँसते खिला दिया। रातको वे लोग वहीं सोये और सबेरे उठकर गंगा स्नान करने गये। जो गंगा स्नानके लिए निकले, तो दो घरोंमें लड़ाई हो रही थी। गौरसे उनलोगोंने सुना कि क्या लड़ाई हो रही है। एक स्त्री कह रही थी कि हमने दस आदमियोंके खानेके लिए मालपूआ बनाया था, वह चोरी हो गया। वह क्या हुआ? तुम ले गयी होगी! दूसरी स्त्री बोले कि हमको तो मालूम नहीं है! अब दोनोंमें खूब लड़ाई होवे! उन्होंने पता लगाया कि ये हैं कौन? तो वे दोनों स्त्री चमारिन थीं।

यह जो जादूके खेलमें माल आ जाता है, उसकी भी कीमत होती है! वह भी चोरीका माल होता है! वह तो भूत, प्रेत, पिशाच—बड़ी निम्र कोटिकी शक्तियोंकी यह करामात होती है। तो जादूका माल खाना नहीं चाहिए! उसका

उपयोग नहीं करना चाहिए। उसपर अपना हक नहीं होता। जैसे चोरीका माल लेनेका जितना दोष लगता है, उतना ही जादूके ख़ेलमें आये हुए मालको ग्रहण करनेका दोष लगता है!

एक बार मैं मोकलपुरके बाबाके पास गया। तो हमारे गाँवसे १३-१४ मील उनका स्थान पड़ा था और हम सबेरे चार-साढ़े चार बजे उठकर पैदल चलते थे और दसबजे तक उनके यहाँ पहुँचते थे। अच्छा, दूसरेकी बनायी रोटी खाते नहीं थे! तो माघका महीना था और देखो, वासना कैसी-कैसी होती है! मनमें आया कि कहीं आम मिल जाता तो हम खा लेते। बाबाके पास गये तो एक आदमी एक टोकरा आम लेकर आया। तो उन्होंने स्वयं चाकू ले कर तराशा, खिलाया और मैंने खाया। फिर बोले कि क्यों गुरु, आम खानेके लिए आते हो? देखो, हम १४ मील तो चले , इतना तो परिश्रम, इतनी जिज्ञासा, सत्संगकी इतनी श्रद्धा और वासना हुई आम खानेकी! तो उन्होंने तो कह ही दिया कि गुरु इतनी दूरसे आते हो, सिर्फ आम खानेके लिए! पर, एकबार क्या हुआ कि उन्हींके पास हम बैठे थे—मैं और चक्रजी थे। हमलोग सायंकाल आपसमें बातचीत कर रहे थे कि, ये बाबा जो हैं, ये जो चीज चाहें कहीं-न-कहींसे मँगा देते हैं, तो यह जिसके यहाँसे आती होगी, उसकी तो चोरी हुई न! हमलोग चोरीका माल खायेंगे तो हमारा अन्त:करण शुद्ध कैसे होगा? हमलोग तो अन्त:करणकी शुद्धिके मार्गपर चल रहे हैं! परस्पर ऐसा विचार करके जब हमलोग बाबाके पास गये तो बहुत नाराज हुए। लेकिन फिर हँसने लग गये और बोले कि तुम लोगोंका विचार ठीक है। ऐसा मुफ्तका माल नहीं खाना चाहिए।

तो यह क्या है? इसका नाम है 'माया'। 'माया' माने जादू, इन्द्रजाल। जो चीज न होवे और दिखे। जैसे रस्सीमें साँप, आकाशमें नीलिमा, द्रष्टामें परिच्छिन्नता। यह आप ध्यानमें रखो! आकाशमें नीलिमा जैसे विवर्त है और रज्जुमें सर्प जैसे विवर्त है, द्रष्टामें परिच्छिन्नता वैसा ही विवर्त है। जो द्रष्टा है, वह कालका द्रष्टा है, इसलिए अविनाशी है। जो द्रष्टा है, वह देशका द्रष्टा है, इसलिए पूर्ण है और जो द्रष्टा है वह भेदका द्रष्टा है इसलिए विषयोंसे परे है। तो देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित जो द्रष्टा है, वह जब अपनेको परिच्छिन्न देखता है, तो यह परिच्छिन्नता उसका विवर्त है। माने '*विरुद्धं वर्तनं*'—विरुद्ध बर्ताव है। अपने स्वरूपसे बिलकुल विरुद्ध दिखायी पड़ रहा है।

अच्छा, परमात्मा क्या कोई जादूका खेल करके बताता है?

अरे, नहीं भाई, जादूका खेल भी नहीं करता है। उसमें कौन करे और कौन किया जाय? तब फिर बात क्या है? बात यह है कि जो-जो कल्पना तुम परमेश्वरमें करोगे, वह-वह अवगत होगी। इसलिए, तुम्हारी दृष्टिसे ही तुम्हारी कल्पना असंगत होनेके कारण तुम्हारे मतमें सृष्टिकी प्रक्रिया अनिर्वचनीय होगी। और, हमारे मतमें बोले कि ***'स्वयंप्रकाशे ब्रह्मणि सुखमास्महे'***—हम स्वयं-प्रकाश ब्रह्ममें बड़ी मौजसे बैठे हुए हैं।

'स एव देवः'—तो देखो, दूसरा कोई प्रकाशक नहीं है, दूसरा कोई कर्ता नहीं है, दूसरा कोई मसाला नहीं है, दूसरा कोई औजार नहीं है और जो चीज यह सृष्टि मालूम पड़ रही है, यह जहाँ मालूम पड़ रही है, वहाँ है नहीं। और,

स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः।

बोले कि यह प्रमाता कौन है? 'प्रमाता' माने जानकार। जो आँखसे रुमालको देखता है, तो रुमाल हुआ प्रमेय और आँख हुई प्रमाण और आँखके पीछे बैठकर जो आँखके झरोखेसे झाँक रहा है, उसको 'प्रमाता' कहते हैं। तो ये व्यवहारमें तीन मालूम पड़ता है न! परन्तु, ये कहते हैं कि नहीं, वही तो रुमालके रूपमें प्रमेय है, प्रमाणके रूपमें आँख भी वही है और आँखके भीतर बैठकर देखने वाला जो अहं है, सो भी वही है!

'स एव बुध्यते भेदान्'—वही भेदोंको समझता है। **'इति वेदान्त निश्चयः'**—वेदान्तका यह निश्चय है।

'चाय' क्या है? पत्तियोंका रस ही तो है। पत्तीको उबालकर पत्ती फेंक दी और उसका जो निचोड़ है, रस है, वह पानीमें आ गया। इसीको 'चाय' बोलते हैं। तो 'निश्चय' क्या है? दुनियाकी जो वस्तुएं हैं, उनका जब सार-सार निचोड़ा जाता है, **'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'**—वेदमें आया 'निचाय्य'—उसमें दूध नहीं, शक्कर नहीं, पानी नहीं। बौद्धिक है!

तो बोले भाई कि तब तो बुद्धिके पीछे कोई बुद्धिको देखनेवाला रहेगा? नहीं, यह वेदान्तनिश्चय है। 'वेद' माने ज्ञान और उसका अन्त जहाँ हो जाता है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मिट जाता है, वहाँ यह बैठनेवाला वेदान्त और उसका यह निश्चय है!

श्रीशंकराचार्य महाराज कहते हैं कि, **स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन्।**

यह परिणामवाद नहीं है, यह विवर्त है। यह बात बतायी। तो मायाके द्वारसे

यह चिदात्मा, जगत्‌का निर्माता है, वस्तुतः कर्तृत्वके द्वारा निर्माता नहीं है और प्रमाता आदि जो भेद हैं, वे व्यर्थ हैं और आत्माका अस्तित्व अखण्ड है। कैसे अखण्ड है?

बोले कि, *'न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिव'*। जो यह हमको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि 'यह रुमाल है', 'यह मेज है', 'यह घड़ी है'—यह किसको होता है? जिसको होता है, उसकी सत्ता अक्षुण्ण है। और, कलके हुए ज्ञानकी याद किसको आती है? जिसको याद आती है, उसकी सत्ता अक्षुण्ण है। वह कल भी था और आज भी है। कल देखा और आज देख रहा है। तो कल देखे हुएकी याद आ रही है और आज देख रहा है! कौन है वह? आप गड़बड़ाध्यायमें नहीं पड़ना। वृत्ति अनेक होती हैं और उनका प्रकाशक आश्रय एक होता है और स्मृतियाँ बहुत-सी होती हैं और उनका प्रकाशक आश्रय एक होता है। हमको कितनी बातोंकी याद आती है! *'स्मर्यते मया बाल्ये कृतं कंदुकखेलनम्'*—बचपनमें मैंने गेंद खेली थी, उसकी याद आती है। तो बचपनसे अब तक मैं यदि एक नहीं होता तो कैसे याद आती? मैं ही स्त्रियोंको देख रहा हूँ और मैं ही पुरुषोंको देख रहा हूँ! यदि दोनोंके प्रत्यक्षका आश्रय मैं नहीं होता, तो कैसे देखता?

आप समझो कि इसी तरहसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी स्थिति और प्रलय होते हैं और ये आत्म देव जो हैं, एकदम साक्षी—साक्षात् पश्यति—देखते हैं। और, द्रष्टाके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। दृश्यके भेदमें स्व-साक्षिक प्रमाण है। हम ही अनेक पदार्थोंको देखते हैं। परन्तु, मेरे बिना वे कुछ नहीं हैं। लेकिन 'मैं' अनेक हूँ, इसमें कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि, चेतनदृश्य नहीं होता। दृश्य नहीं होनेसे उसके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। देशका साक्षी होनेसे पूर्ण है, कालका साक्षी होनेसे अविनाशी है, वस्तुका साक्षी होनेसे वस्तु भेदसे परे है और साक्षी होनेसे चेतन है और यदि चेतन अनेक हो तो उस अनेकताका भी साक्षी होनेसे एक है। ऐसा यह अखण्ड अपना आत्मा है।

☆

पदार्थ-कल्पनाकी विधि

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः॥ १३॥

बताते हैं कि किस प्रकार ये आत्मदेव संकल्पकी कल्पना करते हैं! आप जानते होंगे कि कल्पना, कल्पवृक्ष, संकल्प, क्लृप्ति—यह सब एक-ही वस्तु है। तो यह क्या है?

'विकरोति नाना करोति अपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थादीन्'

पदार्थकी वासना हृदयमें बैठी हुई है। एक 'पद' होता है और एक 'पदार्थ' होता है। जैसे हम बोलते हैं, 'रुमाल'। तो एक रुमाल हाथमें है और एक 'रुमाल' शब्द मुँहमें है। तो मुँहसे बोला हुआ जो शब्द है, वह 'रुमाल' पद है और हाथमें जो है, यह पदार्थ है, अर्थ है और इस शब्दका यह अर्थ है, यह ज्ञान हृदयमें है। और, जब समाधि लगती है, तब क्या होता है? यह ज्ञानमें शब्द और अर्थका जो भेद है, वह मिट जाता है। न वहाँ शब्दकी फुरणा है, न अर्थकी फुरणा है। केवल ज्ञान-ज्ञान है!

यह देखो, तीन अवस्था हो गयी—एक, रुमाल वस्तु अवस्था, एक रुमाल शब्द-अवस्था और एक रुमाल ज्ञान-अवस्था। लेकिन जब रुमाल पदार्थ, रुमाल पद और रुमाल-ऐसा ज्ञान, तीनों ऐसी दशामें पहुँच जाते हैं, जहाँ पद, पदार्थ और ज्ञानका भेद नहीं रहता! उसको योग-दर्शनकी रीतिसे 'समाधि' बोलते हैं। बोले भाई कि इसीका नाम वेदान्त-ज्ञान होगा? अरे, राधेश्याम कहो! इसका नाम वेदान्त नहीं, इसका नाम ज्ञान नहीं! यह तो योग-दर्शनकी समाधि है। बोले कि हमको दर्शन हो रहा है! तो निराकारका दर्शन हो रहा है कि साकारका दर्शन हो रहा है? निराकार और साकार—ये दर्शनके विषय हैं। यह दर्शनका स्वरूप नहीं है। जो

चीज दिखी और चली गयी वह तो मेहमान हुई, अपना स्वरूप थोड़े-ही हुई! समाधि आयी और गयी, निराकार मालूम पड़ा और गया, साकार आया और गया।

साधो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहि जाके, ना कछु गया न आया॥

सुषुप्ति आती है, जाती है; स्वप्न आता है और जाता है, जाग्रत् आती है और जाती है, समाधि आती है, जाती है; वृत्तियाँ आती हैं, जाती हैं। और स्वयं? '*न कछु गया न आया*'। इसीको 'स्वयं' बोलते हैं। देखो, ऐसे बोलेंगे कि माधवजीने स्वयं किया, दादाजीने स्वयं किया स्वामीजीने स्वयं किया। यह तीनोंमें 'स्वयं' नामकी एक चीज है न! माधवजी अलग, दादाजी अलग और स्वामीजी अलग। और, यह 'स्वयं' क्या है, जो तीनोंका 'स्वयं' है! मैंने स्वयं कहा, मैंने स्वयं किया; तुमने स्वयं कहा, स्वयं किया। इसका मतलब है कि मुझमें भी कोई 'स्वयं' नामकी चीज है और तुममें भी कोई 'स्वयं' नामकी चीज है। यह 'स्वयंता' क्या है? उपाधिसहित 'मैं' को हटाकर, उपाधिसहित 'तुम' को हटाकर, उपाधिसहित 'वह' को हटाकर, उपाधिसहित 'यह' को हटाकर वह स्वयंता नामकी एक ऐसी चीज है, जो सबमें है! तो यह जो स्वयंता है, यह परमात्माका स्वरूप है।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।

अन्तश्चित्तमें, अपने चित्तके भीतरी भागमें जो जमे हुए लौकिक भावरूप अव्याकृत पदार्थ हैं, उनको नाना करके हम बाहर दिखा देते हैं।

वृन्दावनमें एक लड़का आता है। वह तमाशा दिखाता है। एक डिब्बा ले आया। देखनेसे तो मालूम हुआ कि एक डिब्बा इसके हाथमें है उस डिब्बेमें-से दूसरा डिब्बा निकाला। फिर उसमेंसे एक डिब्बा और निकाला फिर एक और निकाला! अब लोग आश्चर्य चकित हो जाते कि डिब्बेके भीतर क्या है भाई? बीस डिब्बे निकाले। एक डिब्बेमें बीस बंद करके रखे हुए थे।

यह जो हमारा चित्त है, यह हजारों लौकिक भाव, हजारों शब्द वासना रूपसे अपनेमें बन्द किये हैं। जिनका मालूम नहीं पड़ता कि कहाँ है? यह चीज कहाँ थी और एकाएक याद आ गयी? बस, इसका जबाव दो! एक मिनट पहले भी यह मालूम नहीं पड़ता था कि यह बात हमारे मनमें है! यह बात कहाँसे मनमें आगयी? तो वासना रूपसे, बिना नाम, रूपके सारी बातें हमारे मनमें छिपी रहती हैं। अरे, यहाँ तक कि यह जो बाहर मिट्टी, पानी, आग, हवा है—जो सब नियत रूपसे रहते हैं कि वही मिट्टी है, वही पानी है, वही अग्नि है। ये हमारे कल्पक

प्रभुकी ऐसी कल्पना है, ये आत्मदेवकी ऐसी कल्पना है कि बाहर और भीतर दोनोंको यही बनाते हैं।

देखो, सपनेमें भी तो बाहर-भीतर मालूम पड़ता है न! सपनेमें मालूम पड़ता है कि यह जो राग है, वह हमारे शरीरके भीतर है और जो रागास्पद है, वह शरीरसे बाहर है। जैसे स्वप्नमें मालूम पड़ता है कि नहीं कि यह गंगाजी बाहर बह रही हैं और उनमें स्नानसे पुण्य होगा—ऐसी जो भावना है, वह कहाँ है? हमारे हृदयमें है! अब सपनेमें क्या बाहर-भीतर, दो चीज होती है? सपनेमें बाहर-भीतर दो चीज नहीं होती।

इसी प्रकार, यह जो प्रभु है—प्रभवन-समर्थ—इसकी यह बाहर-भीतरकी कल्पना ही है, जिससे यह समूची सृष्टि भास रही है। अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं है! किसीकी चोरी करोगे तो अपनी ही चोरी करोगे। किसीको गाली दोगे तो अपनेको ही गाली होगे! किसीके साथ अन्याय करोगे तो अपने साथ ही अन्याय करोगे! उसके फलसे बच नहीं सकते! जब उसका कर्तृत्व होगा, तो भोक्तृत्व भी अवश्य होगा। असलमें कर्मका सिद्धान्त है कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। अद्भुत लीला है, कर्म-सिद्धान्तकी! गाली, जिसको दी जाती है, उसको नहीं लगती। गाली, जो देता है उसको लगती है! यह कर्मका सिद्धान्त है। चोरी जिसकी की जाती है, उसकी नहीं होती है। चोरी जो करता है, असलमें उसीकी चोरी होती है! उसके हृदयमें जो सद्‌भाव था, सो चला गया। बड़ी भारी चोरी हो गयी।

यह आत्मा एक है, इस सिद्धान्तका जो परिणाम निकलता है, जो फल निकलता है, जो जीवनमें प्रकट होता है—उसका रूप दूसरा है।

अच्छा, आत्माका नाम 'प्रभु' है। 'प्रभु' का एक अर्थ आपको और सुनाते हैं। आत्माको 'प्रभु' क्यों कहते हैं? ये बीती हुई परिस्थितियोंके लिए रोता नहीं है! इसके लिए संस्कृतभाषामें ऐसे बोला जाता है **'उपाध्यसंसृष्टत्वम्'**। एक प्रभु हैं माने राजा है। उसका सेनापति बदल गया, कोषाध्यक्ष बदल गया, दीवान बदल गया, बेटा भी अलग हो कर रहने लग गया, महारानीजी भी रूठ गयीं। ये उसकी उपाधि हैं। ये जो सप्त-प्रकृति हैं, ये उपाधि हैं और आत्मा जो है, वह प्रभु है, राजा है। तो राजा उसको कहते हैं कि जो महारानीके काबूमें न हो। अगर महारानी राजाको अपना नाच-नचाने लग जाय, जो कहे सो ही राजाको करना पड़े; तब वह राजा राजा नहीं रहा। वह दीन-हीन हो गया। बेटेने कहा कि देखो, हमारे मित्रका काम है पिताजी, आपको करना ही पड़ेगा! तो जब पुत्रके काबूमें पिता हो गया, तो

राजा नहीं रहा। सेनाध्यक्षने कहा कि महाराज, करो यह काम; नहीं तो हम विद्रोह कर देंगे! मन्त्रीने कहा हम शत्रुसे मिल जायेंगे! तो राजा राजा नहीं है! राजा वह है, जो कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, मन्त्री, धर्माध्यक्ष–सबके साथ रहकर भी उनके साथ मिल न जाय। इतना राग–द्वेष, मोह ग्रस्त न हो जाय कि उन्हींकी बातको बिलकुल सच्ची माने! वही करे। राजा ऐसा नहीं होना चाहिए। नहीं तो 'प्रभु' का प्रभुत्व नहीं रहेगा।

तो यह आत्मा जो है, यह प्रभु है। 'प्रभु' का अभिप्राय यह है कि आँखने कहा कि चलो यह देखनेके लिए। तो आँखकी बातमें आकर वहाँ चला न जाय। स्वयं देख ले कि वहाँ जाना उचित है कि नहीं, धर्म है कि नहीं, हित है कि नहीं; तब जाय वहाँ। मनने कहा कि यह भोगो। हाथने कहा कि यह करो। कर्माध्यक्ष हाथ है, दर्शनाध्यक्ष नेत्र है, यातायात मन्त्री पाँव है। तो खुद विचारवान् होना चाहिए। किसीकी बातोंमें नहीं आना चाहिए।

तो उपाधिसे संसृष्ट न होना माने राजा केवल राजकुमारकी बातमें, महारानीकी बातमें, दीवान, कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, धर्माध्यक्षकी बातमें फँस करके वही काम न करने लग जाय। उसका स्वातन्त्र्य बना रहे। तो यह जो राजाका स्वातन्त्र्य है, वही आत्माका स्वातन्त्र्य है। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियोंके चक्करमें, विषयके चक्करमें मनमें रहनेवाले राग-द्वेषके चक्करमें, किसी मनोरथमें फँसी हुई बुद्धिके चक्करमें आत्मदेवको नहीं पड़ना चाहिए।

एक स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि चलो, दिल्ली चलें। पतिने पूछा कि क्यों भई, आखिर दिल्ली क्यों चलें? तो उसने बीस काम बताये। पर मतलब क्या था उसका? उसका कोई यार दिल्लीमें था और उससे मिलनेके लिए जाना चाहती थी। तो स्त्रीकी बातोंमें आकर जो पति दिल्ली चला गया, वह असंसृष्ट नहीं है और जो समझता है कि इसका विचार क्या है, मनोरथ क्या है, वह उसके साथ नहीं जायेगा। आत्माश्रय, आत्माकार, आत्मनिष्ठ जो बुद्धि है, उसकी बात माननी चाहिए और जो मनोरथाश्लिष्ट, मनोरथाक्रान्त, मनोरथनिष्ठ बुद्धि है, उसकी बात नहीं माननी चाहिए। यही आत्माका प्रभुत्व है।

तो इसीलिए बोलते हैं कि ये आत्मदेव प्रभु हैं। ये बदलती हुई परिस्थितियोंको सम्भाल सकते हैं। सम्भाल सकना माने जो आया सो आया; जो गया सो गया। हजारों मिलते हैं, हजारों आते हैं, हजारों जाते हैं। सृष्टिका यही नियम है। आँख कभी खुली रहती है, कभी बन्द रहती है। जीभ कभी बोलती है, कभी

मौन रहती है। पाँव कभी चलते हैं, कभी बैठते हैं। हाथ कभी काम करते हैं, कभी नहीं करते हैं और, आत्मदेव एकरूप साक्षी हैं। इसीको बोलते हैं 'प्रभु'। *प्रकर्षेण भवति।*

स्त्रीका आत्मा भी प्रभु है, पुरुषका आत्मा भी प्रभु है। सबकी आत्मा प्रभु है। तो बोले कि ये क्या करते हैं?

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।

'अन्तश्चित्ते'—चित्तके अन्दरके भीतरके बीचके माये। आजकलका संस्कृतका पण्डित जब 'चित्ते' बोल देगा तो 'अन्तर' नहीं बोलेगा और जब 'अन्तर' बोल देगा तो 'चित्ते' नहीं बोलेगा। ये कहते हैं, नहीं, चित्तके अन्तरमें, दो बार हो गया न। एक तो चित्त हुआ, एक चित्तमें हुआ, चित्तके अन्तरमें हुआ। तो चित्तके अन्तरंगमें विराजमान् अव्याकृत, बिना-रूपके जो संस्कार बैठे हुए हैं, उनको यही भीतरसे प्रकट कर देता है और बाहर, बहिश्चित्ते—यह धरती, पानी, आग, समुद्र, शहर आदि जो हैं—इनको भी यही प्रकट कर देता है। सारी बाहरी और भीतरी सृष्टिका निर्माता भीतर बैठा हुआ आत्मदेव ही है।

अच्छा, पत्नी किसने बनाया? पति किसने बनाया? यह पुत्र किसने बनाया? भ्राता किसने बनाया? पिता किसने बनाया? पिता प्रत्यक्ष नहीं होता। बनाना ही पड़ता है कि ये हमारे पिता हैं। माता भी प्रत्यक्ष नहीं होती। बच्चा जब पैदा होता है, तब उसको क्या पता कि कहाँ पर है? किससे पैदा हुआ, क्या मालूम पड़े? माता, पिता, पुत्र, पत्नी, पति, शत्रु, मित्र—यह सब—*संसारः मनसा कृतः*—अपने मनकी गढ़ी हुई दुनिया है। बाहर भी यही गढ़ रहे हैं और भीतर भी यही गढ़ रहे हैं।

तो, सामने कपड़ेका पर्दा नहीं, रंग नहीं, तूलिका नहीं, हाथ नहीं और अद्भुत तस्वीर बना देते हैं, यह आत्मदेव।

'निरुपादानसंभ्रमं अभित्तावेव तन्वते जगत् चित्रं नमस्तस्मै जलाश्लाघयायसूरिने'।

कोई मसाला नहीं है, रंग नहीं है, कोई प्रयत्न नहीं है और भीत भी नहीं है और जगत्‌की तस्वीर बना दी। किसने? बोले कि आत्मदेवने! कितना बड़ा कलाकार! फिर हँसो उसके लिए, रोओ उसके लिए, मरो उसके लिए, जरो उसके लिए। कैसी विडम्बना है?

कल्पिता एव ते सर्वे

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः॥ १४॥

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते।

अब एक आशङ्का करते हैं कि जब यह कहते हो कि जैसा सपना होता है, वैसा ही शरीरसे बाहर दिख रहा है। तो इसपर शङ्का होती है कि, 'चित्तकाला हि येऽन्तस्तु'—भीतर जितनी वस्तु होती है, वह एक चित्तकाल होती है। माने यावत्काल कल्पना है, तावत्काल वस्तु है। कल्पनासे अतिरिक्त कालमें सपनेकी वस्तु नहीं होती। सपनेमें जो भी चीज दिखायी पड़ती है, जब तक मालूम पड़ेगी तब तक है और जब नहीं मालूम पड़े, तब नहीं है। मालूम पड़ना ही स्वप्नकी वस्तुका जीवनकाल है। लेकिन, बाहर जो चीज है, वह वैसी नहीं है। जैसे, आदमी गाय दुह रहा है। तो जब तक मालूम पड़ेगा कि गाय दुह रहा है, तभी तक गाय दुह रहा है? नहीं! जब तक गाय दुहता है, तक मालूम पड़ता है, जबतक मालूम पड़ता है तबतक गाय दुहता है। दोनोंका सम्बन्ध होता है। सो जाग्रत् और स्वप्नमें फर्क पड़ गया। क्या फर्क पड़ गया? सपनेमें तो मालूम पड़ना ही प्रधान है, वस्तु प्रधान नहीं है और जाग्रत्-कालमें वस्तु भी प्रधान है। बोले कि गुड़का स्वाद कब तक आवे? जब तक मालूम पड़े। भई, गुड़का स्वाद कब तक मालूम पड़े? जब तक खायें, जब तक मुँहमें गुड़ रहे, तब तक स्वाद मालूम पड़े।

मतलब यह हुआ कि जाग्रत्-अवस्थामें वस्तु भी होती है और मालूम पड़ना भी होता है और स्वप्नमें केवल मालूम पड़ना होता है, वस्तु नहीं होती है। इसलिए, स्वप्नकाल एक काल है, एकल है, अकेला है और जाग्रत्-काल द्विकाल, द्विबल है, डबल है। जाग्रत्में वस्तुके अनुसार मालूम पड़ना और मालूम पड़नेके अनुसार वस्तु। और, सपनेमें मालूम पड़नेके अनुसार वस्तु और वस्तुके अनुसार मालूम पड़ना नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्में भेद हुआ।

इसके सम्बन्धमें शास्त्रमें बहुत विचार हैं। दुनियादार लोगोंको तो वही विचार सूझता है जिससे नून-तेल-लकड़ी मिले। सेठ लोग तो पूछेंगे कि यह सब सोचनेमें क्या फायदा है? मैंने आपलोगोंको कई बार सुनाया कि हम वृन्दावनमें परमहंस आश्रममें रहते थे। हाथी बाबा बैठे थे और भी महात्मा थे। एक सेठ आया, तो उसने पूछा कि राम-राम कहनेसे क्या फायदा है? तो हाथी बाबा बोले कि यह बनिया है, बनिया! माने बिना फायदेका कोई काम नहीं करना चाहता है।

सचमुच क्या मनुष्य इतना स्वार्थी है कि कोई लाभ न हो तो कोई काम ही न करे। अपना स्वभाव कुछ नहीं है? मनुष्यका स्वभाव सिर्फ लाभ उठानेका स्वभाव है, सिर्फ लोभी स्वभाव है? बिना लाभके, बिना लोभके मनुष्य कुछ करे ही नहीं? क्या मनुष्य सचमुच इतना पतित है? जो लोग पूछते हैं कि ऐसा करनेमें क्या फायदा है? उन्होंने यह निर्णय कर लिया कि मनुष्यका स्वभाव सिर्फ लाभ उठानेके लिए है, सिर्फ लोभको पूरा करनेके लिए है। कितना संकीर्ण, कितना छोटा दृष्टिकोण है। अरे भाई, बिना लाभ एवं बिना लोभके, बिना भोगके, बिना रोगकी निवृत्तिके एक सत्य होता है, जिसको समझनेकी कोशिश की जाती है।

अच्छा, यह प्रश्न कि इससे क्या लाभ है, उठता कि न लोगोंको है? जो लोग सन्ध्या-वन्दन नहीं करते, उन्हींको उठता है। अगर बचपनसे रोज सन्ध्या-वन्दन करें तो यह प्रश्न कम-से-कम नहीं आवे कि बिना लाभके, बिना लोभके कोई काम नहीं करना चहिए। निष्काम-कर्मका जीवनमें अवतरण है, 'सन्ध्या-वन्दन'।

तो, बात यह है कि चाहे स्वप्न हो, चाहे जाग्रत् 'कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः'।

अच्छा जी, जाग्रत्में हम जैसा देखते हैं, वैसा स्वप्नमें नहीं देखते हैं क्या? एक दिन एक सज्जनने देखा कि हम गाय दुह रहे हैं। तो एक महात्मा केवल कौपीन लगाये हुए, श्याम वर्ण बिखरी जटा, बड़े मस्ताने—आकर खड़े हो गये। अब जब तक हमने गायका दोहन किया, तब वे खड़े रहे। जब तक वे खड़े रहे,

तब तक उन्होंने गाय दुह लिया। अब यहाँ देखो, वह महात्माका आना, खड़ा रहना, गायका दोहना कितनी देर है? यही न मालूम पड़ता है कि उतनी देर उन सज्जनको मालूम पड़ा और जितनी देर मालूम पड़ा, उतनी देर गायका दोहना और वह महात्मा रहे। वहाँ भी मालूम पड़ना भीतर था और गायका दोहना और महात्मा—दोनों बाहर थे। वहाँ भी यही मालूम पड़ा न कि घड़ी टिक-टिक चल रही है। आठ मिनट तक गाय दुहते रहे और आठ मिनट तक महात्मा खड़े रहे।

अब देखो कि स्वप्नमें भी तो बाहर-भीतर मालूम पड़ता है कि यह बाहर है और यह भीतर है। अच्छा, सपनेमें भी मनोरथ होता है, वह भीतर मालूम पड़ता है और कोई काम होता है, वह बाहर मालूम पड़ता है। पर, यह तो मालूम ही तो पड़ता है न! तो इसके सम्बन्धमें प्रस्तार जो करते हैं, माने फैलाकर जब बोलते हैं तो कैसे बोलते हैं? ऐसे बोलते हैं, 'भात्वा भवति'—पहले कोई चीज मालूम पड़ती है, फिर होती है और, 'भूत्वाभाति'—पहले कोई चीज होती है, फिर मालूम पड़ती है। मालूम पड़ती है, तब होती है और हो लेती है, तब मालूम पड़ती है। बोले कि नहीं, होना भी अनादि है और मालूम पड़ना भी अनादि है। इसमें क्या फर्क है, सो देखो। होकर मालूम पड़ता है। माने पहले सत्ता थी, फिर ज्ञान पैदा हुआ और, मालूम पड़कर, तब होता है। माने पहले ज्ञान है, पीछे सत्ता है। फिर यह हुआ कि सत्ता और ज्ञान—दोनों अलग-अलग अनादि हैं। अब आप सारे दर्शनोंको इसमें देख लो।

जितने नास्तिकवादी दर्शन हैं, वे कहते हैं कि वस्तु पहले थी, उसमेंसे मालूम पड़ना माने चेतना बादमें पैदा हुई और जितने आस्तिकवादी दर्शन हैं—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई—वे कहते हैं कि पहले मालूम पड़ना माने पहले ज्ञान था। पहले ईश्वर था, उससे 'होना' पैदा हुआ, सृष्टि पैदा हुई।

तो सत्से ज्ञान पैदा हुआ कि ज्ञानसे सत् पैदा हुआ? अब देखो, तीसरे दर्शनवाले—सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, जैन—कहते हैं कि होना और मालूम पड़ना—सत्ता और भाति दोनों अलग-अलग, किन्तु अनादि हैं। बौद्ध कहते हैं कि दोनों 'मिथ्या' हैं। न कुछ है और न कुछ मालूम पड़ता है। न कोई स्थिर ज्ञान है, न कोई स्थिर सत्ता है। यह तो क्षणिक विज्ञान ही अस्ति और भातिके रूपमें मालूम पड़ता है कि 'है' और मालूम पड़ता है। एक विज्ञानकी सन्तान-परम्परा चल रही है।

वेदान्ती कहते हैं कि ज्ञान और सत्ता—दोनों एक ही है, अलग-अलग नहीं हैं। जो मालूम पड़ना है, सो वस्तु है और जो वस्तु है, सो मालूम पड़ना है। जैसे

स्वप्न-कालमें मालूम पड़ना और वस्तु पृथक्, पृथक् नहीं है, वैसे-ही जाग्रत्-कालमें भी मालूम पड़ना और वस्तु—ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जो ज्ञान है, सो ही सत्ता है और जो सत्ता है, सो ही ज्ञान है। आत्मासे पृथक् प्रपञ्च नामकी कोई वस्तु नहीं है। ऐसा क्यों भाई? ऐसे बोलो न कि प्रपञ्चसे अलग आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है। तो ऐसे नहीं बोल सकते। क्यों नहीं बोल सकते? मैं नहीं हूँ—यह तो अनुभव होता नहीं और दुनिया नहीं है, ऐसा अनुभव होगा। इसलिए, 'मैं' जो हैं, यह ज्ञान स्वरूप अखण्ड सत्ता है और 'मैं' के अतिरिक्त जो भासता है, वह न ज्ञान है न सत्ता है। एक परमात्मा ही सत्ता है, एक परमात्मा ही ज्ञान है। इसलिए, जो जुदा मालूम पड़ता है—देश—जो हमारे-तुम्हारे बीच जगह है, काल—जो हमारी-तुम्हारी उम्र है और वस्तु—हमारा-तुम्हारा जो वजन है—ये सब आत्मसत्ताके अतिरिक्त नहीं है। माने यह जो आत्मा है, यह अखण्ड ब्रह्म है।

कल्पिता एव ते सर्वे—अपनेसे जुदा जो है, वह सबका सब कल्पित है।

विशेषो नान्यहेतुकः—*कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतो विशेषो नास्ति।* केवल कल्पनाके सिवाय और कोई फर्क नहीं है। यह जो तुमने कल्पना कर ली कि यह मैं और यह तू—यह भेद मिथ्या है।

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे॥ १५॥

जो स्वप्नमें भीतर अव्यक्त रूपसे रहते हैं—वे सब कल्पित ही हैं। विशेष यही है कि सपनेमें भी मालूम पड़ता है कि यह भीतर है और यह बाहर है; और जाग्रत्में भी मालूम पड़ता है कि यह भीतर है और यह बाहर है।



पदार्थ-कल्पनाका मूल : जीव-कल्पना

> जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
> बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः॥ १६॥

अब बताते हैं कि यह बाहर है और यह भीतर है—बाहरसे भीतरकी कल्पना होती है और भीतरसे बाहरकी कल्पना होती है; तो इनमें मूल क्या है? मूल यह है कि अपना ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। अपने आपको जान लेते, तो यह सारी कल्पना कट जाती।

जीवं कल्पयते—अपनेको जीव कल्पित कर लिया। अपने बारेमें पहले जब कल्पना कर लेते हैं, तब दूसरेके बारेमें कल्पना करते हैं। यही कल्पनाकी पद्धति है। भई, अपने बारेमें कैसे कल्पना करते हैं? जबतक खुद चेले नहीं बनेंगे, तब तक गुरु कैसे बनेगा? अपनेको शिष्य रूपमें मानेंगे, तब तो गुरुकी कल्पना होगी।

आप समझो कि जैसे 'आत्मा' शब्द है तो 'आत्मा' शब्द द्रष्टाके लिए है। और, एक 'ब्रह्म' शब्द है— वह अखण्डताका सूचक है। अब देखो, 'जीव' शब्द जो है, वह सबको जीवन देनेवाला बीजरूप है। तो जैसे चनेके बीजमें-से चनेका पौध निकलता है, गेहूँके बीजमें-से गेहूँका पौध निकलता है। जहाँ जड़तामें कारणका निर्देश करते हैं, वहाँ उसको 'बीज' बोलते हैं और चेतनमें जब इस बीजावस्थाकी कल्पना करते हैं—हाथका बीज, नाकका बीज, आँखका बीज, जीभका बीज, पाँवका बीज, मनका बीज, बुद्धिका बीज जिस चेतनमें लगा हुआ है, उसका 'जीव' बोलते हैं। तो, यह उलटकर एक ही शब्दको 'बीज' और

'जीव' क्यों रखा? जड़ताकी प्रधानतासे उसको 'बीज' कह दिया और चेतनताकी प्रधानतासे उसको 'जीव' कह दिया। तो कार्य-कारणभावापन्न जो चैतन्य है, उसको 'जीव' बोलते हैं और केवल जो द्रष्टा-चैतन्य है, कूटस्थ-चैतन्य है, उसको 'आत्मा' बोलते हैं और उसकी अखण्डताका द्योतक 'ब्रह्म' शब्द है।

यह इसलिए आपको सुनाता हूँ कि आजकल वेदान्तका बाजार है, बहुत गर्म है। एक महात्मा गङ्गा किनारे आते थे। हमलोग दर्शन करने जाते तो उनसे कहते कि महाराज! कुछ उपदेश करो। कभी-कभी भूखे रहकर पैदल मीलों चलकर जाते थे। वे बोलते कि देखो भई, यहाँ तो अद्वैतका बाजार है। इस दूकानपर से तुमको अद्वैतके सिवाय दूसरी कोई चीज मिल नहीं सकती। यह परचूनकी दूकान नहीं है।

यह अद्वैतका बाजार बड़ा गर्म है ! लोग इसमें केवल अहमर्थका अनुसन्धान करके कहते हैं कि और कुछ नहीं, भोगका द्रष्टा 'मैं', कर्मका द्रष्टा 'मैं', इन्द्रियोंका द्रष्टा 'मैं', मन-बुद्धिका द्रष्टा 'मैं' और बस अपने स्वरूपमें पहुँचकर शान्त हो गये। असली जो वेदान्त इस अनुसन्धानमें तीन गलती बताता है—

एक तो जिस दृश्यसे तुम अलग हुए कि मैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका द्रष्टा हूँ और ये दृश्य हैं, अत: मैं इनसे न्यारा हूँ; मैं कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियोंका द्रष्टा हूँ, इनसे न्यारा हूँ; मैं अन्त:करणका द्रष्टा हूँ, इससे न्यारा हूँ; मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा हूँ, इससे न्यारा हूँ, मैं अन्नमय, प्राणमय आदि कोशोंका द्रष्टा हूँ और इनसे न्यारा हूँ। इसमें एक गलती यह रह गयी कि तुम तो न्यारे हो गये बेचारों को छोड़कर अनाथ। ये कौन हैं, यह तुमको मालूम हुआ कि नहीं? ये कहाँसे आये हैं और कहाँ रह रहे हैं और कहाँ जायेंगे? जिनको छोड़कर तुम अलग हो गये हो, उन बेचारे अनाथोंकी क्या गति होगी? क्या तुमको ऐसा लगता है कि यह दृश्य मैंने ही बनाया था? मैंने इनको पाला था और मुझमें ही इनका लय होता है—क्या ऐसा मालूम होता है? तो जिससे सृष्टि होती है, उसका नाम 'द्रष्टा' नहीं होता। बापका नाम 'द्रष्टा' नहीं है। जो पालन करता है, उसका नाम 'द्रष्टा' है? नहीं, राजाका नाम 'द्रष्टा' नहीं है और जो मारता है, संहार करता है, उस रुद्रका नाम, शत्रुका नाम 'द्रष्टा' नहीं है। जो सृष्टि, स्थिति, संहारका कर्त्ता है, जिसने दृश्यकी सृष्टि की और सृष्टिका पालन किया और सृष्टिका संहार किया, वह कहाँ गया? कहो कि सृष्टि मुझमें-से निकली, मुझमें है, मुझमें समा जायेगी। तो तुम 'द्रष्टा' कहाँ हुए? तुम तो 'स्रष्टा' हुए। तुम भर्ता हुए, हर्ता हुए।

एक गलती इसमें यह आती है कि जो लोग अपनेको न्यारे, न्यारे, न्यारे करके द्रष्टा मान बैठते हैं, उनको सृष्टिकी संगति ठीक नहीं लगती है। या तो वे विचार-दुर्बल हैं, या उनकी साधना ठीक नहीं है।

दूसरी गलती उसमें क्या आती है कि जैसे तुम अपनेको द्रष्टा सोच रहे हो, वैसे दूसरा भी अपनेको द्रष्टा सोच रहा है। हजार वेदान्ती हैं, हजारों अपने-अपनेको द्रष्टा सोचते हैं। तो ये हजारों द्रष्टा एक हैं, इसका ज्ञान तुमको हुआ कि नहीं हुआ?

तो, जिस दृश्यसे अलग हुए, उस दृश्यकी क्या गति हुई, यह एक बात। और, तुम भी द्रष्टा, वह भी द्रष्टा; तो दो द्रष्टाओंकी क्या स्थिति हुई, दोनोंकी विभाजक रेखा क्या रही—यह दूसरी बात। अब तीसरी बात क्या है कि जब द्रष्टा और दृश्य सम्बन्ध कभी होता है और कभी नहीं होता है, कभी तो तुम दृश्यके साथ मिल जाते हो, कर्ता-भोक्ता बन जाते हो और कभी दृश्यसे न्यारे हो जाते हो। तो इन दोनोंका कोई नियन्ता है कि नहीं है? यह तुम्हारी जो दृश्यसे ऐकात्म्य होकर स्थिति है और दृश्यसे न्यारे होकर स्थिति है, इनमें कोई इनका नियन्ता है कि नहीं है? नहीं है, तो तुमको कैसे मालूम पड़ा? यह बताओ। और, अगर है, तो अद्वैतका बोध कैसे हुआ? यह बताओ।

समझदारी बढ़ानेके लिए यह आपके सामने पूर्व-पक्ष रखा। असलमें यह वक्ताके बतानेकी बात नहीं है। यह तो जो लोग वेदान्तके मार्गमें चलते हैं, उन्हींको यह प्रश्न उठाना चाहिए कि जिस दृश्यसे हम अपनेको न्यारे समझने लगे थे, वह दृश्य क्या हो गया? उसको किसने बनाया था? वह कैसे रह रहा था? वह कहाँ चला गया? उसको कोई बनानेवाला था कि अपने आप पैदा हो गया? ये सब प्रश्न तो जिज्ञासुकी बुद्धिमें स्वयं आने चाहिए थे। परन्तु, नहीं आया। नहीं आया, इसका अर्थ है कि अन्तःकरणकी जैसी शुद्धि होनी चाहिए थी, वेदान्तका विचार करनेके लिए जो योग्यता आनी चहिए थी, उस योग्यताका विकास नहीं हुआ था।

पहले बचपनमे मेरे मनमें कुछ गड़बड़ था। हम बोलते थे कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है। तो कुछ ऐसा ख्याल था कि हम तो देहधारी हैं और आत्मा कोई और होगा। यह बात कुछ दिन तक ख्यालमें रही। बादमें महात्माओंके सत्सङ्गसे मालूम पड़ा कि 'आत्मा' माने 'मैं', 'आत्मा' माने मैं खुद स्वयं, अपना आपा।

तो अपनेको अखण्ड ब्रह्मवस्तु न जानकर देहधारी जान लिया। एक शरीरका द्रष्टा जान लिया। महावाक्यका काम कहाँ है वह कहता है कि अपनेको

द्रष्टा जान लिया, ठीक है। तुम जानते हो कि तुम कूटस्थ हो, द्रष्टा हो और परमानन्द स्वरूप हो। ये तीन बातका ज्ञान जिनको हो गया। क्या? कि मैं कूटस्थ, निर्विकार सत् हूँ और मैं वृत्तिहीन निर्विषय स्वयंप्रकाश चित् हूँ और मैं विषयनिरपेक्ष, भोग्य-निरपेक्ष, भोक्तृ-निरपेक्ष परमानन्द स्वरूप हूँ—यह ज्ञान जिनको हो गया है, उसको महावाक्य कहता है कि तुम ब्रह्म हो।

आजकलके वेदान्ती तो यहाँ आते-आते अटक ही जाते हैं। अपनेको निर्विकार सत् जहाँ उन्होंने समझा, अपनेको जहाँ निर्विषय चित् समझा, अपनेको जहाँ भोग्य-निरपेक्ष आनन्द समझा, बोले कि बस-बस, मैं द्रष्टा हूँ, मैं कूटस्थ हूँ। अटक गये वह तो। न-अटक भाई! यह है नाटक। अटकेगा तो जायेगा भटक।

तो, जिसको यह बोध हो गया कि मैं निर्विषय आनन्द हूँ, मैं स्वयं प्रकाश चित् हूँ, मैं निर्विकार,कूटस्थ द्रष्टा हूँ—उसको वेदान्तका महावाक्य बताता है कि भले मानुष, तुम केवल जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके द्रष्टा नहीं। केवल अन्नमय, प्राणमय आदि कोशसे विलक्षण नहीं। तुम तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके जो निर्माता, कर्ता, भर्ता, हर्ता ईश्वर है, उस ईश्वरकी भी उपाधिका तिरस्कार कर देनेपर जो 'तत्' पद लक्ष्यार्थवस्तु है, वह हो। माने तुम्हारे अन्दर यह ब्रह्माण्डोंका जो कर्ता, भर्ता, हर्ता है, यह अध्यारोपित है। माने जगत्की भी सत्ता नहीं है, जीवकी भी सत्ता नहीं है, कारणोपाधिक ईश्वरकी भी सत्ता नहीं है, उपाधिकी भी सत्ता नहीं है। तो कार्य-कारण दोनों उपाधिकी सत्ता नहीं है और कार्योपाधिक और कारणोपाधिक, दोनों चेतनोंकी भी सत्ता नहीं है। अखण्ड जो वस्तु है, वह तुम्हारा स्वरूप है—यह बात तत्त्वमस्यादि महावाक्य बताते हैं।

तो केवल द्रष्टा, कूटस्थ हो जानेसे यह वेदान्तकी समस्या हल नहीं हो जाती।

जीवं कल्पयते पूर्वं—अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण, पहले अपनेको जीव रूपसे कल्पित करते हैं। एक खास प्रकारके जीवनवाला मैं हूँ—ऐसी कल्पना करते हैं। एक खास प्रकारका जीवन क्या है? **हेतुफलात्मकं**। यह माण्डूक्य-कारिका वेदान्तका चोटीका ग्रन्थ है। तो जीव उसको कहते हैं, जो फल और हेतुको अपना मानें। कारण और कार्य। जैसे देखो, कर्म जो है, वह हेतु है—**'अहं करोमि'** और फल— **'अहं सुखी भवामि'**, **'अहं दुःखी भवामि।'** तो अपनेको जब ब्रह्म नहीं जाना, अपनेको अखण्ड, अद्वय तत्त्वके रूपमें नही पहचाना, तो यह अज्ञान हुआ और, 'मैं' परिच्छिन्न हूँ—यह भ्रान्ति हुई और,

परिच्छिन्नमें भी कैसा-कैसा? कि मैं नरक-स्वर्गमें जाता हूँ, मेरे पुनर्जन्म होते हैं, मैं पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाता हूँ, मैं कर्म करता हूँ, मैं उनके फल भोगता हूँ—यह बात कैसे मानी? देख-देखकर मानी? देख-देखकर नहीं मानी। अपनेको न जानकर मानी।

मानि-मानि बन्धनमें आयो।

मान-मानकर बन्धनमें आये!

जीवं कल्पयते पूर्वं—तो पहली कल्पना यह होती है कि 'मैं जीव हूँ। इस बातको चार प्रकारसे सोचा जाता है—१.कर्मसे शरीर पैदा हुआ २. शरीरसे कर्म हुआ ३. शरीर और कर्म दोनों सादि हैं और ४. शरीर और कर्म दोनों अनादि हैं। यह वेदान्तका गणित है।

अब देखो, यह तुम्हारा शरीर बना। कैसे बना? बोले कि पहले जन्मका कर्म था, तो कर्म-संस्कारसे यह शरीर बन गया। बोले भाई, तब तो कर्मके पहले शरीर रहा होगा न? शरीरसे कर्म हुआ होगा और फिर कर्मसे यह शरीर बना होगा। तो यह बताओ कि कारण धातु कौन-सी है? कर्म कारण है कि शरीर कारण है? शरीरसे कर्म होता है कि कर्मसे शरीर होता है? बोले कि कोई बता सकता है भला? मर जायेगा मूर्ख यह बतानेमें! कोई यह निर्णय ही नहीं कर सकता कि पहले शरीर कि पहले कर्म।

हम हवाई अड्डेकी ओर जाते हैं तो रास्तेमें एक रेलवेके पुलके नीचेसे मोटर निकलती है। तो देखो, ऊपर पुल है और नीचेसे मोटर निकलती है, लेकिन सिर अपने आप झुक जाता है कि कहीं चोट न लग जाय। यह ख्याल नहीं होता है कि मोटरकी छत बीचमें है, सो वह पुल हमारे सिरको नहीं छू सकता; लेकिन आदमी डर जाता है।

तो यह आत्मा सत्-चित्-आनन्द घन है। शरीर और कर्म तो इसको झूठ-मूठ भी नहीं छू सकते। क्योंकि, आत्मा न तो कर्ता है और न तो भोक्ता है, न शरीरके अन्दर परिच्छिन्न है। वह तो, *'मानि मानि बन्धन में आयो'*।

अच्छा, दोनों एक दिन पैदा हुए। जैसे बैलके दो सींग, बाप-बेटे नहीं होते, कार्य-कारण नहीं होते। वैसे शरीरसे कर्म और कर्मसे शरीर यह कार्य-कारण नहीं होगा।

अच्छा, कहो कि दोनों अनादि हैं। कैसे अनादि हैं? जैसे बीज और वृक्ष अनादि हैं? अरे बाबा, यही अनादित्व तो साध्य है। क्या अभिप्राय है? कि, इस

अनादित्वके तुम द्रष्टा हो! कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्म जो बन रहा है, इसके तुम द्रष्टा हो, साक्षी हो। कर्म होने पर भी तुम पापी-पुण्यात्मा नहीं होते और शरीरका भोग मिलने पर भी तुम भोक्ता नहीं होते। तो, अपनेको जो तुम यह मान बैठते हो कि हम बड़े पापी! दबते जा रहे हैं पहाड़के नीचे! हम पुण्यात्मा! ऊँचे बैठ गये।

कई लोगोंका ख्याल होता है कि ऊँची कुर्सी पर हम बैठ जायेंगे तो हम बहुत काम करेंगे। वह तो टँग जायेंगे। काम कहाँसे करेंगे? वहाँ तो कई बन्धन होते हैं। धरती पर बैठकर जितना काम किया जा सकता है, ऊँची कुर्सी पर बैठकर उतना काम नहीं किया जा सकता। जितने महात्मा हुए हैं, उन्होंने धरती पर बैठकर काम किया है, कुर्सी पर बैठकर काम थोड़े-ही किया है। बहुत धनी हो जायेंगे, तो दुनियाकी बहुत सेवा करेंगे। करते होंगे धनी लोग! कम्युनिस्ट लोगोंकी धनमें बहुत महत्त्वबुद्धि होती है। वे पक्षपाती तो अपनेको गरीबका बताते हैं। पर, धनमें उनकी बड़ी महत्त्वबुद्धि है। देखो, एक नमूना बताता हूँ। वे कहते हैं कि जब गरीबी दूर हो जायेगी, अभाव दूर हो जायेगा, सब धनी हो जायेंगे तो सब अपने आप ही अच्छे नागरिक हो जायेंगे, सदाचारी हो जायेंगे। अब देखो, धनमें कितनी महत्त्वबुद्धि है। अब जिनके पास धन है, वे न तो अच्छे नागरिक दिखते हैं, न सदाचारी दिखते हैं, न ईमानदार दिखते हैं। अब आगे इन लोगोंके पास धन हो जायेगा तो ये कहाँ-से अच्छे नागरिक, सदाचारी, ईमानदार हो जायेंगे?

बड़े-बड़े विद्वान् लोग कहते हैं कि पढ़ाई-लिखाई हो जाये, खूब घोंट मारो। अरे बाबा, हमको एक बार एक मेडिकल कॉलेजमें रहना पड़ा। वहाँके जो प्रिंसिपल थे, वे हमारे भगत थे और कई दिन रखकर उन्होंने हमारे शरीरमें क्या चीज है और क्या नहीं है—इसकी जाँच-पड़ताल की। कौन-सा भोजन अनुकूल पड़ता है और कौन नहीं पड़ता है, किसका क्या असर पड़ता है इसके लिए छः-सात दिन रहना पड़ा। तो वे बताते थे कि वहाँ जो लड़की और लड़के डॉक्टर होनेके लिये आते हैं, वे वहाँ क्या-क्या रचना रचते हैं।

सदाचार, ईमानदार होनेके लिए दूसरा बीज चाहिये। खूब पढ़ाई-लिखाईसे काम नहीं चलनेवाला! कॉलेज, यूनिवर्सिटीका वातावरण जाकर देखते हैं न! इससे यह समस्या हल होनेवाली नहीं है। उसके लिए दूसरा बीज चाहिये। खूब पढ़ाई-लिखाई, धनी हो जाना और ऊँची कुर्सी हो जाना—कुछ भी काम नहीं देगा।

बोले कि रहन-सहनका स्तर जरा ऊँचा कर लो! एक बार कश्मीरसे कुछ स्त्रियाँ बुलायी गयीं और इलाहाबादके आसपास जो देहात है, वहाँ लोगोंका रहन-सहनका स्तरके ऊँचा करनेके लिये भेजी गयीं। वे उलटे पल्लेकी तो साड़ी पहनें, हाथमें पर्स रखें और बाल बहुत बढ़िया बनावें। दो-तीन घंटे सजने-सँवरनेका काम करके, तब वे गाँवमें सुधार करने जायँ। अब गाँवकी जो बड़ी बूढ़ी औरतें थीं, वे उनसे पूछें कि तुम ब्याही हो कि नहीं हो? यदि कहें कि ब्याही हैं, तो वे कहें कि तुम्हारी सासने कैसे तुम्हें आने दिया? वे बोलतीं कि हम लोग सासकी नहीं मानती हैं। अब सास सिर ठोंके कि यदि ये हमारी बहूसे मिलेगी तो सिखा देगी कि सासकी बात नहीं मानो! किसीने कहा कि हमारा तो ब्याह ही नहीं हुआ है। हम तो कुँवारी है। तब गाँवकी औरतें कहती कि अरी, तुम्हारे माँ-बाप कहाँ हैं? इतनी स्वच्छन्द हो तुम! वह कहती कि हमारी जब इच्छा होगी, तब ब्याह करेंगे। अभी तो हम अनुभव कर रहे हैं कि किससे ब्याह करना और किससे नहीं करना। सुनकर वे सब सँभल जातीं कि यह कहीं हमारी लड़कीसे न मिलने पावे! सब सुधारका कार्यक्रम धराका धरा रह गया हो । यह कल्पित बात नहीं सुना रहा हूँ। बिलकुल सच्ची बात है।

कर्म मैं, मेरा—ऐसा माना गया और शरीर मैं, मेरा—ऐसा माना गया है। यह मान्यता है। सफाई मत देना कि इस वजहसे माना गया है। नासमझीसे माना। तो अपने आपको ब्रह्म न समझनेका परिणाम यह हुआ कि अपनेको जीव माना, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी माना, स्वर्ग-नरकमें जाने-आनेवाला माना, परिच्छिन्न माना और राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध—इनके चक्करमें फँस गये। बाहरकी सृष्टिमें फँसे, भीतरकी सृष्टिमें फँसे। पढ़ाई-लिखाई भी वैसी मिली। यादें भी वैसी आयीं और उन्हींके चक्करमें पड़ गये।

बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः।

तो बाह्यभाव और आध्यात्मिक भाव—जो अन्तःकरणके बाहर मालूम पड़ता है, सो सब बाह्यभाव और जो शरीरके अन्तःकरणके भीतर मालूम पड़ता है, सो सब आध्यात्मिक भाव।

आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मं।

तो यह प्रश्न हुआ कि बाहरकी चीज देख-देखकर भीतर भाव बनता है कि भीतरका भाव होनेसे बाहरकी चीज बनती है? बाहर बेटा होता है, तब भीतर 'बेटा है'—ऐसा भाव बनता है। और, यह स्वर्ण, चाँदी, मकान मेरा है—ऐसा भीतर होता

है, तब बाहर मेरा बनता है। तो पहले वस्तु बनती है कि पहले मेरा-पनका भाव बनता है? बाहरकी वस्तु पहले और भीतरका भाव बादमें और भीतरका भाव पहले और बाहरकी वस्तु बादमें यह कैसे बनता है?

ये मेरे प्राण हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है, यह मेरी आँख, यह मेरा कान, यह मेरी नाक, यह मेरी जीभ, यह मेरी त्वचा पहले भीतरी भावके रूपमें बनते हैं या बाहरी वस्तुएँ पहले हैं?

तो इन्होंने कहा कि न पहले भीतरी और न पहले बाहरी। पहले जो दोनोंकी कल्पना करनेवाला है 'मैं' पहले वह है, तब बाहर-भीतर है। अगर, पहले परिच्छिन्न 'मैं' न होवे, तब बाहर-भीतर कुछ नहीं। हम एक जगह बैठकर कहते हैं कि पूर्व और पश्चिम, यह ऊपर और यह नीचे। एक समयमें जब बैठ जाते हैं, तब कहते हैं कि पिछली रात और अगला दोपहर। बोले कि हम तो अभी पौने आठ बजे बैठे है। तो जब पौने आठ बजे बैठोगे, तो सात पहले बज गया और आठ अभी बजनेवाला है। आगे-पीछे कैसे बना? पौन आठ बजे हैं बैठनेसे। पूर्व-पश्चिम कैसे बना? बीचमें बैठनेसे। बाहर-भीतर कैसे बना? परिच्छिन्न 'मैं' होकर बैठनेसे। तो, अगर बीचमें 'मैं' न होवे, तो न बाहर, न भीतर। वह एक कि दो? न एक, न दो। यहाँ कि वहाँ? न यहाँ न वहाँ।

तो देखो, पहले यह जीव बीज रूपमें है। 'जीव' शब्दमें एक ओर 'ज' है और एक ओर 'व' है, बीचमें 'ई' है। माने एक ओर जन्म है और एक ओर ब्रह्म है और बीचमें 'ई' माया है। ब्रह्ममें माया जुड़ी तो जन्म हो गया, बीज हो गया और जन्म मायाके कारण ब्रह्ममें ही हुआ है।

पहले जीवको यह कल्पना होती है कि मैं बाहरवाला, मैं भीतरवाला! यह मैं-मैं-मैं ही दुनियामें सब बन्धनोंका कारण है। सब मुक्तियोंका कारण 'मैं' है। दुनियामें शत-प्रतिशत दुःखी 'मैं' के कारण होते हैं। अभिमान हो गया कि मैं पतिवाली! तो पतिसे दुःख होगा। मैं पत्नीवाला, तब पत्नीसे दुःख होगा। यह असलियतके पास पहुँचने ही नहीं देगा। यह वाला जो है, यह बाला-बाला गँवा देगा भला!

जीवं कल्पयते पूर्वं—वस्तु स्वरूप जैसा है, जिसमें न जीव, न बाहर, न भीतर, न आज, न कल, न यह, न वह और न मैं, न तू—ऐसी जो तत्त्ववस्तु है, उसके अज्ञानसे जो पहली कल्पना होती है, वह यह है कि 'मैं जीव हूँ'।

यह 'कल्पना' शब्द ही घूम फिरकर ख्याल हो जाता है। 'कल्' का जो

'क' है, इसके 'ख' होते ही इससे 'ख्याल' शब्द निकल आता है। तो 'मैं जीव हूँ'—यह एक ख्याल है, एक ख्वाब है, एक स्वप्न है। 'जीव' होते ही सब बखेड़ा लग जाता है कि मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी। अपने बारेमें सब कल्पना होती है, तब दुःख होता है और जब पुण्यात्मापनेकी कल्पना होती है, तब सुख होता है। अब कार्य-कारण भाव बन गया।

ततो भावान्पृथग्विधान्

मन बनकर कल्पना कर रहा है भीतर और साँस चल रही, शरीर भी घूम रहा। इसके बाद मामला आगे बढ़ गया। क्या बढ़ गया? जब हमको बढ़िया देखनेको मिले, तब हम सुखी। जब प्यारी-प्यारी कल्पना मनमें आवें, तब हम सुखी और, अमुक भोग न मिले तो हम दुःखी। अमुक काम करनेको न मिले तो हम दुःखी। अपने सुख-दुःखको अपने ऊपरसे हटाकर बाहर कर दिया।

यह संसारी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको यह-यह भोग मिलेगा, तब हम सुखी होंगे। तो अपने आपको तो मार दिया गोली। माने तुम तो कुछ हो ही नहीं। तुमको कोई चीज मिलेगी, तब सुखी होओगे। अपने सुखको हलवाईकी दूकान पर रख दिया। मिठाई मिलेगी खानेको, तब खुश होंगे! चाट मिलेगी खानेको, तब खुश होंगे। तुम्हारा सुख कहाँ गया? मिठाई एवं चाटकी दूकानमें गया। ऐसा कपड़ा पहननेको मिलेगा, तब सुखी होंगे। ऐसी स्त्रीसे ब्याह होगा, तब सुखी होंगे। इतनी ऊँची कुर्सी मिलेगी, तब सुखी होंगे। तो बाहरकी वस्तुओंमें अपने सुख-दुःखका कारण कल्पित कर दिया।

कोई बोले कि बाहरकी चीज भला क्या सुख-दुःख देगी? अपने कर्म-ही सुख-दुःख देते हैं।

कोउ न काहु सुख दुःख कर दाता।
निजकृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥

अपने कर्मका फल सबको भोगना पड़ता है। कर्ममें सुख-दुःख मिला दिया।

अब कोई और आगे बढ़े और बोले कि नहीं, कर्ममें सुख-दुःख नहीं है, भावमें सुख-दुःख है। बढ़िया भाव रखो, बढ़िया भाव रखो। क्या बढ़िया भाव रखे? कोई तमाचा लगाता जा रहा है और बोले कि यह प्यारसे हमारी माँ मार रही है। बाहरसे डाकू पीटता जाय और मनमें भाव करो कि यह तो हमारी माँका चपत है। ठन-ठनपाल! कर्मके बिना भाव कैसे बनेगा? तो भावके बिना कर्म नहीं और कर्मके बिना भाव नहीं।

देखो, जब यह कल्पना होती है कि अच्छा कर्म करनेसे अच्छा भोग मिलता है, तो भोगकी वासनासे मनुष्य कर्म करता है। कर्म करने पर उसके संस्कार बैठते हैं। संस्कार बैठनेसे फिर वासना उदय होती है। वासना होनेसे फिर कर्म करते हैं और इस प्रकार यह मृगतृष्णाका चक्कर जुड़ गया कि यह कर्म करेंगे तो यह सुख मिलेगा। कर्म और सुखमें हेतु फल भावकी कल्पना हो गयी। यह कर्म करेंगे तो यह सुख मिलेगा, यह कर्म करें गे तो यह सुख मिलेगा। यह चीज हमारे पास रहेगी तो यह सुख मिलेगा। यह सब बिना सोचे-विचारे हैं।

मनुष्यके जीवनका निर्माण दो प्रकारसे होता है—**'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते'**—जैसी उसकी जानकारी होती है, विज्ञान होता है और जैसा कर्म करता है, इसीके अनुसार मनुष्यका जीवन चलता है। यदि उसको यह विज्ञान होवे कि हमको बढ़िया-बढ़िया भोगकी जरूरत नहीं, मोटा-सादा खानेसे जीवन चल जाता है, तो सुखी रहेगा। अब जिसको यह ख्याल हो गया कि पाँच सौ रुपयेकी साड़ी हम न पहने, तो बहुत दुःखी। वह दौ-सौ रुपयेकी साड़ी पहनकर दुःखी होगा कि नहीं होगा? यही इसका विज्ञान है। यह जो विज्ञान है कि हम तो बिलकुल विलायती ढंगसे बैठकर भोजन करेंगे तो सुखी! और, कहीं पाटे पर नीचे बैठना पड़ा, गोबरसे लिपी हुई जमीन है और उस पर कहीं थाली रख देनी पड़ी तो हाय-हाय, हम तो बुर्जुआ हो गये! बड़ा दुःख है!

असलमें यह दुःख और सुख जो होता हैं, वह चीजमें-से नहीं निकलता, घटनामें-से नहीं निकलता।

वृन्दावनमें एक सज्जन थे। साधुओंका आश्रम तो आप जानते ही हो कि उनके यहाँ जितना पूरी, लड्डू खानेको मिलता है, उतना गृहस्थोंके घरमें भी नहीं मिलता है। तो वे सज्जन इसलिए दुःखी थे कि उनको लड्डू, पूरी कई दिन खानेको मिला। उड़िया बाबाजीको मालूम हुआ कि इसको तो दुःख है। उन्होंने पूछा कि तू कितनी पूरी खाता है? वह बोला कि छः पूरी खाते हैं। बाबा बोले कि तभी तुमको दुःख होता है। अरे, रोटी हो तो छः खाओ। पूरी हो तो दो ही खाओ! तो दुःख नहीं होगा। रोटीमें घी नहीं होता है, छः खाओगे तो पच जायेगी। पूरीमें घी होता है, छः खानेसे पचेगी नहीं। दो खाओ तो कोई नुकसान नहीं होगा। माने दुःख पूरीमें नहीं है, अपने लोभमें है, भावमें है। खानेकी जो चाट है, उसमें है।

बोले कि यह खाते क्यों है? यह चाट कहाँसे आयी? चाट यों आयी कि एक बार दस पूड़ी खायी थी तो खानेमें बड़ा मजा आया था। अब छः से कम क्यों

खायें? तो जब पहले दस खानेमें मजा आया था, तो अब छः खानेका ख्याल हो गया। तो ऐसे सुख-दुःखका सम्बन्ध दुनियाकी घटनाओंमें आदमी जोड़ लेता है! तो '**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**'। जैसा विज्ञान होता है, जैसा आदमी काम करता है, उसकी आदत पड़ जाती है और उसीमें वह सुख मान लेता है। फिर याद आती है कि पहले ऐसा किया था तो बड़ा मजा आया था।

काशीमें एक साधु थे, वे दुर्गा-पाठ करते थे। तो पाठ करते समय वे खूब हिलें। आदत पड़ गयी। एक दिन किसी महात्माने देखा तो बोले कि देखो, स्वामीजी, पाठ करते समय हिलना नहीं चाहिये! स्थिर होकर पाठ करना चाहिये! यह पाठका विधान है। बोले कि अच्छा महाराज! अब वे दूसरे दिन स्थिर होकर पाठ करने लगे, तो मजा ही न आवे! गये महात्माजीके पास और बोले कि महाराज, मजा नहीं आता है। कैसे करें? पाठमें रस तो आता नहीं! अब देखो, उसकी रसकी कल्पना यह हो गयी! हिलनेकी आदत पड़ गयी! हिलनेमें कहीं सुख है? इसीको बोलते हैं, ये गन्दी चीजें हैं—इनको खानेकी आदत आदमी डाल लेते हैं तो उसके बिना तकलीफ होती है।

यदि यह कल्पना कर ली कि बाहर सुख है, बाहर दुःख है। बोले कि ये दोनों कल्पना किसनेकी? जीवने की। आखिर यह जीव क्या है? जीवने भी अपनेको कल्पित कर लिया है। अपनेको जीवने कैसे कल्पित कर लिया? अपनेको ब्रह्म न जानकर अपनेको जीव कल्पित कर लिया और फिर उससे मजा आता है, इससे दुःख होता है, यह झूठ-मूठ कल्पना कर ली!

देखो, कोई ज्योतिषी होगा तो हमारे ऊपर नाराज हो जायेगा! ये जो ग्रह होते हैं, कम-से-कम एक महीनेमें तीन बार चौथे, आठवें, बारहवें चन्द्रमा खराब होता है। माने महीनेमें एक सप्ताह चन्द्रमा प्रत्येक व्यक्तिके अनिष्ट स्थान पर रहता है। बिलकुल बना हुआ है। अच्छा, सूर्य बारह महीनेमें तीन महीने और मंगल बारह महीनेमें साढ़े चार महीने अनिष्ट स्थान पर रहता है। बृहस्पति बारह वर्षमें तीन वर्ष, शनिश्चर तीस वर्षमें साढ़े सात वर्ष, तो साढ़ेसाती और उसके भी पाँच एक और वर्ष समझो! अब सोचो! अब अगर यह ख्याल करने लगो कि आज अमुक ग्रह हमारा नुकसान कर रहा है, तो आपका कोई दिन बीतेगा, जिस दिन आपको अनिष्टका ख्याल न आवे! आज मंगल खराब है, आज चन्द्रमा खराब है, आज बुध खराब है! यह बात जरूर है कि आपको दान, दक्षिणा देनेका अभ्यास है तो किसी ज्योतिषीको दो, ब्राह्मणको दो! देना तो बहुत बढ़िया है! और पूछोगे तो नौ ग्रहोंमें-

से कोई-न-कोई अवश्य खराब निकलेगा। माने जो कुण्डलीमें अपना भाग्य देखता रहेगा, वह क्या कुछ कर सकेगा?

देखो; हम सब रहस्य जानते हैं। हमारे बाबा ज्योतिषी थे, पिता ज्योतिषी थे। बचपनमें हम भी ज्योतिषी थे। इसलिए आपको बताते हैं कि इस झगड़ेसे आप बचे रहें तो बढ़िया है! नहीं तो दुःखकी कल्पना करके अगर आप रोज डॉक्टरसे जाँच करावें, तो कोई-न-कोई बिटामीन घटता-बढ़ता हुआ शरीरमें ही रोज मिलेगा!

एक बार ऐसा हुआ कि हमारा कान पक गया था। उसमेंसे पीप निकलती। तो दिल्लीमें रहा तो वहाँ इर्विन अस्पतालमें हमारे एक मित्र बड़े डॉक्टर थे, उन्होंने जाँच करना शुरू किया कि रक्तमें कौन-से कीड़े बढ़े हैं और कौन-से घटे हैं! अब कोई चीज खा ले तो कोई कीटाणु दस लाख बढ़ जायँ या कोई दस लाख घट जायँ! अब वे कहें; कि ये दमाके कीड़ें हैं। यह कोई बात हुई! एक गिलास दूधमें वारा-न्यारा हो जाता है उनका!

हे भगवान्! अगर रोज-जाँच करवावें तो रोज-रोज तकलीफ पड़ेगी! इसलिए बिटामनके चक्करमें, कीटाणुके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिये। मनुष्यको अपनी रहन-सहन सामान्यरूपसे जैसी सहज है, वैसी रखनी चाहिये।

अपने विज्ञानको, विद्याको गलत मत करो! जब यह कहोगे कि किसीकी जीत हो जानेसे हमको बड़ी तकलीफ होती है! बिल्ली रास्ता काट जाती है तो बड़ी तकलीफ होती है। यह बायीं आँख फड़क गयी, यह बाँयी बाँह फड़क गयी। यह क्या है सब?

शकुन-शास्त्रके चक्करमें पड़े तो बोले कि आज तो मकान पर कौआ बैठ गया! आज तो गिद्ध आकर बैठ गया। आज चील आकर बैठ गयी। आज घरसे निकला तो काना आदमी सामनेसे निकला। और, खुद काना होते तो क्या होता? दूसरेके काना होनेसे तुम्हारा रास्ता बिगड़ गया, यात्रा बिगड़ गयी। लेकिन, अगर तुम काना होते तो क्या होता?

तो ये सब बात कहाँसे निकलती हैं? ये कल्पनासे निकलती हैं। दाढ़ी फड़की तो बोले कि बड़ा भारी भय हुआ। पेट फड़का तो बोले कि आह, आज भोजन बहुत बढ़िया मिलनेवाला है। चूतड़ फड़का तो बोले कि आज मोटर चढ़नेको मिलेगी! यह जितनी बात मैंने कही है, बिलकुल शकुन-शास्त्रके अनुसार है। यह नहीं समझना कि हम ऐसे-ही कल्पना करके बोलते हैं।

ये सब कल्पित हैं। भीतरी चीजोंमें फलका सूचक होना कल्पित है, बाहरी चीजोंमें भी फलका सूचक होना कल्पित है। ऐसे ही ये जो कर्म होते हैं कि इस कर्मका यह फल है, इस कर्मका यह फल है, इस फलका यह कारण है, इस फलका यह कारण है—यह सब क्या है? किसी फलको देखकर उसके कारणकी कल्पना कर बैठना और किसी कर्मको देखकर उसके फलकी कल्पना कर बैठना—यह कहाँसे निकलता है?

'यथाविद्यस्तथास्मृतिः'।

आजकल हस्तरेखा देखने, दिखानेका बड़ा ही प्रचलन है। अंग्रेजीमें हस्तरेखा संबंधी पुस्तकें छप जानेसे बाबूलोगोंमें भी इसका प्रचलन है! हम हिन्दुस्तानी लोग जिस रेखाको भाग्यकी रेखा मानते है, उसे अंग्रेजीवाले आयुकी रेखा मानते हैं और जिनको हमलोग आयुकी रेखा मानते हैं, उसको वे भाग्यकी रेखा मानते है। ये दोनों कल्पित हैं। यह मत समझना कि दोनोंमें रत्ती भर भी सच्चाई होवें! हम रेखा-शास्त्रका खण्डन करनेके लिये यह बात नहीं बताते है भला! हम इसलिए बताते हैं कि मनुष्यके मनमें जैसी कल्पना बैठ जाती है, वैसा-वैसा उसको मालूम पड़ने लगता है। एक आदमीके हाथमें बेटा होनेकी पच्चीस रेखा है और है एक भी नहीं। ठन-ठनपाल! यह पुरुषोंके हाथमें दो-तीन ब्याहकी रेखा होती हैं! तो हस्तरेखाके पण्डित बता देते हैं कि तुम्हारे हाथमें तो दो-तीन ब्याहकी रेखा हैं। लेकिन स्त्रियोंके हाथमें जब वैसी रेखा होती है तो चुप लगा जाते हैं, नहीं बताते हैं। 'यथा विद्यस्तथा स्मृतिः'।

मनुष्य कहता है कि हम बड़े वैज्ञानिक हैं। तो कार्य-कारणकी श्रृंखला जोड़ता है। बोले कि आज देखो, हम घरसें निकले तो बायाँ पाँव पहले मैंने उठाया था तो आज व्यापारमें कुछ लाभ नहीं हुआ। और, कल मैं आया था तो दाहिना पाँव पहले रखकर आया था तो व्यापारमें बहुत लाभ हुआ! तो दाहिना पाँव पहले उठाकर चलना सगुन है और बायाँ पाँव पहले उठाकर चलना सगुन नहीं है—यह जो कल्पना हुई, इसको मान लिया विज्ञान! अब तीसरे दिन क्या हुआ कि ख्याल नहीं रहा और चलते समय बायाँ ही उठ गया। तो बोले कि आज बड़ा नुकसान होनेवाला है! दिमाग खराब हो गया!

तो यह सृष्टि जो है, यह बिलकुल कल्पनासे चल रही है। हिन्दूकी कल्पना अलग, मुसलमानकी अलग, ईसाईकी अलग, सिखकी अलग, पारसीकी अलग। एक कहता है कि मूर्ति तोड़ना! एक कहता है कि मूर्ति बनाना! यह सृष्टि जो है,

बड़ी विलक्षण है। इसलिए, महात्मा लोग कहते हैं कि इसकी अच्छाई-बुराईकी ओर ध्यान मत दो!

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।

सृष्टिका रहस्य समझकर विद्वान् लोग इसके बारेमें चुप हो जाते हैं। बोले कि कुछ बोलनेकी जरूरत ही नहीं है। ये दुनियाके पागल लोग जैसा-जैसा मानें, जैसे-जैसे करें, चाहे जहाँसे सुख दूहें और चाहे जहाँसे दुःख दूहें! यह सुख-दुःख दुहना आदमीके हाथमें हैं।

एक दिन एक आदमी हमारे पास आया। हम औरोंसे बात करते रहे, उससे बात नहीं की। अब वह बड़ा खुश हुआ कि देखो, स्वामीजीको बहुत लोगोंसे बात करना था, बहुत व्यस्त थे, तो जिनसे शिष्टाचार करना था उनसे तो बात की और हमको बिलकुल अपना समझा, हमसे नहीं बोले। हमसे बोलते तो उनको और तकलीफ होती। लोगोंमें व्यस्त थे। बहुत बढ़िया, हमको अपना समझा। दूसरोको पराया समझा, इसलिए उनसे बात की और हमको अपना समझा, इसलिए हमसे बात नहीं की। खुश हो गया वह! अब हमने समझा कि यह तो बहुत बढ़िया बात है कि जिससे बात न करो, वे समझते हैं कि हम उनको अपना समझते हैं! दूसरे दिन दूसरा आया तो मैंने उससे भी बात नहीं की। अब वह तो महाराज थोड़ी देर बैठा रहा, बैठा रहा और बादमें खूब रुष्ट हुआ और बोला, 'वाह इतने लोगोंसे तुमको बात करनेका मौका है और हमारी ओर देखते तक नहीं हो'!

तो यह क्या हुआ? एकने बात न करनेमें सुख निकाल लिया और एकने दुःख निकाल लिया। ये दोनों बछड़े हैं। तो समझो एक वह बछड़ा है, चीनी है, जो चीनी शक्कर दुहता है और एक वह बछड़ा है, जो जहर दुहता है। तो 'यथा विद्यस्तथा स्मृतिः'।

तो नारायण, अपने जीवनका विज्ञान ऐसा बनाओ, ऐसी कल्पना जोड़ो कि जिसमें दूसरी चीजोंकी जरुरत न रहे, जिसमें झूठमूठ कर्मोंमें शकुनने बने, जिसमें झूठमूठ दुःखकी कल्पना न हो।

तो यह बाहरकी कल्पना और भीतरकी कल्पना। बाहरकी कल्पनामें समझो कि काना आदमी सामने मिल गया और भीतर बायीं आँख फड़क गयी और बायाँ हाथ फड़क गया—ये भीतरकी कल्पना हुई। अरे, हमारा मन ऐसा हो गया—यह भी ऐसा-ही है, जैसे हाथ-पाँव फड़कते हैं! तो मन भी फड़कता है।

देखो, एक बार वृन्दावनमें एक सज्जन हमारे पास बैठे थे। आप जानते हैं

कि रेलगाड़ीकी लाइन हमारे आश्रमके बहुत पास है! तो रेलगाड़ी निकली तो वे सज्जन गाली देने लगे कि जबसे अंग्रेज यहाँसे चले गये, तबसे ये कमबख्त रेलवालोंने सब काम बिगाड़ दिया। गाड़ीकी आवाजमें सुर नहीं है! ये कांग्रेसी कोई काम ठीक नहीं करते। देखो, गाड़ी भी बेताल चलती है। अब उन्होंने अपना सिर पीट लिया। हाथ-पाँव पीटने लग गये।

एक आदमीने एक दिन आकर हमसे यह लड़ाई कि तुमने जरा आँख टेढ़ी करके हमारी ओर क्यों देखा?

तो देखो, मनमें भी कभी टेढ़ी बात आती है, तो कभी सीधी आती है भला! पर, उनको पकड़कर बैठ नहीं जाना चाहिए! वह तो आयी और चली गयी! जैसे सड़कपर मोटर आती है और जाती है, आदमी आते हैं जाते हैं, वैसे मनमें भी आते हैं और जाते हैं और वैसे ही जीवके सामने जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी कल्पनाएँ आती हैं और जाती हैं और वैसे-ही परब्रह्म परमात्मामें धूप-छाँवकी तरह यह माया आती-जाती है! यह माया 'वितथ' है, मिथ्या है।

तो जैसे यह दायें और बायें, अंगका फड़कना और शकुन आदि कल्पित हो गये हैं, ऐसे ही परब्रह्म परमात्मामें 'मैं जीव हूँ'—कल्पित है! ऐसा सोचेंगे तो पुनर्जन्म होगा, ऐसा सोचेंगे तो नरकमें जायेंगे, और पहले ऐसा सोचा होगा, तब यहाँ आये है—यह सब क्या हैं? यह सब मनका ख्याल है भला! यह सब मनोरथ है, स्वप्न है। इसमें कुछ तत्त्व नहीं है। दुःखकी कल्पना नहीं करनी चाहिए।



जीव-कल्पनाका हेतु अज्ञान

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ १७॥

अंधकारमें पड़ी रस्सी! परन्तु, निश्चय नहीं हो सका कि यह रस्सी है। तब विकल्प क्या हुआ? यह साँप है, यह धारा है, यह डंडा है, यह फूलकी माला है, यह धरतीमें दरार है। इतनी कल्पना क्यों हुई? क्योंकि, असली जो चीज है, वह मालूम नहीं है।

तो देखो, मैं जीव हूँ, मैं कर्म करके पापी-पुण्यात्मा होता हूँ, फिर कर्मके अनुसार सुख-दुःख मिलता है, फिर पुनर्जन्म मिलता है, ये हमारे रिश्ते-नातेदार हैं, ये एक बार मिलते हैं, तो बड़ा सुख होता है और बिछुड़ते हैं तो बड़ा भारी दुःख होता है! हे भगवान्! ये सब कुछ नहीं है! यह जैसे पानीके जहाजमें यात्रा करते समय दस-पाँच दिन साथ-साथ रहे तो आपसमें जान-पहचान हो गयी कि ये हमारे मित्र हैं और ये अच्छे नहीं लगते हैं! और, फिर बिछुड़ गये तो? कुछ नहीं, कितने साथी रेलगाड़ीमें मिले और फिर दुबारा नहीं मिले! ऐसे-ही जैसे रेलगाड़ीमें साथी मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं, कभी मिल भी जाते हैं और कभी नहीं भी मिलते हैं—यह संसार भी बिल्कुल ऐसा ही है। इसमें क्या माता, क्या पिता, क्या पति, क्या पुत्र, क्या धन, क्या दौलत? अब फिर यही आँख तुमको मिलेगी, फिर ऐसी नाक तुमको मिलेगी? जिसपर आज अभिमान है कि हमारी नाक बहुत बढ़िया तोतेकी तरह है, आँख कमलकी तरह है, हमारा कान कनेरके फूलकी तरह है, ओंठ संतरेकी फाँककी तरह है! अबसे फिर मिलेंगे कि नहीं मिलेंगे? अरे, अभिमान करते-करते, कल्पना करते-करते मनुष्य असलियत तो जानते नहीं हैं।

असलमें एकपर-ब्रह्म परमात्मा है। उसमें न 'मैं'का कोई अलग घेरा है, न 'तू' का कोई अलग घेरा है। सब लोग अपने भीतर उसको मैं-मैं बोलते हैं। पर समझते नहीं हैं। इसमें न कहीं सुख है, न कहीं दुःख है, न कहीं जन्म है, न कहीं मृत्यु है, न कहीं आना है, न कहीं जाना है। बिल्कुल जैसे अन्धकारमें पड़ी रस्सीको न जानकर, उसके बारेमें नाना प्रकारके विकल्प कर लिये गये, उसी प्रकार अपने आत्माको, अपने स्वरूपको, ब्रह्मको न जानकर नाना विकल्प कर लिये।

अच्छा देखो, अन्धकारमें पड़ी रस्सीमें तो भ्रम हो जाता है कि साँप न होये, अपनी अँगुलियोंके बारेमें कभी भ्रम नहीं होता है कि ये कहीं जोंक न हो। क्यों कि बिल्कुल स्पष्ट है न! तो बिल्कुल स्पष्ट वस्तु जो होती है, उसमें विकल्प नहीं होता है। तो आत्माको स्पष्ट कर लो कि मैं क्या हूँ? इसके बाद कोई विकल्प नहीं होगा कि मैं पापी कि पुण्यात्मा, मैं सुखी हूँ कि दुःखी हूँ! सम्पूर्ण विकल्पोंसे छूटनेका यही उपाय है।

यह जो हेतु और फलकी कल्पना है, यह इतनी गलत है—यह हमारे पुराने महात्मा लोग समझते थे। हम कई बात तो इसलिए नहीं सुनाते हैं कि नये-नये सत्संगी लोग आते हैं तो वे गलत ग्रहण न कर लें! ये कर्मकाण्डी पंडित जो होते हैं, उनको यदि किसीका जूठा खानेको मिले तो ग्लानि करेंगे। प्रायश्चित करेंगे। लेकिन, वही जब जगन्नाथपुरीमें जाते हैं तो वहाँका जूठा खाते हैं! तो अगर वस्तुनिष्ठ दोष होवे तो सब जगह होवे। बोले कि नहीं, वस्तुनिष्ठ गुण-दोष नहीं है! शास्त्रके द्वारा परिकल्पित गुण-दोष है। देखो, ससुरालमें और होलीके दिन गाली देना सहन होता है! खुशी होती है कि वाह-वाह, कैसी बढ़िया गाली गिन-गिनकर दे रही हैं! इसीका नाम है 'कल्पना'! स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें शास्त्रोक्त नियोग है, धनके सम्बन्धमें द्यूत हैं, उच्छिष्टके संबंधमें जगन्नाथपुरी है, असत्यभाषणके सम्बन्धमें विवाह-कालमें 'मैंने ध्रुवको देख लिया'—यह बोलना है, वसन्तोत्सवके दिन चाण्डाल स्पर्श है—ये सब बताते हैं कि यह जो धर्माधर्मका निर्णय है, यह वस्तु, क्रियाके आधारपर नहीं होता। भावके आधारपर भी नहीं होता कि हमारा भाव बहुत बढ़िया है! बहन अपने भाईके प्रति भाव करे कि यह पति है, तो भाव करनेसे होगा? नहीं होगा! भाई अपनी बहनके प्रति भाव करे कि यह हमारी पत्नी है। तो भाव करनेसे होगा? तो भावसे भी धर्माधर्म नहीं बनता है। संध्यावंदन कर्म है, पर सबके लिए नहीं है। इसका अभिप्राय जो है, वह बहुत विचित्र है।

नारायण, इसका रहस्य ही यह है कि परब्रह्म परमात्मामें कल्पितत्वेन सारा व्यवहार हो रहा है। इसलिए शास्त्र-कल्पनाके अतिरिक्त कोई इसमें अनुभवकी कल्पना, भावकी कल्पना, क्रिया अथवा अर्थकी कल्पना नहीं है! तो इससे सुख निकलता है, इससे दुःख निकलता है—यह सब कुछ नहीं होता।

☆

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्त्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥ १८॥

जैसे यह निश्चय हो गया कि यह रज्जु है, तब सर्प, माला—सब कट गये और अद्वैत निश्चय हो गया कि ये रस्सी है! इसी प्रकार, **'नेति-नेति इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः'**—(शां. भा.) शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि संसारके जितने धर्म हैं—यह दोस्त है और दुश्मन है—यह क्या है? यह संसार धर्म है। यह पति है, यह पत्नी है—यह क्या है? संसार धर्म है। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मैं संसारी हूँ, आवागमनवाला, मैं परिच्छिन्न हूँ एक देहमें—ये सब संसार धर्म हैं। तो जब 'नेति-नेति'—इति नहीं, इति नहीं—ऐसा करके सारे संसारधर्मका निषेध करते हैं, उस निषेधसे जब विज्ञान सूर्यका उदय होता है, उसके प्रकाशमें आत्माका निश्चय होता है।

एक बार किसी विद्वान् सज्जनने पूछा कि स्वामीजी, आप शास्त्रका तात्पर्य क्या मानते हैं? 'शास्त्रका तात्पर्य तो भाई, उपनिषदोंमें जो आत्मा और ब्रह्मकी एकताका निरूपण है, वही है'! बोले कि फिर मध्व, निम्बार्क, रामानुज, वल्लभको आप शास्त्र एवं वेदका तात्पर्य बतानेवाला नहीं मानते? 'अरे भाई, हम इन सबको वेदका व्याख्याता मानते हैं।' तो यह कैसे सम्भव है? एक द्वैतका व्याख्यान करे और एक अद्वैतका व्याख्यान करे और दोनों वेदके व्याख्याता? हमने कहा कि देखो, यह जो 'नेति' पद है न, इसमें 'इति' पदके व्याख्याता हैं सब आचार्य और केवल 'न' के व्याख्याता है शंकराचार्य! किसको न कहा गया? तो जिसको 'न' कहा गया, उसका विवरण करते हैं सर्वाचार्य, तो वह तो वेदकी व्याख्या हुई! नहीं तो स्पष्ट ही न हो कि किसको 'न' किया गया है।

तो 'इति' माने सम्पूर्ण कर्मकाण्डके द्वारा प्रतिपादित कर्म एवं स्वर्गादिरूप फल, सम्पूर्ण उपासनाकाण्डके द्वारा प्रतिपादित उपासना एवं उपास्यभेद, सम्पूर्ण योगशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आसन, प्राणायामादि और उनके द्वारा उपलब्ध होनेवाली समाधि और उस समाधि-कालमें द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान! 'न' माने यह भी नहीं, यह भी नहीं!

तो हैं सब वेदके व्याख्याता। किसीको काटना नहीं। नहीं तो 'नेति' पदका अर्थ ही समझमें न आवे।

किसीमें निश्चय होता है कि आत्मा ब्रह्म है? और, **'आत्मैवेदं सर्वम्'**— आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। **'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'**

हमारी संस्कृत भाषामें 'अ' माने परमात्मा होता है भला। **'अकारो वासुदेवः'**। 'अ' माने वासुदेव। यह 'अ' लिखते हैं, तो तीन कोण आगेको रहते हैं और एक कोण ऊपरको रहता है और एक कोण नीचेको! तो अंतःकरणके पाँच, प्राणके पाँच, ज्ञानेन्द्रियके पाँच, कर्मेन्द्रियके पाँच, पंचभूतके पाँच, विषयके पाँच। तो 'अकार' जो है, यह पञ्चकोणात्मक है, यह परमात्माका एक नाम है। अतः परमात्माका कोई भी नाम ले तो जरा उसमें 'अ' देखो।

श्रुति कहती है, 'अपूर्वः'। देखो, कोई भी बच्चा पैदा होता है तो उसके माँ-बापका होना जरूरी है कि नहीं? माँ-बाप न हों तो बच्चा कैसे पैदा होगा? तो परमात्मा कैसा है? बोले कि 'अपूर्व' है, माने उसके कोई माँ-बाप नहीं हैं। घड़ा पैदा होगा तो उसके पहले मिट्टी होगी न! चाक, डण्डा, सूत, कुम्हार होगा! पहले सामग्री होगी, तब न घड़ा पैदा होगा! यह परमात्मा जो है, इसके पहले कोई सामग्री नहीं है। न परमात्माको बनानेवाला कोई कुम्हार है, न जिससे बनता है, वह मिट्टी है, न चाक है, न डण्डा है, न सूत है। 'अपूर्वः'।

'अनपरः'—देखो, जब खेतमें बीज बोते हैं तो बादमें क्या होता है? पौध निकलती है न! उसमें पत्ते, फूल लगते हैं, फल आता है। माने बीजसे कार्य होता हैं। और परमात्मा, फूलता नहीं है, टपकता नहीं है, फटता नहीं है, उसमें-से अंकुर नहीं निकलता है। उसमें पत्ते, फूल नहीं आते हैं। 'अनपरः'—उसके बाद कुछ नहीं, माने कार्य नहीं हैं।

इस परमात्माके न कोई माँ-बाप है और न कोई बेटी-बेटा है।

'अनन्तरोऽबाह्यः'—घड़ेके भीतर पानी है और बाहर? आकाश है। परमात्माके भीतर यह दुनिया और बाहर? बोले कि कुछ नहीं, न भीतर न बाहर! परमात्मामें भीतर और बाहरका भेद नहीं होता। **'अनन्तरोऽबाह्यः'**।

'स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः'—बाहर भी वही, भीतर भी वही। बिल्कुल ठसाठस!

'अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' 'एक एवाद्वयः'।

'अजरः'—उसमें जरा-जरासी कोई चीज नहीं होती। 'जरा' माने बुढ़ापा

होता है और उसमें होता क्या है कि सब चीजें जरा-सी हो जाती हैं। जरा-सा देखता है, जरा-सा सुनता है, जरा-सा सूँघता है, जरा-सा खाता है!

अब यह परमात्मा जो है, यह अजरानंद है भला! यह जरानंद नहीं है माने इसमें बुढ़ापा नहीं है।

'अमरः'—यह मर नहीं है, अमर है।

'अजर' माने परिणामको प्राप्त नहीं होता है, बदलता नहीं है, परिवर्तनको प्राप्त नहीं होता है और 'अमर' माने इसके पास मृत्यु नहीं आती।

'अमृतः'—बड़ा मीठा है। एक बार इसका मजा आ जाये, तो दुनियाकी सब चीजें रूखी-सूखी मालूम पड़े

जो मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस अनरस रस, ह्वै जाते सब सीठे॥

अगर ईश्वरकी कृपासे तुमको यह मालूम हो जाये कि मैं खुद बहुत मीठा हूँ, तो यह जो मीठा पानेके चक्करमें जो दुनियामें भटकते हो, वह छूट जाये। तुमको भलेमानुस बनानेके लिए अपनेको मीठा जानना जरूरी है! नहीं तो क्या दशा हो रही है?

चाटत रह्यौं स्वान पातरि ज्यों, कबहु न पेट भर्‌यो।

जैसे कुत्ता दरवाजे दरवाजे भटकता है, कहीं डंडा मिलता है, कहीं ताड़ना मिलती है, कहीं रोटी दाल मिल जाती है, ऐसे-ही यह मनुष्य दुनियामें भटक रहा है! स्वर्णके पास जाता है, कहीं चाँदीके पास जाता है, कहीं भोजनके पास जाता है, तो कहीं वस्त्रके पास जाता है, कहीं स्त्रीके पास जाता है, कहीं पुरुषके पास जाता है, कहीं राजा-रईसके पास जाता है, कहीं मिनिस्टरके पास जाता है कि अरे, मैं भिखारी हूँ, मुझे थोड़ा सुख चाहिए। 'काहेके लिये आये हो भाई? मजा लेनेके लिए आये हैं।' तो यह दशा हो रही है।

लेकिन, अगर तुम जान जाओ न कि जिसको सब मैं-मैं बोलते हैं, चीटीं भी जिसको 'मैं' बोलती है और ब्रह्मा भी जिसको 'मैं' बोलता है और सब स्त्री-पुरुष जिसको 'मैं' बोलते हैं, वह सबके भीतर एक है और इतना मीठा है, इतना मीठा है, उसीका नाम 'अमृत' है। अलग-अलग जो 'मैं' होते हैं, वे मृत 'मैं' होते हैं भला और जो सबका एक 'मैं' है, वह अमृत 'मैं' है। उसको न जन्मका भय है न मरणका भय है, न स्वर्ग-नरक जानेका भय है, न पाप-पुण्यका भय है, न सुख-दुःखका भय है। अभय है, **'अमृतोऽभयः'**। वह अमृत स्वरूप, अभय स्वरूप है।

तो नारायण, जैसे रज्जुका निश्चय हो जानेपर यह सर्प है, यह डण्डा है आदि सारे विकल्प निवृत्त हो जाते है और यह रज्जु ही है, यह अद्वैत हो जाता है, इसी प्रकार अपने आपाको जो निश्चय होता है, वह बिल्कुल ऐसा ही है! ✯

मन-माया

एक दिन एक महात्मासे संवाद हुआ कि माया किसको कहते हैं? वे बोले कि शब्दोंके चक्करमें ज्यादा नहीं पड़ना। परिभाषा, लक्षण—ये सब नहीं। जिसको हम लोग मन कहते हैं, उसीका नाम 'माया' है। अब माया मनका कारण है कि माया समष्टि है कि व्यष्टि-समष्टिका कारण है कि सदसद् विलक्षण है कि अनिर्वचनीय है—यह सब बात दूसरी है।

'माया' माने अपना मन। जब आप धीरे-धीरे गौर करेंगे कि यह दुनिया किसने बनाया है, तब मालूम पड़ेगा कि इसकी शक्ति बड़ी विलक्षण है।

अच्छा, आपकी जो पत्नी है या पति हैं, वे घरमें रहते हैं कि मनमें रहते हैं? इसपर आप कभी विचार करना। कहो कि सड़कपर चलते-फिरते तो हमने कई बार अपने पतिदेव या अपनी श्रीमतीजीको देखा है। तो सड़कपर जो हजारों आदमी चलते रहते हैं। परन्तु, उस स्त्रीमें जो पत्नीत्व है, पत्नीपना है और पुरुषमें जो पतिपना है—यह जो मनमें रहता है, स्त्री-पुरुषमें थोड़े ही रहता है।

तो देखो, एक माया तो यह हुई कि इसने पति, पत्नी, माँ, बाप, बेटा, ननद, भाभी, मौसी, नानी, ताई, चाची—ये सब बना लिया। इसको 'जीव-सृष्टि' बोलते हैं। जीव-सृष्टि जितनी है, उसको मानसी-कल्पना बोलते हैं। माने यह जीवके मनमें रहती है।

अब एक सीढ़ी और आगे बदलो! बोले भाई कि सम्बन्ध जितना है, वह मनमें रहता है। लेकिन एक कुम्हारने घड़ा बनाया, तो कुम्हार भी धरतीपर और उसका बनाया हुआ घड़ा भी धरतीपर। तो वह तो मनकी रचना नहीं है न! तो असलमें, कुम्हारका कुम्हारपना भी मनमें और उसका जो वह बनाया हुआ घड़ा है, वह भी मनमें! यह हमारे पास फोटो लेनेका जो कैमरा है, यह ऐसा है कि कोई चीज जब इसके भीतर प्रतिबिंबित होती है, जब विषयावच्छिन्न चैतन्य और अंत:करणावच्छिन्न चैतन्य दोनों जब एक होती है, तब वस्तुका ज्ञान होता है।

इसका मतलब यह हुआ कि जब घड़ा बाहर नहीं रहेगा, आँखके रास्तेसे हमारे भीतर आवेगा और जहाँ हमारा मन कुलबुलाता है, वहीं घड़ेकी परछाईं जब पहुँच जायेगी तो मन-अवच्छिन्न चैतन्य और घट-अवच्छिन्न चैतन्य दोनों एक देशमें होंगे, तब घड़ेका पता लगेगा, कुम्हारका पता लगेगा।

अच्छा, यह कुम्हार है, यह धोबी है—यह दोनोंका जो वर्गीकरण है, यह बाहर है कि मनमें है? यह काला है और यह गोरा है—यह जो दोनोंकी विशेषताका वर्गीकरण है, वह मनमें है कि बाहर है? अच्छा, यह मैं हूँ, यह तुम हो—यह वर्गीकरण मनमें है कि बाहर है? बोले भाई कि, हम तो सपना देख रहे हैं और सपनेकी चीजें ईश्वरने बनायी है। हम तो जाग्रत् देख रहे हैं और जाग्रत्की चीजें ईश्वरने बनायी हैं! तो बाबा, तुम्हारे मनमें ईश्वर और फिर ईश्वरकी रचना और फिर ईश्वरकी बनायी हुई चीजें!

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जितनी भूत, भौतिक सृष्टि है—अपने एवं दूसरोंके शरीर सहित यह सबकी सब मनमें मालूम पड़ती है1 इसीसे बौद्ध-लोग कहते हैं कि यह तो सारा-का-सारा विज्ञान प्रत्यय ही है! आलय-विज्ञान भी विज्ञान ही है और प्रवृत्ति-विज्ञान भी विज्ञान ही है। तो जो कुछ ऐन्द्रियक और अहंकारिक सृष्टि है, यह सब-का-सब विज्ञान है।

तो वेदान्ती लोग भी कहते हैं कि सब-की-सब कल्पना है। इसमें हमारा कोई अधिक विवाद नहीं है कि यह विज्ञान ही सर्वरूपमें भास रहा है कि चित्त सर्वरूपमें भास रहा है! देखो, स्वप्नमें अपने गुरुजी, चेलाजी, पतिजी, पत्नीजी, भाईजी, सासजी—सब तो अपने मनके चबूतरे पर ही और अपने मनके कमरेमें ही पैदा होते हैं और अपना-अपना काम करते हैं और मिट जाते हैं! वे सब मनके भीतर ही तो होते हैं न!

तो यह जो जाग्रत्-सृष्टि है, यह भी मनके पर्देपर और मनकी रोशनीमें दिखायी पड़ रही है! मनसे जुदा यह नहीं है!

अब लो जरा देखो कि बौद्धोमें और हमारे वेदान्तियोंमें अन्तर क्या हुआ? सुषुप्ति-कालमें जब विज्ञान, चित्त अथवा मन विषय-विषयी भावकी कल्पना छोड़ देता है, उस समयमें भी साक्षीके रूपमें अपना आत्मा जाग्रत् रहता है।

सारी दुनिया सोवे, तब जासो रोटी पोवे।

सारी दुनिया सो जाती है और आत्मदेव जागते रहते हैं। तो मन जब स्वयं दुनिया बनाकर दिखायी पड़ता तब भी और तब वह दुनिया नहीं बनाता है, विश्राम

करता है तब भी, आत्मा जो है वह ज्यों-का-त्यों रहता है। मुख्य बात यह है कि बौद्धोंने जो विज्ञानका स्वरूप ग्रहण किया है, वह स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था, दोनोंमें एक नहीं हो सकता और यदि वह दोनों अवस्थामें कदाचित् एक हो भी जाये, तो सुषुप्ति—अवस्थामें वह साक्षीके रूपमें नहीं रह सकता। इसलिए, वेदान्तियोंका जो विज्ञान है,—स्थिर विज्ञान, अमृत-विज्ञान, आत्मविज्ञान—वह तो अनन्त है, अखण्ड है, परिपूर्ण है। देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे शून्य है। और बौद्धोंका विज्ञान देशाकार, कालाकार, वस्त्वाकार है, शान्त है, चंचल है। वेदान्तियोंका जो 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' है प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप, वह स्थिर है।

अच्छा, तो देहमें मन है कि मनमें देह है? तो सारी दुनिया यह बात समझती है कि यह पाँवसे लेकर सिरतक यह शरीर है और इसके भीतर मन नामकी एक धातु रहती है। लेकिन एक मनकी धातु है, जिसमें ऐसे-ऐसे शरीर अबतक कितने बन गये और कितने बिगड़ गये भला! कभी पशु शरीर बना, कभी पक्षी शरीर बना, कभी मनुष्य शरीर बना, कभी पापी-पना बना, कभी पुण्यात्मापना बना, कभी सुखीपना बना और कभी दुःखीपना बना, कभी ब्रह्मापना और कभी गोरापना बना और मनीराम बिल्कुल एक। तो शरीर अल्पायु है और मन दीर्घायु है। शरीर अल्पदेशवृत्ति है और मन अनन्तदेश वृत्ति है और मन जो है, वह ऐसे-ऐसे शरीरोंका निर्माता है। इसलिए, शरीर मनका आधार नहीं है, मन शरीरका आधार है। तो इस आधेय शरीरसे अपना विवेक करके जब मनःशरीरमें स्थित हो जाते हैं, तो यह सम्पूर्ण सृष्टि मनमें ही दीखती है!

जैसे, कुम्हार और घड़ा—दोनों सपनेमें कौन होता है? अपना मन होता है! और, सपनेकी माटी? वह भी अपना मन है! इसी प्रकार, जब हम अपने मनमें इस जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव करने लगते हैं तब यह समूची जाग्रत्-अवस्था खाली यही शरीर नहीं, दुनियाके सारे शरीर मनमें दिखायी पड़ते हैं।

अच्छा देखो, रूप-लक्षण-युक्त होनेसे ये नेत्र हैं और शब्द-लक्षण-युक्त होनेके कारण ये श्रोत्र हैं और यह गंध-रूप सूँघना-लक्षण-युक्त होनेके कारण यह घ्राण है और यह रस-ग्रहण लक्षणसे युक्त होनेके कारण यह जिह्वा है—यह कौन जानता है? यह नाम सबके किसने रखे हैं? यह शब्द है, यह स्पर्श है, यह रूप है, यह रस है, यह गंध है—यह विषयोंका नाम किसने रखा? आँख, कान, जिह्वा आदि नाम इन्द्रियोंका किसने रखा? हाथ, पाँव, पेट, पीठ—ये नाम किसने रखा? और, इनमें जो अलगाव है, उस अलगावको कौन जानता है? तो यह सब

मनीरामका खेल है भला! इन्होंने ही बाह्य-भेदकी कल्पना की और इन्होंने ही अन्तर-भेदकी कल्पना की।

आगमें हाथ डालते हैं, जलता है तो कल्पना बनती हैं कि अग्नि हाथको जलाता है। मिर्च मुँहमें डालते हैं, मालूम पड़ता है कि कड़वा है, तो मिर्च कड़वी होती है—यह कल्पना बनती है। अब फिर कभी मिर्च देखते हैं तो कहेंगे कि भाई, खायेंगे तो मुँह कड़वा हो जायेगा! बचपनमें चाकूपर हाथ डाला तो कट गया, अब चाकू देखते हैं, तो सावधान हो जाते हैं कि कहीं अंगूठेमें लग न जाये!

तो नारायण, यह कार्य-कारण भावकी जितनी कल्पना है, यह सब मनीरामने बनायी है। इसी मनको 'माया' कहते हैं। आप देखना, दुनियामें ज्यादातर, ज्यादातर नहीं सब-की-सब न केवल संबंधकी रचना मनने की है, बल्कि वस्तु और उसके कर्ताकी रचना भी मनने की है। इसीसे वेदान्ती लोग जब अपनी आत्माका अनुसंधान करते हैं तो ऐसे करते हैं,

सति कार्यत्वे कारणता स्यात्, कारणसत्वे कार्यत्वं स्यात्।
कार्य-कारणाभावे कस्मात् जीवेशौ वा तत्त्वमसि॥

जब पहले कार्यकी सिद्धि हो जाये, तो कार्यको देखकर कारण सिद्ध किया जायेगा अथवा पहले कारणका प्रत्यक्ष हो जाये, फिर कारणको देखकर कार्यकी सिद्धि होगी। लेकिन, जब कार्य-कारण दोनोंका अभाव सिद्ध होता है, तब? बोले कि तब कार्योपाधिसे जीव कहाँसे होगा और कारणोपाधिसे ईश्वर कहाँसे होगा! उस समय तो कार्यकी उपाधिसे अथवा कारणकी उपाधिसे जिस वस्तुका वर्णन किया गया, वह तो एक ही है। **'तत्त्वमसि'**—वह तुम हो!

तो अपने स्वरूपका निश्चय करना कि मैं कौन हूँ? जैसे रस्सीका निश्चय हो जानेपर यह साँप है कि यह डंडा है कि यह धारा है कि यह फूल-माला है कि यह भूछिद्र है—ये सारे विकल्प निवृत्त हो जाते हैं और बिल्कुल रज्जुरेव—यह रज्जु ही है, यह निर्विकल्पज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार, आत्माका निश्चय होता है, अपने अद्वय स्वरूपका निश्चय होता है।



दृष्टान्त-मीमांसा

दृष्टान्तोंसे कई लोग चिढ़ते हैं। वे इसलिए चिढ़ते हैं कि कभी उन्होंने इनपर कायदेसे ध्यान नहीं दिया। सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा होती है न! देखो, मिट्टी और घड़ा एक है कि नहीं? वह घड़ेमें जो आकृति है, वह तो हाथकी रचना है। और, हाथने वैसी आकृति क्यों बनायी? बोले कि मनकी रचना है! मनकी रचना ही तो हाथकी रचनामें उतरी। अच्छा, यह माटी है और यह पानी है—यह भेद किसने किया? बोले कि मनने किया। तो यह दृष्टान्त हुआ कि जैसे मृत्तिकामें कल्पित, रचित घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं है, जैसे जलमें उत्थित तरंग जलसे भिन्न नहीं है, जैसे अग्निमें उठी हुई लपट या चिन्गारी अग्निसे भिन्न नहीं है, जैसे बाह्यवायु और प्राण—ये अलग-अलग नहीं हैं, जैसे घटाकाश और मठाकाशमें आकाश दोनों एक है, दोनोंकी उपाधि जुदा है; इसी प्रकार स्त्रीके शरीरमें, पुरुषके शरीरमें आकाश एक है और चलता नहीं है वह।

देखो, जैसे हम यहाँ बैठे हैं और हमारे मुँहमें एक पोल है! नहीं हो तो इतना बड़ा कहाँ से भीतर आ जायेगा? अच्छा तो, जब हम यहाँसे चलेंगे तो यह जो गालके भीतर पोल है, वह यहीं रह जायेगी कि हमारे साथ-साथ जैसे शरीर चलेगा, वैसे चलेगी? वह पोल जो है, वह स्थिर है। यह दीवार ही चलती है, आकाश तो अपनी जगहपर है। ऐसेही यह मन जो है, यह चलता हुआ मालूम पड़ता है, आत्मा स्थिर है और मनका चलता हुआ पड़नेसे यह दुनियाकी सब चीजें चलती हुई मालूम पड़ती हैं! इसीसे यह मनको माया बोलते हैं।

अच्छा, तो आपने देखा कि मिट्टीसे घड़ा जुदा नहीं है, एक। जलसे तरंग जुदा नहीं है, दो। आगसे चिन्गारी जुदा नहीं है, तीन। वायुसे प्राण जुदा नहीं है, चार और मठाकाशसे घटाकाश और महाकाशसे मठाकाश जुदा नहीं, पाँच। ये पाँचों भूतके दृष्टान्त हुए। तो ये सब-के-सब रचनाके दृष्टान्त हैं। माने उपादानसे उपादेय जुदा नहीं होता।

अब देखो, कल्पनाका दृष्टान्त! स्वप्न है और मनोराज्य है—ये मानसिक दृष्टान्त हैं। कभी-कभी आँख बन्द करके कोई बात सोंचने लगते हैं और चले जा रहें हैं मनमें। एक गड्ढा पड़ गया और गिरे। बच गये। यह मनोराज्य अर्द्धस्वप्न होता है। तो मनोराज्यमें जो गड्ढेमें गिरना है, वहाँ गिरना है क्या? वह तो मनकी माया है! सपनेमें देखो, सम्राट् हो गये, देवता हो गये!

कभी-कभी सपने भी ऐसे आते हैं, जो याद रहते हैं, स्थिर हो जाते हैं। जिस दिन मैंने प्रयागराजमें दण्ड-ग्रहण किया, तो संन्यास-विधिके अनुसार रात्रि-जागरण करना पड़ता है। हमारा तो बिल्कुल वैदिक-विधिसे संन्यास हुआ। वेदाचार्य पण्डित मार्तण्डजी काशीसे आये थे। तो अग्नि-स्थापन होनेपर रात्रि जागरण करना पड़ता है! मैं जागनेके लिए बैठा। था तो बैठा हुआ, पर सपना आ गया। इसका मतलब बैठे-बैठे सो गया। तो क्या सपना आया कि मैं तो सिंहासनपर बैठा हूँ। यह प्रेमकुटी वाले जैसा सिंहासन बिछाते हैं, ऐसा नहीं। बहुत बढ़िया सिंहासनपर बैठा हूँ! क्योंकि, शंकराचार्योंको तो सिंहासनपर बैठे देखता ही था! तो मैंने देखा कि मैं तो दण्ड लेकर सिंहासनपर बैठा हूँ और एक ओर हमारे पिता और एक ओर पितामह दोनों जल लेकर कुशसे हमारे ऊपर अभिषेक कर रहे हैं, वेदमंत्र बोल रहे हैं!

अब देखो, था तो सपना! पर वह स्वप्न जब टूटा, तब मनमें क्या ख्याल हुआ कि हमारे पिता-पितामहने हमारे संन्यासका अनुमोदन कर दिया!

तो यह स्वप्न जो है, यह मनसे सृष्टि कैसे बनती है, इसका दृष्टान्त है। पंचभूत जो हैं, वे भौतिक सृष्टि उपादानसे भिन्न कैसे होती है, यह बतानेके लिए हैं। और मनोरथका दृष्टान्त भी मनसे सृष्टि कैसे बनती है, यह बतानेके लिए है!

मनोरथका एक दृष्टान्त बड़ा ही मशहूर है—और हमने अपने बाबाके मुखसे बचपनमें सुना है! एक आदमीने एक घड़ा तेल खरीदा। तो मजदूरके सिरपर रखवा-कर चला। आगे-आगे मालिक चला और पीछे-पीछे मजदूर तेलका घड़ा सिरपर लेकर चला। अब रास्तेमें उस मजदूरने सोचा कि हम यह घड़ा पहुँचा देंगे तो हमको दो पैसे मजदूरीके मिलेंगे! तो फिर हम उससे मुर्गी खरीदेंगे, वह बहुत-से अण्डे देगी, बच्चे होंगे और फिर बहुत-सी मुर्गियाँ हो जायेंगी! तो उनको बेच-बेचकर बकरे खरीदेंगे! फिर गाय खरीदेंगे, घोड़ा खरीदेंगे! फिर मकान बन जायेगा। फिर ब्याह हो जायेगा, बच्चे हो जायेंगे और फिर मैं बुड्ढा हो जाऊँगा! और दरवाजेपर खाटपर बैठकर हुक्का गुड़-गुड़ाऊँगा! इसी बीचमें हमारी घरवाली बेटेको भेजेगी कि जाओ, अपने पितासे कह आओ कि यह काम करदें और मैं कहूँगा कि हट, हर समय आता है! सो, उसी समय उसके सिरपरसे तेलका घड़ा गिर गया। अब यह मालिकने पीछे घूमकर देखा कि तेल गिर गया है। वह बोला कि तुमने हमारा एक घड़ा नुकसान कर दिया! मजूदर बोला कि बाबू, तुम्हारा तो एक घड़ा नुकसान हुआ! हमारी तो मुर्गी, बकरी, गाय, घोड़ा, मकान, औरत, बाल-बच्चे सब-हमारा तो सर्वस्व नष्ट हो गया!

देखो, यहाँ मन उपादानक सृष्टि है, भूतोपादानक सृष्टि नहीं है। यह सृष्टि मनसे जुदा नहीं होती है। ऐसे-ही वस्तुत: यह सारी सृष्टि मन-उपादानक ही है। क्यों? सुषुप्तिमें इसकी प्रतीति नहीं होती है। यह शरीर भी मन-उपादानक है।

अब इससे आगे बौद्ध-भ्रमका दृष्टान्त है। होती है रस्सी और समझते हैं साँप। यह मानसिक नहीं है। यह भ्रान्तिका दृष्टान्त है और भ्रान्ति बुद्धिमें होती है। तो यह नहीं समझना कि यह जो दृष्टान्त हमलोग देते हैं वे कोई अव्यवस्थित है। सो बात नहीं। उनकी व्यवस्था है। वे तो जो लोग वेदान्तकी दृष्टिसे तत्त्वका निरूपण नहीं करते हैं, अपनी बुद्धिका जिनको बहुत अभिमान होता है, वे इन दृष्टान्तोंको अव्यवस्थित बताते हैं। बुद्धिका बड़ा भारी अभिमान होता है। बुद्धिके अभिमानसे सिवाय शून्यत्वके और किसीकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसीसे उस सिद्धान्तका नाम 'बौद्ध' है, क्योंकि वह बुद्धि-प्रधान है। परन्तु, अपनी बुद्धिपर जो अन्धश्रद्धा है वह भटकाती है—देखो, दूसरेकी बुद्धिको जब बहुत मानते हैं तो अन्धश्रद्धा है, पर जब अपनी बुद्धिको बहुत मानते हैं तो क्या वह अन्धश्रद्धा नहीं होती? अरे भाई, जैसे दूसरेकी बुद्धिमें विप्रलिप्सा होती है, वह ठग सकता है, जैसे दूसरा समझनेमें गलती कर सकता है, दूसरेकी बुद्धि वासना-युक्त हो सकती है; वैसे क्या अपनी बुद्धि वासना-युक्त नहीं हो सकती? क्या अपने समझनेमें गलती नहीं हो सकती? क्या अपनी बुद्धि किसी चीजको ठीक-ठीक ग्रहण न करे—ऐसा नहीं हो सकता?

तो नारायण, बुद्धिके भ्रमका दृष्टान्त क्या है? रज्जुमें सर्प, सीपमें चाँदी।

अब देखो, सचका ज्ञान होनेपर भी भ्रान्ति-दर्शनकी निवृत्ति नहीं होती—इसमें दृष्टान्त क्या है? आकाशकी नीलिमा।

रज्जु-सर्पमें रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्पकी भ्रान्ति तुरन्त मिट जाती है। लेकिन, आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेपर भी आकाशकी नीलिमा भासती रहती है। यद्यपि वह भ्रान्ति-सिद्ध है, अग्रहण सिद्ध है। इसको सोपाधिक भ्रान्ति बोलते हैं। निरुपाधिक भ्रान्ति जहाँ होती है, वहाँ भ्रान्तिके मिट जानेपर भ्रान्तिका विषय भी मिट जाता है और सोपाधिक-भ्रान्तिमें भ्रान्तिके मिट जानेपर भी भ्रान्तिका विषय नहीं मिटता।

तो हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि आप ऐसा नहीं समझना कि जो लोग दृष्टान्त देते हैं, उनके दृष्टान्त किसी अविवेकपर अवलम्बित है। इनमें भी बड़ी व्यवस्था है, बड़ा विवेक है।

☆

विकल्पोंका मूल : माया

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्॥ १९॥

यह प्राण है, यह मन है, यह बुद्धि है, ये भूत हैं, गुण हैं, तत्त्व हैं, वेद हैं— ऐसी अनेक कल्पनायें चित्तमें होती हैं। किसने किया? स्वयं अपने आपमें अपने आप ही यह कल्पनाःकी गयी। इसकी बड़ी अद्भुत लीला है। आप किसी दिन सुबह उठनेपर ऐसी कल्पना कर बैठें कि आजका दिन हमारा अच्छा नहीं है, तो सारे दिन दुःखी रहेंगे। सबेरे उठकर यदि कल्पना करलें कि आजका दिन हमारा बहुत अच्छा है, मांगलिक है—आज गणेशजीका स्मरण हुआ, आज सागरजीका दर्शन हुआ, आज भगवान्‌का स्मरण हुआ, 'पुण्यश्लोकोनलोराजा'। प्रातः उठकर बोले,

'प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं'।

तो देखो, क्या आनन्द आता है!

ऐसा मैंने कई बार जान-बूझकर कल्पनाकी कि मेरी तबीअत आज अच्छी नहीं है, मैं आज बीमार हूँ। तों शुरू-शुरूमें यह था कि देखें बार-बार कल्पना करनेका क्या असर शरीरपर पड़ता है। सो, बेवकूफीसे नहीं, अनजानमें नहीं, कल्पना हो नहीं गयी, जानबूझकर की कि मैं बीमार हूँ और नारायण, घण्टे-दो घण्टेके बाद ही ऐसा लगा कि अरे, मैं तो बहुत बीमार हूँ, मैंने जानबूझकर, परीक्षा करनेके लिए कल्पनाकी—यह बात बिल्कुल भूल गयी और यह मालूम पड़ने लगा कि मैं तो बहुत बीमार हूँ।

यह औरतें जो तकियेके नीचे सिर गड़ाकर कभी-कभी सो जाती हैं, कल्पनामें से ही उनकी बीमारी निकलती है। वह बीमारी सचमुच आती नहीं है।

हमारे एक महात्मा हैं। उनके पास जाओ और एक-आध बार हाथ छू लो, पाँव छू लो, नाड़ी पकड़ लो और कहो कि स्वामीजी, आपको तो थोड़ा बुखार

मालूम पड़ता है। 'हाँ, बुखार है।' 'देखो न, ये हमारे सेवक लोग कुछ बताते नहीं हैं कि हमको बुखार है कि नहीं है। तुमने आकर बता दिया, बहुत अच्छा किया। 'ए, रजाई ले आओ।' और, महाराज वे रजाई ओढ़कर सो गये। थोड़ी देरमें देह गरम हो गयी। बुखार आ गया।

आपको पहले मैंने सुनाया था कि हमारे एक मित्रको कर्णवासमें बहुत तेज बुखार था। एक महात्माने कहा कि अगर तुमको कल बुखार आवेगा तो हम गंगामें कूदकर मर जायेंगे और, उनका बुखार उतर गया।

तो नारायण, मैं दुःखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—दिनभर अगर रटोगे तो दुनिया भरका दुःख तुम्हे ही आ लगेगा! क्यों? सब लोग दुःखका अनादर करते हैं कि तुम हमारे घर मत आओ, हमारे घर मत आओ और जब कोई अपने मनमें सोचने लगता है कि मैं दुःखी हूँ, तो दुःख सोचता है कि चलो, एक-दो दिनके लिए कोई सहारा तो मिला। आश्रय मिला। अब इसके अन्दर चलकर बैठें। जैसे कोई कहे कि आओ बैल, हमको मारो। ऐसे जो लोग अपनेको दुःखी समझते हैं, वे दुःखको कहते हैं कि हे दुःख, आ हमको लग जा।

तो, '**प्राणादिभिरनन्तैश्च**'।

यह सृष्टि कैसे हुई? किसीने कहा कि प्राणसे हुई। एकने कहा कि भूतसे हुई। तरह-तरहकी कल्पना है। आगे आपको सुनावेंगे। यहाँ यह बता रहे हैं कि आत्माके सम्बन्धमें जो विविध प्रकारकी कल्पनाकी गयी है, ये क्या है? बोले कि,

मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्।

यह उस आत्मा देवताकी माया है।

जब मरने लगते हैं, तब क्या कल्पना करने लगते हैं? तब जरा ग्रन्थियाँ शिथिल होती हैं न। तब मनमें आता है कि मैंने उनको मारा, मैंने उनका चुरा लिया, मैंने उनको दुःख दिया, सो अब तो हमको यमलोकमें जाना पड़ेगा। तो फिर यमराजके दूत दिखायी पड़ने लगते हैं। '**मायैषा तस्य देवस्य**'—यह आत्मदेवकी माया है कि हाथमें फन्दा लिये यमराजके दूत दिखायी पड़ते हैं।

बोले कि अरे भाई, हमने दान किया, पुण्य किया, व्रत किया। अब मर रहे हैं, कोई काम नहीं देंगे क्या? तुरन्त विमान दिखायी पड़ेगा। रुनझुन-रुनझुन घण्टी बजेगी। यह '**मायैषा तस्य देवस्य**'—उस देवताकी माया है, माया। यह जादूका खेल है।

तो देखो, तुम अपने बारेमें सोचोगे कि मैं दुःखी। तो तुम दुःखी। तुम

अपने बारेमें सोचोगे कि मैं सुखी। तो तुम सुखी। यह आत्मा कल्पवृक्ष है। इसके नीचे बैठकर अपनेमें दुर्भाव जोड़ो, तो दुर्भाव और सद्भाव जोड़ो, तो सद्भाव प्राप्त होगा।

मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयं।

'तस्य देवस्य एषा माया'। देखो, देवतालोग रूप बदलनेमें बड़े निपुण होते हैं। जैसे निपुण नट रंगमंचपर कभी स्त्री बनकर आता है और कभी पुरुष बनकर आता है, कभी भिखारी बनकर आता है और कभी सेठ बनकर आता है। तो निपुण नट वह होता है न, जो वेश बदलनेमें बड़ा निपुण हो। देखो, राजनेता लोग जिस देशमें जाते हैं, वहाँकी पोशाक पहन लेते हैं, वैसा वेश धारण करके नाचते हैं, गाते हैं, उस ढंगका खाना खाते हैं। वहाँके लोगोंमें मिल जाते हैं और फिर, अपने देशमें आते हैं तो जैसे-के-तैसे।

तो ये जो आत्मदेव हैं, ये रूप बदलनेमें बड़े निपुण हैं।

जथा अनेकन रूप धरि, नृत्य करे नट कोय।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपुन होय न सोय॥

श्रीमद्‌भागवतमें आया है,

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।

जैसे नट मछली बनकर आता है, कछुआ बनकर आता है, सूअर बनकर आता है, शेर बनकर आता है; ऐसे ही ये आत्मदेव जो हैं, ये मछली बनकर आते हैं। मछली बनकर आना माने ये अपना शरीर बहुत चिकना-चुपड़ा करके आते हैं कि दूसरे लोग हमको देखकर मोहित हो जायें और हमको भोगना चाहें। जैसे बंगालीके सामने मछली, वैस जवानोंके सामने लड़की।।

देखो, आपलोग बुरा मत मानना। जब हम अपनेको किसीके सामने भोग्य बनाकर उपस्थित करते हैं तो वह बंगालीके सामने मछलीके उपस्थित होनेके समान ही है। मिठाईवाला अपनी दूकानको सजाता है कि देखकर ही हमारा मन लुभा जाये। कपड़ेकी दूकानवाला अपनी दूकानको सजाता है कि कोई खरीदनेके लिए आवे तो उसपर लुभा जाये। वैसे-ही जब हम अपनेको बहुत सजा-सँवारकर किसीके सामने उपस्थित करते हैं, तो जैसे मछली देखकर बंगालीकी जीभपर पानी आवे; अरे, बंगाली मत बोलो, कोई दूसरा नाम बोलो। बंगालीसे हमारा कोई द्वेष नहीं है। बंगाली तो हमारे बड़े मित्र हैं। वह तो बंगाल, मिथिला, उड़ीसाकी ऐसी रिवाज ज्यादा है, इसलिए ऐसा कहता हूँ। तो देखो, अपनेको भोग्य बनाकर

किसीके सामने उपस्थित करना कि हमारा पकौड़ा बहुत अच्छा बना है, जरा एक चखकर देख लो। यही तो मछली होना है न।

हे भगवान्। ये आत्मदेव मछली होकर आते हैं। ये चीनमें जाकर कछुएका आचार हो जाते हैं।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि अपनेको भिन्न-भिन्न रूपोंमें सजाना—इसका नाम 'माया' है। देखो, तुम भोक्ता हो। भोक्ता नहीं, तुम उपलब्धा हो। भोग्य, भोक्ता और उपलब्धामें ऐसे फर्क करो कि हमको दूसरे लोगे भोगें, ऐसे रूपमें सजाना—यह भोग्य बनना है; हमको दूसरे लोग भोग्यके रूपमें प्राप्त होवें, ऐसे रूपमें अपनेको सजाना—यह भोक्ता बनना है और संसारसे तटस्थ रहना, भोक्ता और भोग्यके भावसे अपने को तटस्थ रखना—यह उपलब्धा होना है।

तो यह मायाका चक्कर बड़ा भारी है। **'मायैषा तस्य देवस्य'**। मछली बनकर आया, कछुआ बनकर आया। देखो, मण्डूक बनकर आया, तो माण्डूक्योपनिषद्का उपदेश कर दिया। श्वेताश्वतर बनकर आया, तीतर बनकर आया। तो **'तस्य देवस्य एषा माया'**—यह उस परमेश्वरकी माया है।

माया क्या है? अपने आपका जो अनजाना रूप है, उसको 'वह' बोलते हैं। ईश्वर माने क्या होता है? 'ईश्वर' माने आत्माका अज्ञात रूप, परोक्षत्वेन कल्पित रूप। है तो आत्मा ही। अपना आपा ही है। लेकिन, जब हम इसको पहचानते नहीं हैं और परोक्ष मानते हैं तो उसका नाम 'ईश्वर' होता है और जब ईश्वरको साक्षात् आत्माके रूपमें जान लेते हैं, तो उस ईश्वरका ही नाम आत्मा है। चीज एक ही है। ज्ञानरूपसे उसका नाम आत्मा है और अज्ञात रूपसे उसका नाम 'ईश्वर' है। पहचाना हुआ नहीं है।

देखो, एक आदमी दूरसे सड़कपर आ रहा हो। तो जबतक पहचाना नहीं गया, तबतक उसका नाम है कि एक मनुष्य आ रहा है और, जब पहचान लिया तब? बोले कि हमारे भाई साहब आ रहे हैं या हमारे पतिदेव आ रहे हैं या पिता आ रहे हैं! यह क्या हुआ? अब अगर कोई बालक अपनी परछाईंको देखकर ही कोई दूसरा समझ रहा हो तो? यह ऐसी सृष्टि है। **'मायैषा तस्य देवस्य'**। इसीका नाम 'माया' है।

तो स्वयंप्रकाश परमात्मा अपनेको भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकट कर रहा है और इतना बढ़िया-बढ़िया रूप प्रकट करता है यह कि स्वयं अपने रूपोंपर मोहित हो जाता है कि अरे, यह कौन है? आपने सुना होगा कि श्रीकृष्ण भगवान्ने एक बार

शीशा देखा तो अपना प्रतिबिम्ब देखा। तो अपनेको बड़े-ही मलूक लगे, बड़े सुन्दर लगे। तो सोचने लगे कि यह कौन है भाई? यह शीशेमें कौन दिख रहा है? मैं राधा होता तो इसके साथ ब्याह करता। तो 'यया सम्मोहितः स्वयं'। अपनी मायासे, अपने प्रतिबिम्बसे स्वयं मोहित हो गये। देखो, मिलनमें भी वियोगका भ्रम हो जाता है। राधारानीकी गोदमें सिर और व्याकुल हो रहे राधे, राधे और, राधारानी श्रीकृष्णकी गोदमें और व्याकुल हो रहीं कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण। यह क्या है? इसका नाम 'माया' है। 'यया सम्मोहितः स्वयं'—अपनी मायासे स्वयं सम्मोहित हो गये। अपुनपौ आपुनहि विसारय।

कहते हैं कि शीश-महलमें एक कुत्ता पड़ गया। अब वह देखे कि चारों ओर कुत्ते हैं। उसे लगे कि ये सब हमको काटनेके लिए आ रहे हैं। वह भूँके और दौड़े तो वे कभी दौड़ते हुए मालूम पड़े और सब अपनी ओर ही आते हुए मालूम पड़ें। 'भ्रमि भ्रमि भूकि मर्‍यो'। यह क्या है? अपनी तो माया और अपनेको ही मोहित करती है। शंकराचार्यने अपने भाष्यमें लिखा है,

यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया ययायं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति।

जैसे कोई जादूगर ऐसा जादू फैलावे कि शुद्ध निर्मल आकाश ऐसा मालूम पड़ने लगे कि उसमें हरे-भरे पत्तों वाले बहुतसे पेड़ हैं और उनमें फूल खिले हुए हैं, उनमें फल लगे हुए हैं। फल, फूलसे लदे हुए वृक्षोंका एक जंगल है आकाशमें।

कोई जादूगर ऐसा जादू फैलावे तो कुछ होता है? कुछ नहीं होता। हमारे आत्मदेव जो हैं, इनकी माया भी देखो कि क्या बढ़िया-घटिया चीजोंकी दूकान लगायी है। इसीको भगवान्‌ने कहा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता, ७.१४)

यह मेरी मायाके पार जाना बड़ा कठिन है। जो मेरी शरणमें आते हैं, वे इस मायासे पार जाते हैं।



सृष्टि का मूल-तत्त्व : विभिन्न मत (१)

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः॥ २०॥

मायासे अपने बारेमें क्या-क्या विकल्प किया गया है। तो किसी-किसीको यह भ्रम होता है कि सृष्टिका मूलकारण प्राण है। 'प्राण' माने हिरण्यगर्भ अथवा 'प्राण' माने तटस्थ ईश्वर अथवा 'प्राण' माने बीजात्मा अव्याकृतोपाधिक परमेश्वर। जहाँ नाम-रूप प्रकट नहीं हुआ है, भूतसूक्ष्मकी उस चैतन्योपाधिक दशाका नाम 'प्राण' है।

तो प्राणवेत्ता लोग कहते हैं कि यह सृष्टि प्राणसे हुई। उनकी पहुँच वहींतक है 'प्राण इति प्राणविदः'। जिनकी पहुँच केवल प्राणतक ही है, वे समझते हैं कि आत्मा प्राण ही है। इस बातको ऐसे लो कि जब आदमी बीमार पड़ता है और मरने लगता है तो घरके लोग बारम्बार जाँच करते हैं कि जिन्दा है कि मर गया! उस समय उनकी परीक्षाका विषय, कौतूहलका विषय वही होता है। रूई लेकर नाकपर लगाते हैं कि साँस अभी चल रही है कि नहीं चल रही है। यह उस समय उनका ख्याल नहीं होता है कि साँस बन्द होनेसे हम खुश होंगे कि साँस चलती रहनेसे हम खुंश होंगे। वे तो केवल जाँच करते हैं कि साँस चल रही है कि नहीं। साँस नहीं चलती तो कहते हैं कि अब प्राण राम निकल गये!

प्राणराम जब निकलन लागे, उलट गयी दोउ नयन पुतरिया।

डरना नहीं। मौत सबके जीवनमें आती है। यह मृत्यु जीवनका एक ठोस सत्य है। यह ठोस क्यों है? क्योंकि, तुमने अपनेको परिच्छिन्न मान रखा है। तो परिच्छिन्न वस्तु कोई ऐसी नहीं होती, जो मरे नहीं। यह परिच्छिन्न वस्तुका सौभाग्य ही है, ऐसा कहो कि यह दुर्भाग्य ही है, उसके साथ यह किस्मत जुड़ी हुई है कि परिच्छिन्न होकरके कोई वस्तु हमेशा जिन्दा नहीं रह सकती।

यह साधुओंमें बड़े मजे-मजेदार साधु होते हैं। तो कोई-कोई साधु ऐसे कहते हैं कि देखो, हम पैदा थोड़े ही हुए हैं। हम माँ-बापसे पैदा नहीं हुए हैं। हर गाँवके लोग सुनते हैं तो आश्चर्यचकित हो कहते हैं, 'अच्छा महाराज, आप बिना माँ-बापके ही आये। बड़ा चमत्कार है।' वे बोले कि हम मरेंगे थोड़े ही।

एक साधु बड़े मशहूर थे। नाम लेना तो उनकी शानके खिलाफ होगा। वे बोलते थे कि देखो, हमारे सामने पचासों बार तो रामावतार हो चुका है और वशिष्ठ विश्वामित्र हाथमें पोथी ले-लेकर हमारे सामने बैठकर हमसे पढ़ चुके हैं भला। अरे, तुमलोग जान नहीं सकते हो बाबा कि साधुओंकी माया किस तरहकी होती है! वे कहते थे कि अब हम कभी नहीं मरेंगे और, वे हमारे सामने ही मर गये। उनका जन्म तो मैंने नहीं देखा था। क्योंकि, उम्र मेरेसे बड़ी थी। लेकिन उनको मरते मैंने देखा।

तो नारायण, परिच्छिन्न जो पदार्थ है, जीवन है, मृत्यु उसके लिए एक ठोस सत्य है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता, २. २८)

तो लोग साँसकी परीक्षा करते हैं कि अभी चल रही है कि नहीं चल रही है। तो दो जने साँसकी परीक्षा करते हैं और दो जने लकड़ीका बन्दोबस्त करते हैं और दो जने गाँवमें यह खबर फैलाते हैं कि भाई, तैयार रहना। अब श्मशानपर बारात ले चलनेका समय आ गया है। राम नाम सत्य है। तो प्राण-ही आत्मा है। साँस निकल गयी। बस, खतम!

अरे भाई, प्राण आत्मा नहीं! असलमें प्राण तो ईश्वर है। अगर श्वास न हो तो कोई चीज बने नहीं। जैसे आप देखो, गेहूँ आपके घरमें दानेके रूपमें होता है। आप समझते हैं कि इसमें साँस होती है कि नहीं? आपके ख्यालमें कभी यह बात आती नहीं होगी। आप कभी गीली जगहमें उसको डाल दो। तो जो सूखा था, उसका जब छिलका कुछ नरम पड़ा और भीतरसे थोड़ा फूला तो अंकुर निकल आया। अगर भीतर हवा न होती तो वह फूलता कैसे? और, भीतर हवा न होती तो अंकुर ऊपरको बढ़ता कैसे? यह जो गेहूँमें ऊर्ध्वगति हुई, वह प्राण विद्यमान होनेसे हुई।

तो सृष्टिके जो वेत्ता हैं, वे कहते हैं कि ईश्वरके अन्दर यह सृष्टि जो है, यह फूलती-पटकती है। जैसे चना फूलता-पटकता है, तो चनेकी जो सूखी दशा है, उसको 'प्रकृति, माया' बोलते हैं और जो फूली हुई दशा है, उसको 'महत्तत्त्व' बोलते हैं और उसमें जो अंकुरकी दशा है, उसको 'अहंकार' बोलते हैं और उसमें जो पत्ते निकलते हैं, वह पंचतन्मात्रा है। तो यदि चनेमें प्राण आदि तत्त्व नहीं होवें तो चनेसे फिर पौधा कैसे निकले और उसी चनेको खाकर मनुष्य प्राणवान् कैसे

होवे? तो असलमें, जगत्के मूलमें एक प्राण नामकी वस्तु है, उस प्राणसे ही यह समूची सृष्टि होती है।

अब देखो, इसी प्राणको जड़ताकी दृष्टिसे 'महत्तत्त्व' बोलते हैं और चैतन्यकी दृष्टिसे उसको 'हिरण्यगर्भ' बोलते हैं। तो प्राण माने 'हिरण्यगर्भ'। 'हिरण्यगर्भ'से ही यह समूची सृष्टि हुई!

सृष्टिके सम्बन्धमें मतवादियोंमें नाना प्रकारके विकल्प तो मान्य हैं ही और फिर अपने बनाये हुए मतमें इतना आग्रह हो जाता है कि आदमी उसीमें फँस जाता है। गाँवमें कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है, आदमी जिद्द कर बैठते हैं, अड़ जाते हैं कि यह बात अब हमारे मुँहसे निकल गयी। अब इसके लिए भले मरना पड़े, लेकिन हम अपने मुँहकी बातको बदल नहीं सकते। तो अपने मुँहमें ऐसा क्या भरा हुआ है? बात अगर अपनी झूठी हो गयी तो मान लो कि झूठी हो गयी भाई! उसको सच करनेके लिए इतनी जिद्दपर क्यों उतर आना कि जिससे दुःखकी सृष्टि हो जाये। एक तो मुँहसे बात झूठी निकली और दूसरे, उसपर जिद्द करके दुःख बुला लिया। तो घाटा बड़ा हो गया न। कोई गलत बात निकल गयी, तो मान लो कि हाँ, गलत है।

परन्तु, मतवादी जो होते हैं, उनका मैं-मेरा इतना प्रबल होता है कि वे अपनी गलती माननेको राजी नहीं होते और उसीपर अड़ जाते हैं, लड़-भिड़ जाते हैं, अकड़ जाते हैं। यह बड़ा दुःख है। इसीसे सृष्टिका रहस्य समझना आवश्यक है।

आप दिनोंका नाम जानते हैं न—सोमवार, मंगलवार, बुधवार आदि। इन सातों दिनोंमें सूर्य उदय होता है और रोज रात भी होती है। सोमवार सफेद होता हो और मंगलवार लाल होता हो और बुधवार हरा होता हो, गुरुवार पीला होता हो—ऐसा कोई भेद इनमें है क्या? ये कालके हिस्से हैं और पहले जमानेमें यह रिवाज था कि आज नम्बर एक दिन है, कल नम्बर दो दिन है, परसों नम्बर तीन दिन है—ऐसे बोलते थे। आकाशमें जो ग्रह हैं, उनके जो कल्पित नाम हैं, उनके आधारपर ये नाम रख लिए—सोम, मंगल, बुध आदि।

दिनोंकी गिनती करनी हुई तो चन्द्रमाके साथ उसको मिलाकर तिथियाँ बना दीं। जैसी आकाशमें सौर-गति है, उसके आधारपर महीनोंको बैठा दिया। तो यह सब कालमें कल्पित हैं। तो उसका उर्दूमें नाम दूसरा होता है भला! हमको याद है, हमारे बाबा श्लोक पढ़ते थे—

यदा मुश्तरीको भले माल खाने।

'मुश्तरीक' माने सूर्य जब 'मालखाने' माने धनमें अर्थात् द्वितीय स्थानपर होवे, तो क्या होता है? तो नारायण, उर्दूमें सूर्यका नाम 'मुश्तरीक' है भला! अंग्रेजीमें कुछ दूसरा ही है। अब कोई इसी बातपर लड़ जाये कि आकाशमें जो सबसे ज्यादा प्रकाशमान् पिण्ड है, उसका नाम 'सूर्य' ही है, 'मुश्तरीक' नहीं! तो यह जैसे जिद्द है और इसी जिद्दको लेकर हिन्दू, मुसलमान, पारसी ईसाई आपसमें लड़ते हैं।

तो जगत्के बारेमें जैसे-जैसे मनुष्यका ज्ञान होता है, वैसे-वैसे उसकी यह जिद्द ढीली पड़ती है। **बुद्धेः फलमनाग्रहः।**

बुद्धिका फल यह है कि आदमी जिद्दी न हो! 'जिद्दी' माने मूर्ख। वह तो एक चीजको पकड़कर मूर्च्छित हो गया। '**मूर्च्छिति इति मूर्खः**'।

अपने बचपनकी एक बात आपको सुनाते हैं। हमारे बाबाने एक मिट्टीका खिलौना लाकर दिया। तो हमारे भाईने उसको तोड़ दिया। अब हम रोने लगे कि हाय-हाय, हमारा खिलौना टूट गया। तो बाबा बोले कि तुम रोते क्यों हो? यह तो माटीका बना हुआ खिलौना था। तो माटीका नाश नहीं हुआ। माटी तो मौजूद है। देखो, हम इससे दूसरा खिलौना बना देते हैं। अरे, उसीकी तुम्हारी इच्छा हो तो वैसा-ही बना देते हैं। अब हम रोने लगे कि नहीं, हमारा तो वही चाहिए! हमको दूसरा नहीं चाहिए, वैसा भी नहीं चाहिए। हमको तो वही चाहिए! अब वही तो न हमारे बाबा दे सकते थे और न हमारे बाबाके बाबा दे सकते थे। उसका नतीजा क्या हुआ? हम रोवें!

जैसे देखो, एक स्त्रीने सोनेका जेवर बनवाया। उसको सोनेकी पहचान तो है नहीं। जेवर टूट गया। अब वह कहे कि हाय-हाय, हमारा जेवर टूट गया। उसके पतिने कहा कि बाबा, इसमें एक पैसेका भी नुकसान नहीं हुआ है। जितनेका सोना पहले था, उतनेका ही सोना अब है। सोना तो अपने हाथमें है न! बोली कि हम सोना-वोना नहीं चाहते हैं!. हम तो जेवर जानते हैं! पति बोला कि हम सुनार बुलाकर फिर वैसा ही जेवर बनवा देते हैं! देवी, खुश तो हो जाओ! वह बोली कि नहीं, हमको तो वही चाहिए। हे नारायण!

तो यह जो सृष्टि है न, इसमें जो पति, पत्नी, पुत्र, माता, पिता हैं—ये सब जिस सोनेमें जेवरकी तरह और मिट्टीमें खिलौनेकी तरह बने हुये हैं, अगर उस मूल मसालेको तुम पहचान जाओ, तो इनके टूटनेका कोई असर नहीं पड़े!

नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया।
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम् ॥

(भागवत, १०.८७.२६)

कोई टूटे हुये जेवरको उठाकर नहीं फेंकता! क्यों नहीं फेंकता? क्योंकि, वह तो सोना ही है।

तो यह जो सृष्टिमें स्त्री है, पुरुष है, पिता, पुत्र है, माँ, बेटी है—यह क्या हैं? यह बिल्कुल शुद्ध सोना है। कोई मरता-वरता नहीं है। कितना कीमती सोना है यह 'हिरण्यगर्भ'! **'प्राण इति प्राणविदः'**। सोनेकी तरह यह ठसाठस ठोस होता है, परिपूर्ण भरा हुआ है। उसीमें फुरणा होनेसे यह सृष्टि बनती है। यह हिरण्यगर्भका स्वप्न है, संकल्प है। तो अगर इतनी बात भी आदमीकी समझमें आ जाये कि हम सब हिरण्यगर्भके स्वप्नमें हैं, तो उसका दुःख मिट जाये! प्राणात्मा, बीजात्मा हिरण्यगर्भ ही इस सृष्टिका मूलतत्त्व है—ऐसी कल्पना करके लोगोंने अपना दुःख मिटा लिया।

देखो, अगर तुम्हारे अंदर काम करनेकी शक्ति है, तो अपना दुःख मिटाओ उससे! तुम्हारे अन्दर प्रेम करनेकी शक्ति है, तो उससे दुःख मिटाओ अपना! तुम्हारे अन्दर विचार करनेकी शक्ति है तो अपना दुःख मिटाओ उससे! काम करके तो दुःख न मिटावें, और बढ़ा दें! प्रेम करके दुःख मिटाते नहीं, और बढ़ा देते हैं। यह जो तुम्हें कर्मकी शक्ति मिली है, यह मृत्यु-पर विजय प्राप्त करनेके लिए है। यह जो, तुम्हें मनःशक्ति मिली है, यह विषयासक्तिपर विजय प्राप्त करनेके लिए है और यह तुम्हें जो विचार-शक्ति मिली है, यह द्वैत-भ्रमका, अज्ञानका उच्छेद करनेके लिए हैं। लेकिन, तुम तो उलटा ही करते हो! बुद्धि जो है, वह और भटका दे; मन और अटका दे, कर्म करके और मौतके पंजेमें फँस जायें! यह विपर्यय हो गया न!

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'।

कर्म करके अपनेको देहातीत समझो। मैं देह नहीं हूँ, देहसे अतिरिक्त जीव हूँ! और मृत्युसे पार हो जाओ।

ईश्वरसे प्रेम करो और संसारके विषयोंसे मुक्ति प्राप्त करो।

बुद्धिसे आत्म-तत्त्वका विचार करो और द्वैत-भ्रमको मिटा दो।

इसके लिए यह जीवन प्राप्त हुआ है।

तो, **'प्राण इति प्राणविदः'**—यह हिरण्यगर्भ है, यही जगत्का कारण है।

वस्तुतः यह भी एक कल्पना ही है। कल्पना कैसे है? हिरण्यगर्भ जगत्‌की रचनामें बिल्कुल स्वतन्त्र है, इसमें क्या प्रमाण है? उसके अन्दर तो कर्मकी वासना है, कर्म-संस्कार है। वह तो स्वतन्त्र रूपसे सृष्टि नहीं बनाता है!

बोले कि, तटस्थ-ईश्वरने बनाया। तटस्थ ईश्वरको भला क्या जरूरत पड़ी है कि सृष्टिको बनाने जाये? तटस्थका तो मजा ही तबतक है, जबतक वह तटस्थ रहे। 'तटस्थ' माने क्या होता है? 'तट' माने किनारा। जैसे समुद्रमें कभी ज्वार आता है और कभी भाटा आता है और जो आदमी किनारे बैठा है, उसके ऊपर उस ज्वार-भाटेका कोई असर नहीं पड़ता! नदी के किनारे बैठे हैं। नदीमें कभी फूल-माला बह गयी और कभी मुर्दा बह गया। अब नदीके किनारे बैठनेवालेपर उसका क्या असर है? ऐसे-ही यह जो प्रकृतिकी धारा बह रही है, इसमें दिन-पर-दिन और रात-पर-रात बहते जा रहे हैं। इसमें कितने आदमी, पशु, पक्षी पैदा हुये और मरते जा रहे हैं, और तुम अपनी जगहपर बैठे तटस्थ देख रहे हो।

हमारे एक महात्मा तटस्थके लिए 'किनारा-कश' शब्द बोलते थे। तो किनारा-कश हो जाओ।

एकके घरमें मेहमान आये तो पति-पत्नी दोनों आपसमें लड़ने लगे। अब मेहमानको क्या करना चाहिए? पतिका पक्ष लेना चाहिए कि पत्नीका पक्ष लेना चाहिए? बोले कि किनारा-कश हो जाओ! तटस्थ हो जाओ! पत्नीका लेनेपर तो पतियोंके मनमें शंका हो जाती है कि ये हमारी पत्नीका पक्ष क्यों लेते हैं और पतिका पक्ष ले लो और फिर दुबारा उस घरमें जाओ ते रोटी खानेको नहीं मिलेगी भला! तो दोनोंमें सबसे मजेदार बात क्या होगी कि तटस्थ हो जाओ! दोनोंसे अलग हो जाओ! इसीको 'किनारा-कश' बोलते हैं! हर जगह झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिए। पंचायत नहीं करनी चाहिए। सबका चौधरी नहीं बनना चाहिए। वह तो इसकी विद्या भी सब लोमोंको नहीं आती है! दो आदमियोंके झगड़ेमें पड़कर प्रायः लोग पिटते हैं।

'प्राण इति प्राणविदः'।

तो जगत्‌का मूल तटस्थ ईश्वर है कि हिरण्यगर्भ है?

असलमें देखो, जो वेद है—कर्मके संस्कारसे प्रभावित अन्तःकरणसे निकला ज्ञान नहीं, कर्मके संस्कारसे प्रभावित अन्तःकरणसे परे जो आत्मदेव है—उसका ज्ञान, अपौरुषेय ज्ञान है और उसके द्वारा ही जगत्‌के मूल तत्त्वका जाना जा सकता है। यह डॉक्टरोंका ज्ञान जो होता है, यह सौ मेढक चीरनेके बाद होता है या

सौ रोगी मारनेके बाद होता है। तो वह जो संसारमें जाँच कर-करके जो ज्ञान इकट्ठा करते हैं, वह ज्ञान पौरुषेय ज्ञान होता है भला! तो उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष हो सकते हैं। परन्तु, अन्त:करणको उठाकर आलेमें रख दिया और देखो, जगमग-जगमग स्वयंप्रकाश ज्योति झिलमिला रही है। अन्त:करण-रहित अपना आपा कैसा?

अपूर्वअनपरंमनन्तरमबाह्यं' 'अलक्षणमदृश्यमव्यपदेश्यं'।

अन्त:करणके द्वारा प्रयोग करके, तब इसका निश्चय नहीं किया गया है! स्वत:सिद्ध ज्ञान है।

तो नारायण, अब इसमें लोग झूठमूठ कल्पना कर लें कि यह हिरण्यगर्भ और फलानां, यह ढिकाना! उससे क्या मिलता है? यह मन जो है, यह बड़ी भारी माया है!

एक हमारे जाने हुये सज्जन थे। नाम नहीं बताता हूँ! एक बार हमने भरी सभामें एकका नाम बता दिया था तो उसका मन फिर गया। हमारेसे हमेशाके लिए नाराज हो गया। तबसे हम किसीका नाम नहीं बताते हैं! तो एक सज्जन बिल्कुल एकान्तमें भजन करने बैठे। लोगोंसे मिले नहीं। तो उनका मन कृष्ण बना और उनकी आँखके सामने आकर बाहर प्रकट होये, उनसे बात करे, उनसे हँसे, उनसे खेले! उनका मन कृष्ण बन गया। तो मनकी लीला बड़ी अपरम्पार है!

असलमें मन अथवा मायासे हम मिल जाते हैं, तब तो ये बड़े जोरदार हो जाते हैं और जब हम इनसे अलग हो जाते हैं, तब ये हमसे अलग नहीं होते। जब हम इनसे एक हो जाते हैं, तब यहीं रह जाते हैं और छिप जाते हैं। तब तत्त्ववित्‌के लिए जो तत्त्ववित्‌की आत्मा है, वही माया है, वही मन है और वही मनका खेल है और जिज्ञासुको एक बार मन मायासे अपनेको अलग करना होगा!

देखो, अगर कोई समझे कि सिर्फ घड़ाका नाम माटी है, तो वह गलत समझ जायेगा। उसको यह समझना चाहिए कि घड़ेसे जुदा माटी होती है। फिर क्या समझना चाहिए? माटीसे जुदा घड़ा नहीं होता। तीन स्थिति हो गयी न! सिर्फ घड़ेके आकारको ही माटी समझ बैठना—यह भ्रम है और घड़े और माटीको अलग-अलग समझना, नाम-रूपको घड़ा समझना और तत्त्वको माटी समझना—यह विवेक है और माटीसे घड़ा अलग नहीं है, यह तत्त्व-दृष्टि है।

तो सिर्फ माया या मन ही है, ऐसा समझना भ्रम है और मैं माया या मनसे

जुदा हूँ—ऐसा समझना विवेक है और मेरे सिवाय माया, मन कुछ नहीं हैं—यह तत्त्वदृष्टि, यह ब्रह्मदृष्टि है!

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।

यह सृष्टि कैसे हुई? ये माँ-बाप जो होते हैं, इनका ख्याल होता है कि बच्चा सिर्फ हमसे पैदा होता है। हम न हों तो बच्चा कहाँसे होता? बच्चा बिल्कुल हमारा है! तो यह भ्रम ही है न! आप गौर करके देखो! बच्चा नहीं, यह सोना हमारा, यह चाँदी हमारा, ये नोटके बंडल हमारे, यह मकान हमारा—यह भ्रम होता है। अच्छा, यह हमारामें 'मारा' शब्द जोड़कर भाषाके विद्वानोंने कमाल कर दिया है! हमारा माने मारा! मार दिया भाई, मार दिया। यह 'है' को मार डाले, उसका नाम 'हमारा' यह 'है' को माने 'सत्ता' को मारनेवाली चीज है।

तो आओ '**भूतानीति च तद्विदः** '—कई लोग कहते हैं कि मिट्टी, पानी, आग, हवा—ये चार चीजें मिली और इनसे सृष्टि हो गयी। यह बड़ी विलक्षण बात है। चार चीजसे मिलकरके जो सृष्टि होती है, वह तो किसी दूसरेके लिए होती है। जैसे कई पुर्जे मिलाकर जो मशीन बनती है, मोटर बनती है तो वह मोटर मोटरके लिए बनती है कि मोटरपर चढ़नेके लिए बनती है। हे भगवान् गंगाजीमें जब ज्यों-का-त्यों मुर्दा डाल देते हैं तो वह बादमें सड़ जाता है और कछुए खा जाते हैं! हमने तो बहते मुर्देके ढाँचे जो कभी किनारे लग जाते हैं, बड़े गौरसे देखे हैं। छातीकी हड्डियोंमें जोड़ होता है, हाथकी हड्डियोंमें जोड़ होता है, टाँग व पाँवकी हड्डियोंमें जोड़ होता है। तो कई हड्डियोंको इस ढंगसे जोड़ा गया है कि ये मशीनकी तरह काम करता है शरीर! जाँघवाली हड्डी और पिण्डेवाली हड्डी—दोनों एक नहीं हैं। यह तो बिल्कुल दोनोंके बीचमें एक गोला-सा रखकर जोड़ा है, जैसे मशीनके, मोटरके पुर्जोंको जोड़ते हैं। यह शरीर चिकना रहे, इसके लिए इसमें चर्बी है और यह जीवन्त रहे, इसके लिए इसमें खूनकी धारा बहती रहती है और यह चले-फिरे, इसके लिए इसमें हवा चलती है भला और लोग इसको ग्लानिकारक रूपसे न देखें, इसके लिए इसके ऊपर चाम ओढ़ाया हुआ है!

तो नारायण, यह शरीर रूपी मोटर 'मैं' नहीं है, यह मेरे लिए बनी है! मोटर 'तुम' नहीं हो, मोटर तुम्हारे चढ़नेके लिए खरीदी गयी है! यह तुमने अपने कर्म, धर्मसे खरीदा है! इसके भीतर भूत हैं। 'भूत' माने हुए, हुए। जो पहले हुआ, उसका नाम 'भूत' होता है। जैसा घड़ा बनाते हैं, तो माटी पहलेसे बनायी हुई रहती है, तब न घड़ा बनता है! तो माटी क्या हुई? बोले कि भूत हुई। माने पहलेसे मौजूद

है, तब उससे घड़ा बना। इसी प्रकार, यह जो हम लोगोंके शरीरका घड़ा बनता है, यह गढ़ा हुआ है, घटित है! यह हाथ, पाँव, सिर, छाती आदि गढ़कर लगाये हैं। कमर परसे एक मोड़ और घुटने परसे एक मोड़, टखने परसे एक मोड़, कन्धे परसे एक मोड़, कुहनी परसे एक मोड़—यह शरीरकी रचना बड़ी विचित्र है! तो ये किससे बनते हैं? बोले कि ये भूतसे बनते हैं। माने पहले मौजूद सामग्रीसे यह शरीर बनता है। तो यह जब चार चीज जोड़कर बना इसमें मिट्टीका हिस्सा कठोर है और पानीका हिस्सा तरल है इसमें जो गर्मीका हिस्सा है, वह इसको नरम रखता है और जो इसमें हवाका हिस्सा है, उससे यह चलता-फिरता है। '**बंगला अजब बना दरबेश**'! 'दरवेश' माने महात्मा, फकीर। तो उसका बंगला वह नहीं, जैसा आप ईंट, सीमेन्टका बनवाते हैं! उसका बंगला तो यह चार भूतोंसे बना शरीर है! इस बंगलेमें कितने दरवाजे! कितने खम्भे! इस बंगलेमें कैसा बढ़िया पंखा लगा हुआ है, कैसी बढ़िया रोशनी है! यह बंगला भूतोंसे भले ही बना हो, लेकिन भूतोंके लिए नहीं है! जिनको इसमें भूत-ही-भूत दिखते हैं, वे डर जाते है भला! वे दुःखी होते हैं। अगर बंगलेको देखोगे, तो यह मर जायेगा, यह जड़ है और कभी इसमें रहनेको मिलेगा और कभी इसमें-से निकाल दिये जाओगे! बिल्कुल जड़ होनेके कारण सायँ-सायँ, चायँ-चायँ—ऐसी आवाज इसमेंसे निकलती हैं। बम्बईमें यह नहीं मालूम पड़ता है भला! बम्बईमें वातावरणमें इतनी आवाज फैली रहती है कि पता नहीं चलता है कि क्या है? किसीको अनाहतनादका अभ्यास हो तो बम्बईमें बड़ा मुश्किल पड़ेगा। गंगा किनारे—जहाँ शान्त, एकान्त—जहाँ मीलोंतक रेलगाड़ी नहीं हैं, मोटर नहीं है, वहाँ रातको बैठो तो सायँ-सायँ, चायँ-चायँकी आवाज सुनायी पड़ती है। फिर बढ़िया आवाजें निकलती हैं। कभी मालूम पड़ता है कि भीतर बादल गरज रहे हैं, कभी मालूम पड़ता है कि मृदंग बज रहा है, कभी बाँसुरी बजती है। शरीरमें जो हवा है, वह ऐसी-ऐसी नसों-नाड़ियोंमें-से निकलती है कि नफीरी बजे इसमें, मृदंग बजे इसमें, बाँसुरी बजे इसमें, बादल गरजें इसमें। '**हंसनकी चुहलावनी**'—भीतर ऐसी आवाज निकलती है!

देखो, जब बाहर शान्ति होती है, तब आत्माकी ध्वनि मुखरित होती है। जब हम चुप हो जाते हैं, तब ईश्वर बोलता है।

एक सज्जन हमारे पास कुछ पूछने आये। आध घंटा उनसे बात करनी थी। तो कोई पौन घंटेमें तो उन्होंने अपनी सुनाई। वे तो बोलते गये, बोलते गये, बोलते

गये। अब उनको जवाब क्या दें? वे तो सुनानेको आये थे, पूछने तो आये नहीं थे! तो कोई भलेमानुस बोले तब न, जब सामनेवाला चुप हो! जब सामनेवाला चुप ही न हो तो कोई भलेमानुस बोले क्या? तो जबतक जीव चुप नहीं होता, तबतक ईश्वर बोलता नहीं। जब जीव चुपचाप ईश्वरके सामने खड़ा हो जाता है, तब ईश्वरकी आवाज सुनायी पड़ने लगती है। ईश्वरकी आवाज सुननेका तरीका यही है। उसका टेलिफोन 'शून्य'।

एक सज्जन एक दिन आये थे। उन्होंने अपनेको आचार्य रजनीशका शिष्य बताया। तो हम तो समझते थे कि वे कोई साधना नहीं बताते होंगे, क्यों कि वे तो श्रद्धा, शास्त्र, महापुरुषका खण्डन करते हैं! तो उन सज्जनने बताया कि हमको आचार्य रजनीशने यह साधना बतायी! हमको बताया कि शरीरके अमुक स्थानपर शून्यका ध्यान करो। 'उससे क्या हुआ?' वह बोला कि उन्होंने कहा कि तुम तब शून्यका ध्यान करोगे तो जब दिलमें जगह खाली होगी, तब उसमें ईश्वरका आविर्भाव होगा! तो उन सज्जनने बताया कि जब मैंने अपने दिलको खाली किया तो नन्हें-मुन्ने साँवरे-सलोने श्याम-सुन्दर दाहिने हाथमें लड्डू लिये और बायाँ हाथ धरतीपर रखे, खेलते हुये आकर हमारे दिलमें प्रकट हो गये! तो महाराज, उन्होंने तो बताया था शून्य और उसमें तो आ गये श्यामसुन्दर! फिर वे हँसने लगे, फिर कभी कहें कि हम तो गोदमें आवेंगे, कभी कहें कि हम दूध पीयेंगे! फिर उनके साथ और ग्वाल-बाल आगये। बड़ी ऊधम मची। अब वे तो हैं आचार्य रजनीशके शिष्य और उनको आगयी कृष्ण-लीला! लेकिन वे बोले कि हमको शान्ति तो नहीं मिली। अब हमको बताने और पूछनेका मतलब ही यह था कि हमने तो शान्ति प्राप्त करनेके लिए उनसे पूछा था कि हमको शान्ति कैसे मिले और उन्होंने बताया कि दिल खाली रखो, दिलको शून्य बनाओ और उसमें आगये कृष्ण! लेकिन शान्ति नहीं मिली। अब क्या करें?

तो हमने उनको ऐसी बढ़िया युक्ति बतायी! हमको मालूम था कि उनको अशान्ति क्यों है? जिस कारणसे उनको अशान्ति थी, उसको मैंने श्रीकृष्णके साथ लगा दिया। अब तो उन्होंने दो दिन हमारा बताया साधन किया तो बोले कि बड़ी शान्ति मिली!

तो नारायण, मौन हो तो देखो, ईश्वर बोलेगा और दूसरेको अपने दिलमें मत बैठाओ तो तुम्हारे दिलमें आकर ईश्वर बैठ जायेगा भला! यही युक्ति है। यह वेदान्तियोंकी बात सुनकर कि दिल खाली करो, दिल खाली करो—डरना नहीं

चाहिए! उसमें तो जो तुम्हारा प्यारा है, वह आकर रहेगा। अगर तुम उसको हटा सकते हो तो वह तुम्हारा प्यारा नहीं है और अगर वह तुम्हारा प्यारा है तो मौका मिलते ही वह तुम्हारे दिल पर हावी हो जायेगा! तुम्हारे कलेजेमें आकर बैठ जायेगा!

तो ये जो भूत हैं—मिट्टी, पानी, आग, हवा—मिट्टी कठोर है, पानी तरल है, आग गर्म और हवा चलती-फिरती है और ये चारों कहाँ रहते हैं? ये चारों आसमानमें रहते हैं। जो सबमें समाया हुआ हो और सबमें बराबर हों, उसका नाम हुआ, आ-समान। 'आसमान' माने व्यापक। तो सब-के-सब आसमानमें हैं। चार्वाक लोग मानते हैं कि ये चार भूत जब आपसमें मिलते हैं, तब चेतनाकी उत्पत्ति हो जाती है। अच्छा तो, चेतनाकी उत्पत्तिसे पूर्वं चार भूतकी सिद्धि कैसी होगी कि चार थे। यदि चेतना उत्पन्न होनेके बाद जानते हैं कि ये चार हैं, तो उसको पता कैसे लगेगा कि चार हैं? इसलिए, यह कल्पना ही है! ये चार-वार कुछ नहीं हैं।

आपको पहले सुनाया कि सृष्टिका रहस्य जाननेमें बड़ा लाभ है। बड़ा लाभ क्यों है? यह दिलमें जो राग-द्वेष है, वह मिट जाता है। सोमवारसे राग और मंगलवारसे द्वेष और मंगलवारसे राग और बुधवारसे द्वेष—यह बात क्यों है? कालका तत्त्व न जाननेके कारण है। क्योंकि, काल समान है। वह तो सोमवारको भी है, मंगलवारको भी है, बुधवारको भी है। समय तो कायम है, तायम है, यह टाइम है। 'तायम' माने विस्तृत। 'तनु विस्तारे'। यह तो सोम, मंगल, बुध सबमें फैला हुआ है।

अच्छा देखो, इस कमरेमें पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण सब है कि नहीं? कोई भी रेखा बना लो कि कहाँ पूर्व है, कहाँ पश्चिम है, कहाँ उत्तर है, कहाँ दक्षिण है। नहीं बन सकती। क्योंकि, देश सब जगह है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण—सब कल्पित हैं और देश सब जगह है। सायं-प्रातः कल्पित है, रात-दिन कल्पित है, सोम-मंगल कल्पित है और काल सब जगह है। इसी तरहसे स्त्री है, यह पुरुष है, यह जवान है, यह वृद्ध है—यह कल्पित है भला! और वस्तु सब जगह है, पंचभूत सब जगह हैं भला!

अब देखो, पंचभूत कल्पित है और एक सत्ता सब जगह है और सत्तामें एकत्व कल्पित है, क्योंकि वह चिन्मात्रसे जुदा नहीं है! अद्वय चिन्मात्र है। इससे क्या हुआ?

आपको महात्माओंकी बात बताते हैं। महात्माओंसे मतलब यह है कि

जिनको दुनिया महात्मा मानती है। दुनिया भी तो निराली है न! तो बनारसमें सभा थी। मैं पढ़ रहा था, तबकी बात है। ऐसी छाप उस बातकी पड़ी हृदयपर! आपके पड़े-न पड़े! बच्चेका स्वभाव समझो! हम स्वयंसेवक थे—वालन्टियर। उसको 'रजाकर' बोलते हैं माने जो अपनी रजासे काम करे। तो उस सभामें चारों मठके तो शंकराचार्य आनेवाले थे और बम्बईके श्रीरामानुजाचार्य और दक्षिणके प्रतिवादी अभ्यंकर मठके रामानुजाचार्य, तोताद्रीमठके रामानुजाचार्य—सब आनेवाले थे। निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य भी उस मठमें आनेवाले थे। बहुत बड़ी सभा हुई। सनातनधर्मकी वैसी दूसरी सभा हमको तबसे अबतक देखनेमें नहीं आयी। उसका नाम था 'ब्राह्मण-महासम्मेलन'। लक्ष्मण शास्त्री, पंचानन तर्करत्न सब थे।

तो आचार्योंके बैठनेके लिये जब आसन बनाया गया किसका दाहिने रहे और किसका बायें रहे—यह विवाद उठ खड़ा हुआ! अब ऐसी लड़ाई हुई कि सभा ही भ्रष्ट हो जायेगी—यह आशंका पैदा हो गयी। तब गोलाकार मंच बनाया गया। सबके दाहिने सब और सबके बायें सब। गोल बना देनेपर न कोई दाहिना रहा, न कोई बायाँ रहा। यह दाहिना-बायाँ जो है, यह देशमें बिल्कुल कल्पित है। कोई किसीके दाहिने नहीं, कोई किसीके बायें नहीं।

तो जैसे स्थानमें दाहिने-बायें बिल्कुल कल्पित है और समयमें सोम, मंगलवार कल्पित है, घड़ा, सकोरा जैसे मिट्टीमें कल्पित है; वैसे ही यह अखण्ड ब्रह्ममें मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान—ये सब-के-सब कल्पित हैं। ये आत्मचैतन्यसे जुदा बिल्कुल नही हैं भला!

तो इससे क्या हुआ? मैं बड़ा, तू छोटा और मैं अच्छा, तू बुरा—यह जो अभिमानके कारण होनेवाला झगड़ा है, यह झगड़ा कट गया। संसारमें जितना राग-द्वेष हैं, वह तो सारा ही अभिमान में है और अभिमानको काटनेवाला तत्त्वज्ञान जैसा है, वैसा कोई नहीं! धूल जो पाँवके नीचे पड़ती है, उस धूलसे एक कर दे, ऐसा तत्त्वज्ञान और आसमानसे एक कर दे, जिसमें ग्रह, नक्षत्र, ध्रुव, सूर्य, चन्द्रमा इधर-उधर डोलते फिरते हैं। बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा! यह जीवनका सार है। यह जिसके हृदयमें आ गया, निहाल हो गया। दुःखको मिटानेका सबसे बढ़िया तरीका, अज्ञानको हमेशाके लिए उठाकर फेंक देनेवाला और मृत्यु और जीवनको एक सरीखा बतानेवाला यह तत्त्वज्ञान है।

लोग कहते है कि यह सृष्टि भूत है, भूत है, भूत! भूत नहीं है, ब्रह्म है।

'गुणा इति गुणविदः'—कोई-कोई कहते हैं कि सृष्टिका मूल गुण है। 'गुण' शब्दको ऐसे समझो कि जैसे एक मनुष्य होता है तो उसको तसवीर बनानेका गुण है। हाथ जोड़कर बात करता है, यह उसका गुण है। विनय है। एक आदमी होता है, उससे जान-पहचान न करायी जाये तो वह मुँह फेरकर खड़ा रहेगा! यह विलायती एक्टीकेट है कि जबतक कोई जान-पहचान करानेवाला न हो, तबतक मुँह फुलाकर खड़े रहो! कैसे खड़ा रहा जाता है, समझमें नहीं आता! दो आदमी एक सभामें खड़े हो तो दोनों ताड़के पेड़की तरह तनकर खड़े हों और तीसरा आदमी आकर बतावे कि ये अमुक मेम साहिबके पति हैं, तब हाथ जोड़ें! परिचय भी तो यही है न कि अमुक मेम साहब के पति हैं; तब तक? सिर बिल्कुल सीधा, हाथ बिल्कुल नीचे। तो ऐसे नहीं। यह विनय जो है, यह गुण है। 'स्मित-पूर्वाभिभाषी'—मुस्करा देना एक गुण है। बड़ोंको आदर देना एक गुण है।

तो ये जितने गुण होते हैं, ये किसी व्यक्तिके आश्रयमें होते हैं। द्रव्यके आश्रित होते हैं। जैसे आपने चमेलीका फूल अपने हाथमें लिया और गंध आपकी नाकमें अपने आप घुस गयी। यह उसने इंतजार नहीं की कि जब कोई हमारा परिचय इनसे करावे कि यह चमेलीका फूल है, तब उसकी गंध आपकी नाकमें जाये! और, जबतक परिचय न कराया जाये, तबतक चमेली निर्गुण, निर्गन्ध। यह कोई प्राकृत-रीति है? लेकिन फूलमें गंध रहती है और फूल उसका आश्रय है। तो 'गुण' उसको कहते हैं, जो किसी द्रव्यके आश्रित रहे। ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं।

'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वं'—गुण और क्रियाका आश्रय होना, यह द्रव्यका लक्षण है।

सांख्योंने गुणका ज्यादा विवेक किया। वे कहते हैं कि गुण ही सृष्टिका मूल है। तो जरा 'गुण' शब्दका अर्थ और गम्भीर करते हैं। वे कहते हैं कि देखो, हमारे जीवनमें तीन चीजें दिखायी पड़ती हैं। हम तो वह आपको सुना रहे है, जिसके आधारपर दर्शनशास्त्री दर्शन-शास्त्रका निर्माण करते हैं। आपके जीवनमें तीन चीज हैं—एक तो हड्डी, मांस, चाम है। यह द्रव्य है। और, हाथ जो उठता, गिरता है—यह क्रिया है। और, यहाँ स्त्री बैठी है, पुरुष बैठे हैं, यह हाथ उठा, यह हाथ गिरा—यह ज्ञान है। तो ये तीन बातें सबके जीवनमें देखनेमें आती हैं—एक, ज्ञान होना, दो, क्रिया होना और तीन, वस्तुका होना।

तो ये जो अलग-अलग वस्तुएँ दीखती हैं, इनके मूल गुणको 'तमस्' बोलते हैं और जो क्रिया होती है, इसके मूल गुणको 'रजस्' बोलते हैं और यह जो ज्ञान होता है, इसके मूल गुणको 'सत्व' बोलते हैं। तो भिन्न-भिन्न इंद्रियों और वृत्तियोंके निर्माणका जो हेतु है, सत्त्वगुण है और भिन्न-भिन्न क्रियाओंका जो हेतु है, वह रजोगुण है, और भिन्न-भिन्न वस्तुओंके बननेका जो हेतु है, उसको तमोगुण बोलते हैं। यह तमोगुण भी तीन हैं।

देखो, 'गुण' माने संस्कृतमें रस्सी होता है। तो जब वह त्रिगुणित होती है तो बड़ी मजबूत होती है, टूटती नहीं है। उसकी मजबूतीका सूचक उसका त्रिगुणित होना है। तो यह जब द्रव्य, क्रिया और ज्ञान—ये तीनों जब मिलकर व्यक्तिको प्रकट करते हैं तो ये बड़े मजबूत होते हैं। ये बाँधते हैं। कैसे बाँधते हैं? गामा पहलवान कहता है कि मेरे शरीरमें बड़ा बल है! अब शरीर और बलको एक कर दिया तो बँध गया न! मेरा शरीर! यह बंधन है! यह स्त्री बोलती है कि हमारा चाम बड़ा गोरा है, हमारी आँख बहुत बड़ी है! यह क्या हुआ? शरीर माने द्रव्यगत जो विशेषता है, उसको मेरी समझकर, उसको 'मैं' समझकर बँध गये! हमारा शरीर दो मन वजनका और हम एक लात किसी दीवारपर कसकर मार दें तो टूटकर गिर पड़े! कौन है पहलवान, जो हमसे हाथ मिला सके! यह क्या हुआ? यह तमोगुणका कार्य जो शरीरमें स्थूलता है, उसको 'मैं' और 'मेरा' मानकर हम इस शरीरके साथ बँध गये कि हमारा सरीखा और किसीका शरीर नहीं!

तो किसीके शरीरमें माटी ज्यादा है, किसीके शरीरमें पानी ज्यादा है। मिट्टी भी बड़ी रंगीन-रंगीन होती है। कोई काली मिट्टी होती है, कोई लाल मिट्टी होती है, कोई सफेद मिट्टी होती है, कोई बालूवाली होती है। कोई मिट्टी देखनेमें तो काली होती है, लेकिन उपजाऊ बहुत होती है! कोई देखनेमें तो गोरी होती है, लेकिन उसमें कुछ पैदा नहीं होता है। यह अलग-अलग गुण होते हैं।

अब किसीने कहा कि यह बाँध मैंने बनवाया, यह यूनिवर्सिटी मैंने खोली, यह कारखाना मैंने खोला! यह क्या है? यह क्रियाका अभिमान है। तो जब 'मैं'-'मेरा' होता है, तब बँध जाते हैं।

किसीने कहा कि हमारी जैसी दृष्टि, चमक! 'गीधहिं दृष्टि अपार'—गीधको यह अभिमान हुआ कि हम चार मील तक देख लेते हैं! किसीको तो सामने रखी किताबको पढ़नेके लिए चश्मा लगाना पड़ता है और कोई चार मील

तक देख ले महाराज! किसीका कान इतना तेज होता है कि दो आदमी दूर खड़े आपस धीरे-धीरे बात कर रहे हों, तो सुन लेता है। कई लोगोंका तो ऐसा अभ्यास होता है कि आँखसे ओंठ हिलते देखें तो समझ जाते हैं कि ये क्या बोल रहे हैं। तब इसके बाद इस बातका अभिमान होता है। इसको गुणाभिमान बोलते हैं।

ज्ञान जो है, यह सत्त्वगुणकी वृत्ति है, क्रिया रजोगुणकी वृत्ति है और यह जो शरीरमें सौंदर्य, माधुर्य आदि है, यह तमोगुणकी वृत्ति है। पानी भी तो कोई खारा, कोई मीठा होता है, ऐसेही शरीरमें जो चमक होती है, वह किसीके शरीरमें खारी माने नमकीन होती है और किसीके शरीरमें मीठी होती है। यह सब क्या है? गुणोंका खेल है भाई! और, इसीसे यह सृष्टि चलती है!

वस्तुतः यह सृष्टि नहीं है! यह तो बन्धन है बन्धन! न? इसने तुमको बाँध लिया, मैं-मेरेमें फँसा लिया! मेरी बुद्धि, मेरा मन, मेरी इंद्रिय, मेरा दिल, मेरा दिमाग—मेरा-मेरा-मेरामें फँस गये बाबू! जिसकी बुद्धि थोड़ी अच्छी होती है, वह अपने सामने किसीको कुछ समझता ही नहीं, कोई थोड़ा ज्यादा काम कर ले तो अपने सामने किसीको कुछ नहीं समझता! थोड़ा शरीर सुन्दर हो, तो वह चमक, इठलाकर चलते हैं।

एक बार बम्बईमें काँग्रेसका अधिवेशन हुआ, तो राजेन्द्र बाबू प्रेसीडेण्ट हुये थे। अब तो महाराज, राजेन्द्रबाबूके तो बड़ी-बड़ी मूँछ! बम्बईकी स्त्रियाँ देखे तो बोलें कि यह तो भैय्या है, भैय्या है, भैय्या है। नजर कहाँ गयी? शकल-सूरतपर ही तो गयी न! तो नारायण, शरीरकी सुन्दरता, असुन्दरताके साथ बँध जाते हैं!



प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः॥
पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः॥ २०-२१॥

मनुष्य अनेक प्रकारकी कल्पना सृष्टिके मूल-तत्त्वके संबंधमें कर लेते हैं। बात यह है कि सृष्टि जिस समय होती है, जिस देशमें होती है, जिस वस्तुके जिस रूपमें होती है, उस समय देखनेके लिए तो कोई इन्द्रिय पहलेसे मौजूद नहीं रहती है। सृष्टिका आदिरूप अतीन्द्रिय है और जब सृष्टिका अन्त होता है, तो उस समय भी आँख, कान, जीभ, नाक आदि सब बेकार हो जाते हैं। कोई यह कहे कि हमने सृष्टि होते आँखसे देखा और सृष्टिका प्रलय आँखसे देखा, इसलिए इसका हम सचसच निरूपण कर रहे हैं, तो यह बात बनती नहीं। इसीसे वेदोंमें इसका वर्णन आता है, **'को अद्धा वेद कः प्रवोचत्'**—किसने साक्षात् सृष्टिका निर्माण देखा और किसने उसका प्रवचन किया? उस समय तो देवता भी नहीं थे, इन्द्रियाँ भी नहीं थीं। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव कुछ भी नहीं था। **'न सदासीत् नोऽसदासीत्तदानीम्'**—उस समय सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था।

श्रीमद्भागवतमें इस प्रसंगको ऐसे बताया—

'क इह नु वेद बतावरजन्म लयोऽग्रसरम्'

जिसका जन्म बादमें हुआ और मृत्यु पहले हो जाती है, वह अगर यह बताना चाहे कि सृष्टि कैसे हुई और प्रलय कैसे हुआ, तो कैसे बतावेगा?

तो, इस बातको सब समझते हैं कि सृष्टिका मूल तत्त्व इन्द्रियोंका विषय नहीं है। इस पर सांख्य अनुमानके मार्गपर हो गया। बौद्ध लोग ध्यानके मार्गमें आगे बढ़े! जैनलोग स्थान ढूँढने लगे! माने किस प्रकार सृष्टिके मूलका अनुसन्धान करे! तो प्रत्येक कार्यका एक कारण होता है—इस दृष्टिसे सांख्य अनुमान-सिद्ध प्रधानका प्रतिपादन करता है और ध्यानमें ध्याताकी आत्मा तो आती नहीं और ध्येयका निषेध हो जाता है, इसलिए ध्यान शून्यात्मक हो गया। तो बौद्धों ने ध्यानसे अनुसन्धान किया। एक-एक शाखा हैं ये! जैनोंने उस स्थानका अनुसन्धान प्रारंभ किया, जहाँसे सृष्टि होती है। तो देशकी प्रधानतासे जैन, कालकी प्रधानतासे बौद्ध—जिसको क्षणिक विज्ञान बोलते हैं और जड़-द्रव्यकी प्रधानतासे न्याय-

वैशैषिक और चैतन्य-द्रव्यकी प्रधानतासे सांख्य, योग द्रष्टा-आत्माको तो सिद्ध करते हैं, परन्तु जगत्का मूल कारण प्रकृतिको मानते हैं। इनको अनुमान प्रधान मानते हैं!

अब पूर्वमीमांसक जो हैं, ये कर्मपर आ गये—कर्म और कर्म संस्कार। देखो, यह सृष्टिका ऐसा खेल है! जो लोग छोटी-छोटी वस्तुओंके विचारमें ही संलग्न रहते हैं, अल्प-प्राण हैं, उनके लिए तो क्या कपड़ा पहनें-यही एक बड़ी समस्या है! किसी-किसीका ऐसा स्वभाव होता है कि वे दुकानमें घुस जायें और दुकानके सारे कपड़े निकलवा लें और उनको पसन्द न आवे! तो उनके लिए कपड़ा पहनना इतनी बड़ी समस्या है कि कई घंटे उसीको छाँटनेमें लग जाते हैं! केवल दुकानमें ही नहीं, घरमेंसे भी आज कौन-सा कपड़ा पहनें—यही एक समस्या हो जाती है! तो जिन लोगोंके लिए यही एक समस्या है कि क्या कपड़ा पहनें और क्या भोजन आज बने, किस रंगकी जूती पहनें, कैसा बाल बनावें—वे बेचारे सृष्टिके मूलके बारेमें क्या विचार करेंगे? जो पल्लवमें ही फँस गया, डिजाइनमें ही फँस गया, वह मूल वस्तुकी कीमत क्या आँकेगा?

तो कालकी प्रधानतासे बौद्ध, स्थितिकी प्रधानतासे जैन, द्रव्यकी प्रधानतासे न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग। वेदान्त जो हैं, वे प्रत्यक् चैतन्य माने आत्माकी प्रधानतासे सृष्टिके मूलतत्त्वका अनुसन्धान करते हैं और श्रद्धा भक्ति प्रधान जो भक्त लोग हैं, वे परमेश्वरकी दृष्टिसे सृष्टिके मूल तत्त्वका अनुसन्धान करते हैं। तो वैष्णव, शैव, शाक्त-देवताकी प्रधानतासे सृष्टिके मूलतत्त्वकी स्थापना करते हैं और आर्यसमाजी, मुसलमान, ईसाई आदि निराकार ईश्वरकी प्रधानतासे सृष्टिके मूलतत्त्वकी स्थापना करते हैं।

आपको इसका गणित हम बताते हैं—इसका एक हिसाब होता है। देखो, बौद्ध लोग बिना किसी उपादानके ही सृष्टिको मानते हैं। 'उपादान' माने मसाला। जैसे, मिट्टी न हो और घड़ा हो, तो घड़ेका रूप आप क्या बतावेंगे? प्रतीति न! अब प्रतीति जो है, उसमें भी यदि सत्ता न हो और प्रतीति हो, तो क्या कहेंगे? बोले कि 'क्षणिक'। तो बिना किसी उपादानके विज्ञान ही घट, पट, मठ सृष्टिके रूपमें प्रतीत होता है। '**प्रतीत्य समुत्पद्यते**'—ऐसे बोलते हैं। प्रतीत होकर मालूम पड़ता है। तो बौद्ध लोग निरुपादान सृष्टि मानते हैं। निरुपादान वादियोंमें केवल शून्यवादी, विज्ञानवादी बौद्ध है। इसके सिवाय जितने सृष्टिके प्रवक्ता हैं, वे सृष्टिके उपादानका निरूपण करते हैं।

अब देखो, उपादान मानने वालोंके दो भेद हैं—एक बहिरंग उपादानवादी और दूसरे, अंतरंग उपादान वादी। तो ये जो चार्वाक हैं—चार भूतसे सृष्टि मानते हैं—ये बहिरंग उपादानवादी हैं और जो परमाणुसे सृष्टि मानते हैं-नैयायिक आदि—वे भी बहिरंग उपादानवादी हैं। सांख्य और योग प्रकृतिको उपादान मानते हैं, वे अंतरंग उपादानवादी हैं। क्यों? कार्य-सृष्टि तो बाहर है और भीतर अन्त:करण है और अन्त:करणसे भी भीतर सृष्टिका कारण प्रकृति है और उसका भी द्रष्टा आत्मा है। तो, द्रष्टा और अंत:करणके बीचमें स्थित जो प्रकृति है, वह अन्तरंग उपादान है।

तो सांख्य और योग, यथाकथंचित् जैन अन्तरंग उपादानवादी हैं। पूर्व मीमांसक भी अन्तरंग उपादानवादी हैं, क्योंकि, कर्मका संस्कार अंतरंग होता है। अच्छा, ईश्वरवादी जितने हैं, वे सब भी अन्तरंग उपादानवादी हैं। क्योंकि, वे आत्मा और जगत्के बीचमें ईश्वरको नियन्ताके रूपमें मानते हैं अथवा आत्माका भी नियन्ता ईश्वरको मानते हैं। अत: आत्मासे भी अंतरंग मानते हैं। विज्ञानवाद भी अन्तरंग उपादानवादी है और वेदान्तियोंका दृष्टि-सृष्टिवाद भी अन्तरंग उपादानवादी है और मुसलमान एवं ईसाइयोंका भी ईश्वर प्रधान होनेसे, अंतरंग उपादानवादी हैं।

अब देखो, वेदान्तियोंकी एक बड़ी विलक्षण बात है! ये वस्तुको अनिर्वचनीय सत् मानकर निरुपादानवाद, बहिरंग उपादानवाद, अन्तरंग उपादानवाद—सबको कल्पित मानते हैं। यह कहते हैं कि सृष्टिके मूलको खोजनेका तरीका यह नहीं है कि अनादि-कालमें सृष्टि कैसे होगी! क्योंकि, हमारी जो बुद्धि है, यह कालके आदि और अन्तका साक्षात्कार नहीं कर सकती। इसलिए, सृष्टि समझनेका तरीका यह है कि इस समय सृष्टि हमको कैसे मालूम पड़ती है—इस बातको समझो जरा!

तो इन्द्रियोंसे विषय मालूम पड़ते हैं और मनसे इन्द्रियाँ मालूम पड़ती हैं, साक्षीको मन मालूम पड़ता है। तो असलमें सृष्टिकी प्रक्रिया जो है, वह 'अध्यारोपापवाद न्याय' से ही जानी जा सकती है! और उसके लिए कोई पद्धति नहीं है।

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'—इति सम्प्रदायविदां वचनम्।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि हमारे संप्रदायके जो जानकार हैं, उनका यह वचन है। 'सम्प्रदाय' माने ज्ञानका संप्रदाय—जो ईश्वरसे अबतक ज्ञानकी अविच्छिन्नधारा प्राप्त हुई है, उसमें यह बात प्रसिद्ध है कि अध्यारोप और अपवादके द्वारा ही सृष्टिके मूल-रहस्यको समझा जा सकता है।

तो जब साधक बैठकर सोचता है, कि मैं कौन हूँ? तो उसे लगता है कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं नाटा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मेरा वजन इतना, मैं अमुक तारीखको पैदा हुआ और किसी-न-किसी तारीखको मरूँगा ही! तो यह वजनवाला, स्थानवाला और समयवाला जो शरीर है, यह मैं हूँ—ऐसा मालूम पड़ता है!

बोले भाई कि यह अन्नमय जो शरीर है, यह तो जड़ है और तुम तो इसको जाननेवाले चेतन हो! तो, तुम अन्नमयकोष नहीं हो! अन्नमयकोषकी उपाधिसे स्थित चैतन्य हो!

साधक कहता है कि ठीक है, मैं चेतन हूँ! मैं शरीरको चलाता हूँ। शरीरके द्वारा मैं क्रिया करता हूँ!

गुरु—'ऐसा नहीं है भाई! अन्नमयकोष—शरीरमें प्राणशक्तिसे क्रिया होती है। तुम प्राणमय कोष नहीं हो।'

'अच्छा तो फिर मैं क्रियाका प्रेरक चैतन्य हूँ। मैं इच्छा करता हूँ, तब क्रिया होती है।

गुरु—'क्रियाकी इच्छा मनमें होती है, क्रियाका प्रेरक मन है। तुम मनोमय कोष नहीं हो!'

साधक—'मैं इच्छाका नियन्त्रक तो अवश्य हूँ! क्योंकि, जिस इच्छाको मैं अनुमति देता हूँ, वही कर्मशील होती है।'

गुरु—'नहीं-नहीं, तुम इच्छाके नियन्त्रक विज्ञानमयकोष भी नहीं हो! इच्छाका नियन्त्रण बुद्धि-विज्ञान करता है।'

साधक—'तो फिर मैं सुख हूँ। बुद्धि मेरी अनुकूलताके लिए ही इच्छाका नियन्त्रण करती है।'

गुरु—'नहीं, तुम सुख अर्थात् आनन्दमयकोष भी नहीं हो!'

साधक-'फिर मैं सुख, विज्ञान, इच्छा, क्रिया और देहका साक्षी चेतन हैं क्या?'

गुरु—'नहीं, तुम साक्षी भी नहीं हो; क्योंकि जब दृश्य होता है, तब द्रष्टा होता है। तुम तो केवल ज्ञानस्वरूप हो!'

देखो, हम बड़े-ही सरल ढंगसे बताते हैं कि यह जो हमारा हाथ है, यह जड़ है—अन्नमय है और इसमें उठानेकी जो शक्ति है, वह प्राणमय है और उठानेकी इच्छा मनोमय है और 'मैंने उठाया'—जो यह अभिमान है, यह विज्ञानमय है और उठानेमें जो बड़ा मजा आया, यह भोक्ता है, आनन्द-मय है।

महानारायणोपनिषद्‌में वर्णन है, '**अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय शुद्ध्यन्ताम्**'। ये हमारे कोष शुद्ध होवें, यह हमारा खजाना शुद्ध होवें! शुद्ध होनेका अर्थ है कि इनसे जरा अलग हो जाओ! अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके रूपमें स्थित हो जाओ!

तो सृष्टि कैसे भासती है? जब हम अविद्याको स्वीकार करके अपनेको परिच्छिन्न मानते हैं, तब संसारी होते हैं, कर्ता-भोक्ता होते हैं, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषवाले होते हैं, सुखी-दुःखी हो जाते हैं। तो जो अध्यारोप-अपवादकी प्रक्रियासे—पहले अन्नमयकोषका अध्यारोप किया और फिर उसका अपवाद कर दिया; फिर प्राणमयकोषका अध्यारोप किया और उसका अपवाद कर दिया; फिर मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषका क्रमशः अध्यारोप किया और उनका अपवाद करते गये और पाँचों कोषोंका अपवाद कर देनेपर फिर अपनेमें साक्षीपनेका अध्यारोप किया और फिर उसका भी अपवाद कर दिया। यहाँतक कि ब्रह्मपनेका अध्यारोप भी इसीलिए किया जाता है कि वह परिच्छिन्नत्वको दूर करनेवाला है। दृक्पनेका अध्यारोप भी इसलिए किया जाता है, क्योंकि वह दृश्यपनेका अपवाद करनेवाला है!

तो वेदान्तमें जो भी शब्द बोलकर अपनेमें आरोप किया जाता है, अन्ततः उसका अपवाद भी हो जाता है और शब्दोच्चारण और शब्दशांति दोनोंमें एक रस अपना आपा जो है, वह भरपूर है और अपना आपा भी इसलिए अध्यारोपित किया जाता है कि इसमें परायापन न मालूम पड़े!

तो यह जो वेदान्तकी प्रक्रिया है, '**अध्यारोपापवादाभ्याम् निष्प्रपञ्चम् प्रपञ्च्यते**'—यह वेदान्तकी एक गंभीर विधि है। इसको स्वीकार किये बिना अगर कोई समझे कि हम उपनिषद्‌में प्रतिपादित वेदान्तको समझ जायेंगे, तो वह नहीं समझ सकता। और जबतक 'मैं' समझमें नहीं आवेगा, तबतक 'वह' भी समझमें नहीं आवेगा, 'यह' भी समझमें नहीं आवेगा। क्योंकि पहले 'मैं' आये तब 'यह' और 'वह' मालूम पड़ता है। ईश्वरने ऐसी मानो भर्यादा मानली है कि पहले देखनेवाला होगा, तब देखेगा। काला है कि गोरा है—यह हमको मालूम पड़ रहा है। मालिक है कि गुलाम है—यह हमको मालूम पड़ रहा है। गुरु है कि चेला है—यह हमको मालूम पड़ रहा है। तो जिसको मालूम पड़ रहा है न, आदि-तत्त्व वही होता है! और सब क्या हैं? और सब तो गुण हैं।

तो सांख्योंने गुणका अध्यारोप किया। उन्होंने कहा कि सत्त्व, रज, तम—ये

तीन गुण हैं। तो तीन ही क्यों हैं? तो इनकी भी एक विधि होती है। जैसे यह शरीर है—हड्डी, मांस, चाम—यह द्रव्य है। और, हाथका हिलना, उठाना, बैठना, पलक गिरना, जीभका हिलना—यह सब क्या है? यह क्रिया है। और, एक ज्ञान है। तो ज्ञान, क्रिया और द्रव्य—ये तीन वस्तु दीखती है। अब इन तीनोंके कारण भी होने चाहिए! तो द्रव्यका कारण तम है, क्रियाका कारण रजस् है और ज्ञान-वृत्तिका कारण सत्त्व है। एक सत्त्व है, जिससे हम देखते हैं, सुनते हैं, स्वाद लेते हैं और एक रज है—'रजस्' माने राग-द्वेष अर्थात् यह पकड़ना और यह छोड़ना—इसीसे तो क्रिया होती है और एक द्रव्य है, यह तम है। तो इन तीन गुणोंकी जो साम्यावस्था है, उसको प्रलय कहते हैं और जब वे वैषम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं, तब सृष्टि होती है। गुणोंकी विषमावस्था सृष्टि है और गुणोंकी साम्यावस्था प्रलय है। यह बात कल्पनामात्र है! क्यों?

देखो, यदि समतामें स्थित, साम्यमें स्थित गुण जगत्के कारण बनते होंवे तो एक बार यदि वे अपनी समता छोड़कर विषमभावमें आ गये, तो फिर उनका प्रलय ही नहीं होगा। और यदि वे बिना किसी कारणके ही विषम हो जाते हैं, तो सदा सृष्टि होती रहेगी और यदि उन गुणोंको चलानेवाला कोई कारण है और वह कारण हमेशा रहता है, तो प्रलय नहीं होगा। और वह हेतु यदि नित्य है तो हमेशा सृष्टि होती रहेगी और यदि अनित्य है तो उसके न रहनेपर सृष्टिका सर्वदाके लिए नाश हो जायेगा। इसलिए, गुणोंके द्वारा सृष्टिका निर्वाह होना शक्य नहीं है।

अब किसी-किसीको यह बात बड़ी मुश्किल लगती है! वस्तुस्थिति यह है कि आदमी छोटी-छोटी चीजको समझना चाहता है, बड़ी चीजको समझना तो वह निष्प्रयोजन समझता है। जहाँ कुछ प्रयोजन होता है या जहाँ कहीं संदेह होता है, वहाँ विचार किया जाता है। यदि यह किताब साफ-साफ आपलोगोंको दीख रही है, तो किताब है कि नहीं—यह विचार करनेकी क्या जरूरत है? और जो चीज बिल्कुल निष्प्रयोजन होती है—जैसे कौएके कितने दाँत होते हैं—उसके बारेमें भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

तो जिस चीजसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और जो बिल्कुल साफ-साफ होती है, उन दोनोंके बारेमें मनुष्यके मनमें विचार करनेकी रुचि नहीं होती!

असलमें बात यह है कि अंतःकरण दो तरहका होता है—एक रागोपाधिक और एक वैराग्योपाधिक। एक अंतःकरणमें संसारकी वस्तुओंके प्रति राग होता है और एक अंतःकरण ऐसा होता है, जिसमें संसारकी वस्तुएँ नीरस मालूम पड़ती हैं।

तो जिनको संसारकी वस्तुओंमें रस आता है, वे संसारकी वस्तुका विचार करते हैं। पैसा कैसे मिले? यश कैसे मिले? मशहूर कैसे हों कि बहुत बढ़िया काम इन्होंने किया! भोग कैसे मिलें? इन बातोंपर तो संसारमें सब लोग विचार करते हैं! और, सुधारना किसको चाहते हैं? बहू कहती है कि हे महाराज, हमारी सासका मिजाज बड़ा तेज है! कोई ऐसा मन्त्र बताओ कि सासका मिजाज जरा ठंडा पड़ जाये!

अब देखो, यह परमार्थकी बात हम आपको बताते हैं! जो दूसरेका मिजाज ठीक करना चाहते हैं, वह परमार्थके रास्तेमें नहीं चल सकते। अगर बहू यह आकर पूछे कि हे महाराज, कोई ऐसा मंत्र बताओ कि हमारे अंदर इतनी सहनशक्ति आ जाये कि सासजी चाहे जो बोलती रहें, हमारे ऊपर उसका कोई असर न पड़े! अपना मन सुधारनेकी जब इच्छा होती है, तब परमार्थका रास्ता शुरू होता है और दूसरेका मन सुधारनेकी जब इच्छा होती है, न कि वे गाली न दें, मुँह बंद कर दो; तो दूसरेका मुँह बंद नहीं कर सकते हैं।

तो जो यह समझते हैं कि हमारे घरमें इतना पैसा आ जाय तो हम सुखी हो जाये। तो वे अभी पैसेमें सुख चाहते हैं। जब यह इच्छा होगी कि हे महाराज, ऐसा साधन बताओ कि बिना पैसेके भी हमारा मन शान्त रहे। तब तो परमार्थका मार्ग प्रारम्भ होगा। बोले कि उस लड़के अथवा लड़कीसे हमारा ब्याह हो जाय, तो हम सुखी होंगे। जरा कोई मोहन, मारन, उच्चाटन, वशीकरण मन्त्र बतायें। तो इसका परमार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। भोग मिले, तब हम सुखी होंगे—यह कल्पना जबतक है, तबतक बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं है। आप यह देखो, बिल्कुल सीधी-सीधी बात है। अगर आप किसी दूसरेको अपने साथ सटाकर सुख लूटना चाहते हों, दूसरेको अगर अपने साथ बाँधना चाहते हों तो अपने आपको भी दूसरेके साथ बाँधना पड़ेगा न! यह कहो कि हम अपने दोस्तको तो अपने साथ बाँध लें, वह तो हमको पकड़कर रखे और हम उसको न पकड़ें। तो बन्धन कैसे होगा?

हे भगवान्! दुनियामें तुम अगर किसीको अपने साथ बाँधकर रखना चाहोगे, तो उसके साथ तुमको भी बँधना पड़ेगा। यही बन्धनका तत्त्व है। तो यह बात वस्तुके साथ भी होती है और आदमीके साथ भी होती है। तो जैसे सोना हमेशा हमारे पास रहे। तो तुम्हें हमेशा सोना इकट्ठा करनेका और उसकी रक्षा करनेका ख्याल रखना पड़ेगा। तो तुम्हारा मन सोनेके साथ बँधेगा। तो बे-दिलवाली जो चीजें हैं, उनके साथ प्रेम करना। वह तुमसे कभी प्रेम करेंगी नहीं।

अगर सोनेकी औरत बनाकर घरमें रखोगे तो वह वह तो चोर-डाकूके साथ भी चली जायेगी। क्योंकि, उसके दिल नहीं है। बे-दिल है न। बिना दिलवाली चीजसे प्रेम करोगे, तो वह तुम्हारा प्रेम एकतरफा रहेगा। वह बे-दिल चाँदी, सोना, कपड़ा, मकान, जमीन—ये सब तो तुम्हारे साथ प्रेम करनेसे रहे। तो जब यह समझोगे कि इनसे हमको सुख मिलेगा, तो तुमको एकतरफा बनना पड़ेगा।

अब समझो कि एक प्राणी, एक प्राणीसे सुख चाहता है। कुत्तेसे प्यार करता है, तो कुत्ता भी तुमसे प्यार करेगा और तुम भी उसको प्यार करोगे। कुत्तेके भी दिल है। लेकिन, समझ इतनी नहीं है। हमने गाँवमें देखा कि लोग पहरेके लिए कुत्ता रखते हैं, खूब खिलाते हैं, मोटा-तगड़ा करते हैं। चोर लोग क्या करते हैं कि दिनमें आकर उनको गुड़ खिला जाते हैं, मांस खिला जाते हैं। थोड़े दिनोंमें वह परिचित हो जाता है। तो रातको जब वे चोरी करने घरमें घुसते हैं तो वह कुत्ता भूँकता नहीं, बल्कि उनके सामने पूँछ हिलाता है और वे मौजसे सब माल उठाकर ले जाते हैं। तो कुत्तेको तो केवल मांस या गुड़ खिलानेवाला चाहिए। हम लोगोंकी तरफ स्त्री-पुरुषके बारेमें भी गाँवमें ऐसी-ही कहावत है। लेकिन आपलोग तो नागरिक हो, शहरके रहनेवाले बड़े सभ्य हो, संस्कृत हो। आपके बारेमें क्या बोलें? तो कहावत यह है कि—

गई नारि जब खाय मिठाई। गया मरद जब खाय खटाई॥

तो यह खट्टा-मीठा जो है, यह बड़े-बड़ोंके चित्तको भी फेर देता है।

तो बेदिलवालोंसे यदि मुहब्बत करोगे तो वह तो एक तरफा है। पर, दिलवाले भी बेवफा हो जाते हैं और मर जाते हैं, बिछुड़ जाते हैं। वहाँ भी दुःख है। तो फिर? अपने दिलमें जो है, उससे प्रेम करो। बाहरवालेसे प्रेम मत करो। अपने दिलमें कौन है? अरे, अपने दिलमें वही रहता है भाई, जिसने यह सृष्टि बनायी है। उससे जुड़ो।

देखो, ईश्वरने अपनी कुटिया नहीं बनायी। बाबाजी लोग तो अपनी कुटिया बना लेते हैं। सबका दिल ही उसने अपनी रहनेकी जगह बनायी है। और वह इतना विशाल है, इतना उदार है कि सबको जीवन दे रहा है। नींबूमें रस कहाँसे आता है? अंगूरमें मिठास कहाँसे आती है? नमकमें नमकीनपन कहाँसे आता है? अन्नमें भरण करनेकी शक्ति कहाँसे आती है?

तो संसारसे जो मुक्ति है, बन्धनका छूटना है, वह देखो। इससे बँधे, उससे बँधे, हजार जगह बँधे और बुँधे-बँधे डोल रहे हैं। तो जो मनस्वी पुरुष होते हैं,

उनको इसमें बड़ा दुःख मालूम पड़ता है कि किसके पीछे-पीछे डोलें। मनस्वी पुरुषको किसीके पीछे-पीछे डोलनेमें मजा नहीं आता। तो वह देखता है कि भाई, जो सबके दिलमें है, वही तो हमारे दिलमें भी है। तो हम अपने दिलवालेसे प्रेम न करें और दूसरेके दिलवालेसे प्रेम करें—इसकी जरूरत क्या है? तो उसीको मुमुक्षु कहते हैं।

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये

देखो, संसारमें मृत्यु है, मूर्खता है, दुःख है। तो यदि मृत्यु, मूर्खता और दुःखसे छुटकारा पाना है तो जब सत्, चित् और आनन्दसे प्रेम करोगे, तो इसका नाम होगा 'मुक्ति' । और, हम जिससे प्रेम करते हैं, उसके स्वरूपको देखोगे, तो बड़ा-ही मजा आवेगा। बड़ा लजीला है, बड़ा शर्मीला है वह। बहुत ही संकोची है। वह जितना-जितना तुम उसकी खोज करोगे, उतना-उतना वह तुम्हारे साथ चिपकता जायेगा। जितनी-जितनी तुम उसकी खोजबीन करोगे, उतना-उतना वह तुम्हारा आपा ही होता जायेगा। क्योंकि, यही सबसे बड़ी कमजोरी है ईश्वरकी, कि वह तुमको छोड़ नहीं सकता। वह कभी तुम्हारे साथ विश्वासघात नहीं करेगा। वह कभी तुमको छोड़ कर दूर नहीं जायेगा। वह कभी मरेगा नहीं। वह कभी तुमको बेवकूफ नहीं बनावेगा। वह कभी तुमको दुःख देता हुआ भी मालूम पड़ेगा, तो उसमें बड़ा भारी सुख होगा। अपने प्यारेके हाथका दिया हुआ दुःख भी बड़ा भारी सुख होता है।

तो ईश्वरके रास्तेमें चलना—यह सम्पूर्ण दुःखोंसे, बेवकूफियोंसे और मृत्युओंसे छूटनेका रास्ता है।

अच्छा, एक ऐसी भी बात है कि दुनियामें ऐसी कोई एक चीज नहीं है कि केवल उसीसे अपना रिश्ता जोड़कर हम अपना निर्वाह करलें। इत्रके शौकीन हो तुम। भोजन नहीं चाहिए क्या? भोजनके शौकीन हो तुम। देखनेके लिए आँख नहीं चाहिए क्या? रूप नहीं चाहिए क्या? रूपके शौकीन हो तुम। छूनेके लिए स्पर्श नहीं चाहिए क्या? अच्छा, छूनेके शौकीन हो तुम। क्या सुननेके लिए कुछ नहीं चाहिए? और, सुननेके शौकीन हो तुम; तो क्या प्यार करनेके लिए कुछ नहीं चाहिए? प्यार करनेके शौकीन हो तो क्या समझदारीको आलेमें रख दोगे? और, बहुत समझदार हो तो अपनी खुदकुशी कर लोगे क्या?

देखो, क्या क्रम है। गन्धसे काम नहीं चलेगा, रस भी चाहिए। रससे काम नहीं चलेगा, रूप भी चाहिए। रूपसे काम नहीं चलेगा, स्पर्श भी चाहिए। स्पर्शसे काम

नहीं चलेगा, शब्द भी चाहिए। शब्दसे काम नहीं चलेगा, प्यार भी चाहिए और प्यारसे ही काम नहीं चलेगा, समझ भी चाहिए और समझसे ही काम नहीं चलेगा, अपना खुद भी चाहिए। अपने आपके बिना क्या रहेगा? स्वयंता भी चाहिए।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि जब हम संसारके बन्धनमें रच-पच जाते हैं, भटकना-ही सुख मालूम पड़ता है। तो जिसको दुनियामें बँध जाना-ही सुख मालूम पड़ता है, उसके लिए परमार्थका मार्ग नहीं है।

तो नारायण परमार्थमें तत्त्वका अनुसन्धान होता है। 'तत्त्व क्या है?'

'तत्त्वानीति च तद्विदः'—कई लोग कहते हैं कि तत्त्व ही यथार्थ वस्तु है।

'तत्त्व' माने सच-सच, तच्च—वह ईश्वर, वह जीव और यह जगत्—तेषां भावस्तत्त्वं। यह समझो कि ईश्वर क्या है, जीव क्या है, जगत् क्या है? थोड़ी अकल लगाना। पैसा कमानेमें जितनी अकल लगायी जाती है, उसका सौवाँ हिस्सा अकल यदि ईश्वरमें लगा दी जाये तो ईश्वर दीखने लग जाये। यह महाराज चमड़ीको चिकना रखनेके लिए कितनी खोज की जाती है। बाल न पकें—इसके लिए कितना अनुसन्धान किया जाता है। अपने शरीरको रँगनेके लिए, कपड़ा पहननेके लिए या सजाने-सँवारनेके लिए जितना प्रेम किया जाता है, उतना ही प्रेम अगर ईश्वरसे किया जाय, तो ईश्वर मिल सकता है। ईश्वरका मिलना मुश्किल नहीं है। वह तो मिलनेके लिए राजी रहता है।

तो देखो, शैव लोग आत्मा, अविद्या और शिव—ये तीन तत्त्व मानते हैं और इन्हींसे सारा जगत् चल रहा है।

अब आप देखो, 'मैं हूँ' यह बात बिल्कुल पक्की है। कैसे पक्की है? हम लोगोंको अनुभव क्या होता है—इसका अनुसन्धान किया। हमने किया, हमारे गुरुने किया, हमारे गुरुके गुरुने किया। पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे करते आये हैं और हम इस नतीजेपर बिल्कुल पक्का पहुँचे हैं कि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव की किसीको नहीं हो सकता। जिसको 'मैं नहीं हूँ'—यह अनुभव होगा, वह जिन्दा है क्या? अगर कोई कहे कि वर्तमानमें हमको यह अनुभव हो रहा है कि 'मैं नहीं हूँ'। तो उसका अनुभव कैसा है? बोले कि जैसे कोई बोलकर बतावे कि **'मम मुखे जिह्वा नास्ति'**—मेरे मुँहमें जीभ नहीं है। तो बिना जीभके बोलेगा कैसे? मुँहमें जीभ है, तभी तो बोल रहा है न! इसी तरहसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ'—सो शक्य नहीं। बाहरसे कोई पूछे कि घरमें कोई है? और, भीतरसे बोलें कि मैं इस समय घरमें नहीं हूँ। तो 'मैं नहीं हूँ'—ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता! यह

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें भी है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयमें भी है। कभी भी किसी भी समयमें यह अनुभव नहीं हो सकता कि 'मैं नहीं हूँ।'

अब जितनी भी चीजें आती है, वे अपने सामने ही आती हैं। तो जो हमारी ही रोशनीमें हमको दिखती हैं, उनको जड़ बोलते हैं। जिसको देखनेके लिए चेतनकी जरूरत पड़े , वह 'जड़'। वह जो अपनेको न जाने और दूसरेको भी न जाने, उसको बोलते हैं 'जड़' और जो अपनेको भी जाने और दूसरेको भी जाने, उसको बालते हैं 'चेतन'। अब यह सवाल उठा कि ईश्वर अपनेसे जुदा है कि अपना आपा है? बोले कि अविद्यासे जुदा है और अनुभवसे एक है। 'अविद्या' माने अज्ञान, नासमझी, बेवकूफी।

एक पण्डितजी अभी अस्सी-पचासी वर्षकी उम्रके हैं और वे अपने जमानेमें व्याकरणके बड़े भारी विद्वान् माने जाते थे। उनका नाम पूर्णचन्द्राचार्य है। अभी एक बार मैं जब काशी गया तो मुझसे मिलने आये और बोले कि स्वामीजी, मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया हूँ। मैंने पूछा कि क्या बात है? बोले कि पंडित राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ने हमको विद्वानोंकी सभासे बहिष्कृत कर दिया है, पण्डितोंकी सभामें-से हमारा नाम निकाल दिया है। अब कहीं पण्डितोंकी सभा होती है तो हमको बुलाया नहीं जाता और जो दक्षिणा मिलती थी, वह भी नहीं मिलती है। सो हमारे पैसे भी गये और इज्जत भी गयी। तो आप उनसे हमारी सिफारिश कर दो कि हमको फिर पण्डितोंकी लिस्टमें लिख लें।

मैंने पूछा कि आप तो इतने बड़े व्याकरणके पण्डित। आखिर आपने किया क्या था, जो आपको निकाल दिया गया। तो उन्होंने बताया कि स्वामीजी, एक दिन वेदान्तका शास्त्रार्थ हो रहा था। सो मैं भी गया। सब पण्डित बोल रहे थे। मैंने भी अपना पक्ष रख दिया। मैंने अपना पक्ष रखा कि जैसे घड़ेका द्रष्टा घड़ेसे न्यारा होता है, ऐसे-ही जो ब्रह्मका द्रष्टा है, जो ब्रह्मका ज्ञाता है, वह ब्रह्मसे न्यारा होता है। अब महाराज, शास्त्रीजीने एक-दो बार टोका कि देखो तुम व्याकरणके पण्डित हो, वेदान्तके विषयमें तुम मत बोलो। चुपचाप बैठे रहो। शास्त्रार्थ करना कोई जरूरी तो है नहीं। क्योंकि इस विषयको तुम नहीं समझते हो! लेकिन, मैं जरा जिद्द कर बैठा। फिर, सभामें गर्मा-गर्मी हो गयी। तो उन्होंने हमारा नाम काट दिया।

तो नारायण, 'ब्रह्म' कहते ही उसको हैं, जो द्वैतको सहन न करे। उसमें द्वैत अध्यस्त होकर रह सकता है, मिथ्या होकर रह सकता है। समानसत्ताक होकर

नहीं रह सकता। प्रतीतिमात्र होकर द्वैत उसमें रह सकता है। उस ब्रह्मके सम्बन्धमें जो अविद्या है, उसे दूर करना है।

तो एक ब्रह्म, एक जीव और एक अविद्या—ये तीन तत्त्व हैं।

हम आपको बताते हैं कि परमेश्वरको, ब्रह्मको जो लोग अपनेसे भिन्न मानेंगे, उनकी गति क्या होगी? उनकी गति यह होगी कि उन्होंने असलमें अपने बेटेका ही 'ब्रह्म' नाम रख लिया है।

दिल्लीमें एक सत्संगी थे। उनका पहले नाम था, नारायणदास। तो जब वेदान्त पढ़ने लगे, तब बोले कि यह नाम तो हमको पसन्द नहीं। अब हमारा नाम नारायणदास नहीं। क्या नाम रखोगे भाई? अब हम अपना नाम 'ब्रह्म' रखेंगे। अरे, भाई नाम बदलनेसे क्या बनेगा या क्या बिगड़ेगा? जब देह ही को 'मैं' मानते हो तो उसका नाम कुछ भी रख लो।

तो देखो, यदि शिवतत्त्व अपनेसे जुदा होवे तो उसको जाननेवाला मैं होऊँगा। तो वह यदि हमसे अन्य है, तो घटादिके समान जड़ हो जायेगा। वह ब्रह्म तो जाना गया और मैं ब्रह्मको जाननेवाला। तो जाना गया ब्रह्म घड़ेके समान प्रकाश्य, दृश्य हो जायेगा, जड़ हो जायेगा और मैं ज्ञाता हो जाऊँगा और, कहो कि भिन्न नहीं होगा—जो मैं सो ही ब्रह्म, जानने पर ऐसा होगा। तो नारायण, फिर आत्मा और ब्रह्म—दो तत्त्व काहेको रखते हो? एक ही रखो।

अतः तीन तत्त्व नहीं हो सकता भला। केवल अविद्यासे ही परमात्मा माने अपने एवं परमात्माको न जाननेसे ही परमात्मा अलग मालूम पड़ता है। जाननेपर परमात्मा अलग नहीं मालूम पड़ता।

एक बार कोई काम था। तो आपसमें चर्चा चली कि भाई, यह काम हो जाना चाहिए। तो किसीने कहा कि आपके पड़ोसमें एक सज्जन रहते हैं, वे यह काम कर देंगे! 'भाई, वे कौन हैं?' 'अरे, वे सज्जन तो बड़े विद्वान् हैं, बड़े ऊँचे पदपर हैं ओर उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है, उनको सब मानते हैं। आपके पड़ोसमें ही रहते हैं और आप नहीं जानते हैं?' वे तो रोज आपके दरवाजेके सामने से सायं टहलनेके लिए निकलते हैं। आपने देखा नहीं?

मैंने कहा कि भाई, सैंकड़ों आदमी निकलते हैं। हमको देखते हैं। कैसे पहचानें?

बोले कि वे चश्मा लगाते हैं और हाथमें छड़ी रखते हैं और ऐसा-ऐसा कपड़ा पहनते हैं!

'हाँ भाई, ऐसे एक आदमी निकलते तो हैं! मैं देखता तो रोज हूँ!'

'अरे भाई, वे तो बड़े अच्छे, मिलनसार आदमी हैं और आपसे मिले भी होंगे कभी!'

'हाँ-हाँ, एकाधबार रास्तेमें निकलते समय दुआ-सलाम हो जाता है!'

'अरे, तो वही तो हैं।'

तो देखो, रोज देखते तो थे, पर उनको जानते नहीं थे। यह सुषुप्तिमें अपना आत्मा जो है, अंत:करणकी उपाधि छोड़कर रहता है। लेकिन, पहचान नहीं होती है। यह स्वप्नमें स्वयंप्रकाश होकर रहता है। सारी सृष्टिको स्वप्नमें प्रकाशित करता है। स्वप्न और जाग्रत्‌का सारा व्यवहार इसीसे सिद्ध होता है। सारे जाग्रत्‌का द्रष्टा यही है और सारे स्वप्नका निर्माता और द्रष्टा वही है। क्योंकि, वहाँ ज्ञान और वस्तुमें भेद नहीं है। और, अन्त:करण सुषुप्तिमें है ही नहीं, तब भी यह है और फिर देखो, ऐसा अज्ञान!

हमारे एक मित्र थे। जब हम बारह वर्षके थे, तब परस्पर परिचय हुआ था। वे उस समय आठ वर्षके थे। उनके घर गये, कई दिन रहे और खूब मित्रता हो गयी। उसके बाद चिट्ठी-पत्री तो होती रही, पर बारह वर्ष मिलना नहीं हुआ। अब वे बीस वर्षके जवान हो गये और प्रयाग यूनिवर्सिटीमें एम०ए० में पढ़ रहे थे। हमको कोई जरूरत पड़ी। सो पता लगाया कि कहाँ है और उसके पास पहुँच गया। अब मैं पहुँचा तो वह मुझे पहचाना नहीं। मुझे तो मालूम था कि अमुक नम्बरके रूममें रहता है! मैंने पहुँचकर उसका नाम उसे बता दिया और कहा कि मैं अभी जरा ट्रेनसे आया हूँ! सो शौच जाऊँगा, स्नान करूँगा! वह बोला कि बहुत अच्छा! मैंने पूछ लिया कि तुम्हारे पिता कहाँ हैं, भाई कहाँ हैं? अब वह तो हकबका गया। वह यह तो समझ गया कि हमारे कोई बहुत घनिष्ठ हैं और मिलनेके लिए बहुत उत्सुक था भला! लेकिन पहचाने नहीं। फिर मैंने कहा कि आज मैं भोजन भी तुम्हारे यहाँ करूँगा! तो उसने भोजनका बन्दोबस्त किया। तीन-चार घंटा हो गया। वह पूछे कि आप हैं कौन? बताते क्यों नहीं? तो जब मैंने उसको अपना नाम बताया, तो लिपट गया! इतना प्रेम, इतना प्रेम! इतना प्रेम!

अब यह तीन-चार घंटे साथ-साथ रहकर जो न पहचानना था, यह क्या था? यही अज्ञान है!

तो यह जो ईश्वरसे हमलोगका विछोह है, ऐसा नहीं है कि ईश्वर दूसरी जगह रहता है और हम दूसरी जगह रहते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।

एक-ही पेड़पर, एक ही घोंसलामें और एक-ही साथ और एकमें ही मिलकर रहते हैं। इस शरीरमें ही ईश्वर और जीवात्मा दोनों है। जब जीवात्मा अपना चोला छोड़ देता है, तब ईश्वरसे एक हो जाता है। एक साथ दोनों बैठे हुए हैं!

ऐसा है, तो ईश्वर मिलता क्यों नहीं? इतना प्यारा है, इतना मीठा है कि जब हम सो जाते हैं, तो चुपकेसे हमारी सारी थकान मिटा देता है। आपको मालूम है सो जाने पर नींदमें आपका पाँव कौन दबाता है? आपकी सारी थकान क्यों मिट जाती है? सोनेमें आप ईश्वरके हृदयसे लगकर सोते हैं।

'तद्यथा प्रियया जायया सम्परिष्वक्तो, न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं'।

उस समय आपको आपकी माँसे जुदा करके, बापसे जुदा करके, वेदसे जुदा करके, देवतासे जुदा करके ईश्वर ऐसा अपने हृदयसे लगता है कि आपकी दिनभरकी थकान दूर हो जाये! और, जिस समय आप बाहरकी आँख बन्द करके भीतरकी आँखसे सपना देखते हैं, आपको ईश्वर ऐसी ताकत देता है कि सपनेमें चाहो जो बना लो!

तो ईश्वर आपको सपनेमें जो चाहो, सो बननेकी ताकत देता है, सुषुप्तिमें आपको आराम देता है और जाग्रत्‌में काम करनेकी शक्ति देता है। आपके जीवनका लक्ष्य है वह! उसको पाये बिना आप सुखी नहीं हो सकते! आप चाहते हो न कि सब जगह आनन्द आवे! तो, वह नहीं मिलेगा, तो सब जगह आनन्द कहाँसे मिलेगा? आप चाहते हो न कि सब समय आनन्द मिले। तो वह नहीं मिलेगा, तो सब समय ठन-ठनपाल रहेंगा! सब समय आनन्द तो सिर्फ उसीसे मिलेगा, सबसे आनन्द मिले, यह चाहते हो! तो वह मिले, तब न ऐसा हो। बिना मेहनतके आनन्द मिले! तो कोई देनेवाला हो, तब न! और, आनन्द लेनेमें किसीके अधीन होना न पड़े! यह तो तब होगा न, जब वह अपना आपा होगा!

तो महाराज, वह ईश्वर सब जगह, सब समय, सबमें, बिना परिश्रमके और परम स्वतन्त्र, जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल हो रहा है और उसका आनन्द लेना हो, तब उस रास्तेपर चलना पड़ता है। और कोई नहीं है वह! जबतक वह अज्ञात रहता है, तबतक उसका नाम 'ईश्वर' रहता है और जब पहचान लिया, तब उसका नाम 'आत्मा'। केवल पहचानका ही फर्क और कोई फर्क नहीं है। इसीसे ईश्वरके मार्गमें चलनेमें कोई कठिनाई नहीं है।

कहहुँ भगति पथ कवन प्रयासा।

कोई प्रयास नहीं है। मिला-मिलाया, हाज़रा हज़ूर! ✯

सृष्टिका मूल-तत्त्व : विभिन्न मत (३)

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः॥ २१॥

वस्तु तो एक ही है, लेकिन अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार लोगोंने उसमें भिन्न-भिन्न कल्पना की है। कहते हैं कि जो पादके वेत्ता हैं, वे कहते हैं कि पाद-ही मूल तत्त्व है। 'पाद'- का अर्थ होता है कि आदमी जहाँ पर खड़ा हो, वहाँसे एक पग आगे बढ़े या पीछे हटे। और, अप्राप्त-वस्तुको प्राप्त करनेका उपाय यही है कि एक कदम आगे बढ़ जाओ अथवा एक कदम पीछे हट जाओ।

देखो, इस देहमें मनुष्यकी स्थिति हो गयी है। जब देखो, तब देहको ही पकड़े है। ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं मनुष्य हूँ—यह सब क्या है? वर्ण, आश्रम, यह सम्प्रदाय, जाति कहाँ कल्पित होती है? शरीरमें ही न! काला, गोरा, मोटा, दुबला, नाटा, लम्बा—यह सब कौन है? यह सब तो देह ही है!

तो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए इस देहसे आगे-पीछे कुछ हटना पड़ता है! उसीको 'पाद' बोलते हैं। जैसे ब्राह्मणपना, संन्यासीपना, यह वर्णाश्रम हो गया और हिन्दूपना—यह सम्प्रदाय हो गया, मनुष्यपना—यह जाति हो गयी। काला, गोरा—यह गुण हो गया और मोटा, छोटा—यह सब नाप-तौलकी बात हो गयी! यह सब-का-सब देहमें हैं। तो ईश्वरकी ओर चलना हो, तो एक कदम पीछे हटो! यह देह 'मैं' नहीं हूँ, सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका द्रष्टा मैं हूँ। सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका द्रष्टा होना दूसरी चीज है और यह देह होना दूसरी चीज है! जैसे स्वप्नावस्थाका जो द्रष्टा होता है, वह स्वप्नकी पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, स्वप्नके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, स्वप्नका कुम्भमेला, स्वप्नका भारतवर्ष, स्वप्नका अमेरिका, अफ्रीका, योरप, एशिया—सब द्रष्टा होता है। इसी प्रकार जो जाग्रत्-अवस्थाका द्रष्टा है, वह एशिया, अफ्रीका, योरप, जितने ग्रह-नक्षत्र, तारे मालूम पड़ते हैं, सबका द्रष्टा है। तो यह एक पाद हुआ! देखो, इससे परमेश्वरकी प्राप्ति होगी! प्रथम पादमें यह कल्पना करो कि मैं देह और देहमें आरोपित वस्तु नहीं हूँ, मैं सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका द्रष्टा विश्व-विराट् हूँ।

अब दूसरा कदम उठाओ। बोले कि स्थूल-सृष्टिका ही नहीं, सूक्ष्म-सृष्टिका मैं ही द्रष्टा हूँ! स्वप्नावस्थाका द्रष्टा तैजस् और हिरण्यगर्भ मैं हूँ।

तीसरा कदम उठाओ! बोले कि कारणावस्थामें भूतसूक्ष्म अव्याकृत बीजात्मा प्राज्ञ-ईश्वर है, वह मैं हूँ! इसमें समाधि, सुषुप्ति, महाप्रलय, कारणावस्था—सब-की-सब कल्पित हैं।

बोले कि नहीं, छोड़ो इस झगड़े, बखेड़ेको! चौथा कदम उठाओ! कहाँ जाना, कहाँ आना? विश्व जो है, यह तो साधन है, तैजस साधन है, प्राज्ञ साधन है, विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर साधन है और मैं सिद्ध हूँ! तुरीय हूँ, तुरीय!

पादा इति पादविदः। पाद-वेत्ताओंने कहा कि अगर इस ढंगसे तुम परमात्माका विचार करोगे, तो यह पाद-विचार जो है, वह तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति करा देगा। बस, यह यथार्थ-मार्ग यही है!

देखो, यह भी पाद-वेत्ताओंका ही मत है। यह परमार्थ नहीं है। यह अध्यारोप है। जो मूल आत्म-वस्तु है, उसपर ये पाद आरोपित है क्यों?

निरंशस्याऽऽत्मनः पादभेदानुपपत्तेः।

आत्मामें टुकड़े नहीं होते कि इतना जाग्रत्, इतना स्वप्न, इतना सुषुप्ति और इतना तुरीय है और आत्मामें यह विश्व-तैजस्-प्राज्ञ और विराट्-हिरण्यगर्भ और ईश्वर है। यह सब अंश कल्पना परमार्थमें नहीं होती। क्योंकि अंशवाली जो वस्तु होगी, वह तो नाशवान् होगी।

अतः कल्पित-रीतिसे ही पादका निरूपण किया जाता है, वस्तु-रीतिसे पादका निरूपण नहीं किया जाता है। इसलिए, जो लोग परमात्मामें पादका निरूपण करते हैं—एक कदम, दो कदम, तीन कदम, चार कदम। तो यह कदम-वदम कुछ नहीं! वह तो ज्यों-का-त्यों भरपूर है! जैसे अ, ब, स, कल्पना करके गणित समझाते हैं, ऐसे ही यह पाद कल्पना करके समझाते हैं। यह तो,

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥
न कछु हुआ न है कछु, न कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।

बोले कि ठीक है बाबा, ऐसे परमार्थको कौन जाने? 'परमार्थ' में-से लोग 'प' का लोप करके, फिर उसको ठीक समझते है। 'प'का लोप करो तो क्या रहता है? 'रमार्थ'। तो परमार्थ कम समझते हैं, रमार्थ ज्यादा लोग समझते हैं। अर्थकी ही आजकल महिमा है, परमार्थकी महिमा नहीं है।

तो '**विषया इति तद्विदः**'—अरे, कौन परमार्थ-वरमार्थकी चर्चा करे! यह जो विषय है,

भूयो भूयो मुह्यमानाः विषया एव परमार्थं तत्त्वं इति तद्विदः।

तो जो विषयोंके जानकार हैं, वे कहते हैं कि बस, विषय ही तत्त्व हैं। 'विषय' माने भोग। वात्स्यायन आदि कहते हैं कि देखो भाई, मरनेके बाद नरक होता है कि स्वर्ग होता है कि पुनर्जन्म होता है? यह भी नहीं मालूम है कि बन्धन होता है, कि मुक्ति होती है। तो इसलिए, उसकी चर्चा छोड़कर यह जो नगद माल है—इसको लूटो!

एक सेठजी थे। वे एक बार बढ़िया-बढ़िया चीज बनवाकर खा लेते! फिर कै कर देते। फिर थोड़ी देरके बाद चित्त स्वस्थ होता, भूख लगती तो फिर खाते! तो कै क्यों करते? बोले कि बार-बार खानेको मिले! बार-बार स्वाद लें!

तो यह विषय जो है, अन्तमें विष हो जाता है, इसलिए इसको 'विषय' बोलते हैं।

विषं याति इति विषयः।

भोगते समय तो बहुत मीठा लगे, मजा आवे। सूँघनेमें क्या मजा है, खानेमें क्या मजा है, देखनेमें क्या मजा है, छूनेमें क्या मजा है, कानोंमें मीठी-मीठी बात सुननेमें क्या ही मजा है! लेकिन, लोग ठगे कहाँ जाते हैं? यही कि जब ठगोंके हाथ लग जाते हैं, तो वे ठग भी तो लेते हैं!

तो ये विषय कोई तत्त्व है, यह बात गलत है। जीवन-निर्वाहके लिए भोजन चाहिए, यह बात ठीक है और शिष्टता एवं स्पष्टतासे जीवन व्यतीत करनेके लिए सुगन्धका भी वातावरण चाहिए। स्वच्छता एवं सुन्दरताका भी वातावरण चाहिए। पर यह कोई जीवनका लक्ष्य नहीं है, यह कोई सृष्टिका तत्त्व नहीं है! अब रोज शौच जाना पड़ता है, इसलिए बाथरूममें जाना—यह कोई जीवनका तत्त्व है, ऐसा नहीं। जीवन-निर्वाहके लिए वैसा करना पड़ता है। रोज भोजन करना पड़ता है। यह तो विवशता है। यह कोई जीवनका तत्त्व नहीं है। जीनेके लिए आवश्यक है, इसलिए करना पड़ता है।

वस्तुतः आवश्यक तो वह है, जिससे दिल हरा-भरा रहे। ऐसेके साथ दिल मत जोड़ना, राग नहीं करना, आसक्ति नहीं करना कि फिर दिल सूख जाये।

ऐसे वरको के वरूँ, जो जनमे औ मर जाये।
वर वरिये गोपाल जू, म्हारो चुलड़ो अमर हो जाये॥

अपने हृदयका प्रेम उससे जोड़ना—जो सचमुच सर्वाधिपति है, मौत जिसका स्पर्श नहीं करती। छल, कपट, बेईमानी जिसको छूती नहीं। जो अपने दिलसे कभी जुदा होता नहीं है! जो कभी मरता नहीं, कभी बिछुड़ता नहीं—उससे प्रेम अपना जोड़ लो और उसके बाद संसारमें चाहे जैसे रहो? इसका कारण क्या है? इसक कारण यह है कि जब किसी दूसरेसे प्रेम नहीं होगा, तो कोई आवे कोई जाये, कोई मरे कोई जीये, कोई मिले कोई जुले—तुम्हारे दिलपर चोट नहीं लगेगी! अगर संसारके विषयोंसे प्रेम कर बैठोगे और ईश्वरका अपराध करोगे, उसकी ओर तो पीठ कर दोगे—जो तुम्हारे दिलमें बैठा है, तो उस अपराधके फलस्वरूप बड़ा दुःख होता है। प्रेम उससे करो और व्यवहार सबसे करो!

देखो, बात थोड़ी-सी कड़वी जरूर है! लेकिन कभी-कभी साधुओंके मुँहसे कड़वी बात भी सुननी चाहिए। वह भी एक दवा होती है।

हमने एक सौभाग्यवती स्त्रीको देखा। उसके पति थे, पुत्र भी थे, देवर थे, ससुर-सास थी, धन था। पूरी घर-गृहस्थी थी। पर, उसका प्रेम भगवान्‌से था। देखो, भाई, संसारमें मरना, जीना तो लगा ही रहता है। कुछ समयके बाद उसके पतिकी मृत्यु हो गयी। लेकिन, मैंने यह देखा कि जैसे सामान्य लोगोंके चित्तपर दुःख आता है, वैसा उसके चित्तपर नहीं आया। अब यह बात सुननेमें, बोलनेमें कड़वी जरूर है। क्यों? अब उसका ख्याल है कि हमारे पति तो भगवान् हैं, हमारे माँ-बाप तो भगवान् हैं, हमारे रक्षक तो भगवान् हैं, हमारे सर्वस्व तो भगवान् हैं! वे तो हैं-ही-हैं! वे हर हालतमें हमारी रक्षा करेंगे। यह बात बिल्कुल आपको सच्ची सुनायी।

अब एक आदमी धनी था। भगवान्‌का भजन करता था। संयोगवश उसका धन चला गया। वह तो महाराज शालग्रामको लेकर बैठा रहा। बोला कि मेरा असली धन तो यह है! हीरों-का-हीरा, तो हमारे पास है। इसको कोई छीन सकता है? ऐसा उसके चित्तमें सन्तोष था कि जैसे धन कुछ था ही नहीं।

तो जीवनमें दुःख आता है। इसकी ओरसे आँख बन्द करनेसे काम नहीं चलता भला! जीवनमें दुःख आता है और उसके लिए जो पहलेसे सहन करनेकी तैयारी रहती है, वह सबसे बड़ी चीज है।

एक माता थीं। वो बालकृष्णको अपनी संतान मानती थीं। सबेरे उठकर उनको गर्म पानीसे स्नान करावें, तिलक लगावें, उनका शृंगार करें, उनको अपनी गोदमें रखें। मन-ही-मन उनको दूध पिलावे! बोले कि हमारे बेटा तो गोपालजी

हैं। उनके बेटा था। संयोगवश ऐसा हुआ कि वह बेटा चल बसा। उनको तो कुछ नहीं! वे तो रोज जैसे अपने गोपालजीकी सेवा करती थीं, वैसे-ही उस दिन भी किया। क्यों? बोली कि हमारा जो सच्चा बेटा है, वह तो हमारे पास है। उसको कोई नहीं छीन सकता।

तो नारायण; यह भगवद्-भक्ति मानसिक रोगकी चिकित्सा है। यह जो आनेवाला दुःख है, उससे बचनेके लिए पहलेका उपाय है। यह सुरक्षात्मक कार्यवाही है भला! अपने दिलके चारों ओर बाड़ लगा दो! भगवान्‌को बैठा दो! नहीं तो ये जो विषरूपी विषय हैं, घसीटकर ले जायेंगे।

विषस्य विषयाणाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥

विष और विषयमें कुछ दूरी नहीं है, बिल्कुल एकता है। कैसे? विष खानेपर आदमी मरता है और विषयका स्मरण करनेसे आदमी मर जाता है। अफीम, संखिया आदमी खाये, तो मरे। लेकिन, ये जो संसारके विषय हैं, इनकी याद करके जब आदमी व्याकुल होता है कि हमको यह चीज मिले! तो उस व्याकुलतामें क्या होता है, आप जानते हैं? आदमीकी आदमियत जिसको इन्सानियत बोलते हैं, मनुष्यत्व मर जाता है। जब धनके लिए व्याकुल होता है, तब वह मनुष्य नहीं रहता! चोर हो जाता है भला! जब कामके लिए व्याकुल होता है, तब वह मनुष्य नहीं रहता। व्यभिचारी हो जाता है। जब दुश्मनको मारनेके लिए व्याकुल होता है, तब वह मनुष्य नहीं रहता। हिंसक हो जाता है।

तो मनुष्य जब संसारके विषयोंके लिए व्याकुल होता है और उनका स्मरण करता है कि हमको यह मिले, यह मिले, तो उसकी मनुष्यता नष्ट हो जाती है। वह मनुष्य कहाँ रहता है?

तो विष और विषय—'विष' माने जहर और 'विषय' माने भोगकी सामग्री—ये तो दुःखदायी हैं! मूलतत्त्व कहाँसे है?

'लोका इति लोकविदः'—कोई कहते हैं कि सृष्टिके मूलमें लोक होते हैं। हमने बड़े-बड़े मजे देखे हैं लोकोंके! अंतरिक्षमें रातको जो तारे दीखते हैं, ये सब-के-सब लोक हैं। ऐसे-ही पृथिवी भी एक लोक है। हम भी एक लोकमें रहते हैं। तो पृथिवी, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, ध्रुव आदि लोक हैं। तो फिर इसमें विभाजन किया—भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक। पृथिवी और पृथिवीके नीचे भी सात लोक हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और

पाताल—ये सब नीचेके लोक हैं और ऊपर जो अंतरिक्षमें लोक हैं, उनके तीन भाग किये भू:, भुव: और स्व: अर्थात् तम:प्रधान लोक, रज:प्रधान लोक और सत्त्वप्रधान लोक। इनमें भी आकार, उकार, मकार है। फिर स्वर्ग लोकके बहुत भेद हैं—स्व:, मह:, जन, तप:, सत्यं और ब्रह्मलोक। फिर उसके ऊपर भी भेद हैं भला—सत्त्वात्मक लोक और विशुद्ध-सत्त्वात्मक लोक। इस प्रकार बड़े भेद हैं। जब लोककी ही कल्पना करने लगे तो कहीं अन्त थोड़े-ही मिलेगा!

गोलोक, साकेत लोक, कैलाश लोक और उसके नीचे वैकुण्ठ लोक—इन सबका तो पुराणोंमें वर्णन है। कबीरदासने कहा कि नहीं-नहीं और ऊपर है! अभी तुम लोग कहाँ पहुँचे? अगमलोक, अलखलोक हैं। तो राधास्वामीने कहा कि तुम भी नीचे! उससे ऊपर हमारा है।

ये लोकवादी आपसमें अगर भिड़ा दिये जायें तो जैसे अखाड़ेमें पहलवानोंका दंगल होता है, वैसे-ही सबके ऊपर किसका—इसको लेकर ये लोग लड़ जायें! कैलाशवाले कहते हैं कि हमारा ऊपर, गोलोकवाले कहते हैं कि हमारा ऊपर, साकेतवाले कहते हैं कि हमारा ऊपर! अब तुम पूछो कि हे भगवान्, हम कौन-सा मानें? बोले कि तुम्हारा जो इष्टदेव हो, उसको ही मानो! और तो क्या तुमको बतावें?

तो ये लोक-आलोक जो हैं, ये इष्ट-संस्कारसे संस्कृत अन्त:करणकी एक चमक हैं। इष्टताके संस्कारसे संस्कृत अन्त:करणमें आरूढ़ होकर ज्ञान जिसको प्रकाशित करता है। माने जैसे वातानुकूलित कमरा हमेशा ठण्डा रहता है, वैसे ही अन्त:करुणारूढ़ चैतन्यानुकूलित जो वृत्ति है, वह लोकका रूप धारण करती है।

भागवतमें एक बात बहुत बढ़िया लिखी है—देखो, सबसे ऊँचे लोकमें भावनासे पहुँच जाओ और फिर उसके बाद उसको छोड़कर धरतीमें कूद पड़ो! सबसे बढ़िया लोक धरती है। क्योंकि, यहाँ सद्गुरु मिलता है, सत्संग मिलता है। यहाँ 'मैं परब्रह्म परमात्मासे भिन्न हूँ'—इस भ्रान्तिको काटनेका साधन मिलता है।

आपको एक बात लोकके सम्बन्धमें बताता हूँ कि यह जो देश है—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे आदि दस प्रकारकी संवित् इसमें बाहर मानी गयी है। ये देशों दिशाओंकी दस बाहर हैं और भीतर जितनी बना लो, उतनी। वह आपकी कल्पनाके आधारपर है।

अब देखो, असीम दिक्तत्त्वमें माने अनन्त ब्रह्ममें अध्यारोपित जो दिशा, उस दिशामें लोकका ऊपरपना, नीचेपना, दायेंपना, बायेंपना और ऊर्ध्वपना,

अध:पना और अंतरालपना और भीतरपना, बाहरपना और मध्यापना—यह सब उस असीम वस्तुमें कल्पना मात्र है। इसलिए, लोक परमार्थ नहीं हो सकते। लोक तत्त्व नहीं हो सकते। अत: लोकवेत्ता लोग जो कहते हैं कि लोक ही तत्त्व है, यह कहते-कहते उनका ऐसा अभ्यास हो गया है। वह परमार्थ नहीं है! वह तो इन लोकोंको जो जाननेवाला है अपना आत्मा, वह परमार्थ है।

'देवा इति च तद्विद:'—अब देवतावादी कहते हैं कि देवता तत्त्व है। यज्ञवादियोंमें एक देवतावादी होते हैं। हम लोग गाँवोंमें देखते हैं कि पेड़के नीचे मिट्टीके देवता बना-बनाकर रखे रहते हैं। ये क्या हैं? बोले कि ग्राम-देवता हैं। फिर एक-एक गाँवमें काली देवी अलग होती हैं और दो गाँवमें झगड़ा हो तो दोनों गाँववाले अपनी-अपनी कालीकी पूजा करते हैं भला! 'कालनात् काली'—जो सब निगल जाये, उसीको 'काली' कहते हैं।

तो यह लोक तो देशकी प्रधानतासे होता है और काली जो है, यह कालकी प्रधानतासे होती है। इसमें भी बड़े-बड़े मजेदार देवताओंके वर्णन होते हैं। कालीका एक रूप है, 'आद्यपाददशकम्'। हाथ भी दस, मुँह भी दस और पाँव भी दस। अब जरा कल्पना करो। आपके मनमें आवेगा? कैसे आवेगा? इसमें भी महाकाली अलग और दक्षिणा काली अलग हैं। फिर 'कादि-विद्या' अलग, 'क्लीं' आदिसे जो प्रारम्भ होती है और 'हादि-विद्या' अलग, जो 'ह्रीं' से प्रारम्भ होती है।

तो सबसे बड़ी देवतावादी हमारे पूर्वमीमांसक हैं। सो उन्हींकी बात आपको सुनाते हैं।

यह अंग्रेज भारतमें आये तो इन्होंने वेद पढ़ना शुरू किया। तो उनको ऐसा लगा कि यह जो हमारे वैदिक हिन्दू धर्मानुयायी हैं, वे बहुदेववादी हैं। मुसलमान धर्म बहुत बढ़िया। क्योंकि, वह एक ईश्वरको मानता है। ईसाई धर्म भी बहुत बढ़िया! क्यों कि वह एक ईश्वरको मानता है। और हिन्दू-धर्मतो बड़ा बिखरा हुआ धर्म है—ऐसा अंग्रेजोंने निश्चय किया हुआ है! इस विषयपर पुस्तकें लिखी हुई हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू बहुदेववादी हैं। जैसे जंगलोंमें आदिवासी लोग होते हैं, लुटेरे भी होते हैं, डाकू भी होते हैं और वे अलग-अलग देवताकी पूजा करके अपने-अपने देवतासे अपने इष्टकी सिद्धि चाहते हैं, वैसे-ही ये हिन्दू भी अलग-अलग देववादी हैं! इनको ईश्वरके बारेमें कोई ज्ञान नहीं है।

आपको देवतावादकी क्या बात सुनावें! पूर्वमीमांसामें इस बातपर विचार है कि देवताकी मूर्ति होती है कि नहीं?

देवता विग्रहवती वा न वा।

देवताके शरीर होता है कि नहीं होता है?

अब देखो, एक आधुनिकतम बात! उन्होंने यह निर्णय किया है कि देवताके शरीर होता ही नहीं। इंद्र, अग्नि, वरुण आदि जो देवता हैं, इनका शरीर नहीं होता। तो क्या होता है? बोले कि जैसे सौ जगह यज्ञ हो रहा हो और सौ जगह ब्राह्मण वेदी बनाकर, अग्नि प्रज्वलित करके, वेदमंत्रसे 'इंद्राय स्वाहा' मंत्र बोल कर जब होम करेंगे तो उस अग्निकी शक्तिसे, विधिकी शक्तिसे, मंत्रकी शक्तिसे, यजमानकी श्रद्धा और ब्राह्मणके संकल्पसे एक नया इन्द्र उस यज्ञमें पैदा होगा और वह वहाँ आहुति ग्रहण करेगा और एक-ही क्षणमें अगर सौ जगह 'इन्द्राय स्वाहा' बोला जाये, तो सौ इन्द्र अलग-अलग प्रकट होंगे और वे आहुतिको लेते हैं।

आप देखो, जो लोग वैदिक धर्मको बहुदेववादी कहते हैं, उनको इस मानसी शक्तिका और श्रद्धाशक्ति एवं विधि-शक्तिका ज्ञान अब हुआ। और, यह जो स्वर्गलोक है और उसमें अग्निदेवता रहते हैं और अग्निदेवलोक है और उसमें अग्निदेवता रहते हैं—यह पौराणिक वर्णन है। लेकिन आप **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**—इसकी ओर ध्यान दें। यह संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद'का मन्त्र है कि एक ही परमात्मा है, ब्राह्मण लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नाना नाम लेकर उसका वर्णन करते हैं। कोई 'अग्नि' नाम रखता है, कोई 'मित्र' नाम रखता है, कोई 'वरुण' नाम रखता है, तो कोई 'कुबेर' नाम रखता है।

हम जब १६-१७ बरसकी उम्रमें कनखल, हरिद्वार जाते, तो वहाँ एक मण्डलेश्वरजीके यहाँ रुकते थे। सायं जब आरतीके बाद पुष्पाञ्जलि होती तो बोला जाता—

राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।

इसका उत्तरार्द्ध जब बोलते हैं तो तबीअत घिनघिना जाती। क्यों? अरे, हम तो समझते थे कि निष्काम-कर्मसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। निष्काम-कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अतः निष्काम-कर्मसे भगवान्की आराधना करनी चाहिए। अब जब वह बोलना पड़ता कि,

स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु।

अरे देखो काम-ही-काम, काम-ही-काम! 'कामान्'—बहुवचनमें काम है, 'कामकामाय मह्यं'-डबल काम हुआ और 'कामेश्वरो'-इसमें भी काम। तो देवता है कामेश्वर और मैं हूँ कामकामी और हमारी हजारों हैं कामनायें! उनको वह पूरा करे।

अब तो उस समय गीताका वह श्लोक ध्यानमें आता—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**'। कामकामीको शान्ति नहीं मिलती और उधर हम बोलते कि '**कामकामाय मह्यं**'। तबीअत घिनघिना जाती कि यह क्या बोलना पड़ता है! अब उसका अर्थ बदलो कि हमको स्वार्थकी कामना नहीं, परमार्थकी कामना है! हमको विषयकी कामना नहीं है, ईश्वरकी कामना है। पर, एक परपरमेश्वर जो है, वही देवताओंका भी देवता है।

आप रोज मन्त्र पढ़ते हो—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति नः पूषाः विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ये देवता ही तो हैं न! पर इसमें शान्तिकी कामना है। वह भी कोई आकर दे जाये, यह इसका मतलब नहीं है।

'**स्वस्ति न इन्द्रो**'—का अर्थ है कि जबतक हम कथामें बैठेंगे, तबतक अपना हाथ स्थिर रखेंगे! कभी पीठ खुजलायी, कभी सिर खुजलाया, कभी इधर किया और कभी उधर किया—ऐसे नहीं! 'स्वस्ति न इन्द्रो'—का अर्थ है कि इन्द्र द्वारा संचालित जो हाथ है, वह हम शान्त रखेंगे। हमारा हाथ शान्त हो जाये।

'**स्वस्ति नः पूषाः विश्ववेदाः**'—जब तक सत्संग होगा तबतक इधर-उधर देखेंगे नहीं। शान्तिसे सत्संग करेंगे। यह उसका मतलब है।

'**स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः**'—शब्द करेंगे नहीं। और, '**स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु**'—माने वाणीके देवता अपने अर्थको हमारे कानमें प्रविष्ट करें माने हम सावधान होकर श्रवण करेंगे।

तो, '**देवा इति च तद्विदः**'। जो लोग देवताके प्रेमी हैं, बात-बातमें देवता, बात-बातमें देवता! देवताओंको वे शान्तिसे नहीं बैठने देते हैं। अरे भाई, देवताओंको भी तो थोड़ी शान्ति लेने दो। हर समय वे तुम्हारे ही घरमें काम करते रहेंगे क्या? हे देवता, हमारे बच्चेको बुखार आगया, जरा, ठीक कर देना! हे देवता, हमारे पति मोटरसे बाहर गए हैं, सो सकुशल वापस आजायें! जरा, रक्षा करना! तो यह जो देवताअेंको परेशान करना है नारायण, यह परमार्थ नहीं है। जो सम्पूर्ण देवताओंमें एक देवाधिदेव हैं—'**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**'—असलमें वह देवता है।

अच्छा भाई, देवताको तुम क्यों ईश्वर मानते हो? बोले कि इसलिए मानते हैं कि जो हम पूजा, पाठ, कर्म आदि करते हैं, उसका फल वे देते हैं।

अच्छा, जो तुम काम करते हो, उसका फल देते हैं! तब तो,

भृत्येभ्यो विशेषाभावप्रसङ्गः।

जैसे तुम नौकरको तनख्वाह देते हो और वह तुम्हारा, काम कर देता है, वैसे तुम भी देवताको फूल, चंदन, माला आदि देते हो और वह तुम्हारा काम कर देता है! अतः वह तो तुम्हारा नौकर हुआ! स्वतन्त्रतासे तुम्हारा कोई उपकार नहीं कर सकता। भले इतना तो हो सकता है कि तुम पाँच पैसेकी पूजा करो तो तुम्हें पाँच रुपयेका फायदा हो जाये! सट्टेका मामला तो कुछ चल सकता है! नहीं-नहीं, देवताके साथ यह भी नहीं चल सकता! वह हिसाब-किताब भी जानता है भला! इतना नासमझ थोड़े ही होता है!

तो देवता तुमसे पूजा लेकर तुम्हारा भला करता है कि अपने आप भला करता है? अगर अपने आप भला करता है तो उसकी पूजा व्यर्थ है और यदि तुम्हारी पूजाके अनुसार तुम्हें फायदा पहुँचाता है तो तुम्हारे नौकरकी तरह है! और, यह भी देखनेमें आता है कि देवता लोगोंकी पूजा जो करते हैं, उनमें आपसमें बड़ा मतभेद होता है कि कौन-सा देवता सबसे बड़ा है! विप्रतिपत्ति होती है!

कुम्भके मेलेमें एक बार एकने आकर कहा कि भगो-भगो, यहाँसे जल्दी चलो! अपने-पास बिस्तर भी क्या था? एक चदरा था, काँखके नीचे दबाया और लोटा हाथमें लिया और भगे! पूछा कि भाई, आखिर बात क्या है? क्यों भगाते हो? बोला कि रामदल और श्यामादलमें लड़ाई हो गयी है! रामदल वाले चैलेका प्रयोग ज्यादा करते हैं। तो नारायण, राम-श्यामके उपासक लड़ गये और सबको भागना पड़ा!

तो '**तद्भक्तानामपि विप्रतिपत्तिदर्शनात्**'।

एक मत नहीं हैं, एक राय नहीं हैं। लड़ते हैं। और '**तद्भक्तानामपि विपत्तिदर्शनात्**'।

तो नारायण, एक अखण्ड परमार्थ है। एक परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है। अतः '**प्रसादस्य किञ्चित्करत्वात्**'। मूल-तत्त्व न तो विश्व, तैजस्, प्राज्ञ है और न तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध है और न तो कोई ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक है और उस देवताका भी क्या मूल्य जो जन्म, जरा , मृत्युके भयसे सर्वदाके लिए मुक्त न कर सके? अतः ये सब परमार्थ तत्त्व नहीं हो सकते!

☆

क्या वेद ही परमार्थ-तत्त्व हैं?

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः।
भोक्तेति च भोक्तृयविदो भोज्यमिति च तद्विदः॥ २२॥

एक बात पहले आपको सुनाते हैं कि वेदकी बड़ी भारी महिमा है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा—

वेद निन्दि निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार।

वेदकी निन्दा करके बुद्धका अवतार स्वयं निन्दित हो गया। लोगोंने उनकी सुनी नहीं। दूसरे देशोंने सुनी हो, तो सुनी हो, भारतीयोंने तो बिल्कुल सुनी ही नहीं। क्योंकि, वे वेदकी निन्दा करते थे।

तो वेद जो है, वह दो तरहका है—एक शब्द-प्रधान और एक अर्थ-प्रधान। तो शब्दप्रधान जो वेद है, उसको 'अपरा-विद्या' बोलते हैं और अर्थ-प्रधान वेदको 'परा-विद्या' बोलते हैं। तो विद्या जो होती है, वह तो हर हालतमें हृदयमें होती है। विद्या जीभपर थोड़े ही होती है! विद्या पोथीमें थोड़े ही होती है! वह तो विद्याका आदर करनेके लिए पोथीका आदर किया जाता है। विद्याका आदर करनेके लिए मुँहका आदर किया जाता है। हमको बचपनकी याद है कि कभी कोई टूटा-फटा कागज भी अगर पाँवके नीचे पड़ जाता तो हमारे बाबा कहते कि इसको प्रणाम करो! क्यों? बोलें कि यह विद्या है और विद्याका आदर करना चाहिए!

तो विद्याका आदर करनेके लिए वेदका आदर किया जाता है। वेदमें विद्या क्या है? वेदमें ऐसी विद्या है कि एक तो हमारा कर्त्तव्य क्या है—यह बतावे और

दूसरे जगत्का मूल सत्य क्या है, यह बतावे! इसलिए, वेदकी बड़ी महिमा है। अच्छा, वेदको अनादि भी मानते हैं, नित्य भी मानते हैं। परन्तु, जब ब्रह्मतत्त्वका विचार किया जाता है, तो वेद दो जगह आकर भिड़ता है। धर्मके द्वारा तो वेद अन्तःकरणको शुद्ध करता है और वस्तु तत्त्वके ज्ञानके द्वारा अविद्याको नष्ट करता है। लेकिन, अन्तःकरण-शुद्ध हो जानेपर अपरा-विद्याकी और ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाने पर परा-विद्याकी—दोनोंकी फिर आवश्यकता नहीं रहती। प्रयोजनकी पूर्ति हो गयी। इधर अन्तःकरण-शुद्धि प्रयोजन है और उधर तत्त्वसाक्षात्कार प्रयोजन है। तो जब अंतःकरणशुद्धि हो गयी, तब धर्मप्रतिपादक वेद-राशिका प्रयोजन पूरा हो गया और जब तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी, तो ब्रह्मप्रतिपादक वेदका प्रयोजन पूरा हो गया और प्रयोजनकी पूर्ति हो जानेपर वस्तु बाधित हो जाती है। जैसे, नावसे नदी पार किया तो नदी पार करनेके लिए नावकी आवश्यकता तो अनिवार्य थी। परन्तु, नदी पार हो जानेपर अब नावपर बैठे रहोगे तो गन्तव्य पर कैसे पहुँचोगे? वहां तो पार जाना है, तटस्थ होना है, कूटस्थ होना है! सो वहाँ नावको छोड़ना पड़ता है!

अतः साधनकी दृष्टिसे वेदका महत्त्व होने पर भी, तत्त्वकी दृष्टिसे वेदमें अनादित्व कल्पित है और अनन्तत्व कल्पित है, स्वयंभूत्व कल्पित है। और, ब्रह्मका जो अनादित्व अनन्तत्व और स्वयंप्रकाशत्व वास्तविक है। प्रयोजन-पूर्ति हो जानेके बाद वेदका भी बाध हो जाता है।

अच्छा, समझो कि श्राद्ध करना है और उसमें पायस बनाया और उससे पिण्डदान कर लिया। अब पिण्डदान करनेका जो प्रयोजन था, सो पूरा किया। तो अब क्या खीरको रख दोगे कि दस वर्ष घरमें रखी रहे? या दिया हुआ जो पिण्ड है, उसको क्या उठा कर रखोगे? अरे, वह तो पितरोंको पिण्डदान करनेके लिये बनाया गया था। जब उसका प्रयोजन पूर हो गया तो उसका विसर्जन हो जाता है। इसीसे कहते हैं कि बाध तीन प्रकारसे होता है—प्रतिषेधसे बाध, प्रत्याम्नायसे बाध और प्रयोजन-पूर्तिसे बाध। पूर्वमीमांसामें एक बाधाध्याय है, उसमें बाध कैसे-कैसे होता है, इसका निरूपण है।

तो एक बाध यह है कि देखो, किसीको मारना नहीं चाहिए! यह हमारा वैदिक कानून है कि **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'**। अर्थात् किसी भी प्राणीको दुःख नहीं पहुँचाना, सताना नहीं, मारना नहीं।

अब दूसरा कानून क्या आया कि जब कोई अपने देशपर चढ़ाई कर दे

अथवा अपने धर्मका नाश करने लगे तो **'जिघांसन्तं जिघांसीयात्'**—मारने वालेको मारो! तो यह क्या हुआ?. अब यह देखो, मारने वाले के प्रति पहले कानूनका बाध हो गया! क्यों? वह है सार्वजनिक कानून! लेकिन, एक अपवाद निकल आया।

लेकिन देखो, यहाँ पर यह कानून लागू नहीं होता—**'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति'**—सूर्योदय होनेपर हवन करना और सूर्योदयके पूर्व हवन करना। अब देखो, दोनों तरहका वर्णन मिला। तो पहले से पिछलेका और पिछलेसे पहलेका बाध होता है। बाध होता है तो देश-विशेष, जाति-विशेष और होम-विशेषमें पहलेका बाध हो जायेगा। और, प्रयोजन-पूर्ति होगयी—तब बाध कैसे? देवताका आवाहन किया, पूजन किया, यज्ञोपवीत संस्कार हो गया तो बोले कि विसर्जन कर दो! गोबरमें गौरी बुलाई, सुपारीमें गणेश बुलाये, उनके सामने यज्ञोपवीत संस्कार अथवा विवाह-संस्कार कर लिया, उनकी गवाही हो गयी, वे खुश हो गए, आशीर्वाद दिया और उनको कह दिया कि अब जाओ महाराज! गच्छ, गच्छ सुरश्रेष्ठ-बोलते हैं न! मतलब कि जिस कामके लिए बुलाया था, वह हो गया।

तो नारायण, यह वेद जो हैं, इनको अंतःकरणकी शुद्धिके लिए और अज्ञानकी निवृत्तिके लिए परा-अपरा दोनों रूपमें बुलाया गया था और जब प्रयोजन सिद्ध हो गया, तो हाथ जोड़ लिया! बोले कि पधारो महाराज! अब तत्त्वज्ञके प्रति वेदका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि, न तो अन्तःकरण शुद्ध करना है और न तो अज्ञान निवृत्त करना है। प्रयोजनकी पूर्तिसे बाध हो गया।

इसलिए, वेद परमार्थ नहीं हैं। क्यों? बोले कि प्रयोजन-पूर्तिके बाद उनका अस्तित्व नहीं रहता। वे बाधित हो जाते हैं।

यह तो जब मनुष्य सत्पुण्यके परिपाकसे, सत्संग तथा ईश्वरकी कृपासे सद्गुरुके अनुग्रहसे भगवान्के मार्गमें चलता है कि हम ईश्वरको ढूँढें! तब तरह-तरहकी चीजें सामने आती हैं। कोई कहता है कि बस, यही ईश्वर है, यही परमतत्त्व है, यही तुम्हारे जीवनका लक्ष्य है, बीच-बीचमें लोग रोक लेते हैं। अब जो अपने असली लक्ष्यकी पहचान जानता है, उसके लिए तो कोई रुकावट नहीं है। लेकिन, जो उसकी असली पहचान नहीं जानता, वह रास्तेमें ठगा जाता है।

आपको आश्यर्च होगा कि एक बार सन् २५-२६ में मैं वृन्दावन आया था।

पहले-पहल शायद वहीं आया था। तो पण्डे मिले। देखा हुआ तो था नहीं। सो किसी पण्डेके साथ जाना पड़ा। वह ले गया, नन्दभवन नामकी कोई जगह थी। बड़े-बड़े वहाँ बही-खाते रखे हुए थे। अटका वहाँ चढ़ता था कि रोज ठाकुरजीको भोग लगेगा! ऐसे कोई तीन-चार जगह उसने दिनभरमें घुमाया। सायं तो हमको मथुरा लौट जाना था। न बिहारीजीका दर्शन हुआ, न राधावल्लभका दर्शन हुआ, न राधारमणका दर्शन हुआ, न सेवाकुंज और निधिवनका दर्शन हुआ और हम तो दिनभर वृन्दावनमें भटककर मथुरा लौट गये।

तो कई लोग ईश्वरको ढूँढनेके लिए निकलते हैं, पर बीचमें मायाके ऐसे-ऐसे खेल मिलते हैं—**'मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्'**— कि आदमी तमाशा ही देखनेमें लग जाता है और आगे बढ़ता ही नहीं।

निकले थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।

रास्तेमें फँस जाते हैं।

एक श्रीमतीजी हैं, उनके पति आठ-दस बरसस खो गये हैं। तो अबकी वे कुम्भ मेलेमें आयीं इलाहाबाद और हमारे एक जान-पहचानके आदमीको देखकर उन्होंने कहा कि यही हमारे पति हैं, दस बरस भागे हुए हैं और साधु हो गये हैं!! यही है। अब नारायण, पहले उस साधुने भी जरा मजाक कर दिया, जरा ढील दे दी कि अच्छा भाई, कहती है तो कह लेने दो! इससे हमारा क्या बिगड़ता है? अब उसके बाद तो उसने पुलिसमें रिपोर्टकी और पकड़वाओ कि यह ले गया, वह ले गया! अब उस बेचारे साधुने बारह वर्षसे अपने घरसे सम्बन्ध नहीं रखा था और अब तार देकर अपने घरसे माँ-बापको बुलवाया गवाही देनेके लिए और उन्होंने बताया कि यह हमारा लड़का है, तुम्हारा पति नहीं है। तुम बनिया हो और हम ब्राह्मण हैं। इतनेपर भी उसको सन्तोष नहीं हुआ। अभी मैं जब हरिद्वार गया तो वहाँ आयी और जब हमारे सामने बात करने लगी तो हमने कह दिया कि अरे, यह ब्राह्मण है, बनारस जिलेका है! हम इसके घर-द्वारको जानते हैं। तुम काहेको बेचारेको परेशान करती हो! तब कहीं उसने छोड़ा और चुपचाप चली गयी।

इसीको बोलते हैं, 'नेति-नेति'। 'नेति-नेति' क्या है? जो दुनियादार लोग हैं, ये दुनियाकी किसी भी चीजको ईश्वर माननेके लिये तैयार रहते हैं, कोई अच्छा, लम्बा-तगड़ा पुरुष निकले तो उसको ईश्वर मान लें! कोई स्त्री प्रभावशाली मिल गयी तो उसको ईश्वर मान लें! किसी खिलौनेको ईश्वर मान लें।

तो यह जो जगह-जगह ईश्वर माननेकी भूल है, इसको मिटानेके लिये वेदको ही खण्डन करना पड़ता है। यह तुमने अपने जिस खिलौनेको ईश्वर मान रखा है, वह तुम्हरा खिलौना दरअसल ईश्वर नहीं है—यह बात समझानी पड़ती है। तो यहाँ खण्डन-मण्डन नहीं है।

मेलेमें किसीका पति गुम हो गया। तो मेलेके द्वारपर जाकर पत्नी खड़ी हो गयी और स्वयं- सेवकसे बोली कि हमारे पति गुम हो गये हैं। अब लोग आते जाये और स्वयंसेवक पूछता जाये और स्वयंसेवक पूछता जाये कि देखो-देखो, यह है और वह बोले कि नहीं-नहीं, यह नहीं। जब उसके पति उधरसे निकले, झट घूँघट काढ़कर चुप हो गयी। जानकीका वर्णन आता है न,

खंजन मंजु तिरीछे नयननि, निज पति कहेहुँ तिनहिं सिय सयननि।

तो यहं 'नेति-नेति' के द्वारा **'नेति नेतीति व्याख्या तं निह्नुते यतः'**—अब तक जिसका व्याख्यान किया गया है, वह परमात्मा नहीं है। जिसका शब्दके द्वारा वर्णन किया गया है, उसको श्रुति कहती है इति न, इति न—यह नहीं, यह नहीं। तो उसी 'इति' पदकी व्याख्या ये बता रहे हैं।

'वेदा इति वेदविदो'—तो जिन लोगोंकी पहुँच वेदतक है, वे कहते हैं कि वेद ही परमार्थ है। **'विष्णुर्वै वेदः'**—वेद ही विष्णु है।

अच्छाजी, आखिर तुम वेद कहते किसको हो? बोले कि शब्दोच्चारणकी आनुपूर्वीको—जो अनादि परंपरासे अविच्छिन्न है, सम्प्रदायविच्छेदसति—जिसका सम्प्रदाय अविच्छिन्न है, अस्यार्यमाण कर्तृक है माने जिसके कर्ताका स्मरण नहीं है, नियतानुपूर्वीक है—उसको 'वेद' कहते हैं। जैसे, **'अग्निमीडे पुरोहितं'**—यह वेद है। किन्तु **'वह्निमीडे पुरोहितं'** होगा, तब भी वेद नहीं रहेगा। **'मीडेऽग्निं पुरोहितं'** होगा, तब भी वेद नहीं रहेगा। जटापाठ, घनपाठ, उसकी आनुपूर्वी बिल्कुल नियत है। एक अक्षर इधर-उधर नहीं हो सकता।

बोले कि ठीक है, वह मुँहसे बोल जाता है या कानसे सुना जाता है—यह बात तो बिल्कुल पक्की है। तो ऐसे क्रमवाले जो वर्ण हैं, उनमें वेदत्व आरोपित है कि वास्तविक है? वर्णमें तो वेद आरोपित है। अच्छा, शब्दराशिको वेद मानते हो कि अर्थराशिको वेद मानते हो? नारायण, शब्दराशि तो परमतत्त्व हो नहीं सकता। क्योंकि, वह 'परा-विद्या' है। और, अर्थ-राशिको अगर परमतत्त्व मानते हो तो अर्थ एक कि अनेक? अनेक हों तो वह भी परमतत्त्व नहीं हो सकता। और, एक होवे तो परिणामी कि विवर्त्ती? फिर वहीं बात पहुँची।

तो 'वेदा इति वेदविदो'—वेदवेत्ता कहते हैं कि वेद इति। तो दूसरी श्रुति कहती है, 'नेति'—यह 'इति' करके जिसका तुमने वर्णन किया, वह नहीं। इससे जुदा।

एक बात इस सम्बन्धमें और आपको सुनाते हैं। शास्त्रमें वेदकी उत्पत्तिका भी वर्णन है—

'तत्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः.....'

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद—ये सब-के-सब सहस्र-शीर्षा विराट् पुरुषसे प्रकट हुए हैं। तो इसका मतलब हुआ कि प्रलयकालमें नहीं रहते हैं।

अच्छा, एक दूसरी बात देखो! जहाँ सुषुप्ति-अवस्थाका वर्णन है, वहाँ साफ वर्णन है कि, **'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति'**। सुषुप्ति-अवस्थामें वेद अवेद हो जाते हैं, उपनिषद्में ही यह वर्णन है। अच्छा देखो, जहाँ तैत्तिरीयोपनिषद्में कोषका वर्णन है, तो मनोमय पुरुषका वर्णन करते हुए कहा है—**'तस्य यजुरेव शिरः'**—मनोमय पुरुषका यजुर्वेद सिर है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेदीय उपनिषद् है, इसलिए यजुर्वेदको इसका सिर कर दिया और ऋग् और सामको पक्ष कर दिया। क्या मतलब हुआ? ये मनोमय कोषके अवयव हैं। तब विज्ञानमय, आनन्दमय कोष और कोषातीतमें उनकी गति कहाँ हुई? इसलिये, वेद परमतत्त्व नहीं हैं। वेद परमतत्त्वको समझानेमें प्रमाण हैं, साधन हैं। उनके साधनत्वका खण्डन नहीं है। उनके प्रमाणत्वका खण्डन नहीं है। उनके परमार्थत्वका खण्डन है। परमार्थ तो एक वही आत्मतत्त्व है!



याज्ञिकोंका मत

'यज्ञा इति च तद्विदः'। किसीने कहा कि यज्ञ ही परमार्थ है।

अब यह प्रश्न हुआ कि यज्ञ तो बहुत-से होते हैं। पशु-याग होते है, श्रौत और स्मार्त याग होते हैं। तो उसमें खास वस्तु क्या होती है? पूर्वमीमांसामें आया **'अथ यज्ञं व्याख्यास्याम'**—अब हम यज्ञकी व्याख्या करते हैं। क्या? बोले कि, **'द्रव्यं'** यज्ञमें वस्तु होनी चाहिए। शाकल्यादि द्रव्य होना चाहिए और इन्द्रादि देवता होना चाहिए और **'त्यागः'** अर्थात् उनके लिए हवन होना चाहिए। तब न यज्ञ होगा! तो बताओ कि इनमें-से एक-एक चीजका नाम यज्ञ है कि तीनोंको मिलाकर उसका नाम यज्ञ है।

तो एक-एक चीजका नाम तो यज्ञ है नहीं और तीनको मिलाकर जो चीज बनी, वह परमार्थ नहीं हो सकती। **'संघातस्य परार्थत्वात्'**। जब खिचड़ी बनायी जायेगी, वह किसीके खानेके लिए बनायी जायेगी। जब पंचभूत मिलेंगे तो अपने लिये थोड़े-ही मिलेंगे। जो चीज कई चीजोंसे मिल कर बनती है, वह उस चीजके लिये नहीं बनती, उन चीजोंसे अलहदा जो व्यक्ति होता है, पृथक् जो व्यक्ति होता है, उसके लिये बनती है।

तो यह यज्ञ तो किसी औरके लिये होता है। किसके लिये होता है? यजमानके लिये होता है कि देवताके लिये होता है?

देखो, यज्ञकर्ता ही फलभागी होता है। यजमानने नियम लिया कि हम एक महीने तक जमीनमें शयन करेंगे, केवल हविष्यान्नका भक्षण करेंगे, ब्रह्मचर्यसे रहेंगे, ब्राह्मणको दक्षिणा देंगे, देवताके लिये हवन करेंगे। तो यह जो उत्सर्ग है, माने जीवनमें नियम ग्रहण करना है और जो देवता, अग्नि, ब्राह्मण आदिके लिये प्रदान है और अपने अंदर सद्‌गुणोंका आदान है—इनसे यज्ञ बनता है।

कहो कि देवताके लिये यज्ञ होता है। तो देवता बेचारेको तो देना ही पड़ता है। उसको तो एक आहुति दो और हजार आहुतिका दाम ले लो! देवता लोग तो ठन-ठनपाल ही होते हैं।

तो यज्ञ जो है, वह परमार्थ नहीं है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये उसका उपयोग किया जाता है।

सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्।

ब्रह्मसूत्रने यह निर्णय किया कि भाई, ब्रह्मज्ञानके लिये यज्ञकी जरूरत तो है। क्यों? बोले कि 'अश्ववत्'—जैसे जिगमिषामें, कहीं जाना हो तो घोड़ेकी जरूरत है और घोड़ा न हो तो इतने हॉर्स-पावरवाली मोटरकी जरूरत है! इसलिए बोलते हैं—

यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यथा अश्वेन जिगमिषन्ति तथा यज्ञेन विविदिषन्ति।

जैसे अश्वपर आरूढ़ होकर लोग यात्रा करना चाहते हैं, वैसे ही यज्ञके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके और उससे परमात्माको जानना चाहते हैं। तो यज्ञ साधन तो है। इसका खण्डन तो नहीं करना। परन्तु, यह परमार्थ नहीं है।

कल पुष्करके एक महात्मा स्वामी आत्मानन्दजी महाराज आये थे। उन्होंने वेदान्तपर बहुत पुस्तकें लिखी हैं और भिड़नेका उनका स्वभाव है! मुख्य आपत्ति आज कल उनको इस बात पर है कि सेठश्री जयदयालजी जब मरने लगे तो उन्होंने यह क्यों कहा कि महावाक्य सुनाओ और उपनिषद् सुनाओ! जब वे कर्मयोगको मुक्तिका साधन मानते हैं और जिन्दगी-भर उन्होंने कर्मयोग किया, तो उनको यह बात माननी चाहिए कि कर्मयोगसे हमारी मुक्ति हो गयी या हो जायेगी! उन्होने यह क्यों कहा कि हमको महावाक्य सुनाओ और उपनिषद्‌का पाठ करके सुनाओ। खुद अपनी दृष्टिसे ही उनकी निष्ठा मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं है, तब न उपनिषद्-श्रवणका प्रस्ताव किया! वे यह बात लेकर पुस्तक छपवा रहे हैं, प्रचार कर रहे है! बोले कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है! तो बातचीतमें कुछ

और लोगोंकी चर्चा चल गयी। वे बोले कि देखो स्वामीजी, जो लोग भक्तिकी महिमा गाते हैं, धर्मकी महिमा गाते हैं—बहुत बढ़िया। धर्म, भक्तिकी महिमा वैसी ही है, जैसा वे कहते हैं। लेकिन, यह जो कहते हैं कि इसके आगे कुछ नहीं है यही अवधि है—यह बात गलत है। धर्म, उपासनाका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है और अन्तःकरणकी शुद्धि होने पर तत्त्वज्ञान होता है। अन्तिम वस्तु तत्त्वज्ञान है। अपने आत्माको ब्रह्म जानना—यह अंतिम बात है। पर, ये तो बीचमें ही रोक लेते हैं! यह तो जैसे कोई यात्री रामेश्वरका दर्शन करना चाहता हो और बीचमें ही महाराज किसी मन्दिरमें ले गये और बोले कि यही रामेश्वर है! तो वह बीचमें ही रुक जायेगा। इसलिये, अन्तिम अवधि यह बात बता देनी चाहिए कि केवल अज्ञानके कारण ही आत्मा अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, संसारी, परिच्छिन्न मान रहा है और इस अज्ञानकी निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञानसे होती है। इसलिये, तत्त्वज्ञानके होनेके पहले कहीं रुकना नहीं।

तो कोई लोग कहते है कि यज्ञ परमार्थ नहीं है! आगे बढ़ने दो।

अब देखो, किसी कट्टर सनातन-धर्मीके सामने कोई यज्ञ और वेदके विरुद्ध बात करो तो चिढ़ जाये! नहीं भाई, देखो सहिष्णुताके लिये कितना अवकाश है। वेदको भी हम अध्यारोपितरीतिसे ही अनादि और नित्य मानते हैं। परमार्थतः तो केवल ब्रह्मको ही अनादि, नित्य और कूटस्थ मानते हैं। तो किसीके शानके खिलाफ अगर कोई कहे तो हमारे खण्डन-पक्षमें आ गया। क्या हुआ? अनिर्वचनीयताकी सिद्धिके लिये खण्डन-पक्ष भी आवश्यक है और मण्डन-पक्ष भी आवश्यक है। हमारा बायाँ हाथ भी हमारा और दायाँ हाथ भी हमारा! चिढ़नेकी ज़रूरत क्या है?



क्या भोक्ता ही परमार्थ है?

'भोक्तेति च भोक्तृयविदोः'—कोई-कोई कहते हैं कि बस, भोक्ता ही परमार्थ है! यही सब कुछ है। इसको ऐसे समझो कि दुनियामें सब चीज मालूम पड़नी चाहिए! मालूम पड़नेके सिवाय तो सब बेकार है। एक आदमीके घरमें करोड़ रुपये गड़े हों और उसको मालूम न हो! वह तो कौड़ी-कौड़ी कर्ज लेता फिरता! तो वह करोड़ रुपये बेकार हो जाते हैं न! तो ज्ञानके बिना सब व्यर्थ है। किसीके सामने भगवान् श्रीकृष्ण आये। परन्तु, उसने पहचाना ही नहीं कि ये कृष्ण हैं! दुर्योधनके सामने भगवान् श्रीकृष्णने अपना विराट्-रूप प्रकट किया। जब कौरवोंकी सभामें यह षड्यन्त्र रचा गया कि पकड़ लो श्रीकृष्ण को! तो कृष्णने अपना विराट् रूप प्रकट किया। सब लोग हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे और दुर्योधन बोला कि अरे-अरे मैं समझता हूँ कि यह जादूगर है जादूगर! कृष्णने अपना विराट्-रूप प्रकट किया और उसने कहा कि यह जादूका खेल है। यह स्थिति है।

तो प्रत्येक वस्तु मालूम पड़नेपर ही महत्त्वपूर्ण है। एक आदमीको बहुत-से हीरे मिल गये। उसने समझा कि काँचका टुकड़ा है। चिड़िया उड़ानेमें खर्च कर दिया। खेतमें मचानपर बैठ गया और कोई चिड़िया आवे तो मारे हीरे कसकर और वह जाकर नदीमें गिर जाये। एक बच गया। किसीने आकर बताया कि यह तो हीरा है भाई!

तो ज्ञान जो है, उसका महत्त्व सर्वोपरि है। यह देखो, जो संगीत होता है, यह कोई मुँहसे पीया थोड़-ही जाता है! अरे, यह कानसे मालूम पड़ता है। कई लोग ऐसे होते हैं, जो अंग्रेजी सुनकर बहुत खुश होते हैं। हमारे पास ऐसे लोग आते हैं, जो कहते हैं कि हिन्दुस्तानी संगीतमें क्या रखा है? अब कई लोग ऐसे हैं, जिनको यह सा, रे, ग, म, प इतना प्यारा लगता है, इतना प्यारा लगता है कि झूमने लगते हैं! तो वह क्या है? कोई खानेको मिलता है? कोई पीनेको मिलता है? मालूम पड़ना भर तो है! क्या मजा आता है।

अच्छा, आँखसे जो कुछ खिले हुए सुन्दर-सुन्दर फूल देखते है! अरे, स्त्री हो कि पुरुष हो! ये सब फूल ही तो खिले है न! ये बिना डाँटीके फूल है! अब इनको देखकर आँखमें मजा आता है तो क्या कुछ खाने-पीनेको मिलता है?

अच्छा, फूलकी सुगंधसे आनन्द आता है, छूनेसे आनन्द आता है! अच्छा, जीभपर क्या मजा आता है? अरे, यह खट्टा है, यह इमलीकी खटास है, यह आमकी खटास है, यह नमक है, यह मिर्च है—यह मालूम ही तो पड़ता है न! आप बताओ, मालूम पड़नेके सिवाय भोग नामकी चीज और क्या है? मालूम पड़ना-ही भोग है। शंकराचार्य भगवान्‌ने इसकी व्याख्या की है। गीतामें जहाँ ब्रह्मका निरूपण है, '*निर्गुणं गुणभोक्तृ च*' वहाँ शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा, '**भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वं**'—'उपलब्धृत्व ही भोक्तृत्व है।

देखो, दुनियामें जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं पापी हूँ, वही पापी है! जिसको मालूम पड़ता है कि मैं पुण्यात्मा हूँ, वह पुण्यात्मा है। जिसको मालूम पड़ता है कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, वह कर्ता-भोक्ता है। और, जिसको मालूम पड़ता है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ, वह ब्रह्म है। मालूम पड़नेका बड़ा भारी महत्त्व है।

अच्छा सुख-दुःख क्या है?

एक आदमी रो रहा था। उसको याद आ गयी थी कि उसका सगा-सम्बन्धी चार बरस पहले मर गया था। सो रोने लगा। फिर थोड़ी देरमें याद आयी कि बेटा हुआ है, तो हँसने लग गया। अब यह सुख-दुःख क्या है? मालूम पड़ना ही तो है न! हम सुखी हैं, ऐसा मालूम पड़ना ही सुख और हम दुःखी हैं, ऐसा मालूम पड़ना ही दुःख है। आप देख लेना, जिन लोगोंको ऐसा माननेकी आदत पड़ जाती है कि हम दुःखी हैं, वे रोते रहते हैं। एक जन रो रहे थे कि हम छः महीने बाद क्या खायेंगे? अरे भाई, तबतक आ जायेगा! अभीसे काहेको रोते हो?

तो, '**भोक्ता इति च तद्विदः**'—भोक्ताको जो जानते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा भोक्ता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, सुख-दुःख, सिद्धि, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि सबका यह भोक्ता है।

अब यह प्रश्न उठा कि अपना जो यह भोक्तापन है, यह इन्द्रियोंके सम्बन्धसे है कि बिना इंद्रियोंके है? यदि इंद्रियोंके सम्बन्धके बिना है, तो भोक्तापन क्या है? तो फँस गये न! दूसरेकी आँखसे देखते हैं और अपनेको सुखी मानते हैं, इससे बढ़कर अन्धापन और क्या होगा? अच्छा, भोक्ता स्वयं विषयको देखकर गीला हो जाता है, तब उसको मजा आता है। तो यदि भोक्ताका स्वभाव ही रसीला होना है, तो विषय सामने न होने पर भी उसको रसीला होना चाहिए और यदि वह विषयोंके सान्निध्यसे विकृत होता है, तो वह पराधीन है! उसमें सुख क्या है? इसलिये, भोक्तापना आत्माका परमार्थ रूप नहीं है।

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिता नास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा॥
नरतेस्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
धीविक्रिया सहस्त्रानाम् साक्षितोऽहमविक्रियः॥

बोले देखो, 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा जो अन्तःकरणमें मालूम पड़ता है, तो तुम वह दुःखी नहीं हो! वह तो जैसे तुम्हारे मनमें एक मोटर मालूम पड़े, तो तुम उसको 'मैं' समझते हो कि मैं मोटर हूँ? आँख बन्द करने पर देखो एक मोटर मालूम पड़े तो क्या तुम समझते हो कि मैं मोटर हूँ? ऐसे-ही आँख बन्द करनेपर यह जो मालूम पड़ता है कि मैं दुःखी हूँ, वह तो मोटरकी तरह दृश्य है। तुम उसके साक्षी हो। वह तुम्हारे भीतर बैठकर जो रो रहा है, वह तुम नहीं हो। उससे तुम न्यारे हो, साक्षी हो। यह बड़ी अद्भुत लीला है। दुनियादार लोग इस बातको नहीं समझते हैं। जैसे यह घड़ी है, आँखसे दिखती है। ऐसे कोई हाथसे पकड़कर दिखा दे कि यह दुःख है! दिखा सकता है? किसी डॉक्टरको जाकर बताओ कि दर्द तो हाथमें हमको बहुत हो रहा है, जरा इसको निकालकर तुम दिखाओ तो कि होता कैसा है। पूछना किसी डॉक्टरसे कि दर्दका रंग लाल है कि काला? पीला कि नीला? दर्दकी लम्बाई-चौड़ाई मालूम है आपको? एक बित्तेका होता है कि एक फुटका होता है, कि एक इंचका होता है? अच्छा, दर्दका वजन मालूम है? तो जिस दर्दमें वजन नहीं, लम्बाई-चौड़ाई नहीं, रंग नहीं, आकृति नहीं, वह आँखसे तो दिखेगा नहीं। तो दर्द जो है, यह आभास-भास्य नहीं है, साक्षी-भास्य है। इसी प्रकार यह दुःख जो है, यह सृष्टिमें आभास-भास्य नहीं है। दुःखका वजन आप बता सकते हैं कि कितने वजनका दुःख हो रहा है? वैसे कई लोग नाप लेते हैं, वह बात दूसरी है!

एक पंडितजी पत्रा लिये बैठे थे। उधरसे निकले मियाँ साहब! पंडितजीने पूछ लिया कि मियाँ साहब, आज तो बड़ी लम्बी यात्रा कर रहे हो? बोले कि हाँ पंडितजी, जाना है जरा! पंडितजी बोले कि जहाँ तुम जा रहे हो, वहाँ दिशा शूल भी है, भद्रा भी है। उधर जानेका मुहूर्त तो नहीं है। मियाँने कहा कि यह सब पंचांग-वंचांग हिन्दुओंको लगता है, मुसलमानोंको नहीं लगता! अब मियाँजी आगे बढ़े तो आयी आँधी। आँधी आयी तो उड़कर कूएँमें गिर पड़े। बोले कि इतना गहरा दिशा-शूल! कुएँको उन्होंने दिशा-शूल समझ लिया। पंडितजीने ठीक कहा था। इतनेमें क्या हुआ कि भेंड़ें उड़ती हुई आयीं और धमाधम गिरने लगीं! तो बोले कि

दो-दो मनकी भद्रा! राम-राम! तो दो-दो मनकी भद्रा और दिशा-शूलकी गहराई नापनी हो तो वह बात दूसरी है।

आप अपने दुःखका वजन बताओ! अच्छा, लम्बाई, चौड़ाई बताओ! उसका लाल, काला, पीला, नीला रंग बताओ! माने 'इदं दुःखं' इत्याकारक वृत्ति दुःखमें होती ही नहीं है! 'यह दुःख है' नहीं 'मैं दुःखी हूँ'—यह वृत्ति होती है भला! तो 'मैं दुःखी हूँ' इस वृत्तिके तुम साक्षी हो! अगर आपको यह रहस्य मालूम हो जाये कि हर दुःखसे जुदा होनेका सामर्थ्य आपको प्राप्त है, तो जीवन निर्द्वन्द्व हो जायेगा। जैसे किसीको अगर ठीक-ठीक तैरना आ जाये, तो वह कहेगा कि पानीकी गहराई चाहे जितनी हो, मैं उससे ऊपर उतरा सकता हूँ, तैर सकता हूँ। तो यदि आपको यह विद्या मालूम हो जाये कि अपनेको साक्षी, द्रष्टाके रूपमें जान लें, तो आप दुःखके ऊपर उठेंगे! दुःख आपको छूयेगा ही नहीं। दुःखकी धारा बहती रहे, दुःखके समुद्रमें ज्वार आता रहे, लेकिन आपका बाल भी बाँका नहीं होगा। क्योंकि, आप उसको तैर गये। इसीको द्रष्टा, साक्षी बोलते हैं। 'मैं दुःखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—यह जो दिलमें दुहरौनी होती है, यह हजार बार 'मैं दुःखी हूँ' आवे और तुम एक उसके साक्षी हो! तुम दुःखी नहीं हो और थोड़ी देरके बाद सुखी हो जाओगे। थोड़ी देरके बाद नींद आ जायेगी।

अतः आत्मा दुःखी नहीं होता। तो जो साक्षी है, वह दुःखी नहीं और जो दुःखी है, वह साक्षी नहीं—इस रहस्यको जीवनमें समझना बहुत आवश्यक है। तब तो आपके पास ऐसी विद्या हो जायेगी कि भले हुक्का फाड़कर रो लो और आँखसे आँसू खूब निकाल लो और छाती पीट लो खूब! लेकिन, आपको दुःख नहीं होगा भला! ऐसी विद्या है यह दुःखसे बचनेकी विद्या—जो महात्माओंके पास होती है! और लोग भी असलमें इस विद्याको जानते तो हैं, पर समझते नहीं हैं।

एक आदमीको एक दिनमें तीन घर जाना था। पहले एकके ब्याहमें गया तो खूब हँस-हँसकर बातें की। उसके बाद एक घरमें मातमपुर्सी मनाने लगा तो रोने लगा जाकर! फिर एक घरमें बेटा हुआ था, सो वहाँ गया बधाई देने। अरे भाई, इस भाँड़-विद्यामें तुम लोग बड़े निपुण हो भला! यह क्या है? इतने रूप तुमने अपने बदले, पर तुम तो वही हो! वह जो रूप बदला, वह तो तुम्हारा स्वांग हुआ।

आप इस बातको समझो कि जब आप अपनेको दुःखी समझते हो, असलमें वह एक स्वांग ही होता है! वह भी आपके जीवनमें एक नाट्य होता है?

जब आप भूल जाते हो कि मैं नाटक कर रहा हूँ और रोने लगते हो। और, जब वह बीत जाता है तो फिर? खूब हँसते हो, खूब खाते हो!

एक आदमीके मरनेपर कोई रो रहा था। उससे मैंने पूछा कि कबतक रोओगे भाई? छः महीने रोओगे? उसने कहा कि नहीं। अच्छा, तीन दिन रोओगे? बोला कि तीन दिन भी नहीं रोयेंगे! तीन दिन भी लगातार नहीं रो सकते! वह तो जब याद आ जाती है, तब रो लेते हैं।

तो नारायण, यह दुःखीपना आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माका धर्म नहीं है। बिना विकारके कोई दुःखी नहीं हो सकता और आत्मा विकारी होता ही नहीं। वह तो निर्विकार है। इसलिए, बुद्धिमें हजार-हजार विकार होवें, आत्मा तो साक्षी है! तो तुम भोक्ता काहेके? और फिर, एक बात है—जो सुखका भोक्ता बनेगा, उसको फिर दुःखका भोक्ता भी बनना पड़ेगा! सुखमें भी साक्षी रहो न! न सटो! क्या अपने साथ लेकर आये थे?

एक दिन एक चेलेने हमको धमकाया कि अब हम छोड़कर चले जायेंगे! मैंने कहा कि भाई, तुम नहीं आये थे तब भी मैं जिन्दा था न! और खाता-पीता था कि नहीं था? एक दृष्टान्त आपको दिया। श्रीमतीजीने कहा कि मैं मायके चली जाऊँगी! तो पतिने कहा कि आखिर ब्याहके पहले भी तो मैं जिन्दा था! कोई मरा हुआ थोड़े-ही था! बेटेने कहा कि पिताजी, बस मैं ऐसा भागूँगा कि फिर लौटकर नहीं आऊँगा! बोले कि बेटा, जब तुम पैदा नहीं हुए थे, तब भी मैं था, भला! सोचो, यह दुनियाकी जो बातें हैं, इसमें आदमी कहाँ फँस जाता है? '**मायैषा तस्य देवस्य**'—यह माया ही है! इसमें भोग-भाग कुछ नहीं है, मनका खेल है!

इसलिये, आत्मा जो है, यह असलमें भोक्ता नहीं है। न दुःखका भोक्ता, न सुखका भोक्ता। क्योंकि, अगर स्वयं इसमें रसीलापन है, तो बिना विषयके भी रसीला रहना चाहिए और यदि विषयके सान्निध्यसे ही रसीलापन है, तब तो आगन्तुक है। इसलिए, यह भोक्तापन आत्माका स्वभाव नहीं है। इसका निषेध करके अपने ज्ञानस्वरूपको समझना चाहिए।

☆

भोजन ही सब कुछ?

भोज्यमिति च तद्विदः।

हमारे एक सम्बन्धी थे। बड़े ही तगड़े थे। सत्तर वर्षकी उम्र उनकी थी और बड़े लम्बे-तड़ंगे थे। भाँग खूब पीते थे। तो मस्तानी प्रकृति थी। बोलते थे 'भाई, भजन तो तब होता है, जब नशेमें आते हैं। बिना भंग-भवानीकी कृपाके भजन थोड़े ही होता है। हमको 'बचवा' बोलते थे। 'बचवा' माने बच्चा। जैसे यहाँ बच्चेको 'बाबा' बोलते हैं, वैसे हमलोगोंके गाँवमें 'बचवा' बोलते हैं। बोले, 'वचवा! बस सारी जिन्दगीमें मैंने दो ही तत्त्व निकाला है, एक चभन्त और एक लेटन्त। 'चभन्त' माने डटकर खाना और 'लेटन्त' माने सोना। खाना और सोना— ये दो तत्त्व मैंने सृष्टिमें बहुत खोज करके पाया है। और सब गलकुच्चन है। 'गलकुच्चन' माने बकवाद है।'

हमारे एक साधक वृन्दावनमें थे। तो उन्होंने इसमें एक वृद्धि कर दी थी। वे ऐसे बोलते थे—खाना, पाखाना और सोना—ये सृष्टिमें तीन तत्त्व हैं। इसीको 'पशुत्व' बोलते हैं। आप ध्यानकरके देखो कि ये बात तो पशु-पक्षीमें भी होती है, पेड़-पौधेमें भी होती है। यह दो हाथ पाकर और यह दिल-दिमाग मिल जानेपर, इतनी समझदारी आ जानेपर अगर यही करते रहे—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

तो 'चभन्त' और 'लेटन्त' यही दो तत्त्व नहीं है जीवनका!

तो '**भोज्यमिति च तद्विदः**'।

संस्कृत भाषमें इनका नाम सूपकार बताते हैं। 'सूपकाराः वदन्ति'। क्या? बोले कि,

सूपकारास्तु भोज्यं वस्तुमिति प्रतिजानते।

यह अंग्रेजीका 'सूप' शब्द नहीं है, संस्कृतका 'सूप' शब्द है। 'सूपकार' माने रसोई बनानेवाला। अंग्रेजीके 'सूप'का अर्थ है, ***सुष्ठु पीयते इति।*** देखो, मद्रासमें तो दालादिको 'सूप' ही बोलते हैं। संस्कृत भाषामें भी उसके लिए दीर्घ उकार वाला-ही 'सूप' शब्द है और ह्रस्व उकारवाला हो तो ***सुष्ठु पीयते इति सुपं!*** वैसे 'सूप' भी चलेगा।

जो रसोई बनानेके तत्त्व हैं, वे कहते हैं कि बढ़िया भोजन मिल जाय तो मनुष्यका स्वर्ग धरतीपर ही है। रोज खानेको ठीक चाहिए। कई-कई लोग होते हैं, वे भोजनको भी नरक बनाकर खाते हैं! किसी-किसी वस्तुमें इतनी दुर्गन्ध होती है कि भलेमानुस उनको सहन नहीं कर सकते! अपने पेटको श्मशान बनाना! जठराग्निमें मांस जलाना, मछली जलाना—यह क्या है? अपने पेटको श्मशान घाट बनाना है कि नहीं? अपने पेटको श्मशान बना देना है!

हमारे एक महात्मा थे, वे बताते थे कि भोजनमें चार चीज होनी चाहिए! क्या? एक तो उसकी सुगंध नाकमें ऐसी आवे कि अगर भूख न लगी हो, तब भी खानेका मन हो जाये! रसोईघरमें-से सुगन्ध निकलनी चाहिए। उसको बोलते हैं, 'सौरभ्य'। दूसरी चीज भोजनमें चाहिए 'सौरूप्य' माने आँखसे देखकर तबीयत खुश हो जाये! ओ-हो, बहुत बढ़िया बना है। तो उसमें स्वच्छता चाहिए! तीसरी चीज उसमें चाहिए 'सौरस्य' माने जीभपर पड़नेके बाद बहुत आनन्द दे और चौथी चाहिए 'सौहित्य'। सौहित्य माने अपने शरीर, स्वास्थ्य और मनके लिए हितकारी हो!

एक बार हमलोग मध्य प्रदेशमें गये थे। हम किसी महात्माके साथ ही घूम रहे थे। हमारे साथ छोटेजी ब्रह्मचारी थे। वे तो ब्राह्मणके सिवाय किसी दूसरेके हाथका खाते नहीं थे। तो मैं और छोटेजी, दोनों एक मन्दिरपर ठहर गये और छोटेजीने खिचड़ी बनायी और हम दोनोंने खा ली। बाकी लोग महाराज एकके घर खानेको गये। उसने बैंगनका साग लोहेकी कड़ाहीमें बनाया। सो काला हो गया। अब ये लोग जब खाकर लौटे तो थोड़ा मजाक किया! वह बैंगनका साग हमने देख लिया था। क्योंकि, पूरी और साग हमारे लिए भी वहाँसे आया था। पर मैंने खाया नहीं था। तो मैंने मजाक किया और मजाकमें जाति भी बता दी कि वह बनानेवाला जो है, वह किस जातिका आदमी था! सो दादाजीको तो वह बुखार चढ़ा! दूसरों का स्वास्थ्य भी गड़बड़ा गया।

आप देखो, गीतामें भोजनका क्या वर्णन है कि, ***'रस्याःस्निग्धाः स्थिरा हृद्या'***। यह बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण जब भोजनकी चर्चा करते होंगे, उस समय आलसी आदमीके लिए नहीं करते होंगे! परिश्रमी आदमीके लिए करते होंगे! आलसी आदमीके लिए होती तो रूखी रोटी बतांते न! बोले कि दाल नहीं खाना, हरी-हरी सब्जी खाना! क्योंकि, दाल दुश्पच होती है और रोटी भी घी लगनेपर दुश्पच हो जाती है। तो यह आलसी आदमियोंके लिये भोजन दूसरे ढंगका होता है और परिश्रमी लोगोंके लिये भोजन दूसरे ढंगका होता है।

तो, *'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या'*—भोजनमें रस हो, स्नेह हो और दिन भर दस दफे नहीं! जब देखो तब मुँह ही चला रहे हैं!

हमारे यहाँ एक साधन-भजन करनेवाले सज्जन आते हैं। कल ही सुना रहे थे कि क्या कहें महाराज! हमारे सामने जो लोग रहते हैं, उनका मुँह हर समय चलता रहता है! कुछ-न-कुछ हाथमें लेकर मुँहमें डालते रहते हैं! अब दिन भर खाना क्यों पड़ता है? क्योंकि वे स्थिर भोजन नहीं करते हैं। तो जब भोजनमें स्थिरता न हो, तब मनमें भी स्थिरता कहाँसे आवे? शरीरमें भी स्थिरता कहाँसे आवे? यह भोजन-शास्त्र है भला!

तो 'स्थिरा हृद्या'। 'हृद्या' का अर्थ है कि जलन न हो। विदाही भोजन नहीं हो। लालमिर्च, खटाई ज्यादा खायेगा तो भोजन विदाही हो जायेगा। ज्यादा तेल, राई, नमक आदि विदाही भोजन है। सो यह नहीं होना चाहिए।

भोजनकी भी एक विद्या होती है भला! पाक-शास्त्र भी एक शास्त्र है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शरीरके लिए तो बहुत आवश्यक है। लेकिन कहो कि वही परमार्थ है। तो केवल भोजन ही परमार्थ नहीं होता भाई! भोजनसे शरीर स्वस्थ रहता है, नीरोग रहता है और स्वस्थ शरीरसे धर्म किया जाता है, उपासना की जाती है, परमात्माका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, अर्थोपार्जन किया जाता है, भोग किया जाता है। शरीरके स्वास्थ्यका साधन भोजन है, परमार्थका नहीं।

कहो कि भोजन ही सबकुछ है। तो भोजन सब कुछ नहीं है। क्यों? भागवत माहात्म्यमें तो ऐसे लिखा है,

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥

प्रातःकाल भोजन बनाकर रखो और वह सायंकाल नष्ट हो जाता है। वही रोटी जो सायंकाल बासी पड़ जाती है, वही भात जो सायं खाने लायक नहीं रहता, दाल बिगड़ जाती है, वही सब्जी, जिसमें दहिया आ जाती है, सफेद-सफेद फफूँद निकल आता है, दुर्गन्ध आ जाती है; उसी अन्नसे यह शरीर बना है। अब कोई चाहे कि हमारा शरीर हमेशा सुन्दर रहे, बासी न होवे, शरीरपर झुर्री न पड़े, शरीरमें रोग न हो, शरीरमें बुढ़ापा न आवे, शरीरमें मौत न आवे। ऐसा कैसे होगा?

इसीसे हमलोग कहते हैं कि मनुष्यको एक जवानीका भी नशा होता है। उसको यह बात भूली रहती है कि हम कभी बुड्ढे भी होंगे। अपने सामने किसीको नहीं समझता। तो यौवनका भी एक मद होता है और सौन्दर्यका भी एक मद होता

है। लेकिन जब गिरने लगता है, तो चाहे जितना सम्भालो और चाहे जैसा अन्न खाओ, वह सम्भलता नहीं है।

तो भोज्य और भोज्यसे सम्पुष्ट शरीर—इनमें नित्यता नहीं हो सकती। इसलिए, ये परमार्थ नहीं हो सकते। तो 'नेति-नेति'—इति न। भोज्य परमार्थ नहीं है, भोक्ता परमार्थ नहीं है, यज्ञ परमार्थ नहीं है, वेद परमार्थ नहीं है। यह तो 'मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं'। यह तो ऐसा खिलाड़ी भीतर बैठा हुआ है कि चाहे जिससे खेलने लगता है और खेल-खेलकर उसीपर मोहित हो जाता है। कहीं चमड़ीपर मोहित होता है, कहीं बालपर मोहित होता है, कहीं दाँतपर मोहित होता है।

यह जो चीज मालूम पड़ती है, वह असलमें है नहीं। मालूम पड़ना और होना दोनों अलग-अलग बातें हैं। तो चीजके बारेमें 'यह नहीं है'—ऐसा भाव कभी बन ही न सके, उसको 'सत्ता' बोलते हैं। 'मैं नहीं हूँ'—ऐसा कभी नहीं बोल सकते। तो केवल आत्म-सत्ता सच्ची है और इसके सिवाय जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं—वे मालूम तो पड़ती हैं, लेकिन उनके साथ 'नेति' लगा हुआ है। कैसे 'नेति' लगा है? यह 'हाथ' हमारा कहाँ है, बताओ? पूर्वमें है कि पश्चिममें? जो बोलोगे उसमें 'नेति' लग जायेगा। ऊपर कहो तो 'नेति' है, नीचे कहो तो 'नेति' है, पश्चिम कहो तो 'नेति' है, पूर्व कहो तो 'नेति' है, उत्तर कहो तो 'नेति' है, दक्षिण कहो तो 'नेति' है। तो हाथके साथ 'नेति' लगा हुआ है। अच्छा, इस समय दिन कहो तो 'नेति' है कि नहीं? क्या अमेरिकामें दिन है? वहाँ इस समय दिन है? बोले, 'नेति'। इस समय रात है। बोले 'नेति'। तो जिसके साथ किसी देशमें, किसी कालमें, किसी रूपमें 'नेति' लग जाये, वह आत्मा नहीं है। वह सत्य नहीं है, वह परमार्थ नहीं है।

परमार्थको ढूँढनेके लिए नेति-नेति करके आत्मातिरिक्त सर्वका निषेध करना पड़ता है। आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है और, रह गया सबका निषेध करनेपर आत्मा! उसको जो वेद-वेदान्त है, वह ब्रह्म बताता है। महात्मा लोग उसको ब्रह्म बताते हैं।



मालूम पड़ना और होना—एक नहीं

कहते हैं कि इन स्वयंप्रकाश आत्मदेवने अपने बारेमें ही ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ कर रखी हैं कि उनका पार पाना कठिन है।

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेभिर्विकल्पितः।

किसी भी दृश्यके साथ एक हो जाना और फिर उसीको अपना आपा मानने लगना—यह इनका स्वभाव है। **'मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं'**। यह है इनकी माया। अपने आप इन्होंने फैलायी और फिर स्वयं उसमें मोहित हो गये।

कई बार ऐसा मौका मिलता है कि जब सुखकी लहर मनमें आती है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं सुखी हूँ। अरे, अब तो दुःख कभी आवेगा नहीं। दुःख कुछ है ही नहीं। फिर कभी दुःखकी लहर आती है तो मालूम पड़ता है कि मैं दुःखी हूँ और जीवनमें सुख कभी है ही नहीं। यह देखो, आप सबके जीवनमें ऐसा आता होगा। जब काम आता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि अमुक स्त्री, पुरुषके बिना हमारा चल ही नहीं सकता। जब मनमें क्रोध आता है तो यह ख्याल होता है कि बिना दुश्मनको मारे, शान्ति मिल नहीं सकती। जब मनमें लोभ आता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जबतक धन नहीं मिलेगा, तबतक सुख-शान्तिके दर्शन नहीं होंगे। जब जो लहर मनमें आती है, जो भाव मनमें आता है—है यह सब लहर। इसको 'मौज' बोलते हैं। यह है सब आत्माकी मौज ही, तरंग ही। लेकिन, जब जिस लहरपर यह चढ़ बैठता है, उसीको 'मैं' मान बैठता है और फिर समझता है कि यही 'मैं' हूँ। इसी प्रकार मैं चींटी हूँ, मैं चिड़िया हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ—यह सब भी आत्मदेवकी लहर ही हैं और एक-एक क्षणसे अधिक कोई इनकी कीमत भी नहीं है।

'मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं'-यह आत्मदेवकी एक माया है कि जो एक क्षणिक भाव उठा, एक लहर उठी। जैसे आँख गुब्बारेके साथ उड़ने लगती है, जिधर-जिधर वह जाता है, उधर-उधर आँख जाने लगती है, ऐसे ही यह चैतन्यदेव, जो इनके सामने आता है, उसका पीछा कर बैठते हैं और उसीको अपना आपा मानने लगते हैं कि यह मेरा है और यह 'मैं' हूँ और इसी झगड़ेमें तकलीफ भी पाते हैं।

माण्डूक्यकारिकाकारका सिद्धान्त है कि मालूम पड़ना और होना—किसी वस्तुका प्रतीत होना और उसका सत् होना, ये दोनों एक चीज नहीं है। सत् होवे और प्रतीतिका विषय न होवे, ऐसा हो सकता है और प्रतीतिका विषय होवे, परन्तु सत् न होवे ऐसा भी हो सकता है। इसीको श्रीमद्भागवतमें माया बताया है—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तं विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ (२.९.३३)

माया किसको कहते हैं? जो वस्तु होवे नहीं और मालूम पड़े, उसका नाम 'माया'। जैसे, आकाशमें दूसरा चन्द्रमा है नहीं, परन्तु आँख कुछ ऐसी दबायी कि दो मालूम पड़ा। बोले कि यह माया है। यह तो दृष्टिकोणका विलास है, जो हमको सृष्टिमें दिखायी पड़ता है।

गौड़पादाचार्यने कहा कि भोज्य और भोक्ता, इन दोनोंका ठीक-ठीक विभाग कर लो।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥ (मा. का. १.५)

जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल भोग्य है और विश्व भोक्ता है और स्वप्नावस्थामें सूक्ष्म भोग्य है और तैजस भोक्ता है और सुषुप्ति-अवस्थामें आनन्द भोग्य है और प्राज्ञ भोक्ता है और इन तीनों स्थानोंमें जो तीन प्रकारके भोग्य और तीन प्रकारके भोक्ता हैं—इन दोनोंको जो जाननेवाला है, वह तुम हो। तो विश्व-विराट्, व्यष्टि-समष्टि; स्थूल भोगके भोक्ता और तैजस-हिरण्यगर्भ भोक्ता और व्यष्टि-समष्टि सूक्ष्म भोग्य और प्राज्ञ-ईश्वर भोक्ता और कारण आनन्द भोग्य—इनको जो जान लेता है, **'स भुञ्जानो न लिप्यते'**—वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका भोग करता हुआ भी, व्यष्टि-समष्टिका भोग करता हुआ भी, विश्व-विराट्, तैजस-हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ-ईश्वर होता हुआ भी किसी भी भोगसे वह लिप्त नहीं होता। माने कहीं भी भोगके कारण उसमें 'मैं पापी हूँ' 'मैं पुण्यात्मा हूँ,' 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ'—इस प्रकारका लेप नही होता। 'लेप' माने अभिमान। अन्यका अपनेमें लेप कर लेना। एक प्रकारका अध्यारोप है यह। जैसे देखो, लेपौष्ठिक माने लिपिस्टिक अर्थात् औष्ठिक लेप, एक प्रकारका अभिमान। काहेका? सौन्दर्यका।

यह जितना लेप है, अंगराग-शरीरमें चन्दन लगाओ, स्नो, पावडर लगाओ। यह क्या है? यह एक प्रकारका अभिमान उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार धर्मका लेप, उपासनाका लेप, योगका लेप—ये भी अभिमान उत्पन्न करते हैं। तो, 'वेदैतदुभयं यस्तु'—जिसने भोक्ता और भोग्य, दोनोंको जान लिया और जानकर छोड़ दिया—यह न 'मैं' न मेरा, न इनमें मैं और न ये मुझमें। केवल मालूम पड़ते हैं और, अखण्ड सद्घन, चिद्घन आत्मदेव 'स भुञ्जानो न लिप्यते' अलिप्त है।

देखो, कितनी बड़ी मुक्ति है। मुक्ति इसीको बोलते हैं। मुक्ति मरनेके बाद नहीं होती। यह जिन्दा मुक्ति है, मुर्दा मुक्ति नहीं है। यही बात गीतामें भी बतायी—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (१८.१७)

☆

'भोज्य' की सूक्ष्म व्याख्या

कल आपको सुना रहे थे, 'भोज्यं इति च तद्विदः'—जो रसोईं बनानेवाले हैं, सूपकार—उनका कहना है कि भोग्य-पदार्थ ही सब कुछ है। देखो, जो सूप ठीक बना सकता है, वही रोटी भी ठीक-ठीक बना सकता है। उसमें कितना, नमक, कितना मिर्च, कितनी खटाई—इसका हिसाब ज्यादा रखना पड़ता है। तो सूप बनानेमें जो निपुण है, वह भोजन बनानेमें भी निपुण है। इसीसे उसको 'सूपकार' बोलते हैं, भक्तकार नहीं बोलते। रोटीकाकार उसको थोड़े-ही बोलते हैं। 'त्रोटिका' माने तोड़कर जो खायी जाये और उसमें से 'त' निकाल दिया, तो 'रोटिका' हो गया।

जो रसोईके जानकार हैं, वे कहते हैं कि भोज्य-वस्तु ही तत्त्व है। कोई-कोई ऐसे बनानेमें निपुण होते हैं। माने सचमुच वे भोजनके तत्त्वज्ञ ही होते हैं।

झूसीमें एक वाजपेयीजी थे। थे संन्यासी, पर हमलोग उनको वाजपेयीजी ही कहते थे। एक दिन आये और प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी से बोले कि आपलोग कल हमारे यहाँ भोजन करो! तो ब्रह्मचारीजीने कहा कि हम सामान तुम्हारे यहाँ भिजवा देते हैं। कितने आदमी होंगे? वे बोले कि बस, आप ही दो-चार आदमी हैं और एक मैं और एक अन्य मदद करनेवाला व्यक्ति रहेगा। 'क्या-क्या सामान भिजवायें?' वे बोले कि दो टिन घी भेज दो। ब्रह्मचारीजीने कहा कि पाँच-छः जन खानेवाले और दो टिन घीका क्या होगा? वे बोले कि आकर देखना कि क्या होगा? अब वे महाराज एक-एक चीज जो बनाने लगे। खुद बनाते थे। यह एक-एक वस्तुकी निपुणता होती है। तो उन्होंने दो टिन घी समा दिया। छप्पन प्रकारका व्यंजन नहीं था भला! अरे, वह तो दो सौ छप्पन प्रकारका था।

यह जो भोज्यका रहस्य है, बड़ा अद्भुत है। भोजनके नये-नये ढंग निकलते जा रहे हैं।

तो कल जो आपको सुनाया था, वह बात दूसरी, अब आज आपको जरा दूसरी बात सुनाता हूँ। उपनिषद्में आया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। (छांदो. ७.२६.२)

जब मनुष्य का आहार शुद्ध होता है, तब अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। देखो, यह भोज्यका सूक्ष्म-अर्थ है। मनुष्य क्या भोजन करता है?

'जैसा अन्न, वैसा मन'।

अन्नके अनुसार मन बनता है। ऐसा नहीं समझना कि ये जो आजकलके साइंसदा लोग हैं और वैज्ञानिक लोग हैं, वे ही इस बातको जानते और मानते हैं कि अन्नसे मन बनता है। मन एक भौतिक वस्तु है, इस बातको हमारे आध्यात्मिक लोग भी जानते हैं। उपनिषद्में एक आख्यायिका आयी है कि पन्द्रह दिनके लिए अन्न बन्द कर दिया गया। उसका नतीजा क्या निकला? मन शिथिल पड़ गया। भाई, अब मैं सोच नहीं सकता। अब मैं ज्यादा संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता। क्यों? बोले कि मनकी शक्ति क्षीण हो गयी। इसका अर्थ है कि अन्नकी शक्तिसे ही मन शक्तिशाली होता है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति भी तो बिना मनके नहीं हो सकती।

मनसैवेदमवाप्तव्यं। (कठ. ४.११)

मनसे परमात्मा प्राप्त होता है। श्रुति भगवती कहती है कि मनसे भगवान् मिलते हैं। व्यवहारकी सिद्धिमें तो मनके बिना कोई काम हो ही नहीं सकता।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च, यज्ज्योतिर मृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

और, उस मनका निर्माण कैसे होता है? बोले कि आहारसे होता है।

तो श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने कहा कि 'आहार' माने यह होता है कि जो चीज आप खायें, उसकी एक तो जाति-शुद्धि आपको मालूम हो कि वह वस्तु जन्मसे पवित्र है कि नहीं है। जन्मना पावित्र्य होना चाहिए। वे कहते हैं कि जैसे मांस, प्याज, लहसुन, शलजम, छत्ते (खुंभी) आदि जो वस्तुएँ हैं, ये जन्मसे ही अपवित्र हैं। तो जो वस्तु जन्मसे ही अशुद्ध होवे, उसको नहीं खाना चाहिए। नहीं तो मन बिगड़ेगा। कामी, क्रोधी, लोभी, मोही हो जायेगा।

दूसरी बात उन्होंने यह कही कि निमित्तसे पवित्र है कि नहीं। माने वस्तु तो बहुत बढ़िया हो, पर बाहरसे दूसरी कोई वस्तु उसमें डाल दी जाये। जैसे, दूधकी चीज बनावे और उसमें नमक डाल दे। तो यह नैमित्तिक, सांसर्गिक अशुद्धि हो गयी। शास्त्रमें नमकके सम्बन्धसे दूधको अपवित्र मानते हैं।

अब देखो, बर्तन पवित्र होना चाहिए, स्थान पवित्र होना चाहिए, बनानेवाला पवित्र होना चाहिए।

एक स्त्री रसोई बना रही है। तो पहले अपने पति देव और साससे खूब लड़ाई कर ली और जब रोटी बेलने बैठी। तब टपाटप उसकी आँखसे आँसू गिरें

रोटीपर। अब उन आँसुओंसे युक्त रोटीको कोई खायेगा तो उसके शरीरमें ज्यादा आँसू बनने लग जायें, इसमें क्या आश्चर्य है? आँसूका बीज, दुःखका बीज आ गया। एक गाय रो रही है। उसका बछड़ा मर गया है, सो उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धार चल रही है दुःखी है और उसीका दूध निकालकर जब आदमी पीयेगा, तो उसको भी रोना पड़ेगा। इसको बोलते हैं—'आश्रय-शुद्धि'।

तो आश्रय-शुद्धि, निमित्त-शुद्धि और जाति-शुद्धि—भोजनमें ये तीन शुद्धि आवश्यक है।

अब एक चौथी शुद्धि और है। वह क्या है? जो वस्तु खायी जाये, वह अपने हककी होवे। खानेवालेका हक उस वस्तुपर पहुँचता होवे कि यह हमारी है। चोरीका माल तो खाये और सोचे कि हमारे मनसे चोरी, बेईमानीका ख्याल मिट जाये, तो कैसे मिटेगा? व्यभिचारिणीके हाथका भोजन करे और निष्ठावान् ब्रह्मचारी बने रहनेका संकल्प हो तो दोनोंका कैसे मेल बैठेगा? तो न्यायार्जित सम्पत्ति होनी चाहिए। अपनी कमाईका पदार्थ होवे और केवल अपनी कमाईका नहीं, अपनी ईमानदारीकी कमाईका पदार्थ होवे। अपनी कमाईका तो बहुत होता है भला!

एक डाकूसे किसीने पूछा कि भाई, तुम डाका डालकर क्यों कमाते हो? तो उसने कहा कि ये लोग दूकानपर बैठे-बैठे निकम्मे कमा लेते हैं उसकी जगह तो हम जान खतरेमें डालकर ले आते हैं। तो हमारी कमाई परिश्रमकी हुई। तो नारायण, केवल परिश्रमकी नहीं, ईमानदारीकी भी चाहिए भला! दूसरेको दुःख पहुँचाकर नहीं चाहिए। इसमें भी स्वत्वकी उत्पत्तिके अनेक प्रकार होते हैं। पिताकी सम्पत्तिपर पुत्र, पत्नी, पुत्रीका स्वाभाविक स्वत्व होता है। निरुक्तमें इस बातपर बड़ा विचार है। प्रसंगवश ऋग्वेदके एक मन्त्रकी व्याख्यामें आगया है कि पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रीका अधिकार होता है कि नहीं होता है? तो क्यों नहीं होता है? जब उसी शरीरसे, उसी वीर्यसे, उसी मातासे वह भी पैदा हुई है तो उसका भी अधिकार है—यह निर्णय दिया है।

तो देखो, पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रका—यह पुत्राधिकारमें सम्पत्ति प्राप्त हुई। एक राज्यपर विजय प्राप्त कर लेनेके बाद दूसरे राजाका, दान दे देनेके बाद ब्राह्मणका, नानाकी सम्पत्तिपर दौहित्रका, परिश्रम करनेके बाद वेतनके रूपमें मिलनेपर और व्यापारमें क्रय-विक्रय करनेपर प्राप्त धनपर स्वत्व उत्पन्न होता है। कितने प्रकारसे स्वत्व उत्पन्न होता है, इसका भी विचार है। पर, वस्तु अपने हककी होनी चाहिए।

मालवीयजी महाराज सुनाते थे कि एक बार एक सज्जन एक राजाके पास गये कि हमको कोई बढ़िया काम करनेके लिए चन्दा चाहिए। तो राजाने कहा कि महाराज, आज तो नहीं है! कल देंगे। तो रातको राजा वेश बदलकर निकल गया और एक भड़भूँजेकी दूकानपर उसने काम किया। भाड़ झोंका और चार पैसे उसको मजूरीमें मिले। दूसरे दिन प्रातः जब वे सज्जन माँगनेके लिए आये तो वही चार पैसा उनको दिया। बोले कि बस महाराज, मेरे पास इतना ही है और सब तो प्रजाका है। हमारे खजानेमें पैसा है। पर, वह हमारा नहीं है। वह तो प्रजाका है। उसके हम ट्रस्टी हैं। और ट्रस्टी-व्यक्तिको ट्रस्टकी सम्पत्ति नष्ट करनेका हक नहीं है, वैसे उस सम्पत्तिपर हमारा कोई हक नहीं है। तो उस लेनेवाले आदमीको बड़ा कष्ट हुआ कि यह राजा होकर हमको चार पैसा देता है। अब लेकर तो चला। परन्तु, उसको आया गुस्सा और थोड़ी दूर जाकर चारो पैसा फेंक दिया। कहते हैं कि उन चारो पैसेमें-से एक वृक्ष निकला और उसी वृक्षका नाम 'कल्पवृक्ष' हुआ। उससे जो चाहो, सो ले लो।

तो भोजनमें जाति-दोष न हो, निमित्त दोष न हो, आश्रय-दोष न हो और न्यायोपार्जित होवे। ऐसा यदि मनुष्य अन्न खाये, तो उसका मन पवित्र होता है और जब मन पवित्र होता है, तब पवित्रके साथ जुड़ता है। ईश्वर तो बड़ा पवित्र है न! पवित्रके साथ जुड़नेके लिए भी पवित्र चाहिए।

देखो, आपको एक बात सुनावें कि आजकल लोग पुस्तकालयमें बैठते हैं और 'ब्रह्म' की स्टडी करते हैं। आजकल वेदान्तकी ऐसी-ऐसी पुस्तकें निकलती हैं—थीसिस लिखी जाती हैं। संयोगवश हमारा वृन्दावनका पुस्तकालय बड़ा समृद्ध है। तो अलीगढ़ और आगरा विश्वविद्यालय पास होनेसे वहाँके प्रोफेसर एवं थीसिस लिखनेवाले लोग भी आते हैं। तो वे समझते हैं कि जैसे वैज्ञानिक अनुसन्धान करते हैं, ऐसे हम किताबोंमें-से ब्रह्म निकाल लेंगे। यह तो जिस अन्तःकरणमें राग-द्वेष है, उस अन्तःकरणके द्वारा ब्रह्मज्ञान होना अशक्य है। इसलिए, आहार शुद्ध हो, मन शुद्ध हो और शुद्ध मनका लक्षण क्या है? वह शुद्धका चिन्तन करे।

तो धर्म-क्रिया प्राधान्य—यह मनःशुद्धिका लक्षण नहीं है। अच्छा, भावकी प्रधानता भी मनःशुद्धिका लक्षण नहीं है। क्योंकि, भातुक जो है, वह सत्य-असत्य नहीं जानता। वह तो जिसमें उसका राग होता है, भाव होता है, उसका वह चिन्तन करता है। धर्मात्मा सत्य-असत्य नहीं जानता। वह तो स्वधर्मनिष्ठ होता है और

भावुक, सत्य-असत्य नहीं जानता; वह तो अपनी उपासनामें तल्लीन होना जानता है और योगी, परित्याग करके, विषयका परित्याग करके निर्विषय अन्तःकरणमें स्वनिष्ठ होना जानता है। उपासक तन्निष्ठ होना जानता है और योगी स्वनिष्ठ होना जानता है और धर्मात्मा धर्मनिष्ठ होना जानता है। परन्तु, सत्य क्या है? धर्म सत्य है, कि तत् सत्य है, कि स्व सत्य है? तो 'स्व' की भी उपाधि हटानी पड़ती है, 'तत्' की भी उपाधि हटानी पड़ती है, धर्मकी उपाधि हटानी पड़ती है और उपाधि विनिर्मुक्त जो वस्तु तीनोंमें एक है, वह सत्य है और उस सत्यका जो चिन्तन करे, उस मनको शुद्ध बोलते हैं।

तो, **'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः'**—आहार-शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अतः भोज्यके संबंधमें जब ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करेंगे, तब यह बात बनेगी! परन्तु, यह साधन ही तो हुआ न! सिद्ध तो नहीं हुआ।

साध्य जो है, वह तन्मयता है। स्थिति, साध्य होती है और साधन जो है, वह शारीरिक या मानसिक क्रिया होती है या वस्तु होती है। वस्तु बहिरंग साधन है। उसकी अपेक्षा क्रिया अंतरंग साधन होती है और उसकी अपेक्षा भावना अंतरंग साधन है। परन्तु, सिद्ध-वस्तु जो है, वह बहिरंग साधन, अंतरंग साधन और साध्य स्थिति—सबसे विलक्षण होती है। वह तो ज्यों-की-त्यों है। उसीको आत्मा बोलते हैं, ब्रह्म बोलते हैं, परमात्मा बोलते हैं।

तो, 'भोज्य' को साधनके रूपमें तो जानना, साध्यके रूपमें नहीं जानना, सिद्धके रूपमें नहीं जानना।

श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने इसी आहार-शुद्धिका अर्थ दूसरा किया। वे कहते हैं कि, **'आहार्यन्ते इति आहाराः विषयाः'**। बोले कि कानसे शुद्ध सुनो। **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम'**। यह आहार-शुद्धि है। **'भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'**--नेत्रसे पवित्रको देखें! यह आहार-शुद्धि है। तो सम्पूर्ण इंद्रियोंका व्यवहार शुद्ध हो—पाँवसे पवित्र स्थानपर चलें, हाथसे पवित्र काम करें, मुँहसे पवित्र बोलें, नासिकासे पवित्र सूँघें। तुलसीदलकी गंध बहुत पवित्र है और ये सेंट-वेंट जो होते हैं, उनकी गंध पवित्र नहीं होती।

तो इस तरहसे आहार-शुद्धि माने सम्पूर्ण इंद्रियोंसे पवित्र आहार। इसमें भी आहारसे मनकी शुद्धि, फिर कर्मसे मनकी शुद्धि, फिर भावसे मनकी शुद्धि, फिर स्थितिसे मनकी शुद्धि और केवल ज्ञानसे मनकी शुद्धि—ये पाँच कक्षा हैं। तो ये साधन हैं, इनको सिद्ध नहीं मान लेना। ✪

सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त विवेचन

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः॥ २३॥

अब जो सूक्ष्मवेत्ता हैं, वे कहते हैं कि आत्मा सूक्ष्म है। सूक्ष्म क्या है? बोला कि, **'अणु परिमाणः'**।

एक 'परिमाण' शब्द होता है और 'परिणाम' शब्द होता है। दोनों अलग-अलग हैं। 'परिणाम' जो होता है, वह उत्तरकालीन स्थिति होती है और 'परिमाण' जो होता है, वह सीमा होती है। देशिक सीमा, कालिक सीमा, धात्विक सीमा। जैसे एक मिनट, दो मिनट। यह क्या है? यह एक मिनट परिमाण है, दो मिनट कालिक परिमाण है। अच्छा, एक इंच, दो इंच—यह देशिक परिमाण है और एक मासा, एक तोला—यह वजन भी परिमाण है।

तो वस्तुगत परिमाण, देशगत परिमाण और कालगत परिमाण!

अब देखो, आत्माके सम्बन्धमें थोड़ा विचार करो!

'सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः'।

जो अनात्मवादी हैं, उनकी चर्चा छोड़ देते हैं। क्योंकि, वे तो सर्वतन्त्र प्रतिषिद्ध हैं। अनुभवकी प्रणालीमें जो चीज न आवे, उसको मान्यता देना अंधविश्वास है। इस प्रसंगमें यह भी सुना देते हैं कि जैसे दूसरेकी बुद्धिपर विश्वास करते चले जाना, यह अंधविश्वास होता है, वैसे अपनी बुद्धिपर भी विश्वास करते चले जाना अंधविश्वास होता है। अगर दूसरेकी बुद्धिकी बात मानना और उसकी जाँच न करना—यह अंधविश्वास है। अपनी बुद्धिकी बात मानते जाना और उसकी जाँच-पड़ताल न करना—यह भी अन्धविश्वास है। तुम्हारी बुद्धि किस संस्कारसे प्रभावित होकर निर्णय देती है—भोगसे प्रभावित होकर निर्णय दे रही है कि नहीं? भाई, चाहे कुछ भी होकर रहे, हम तो यह चीज खाकर ही रहेंगे! यह किसका निर्णय है? तुम्हारी बुद्धिका ही तो है। तो ऐसी बुद्धिका निर्णय मानना अन्धविश्वास है कि नहीं? तो अपनी बुद्धिपर भी अंधविश्वास होता है। चाहे पाप लगे चाहे पुण्य—इसका ख्याल नहीं रहता।

तो भोग-प्रभावित बुद्धि, स्वार्थ-प्रभावित बुद्धि और धर्मान्धता-प्रभावित बुद्धि। ये जब हिन्दू-मुसलमान आपसमें लड़ते हैं, शैव-वैष्णव आपसेमें लड़ते हैं, वह क्या है? वे अपनी बुद्धिको बहुत बढ़िया मानते हैं कि हम धर्मके लिये दूसरेको मार रहे हैं! करते हैं उलटा और धर्मके नामपर समर्थन करते हैं। अब उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है कि नहीं?

प्रश्न यह है कि अपनी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है कि नहीं हो सकती है? यदि अपनी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है, तो केवल अपनी बुद्धिकी बात मानते जाना, यही तो अन्धता हुई न! अत: अनुभवकी प्रणालीमें जो वस्तु कभी न आती हो, उसको मानना—यह भी अंधविश्वासकी पराकाष्ठा है। कैसे?

न कश्चित् प्रतीयात नामस्मीति।

'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता!

अब कोई कहे कि यह अनुभव किया है कि 'मैं नहीं हूँ'! बोले कि तुम जिन्दा हो! कोई कहे कि मैं मर चुका हूँ! बेवकूफ है। अगर तुम मर चुके होते तो बोलते कैसे? अबतक कभी नहीं मरे हो! मृत्युकी स्मृति नहीं हो सकती। जिसको स्मृति होवे, वह जिन्दा है।

अच्छा, कहो कि 'मैं जड़ हूँ—ऐसा अनुभव कभी तुमको हो सकता है? बोले कि याद आती है कि एक बार मैं जड़ हो गया था। अच्छा, याद तो आती है न! तो अनुभव हुआ था, तब तो आती है! अरे भाई, 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको नहीं होता। 'मैं अपना अप्रिय हूँ'—यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता।

तो जो लोग कहते हैं कि आत्मा नहीं है, वे ऐसे ही बोलते हैं, जो चीज कभी अनुभवमें नहीं आ सकती। यह बात हम मान सकते हैं कि जिस यंत्रपर उन्होंने परीक्षा की, आत्मदेव उस मशीनकी नोकपर नहीं चढ़े! उनकी दूरबीन, खुर्दबीनमें नहीं आये, उनकी प्रयोगशालामें नहीं आये, उनकी जाँचमें नहीं आये। यह सब ठीक। हमारी तो उपनिषद् ही कहती है कि,

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते॥ (केनो. १.४)
यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते॥ (केनो. १.६)

तो जो अनात्मवादी हैं, वे तो सर्व-प्रमाण-प्रतिषिद्ध बोलते हैं। किसी भी प्रमाणसे यह बात नहीं सिद्ध होगी कि मैं नहीं हूँ! इसीलिये, 'मैं हूँ'—यह सिद्ध करनेके लिये प्रमाणकी जरूरत नहीं है। यह दूसरा पक्ष और ले लो! यदि कोई दुनियामें यह प्रमाण होता कि 'मैं नहीं हूँ'—यह सिद्ध हो सकता है, तो 'मैं हूँ'—यह सिद्ध करनेके लिये प्रमाणकी आवश्यकता होती।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥

जिससे प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा सिद्ध होती है, उसको सिद्ध करनेके लिये भला किसकी अपेक्षा है? तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो प्रमा, उस प्रमासे अवच्छिन्न जो अखण्डार्थ, असीम चैतन्य है, उसको 'ब्रह्म' बोलते हैं। वह स्वभूत पदार्थ है! इसके बारेमें तीन विभाग हैं। क्या? कि आत्मा अणु-परिमाण है, आत्मा मध्यम-परिमाण है, आत्मा विभु-परिमाण है।

तो वैष्णवजन प्रायः आत्माको अणु-परिमाण मानते हैं। दर्शनोंकी चर्चा छोड़ देते हैं इसलिए कि उसमें बहुत मतभेद है। न्याय-वैशेषिक दर्शन अणु परिमाण मानते हैं कि विभु परिमाण—इसमें भी बहुत मतभेद है। अच्छा, सांख्य-योग विभु परिमाण मानते हैं भला! जैन मध्यम-परिमाण मानते हैं, माने नाखूनसे लेकर सिर तक आत्मा रहती है। अद्वैत वेदान्तियोंका कहना है कि ये तीनों बात जो है, वह उपाधिकी दृष्टिसे ही है। यह बात ध्यानमें रखकर आओ, विचार करें!

'सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः'—सूक्ष्मवेत्ता लोग कहते हैं कि आत्मा सूक्ष्म है। माने अणु-परिमाण है। एक श्रुतिने कहा,

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'। (मुण्डक, ३.१.९)

यह आत्मा अणु है, उसको चित्तसे समझना चाहिए!

दूसरीने कहा,

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते॥

बड़ी सूक्ष्म है भाई आत्मा।

इसपर यह विचार उठाते हैं कि यदि केवल आत्माको अणु ही कहा होता, तब तो हम अणु मान लेते। लेकिन, श्रुति तो दोनों प्रकारसे ही वर्णन करती है। **'अणोरणीयान्'**—अणु सिद्ध हो गया न! हाँ सिद्ध हो गया। तो बोले कि मंत्रका

अगला हिस्सा बोलो! '**महतो महीयान्**'! तो आत्मा बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा है! यह कैसे?

भविष्य पुराणमें एक अद्वैतवादी और एक विशिष्टाद्वैतवादी—दोनोंका शास्त्रार्थ लिखा है। भविष्यपुराण तो बड़ा मजेदार है न! तो उसमें तो सीधा ऐसे लिखा है कि शंकराचार्य और रामानुजाचार्यका शास्त्रार्थ है। अब कहो कि भाई शंकराचार्य तो दूसरे कालमें हुए और रामानुजाचार्य दूसरे कालमें हुए। माने एक कालमें तो दोनों हुए नहीं। तो दोनोंमें शास्त्रार्थ कैसे होगा?

भविष्यपुराणकी यह बात तो गलत है।

तो गलत नहीं है। उनके-उनके अनुयायियोंमें जो शास्त्रार्थ हुआ, यह इसका अभिप्राय है। पुराणकी भाषा तो समझनी पड़ती है। ऐसे कोई पुराण बाँच जाये तो बात समझमें नहीं आती। अब देखो, पुराणोंमें वर्णन है कि एक तारा नामकी स्त्री है और वह बृहस्पतिको छोड़कर चन्द्रमाके साथ चली जाती है। यह बात पुराणोंमें ही नहीं है, ऋग्वेदमें भी है। जुहू नामकी एक स्त्री है, वह बृहस्पतिको छोड़कर चन्द्रमाके पास चली जाती है। तो नाम दूसरा है, बात एक ही है। अब देखो, यह बात क्या है? खगोलमें कभी ऐसी घटना घटित हुई कि एक ऐसी तारा भी, जो पहले बृहस्पति-ग्रहके पास थी और वह तारा खगौलिक-आकर्षणके कारण बृहस्पतिसे पृथक् होकर चन्द्रमाके साथ जुड़ गयी। तो नारायण, पुराणकी भाषा समझनेके लिए परम्परासे, सनातन-धर्मकी रीतिसे उसका अध्ययन करना पड़ता है। अब हमारे आर्य-समाजी भाई कभी इस घटनापर आक्षेप करते हैं, तो उनके सामने वेदमें उद्धृत इस घटनाके मन्त्रको रख दिया जाता है कि ऋग्वेदके इस मंत्रका क्या अर्थ? इसका जो समाधान है, वही पुराणकी कथाका समाधान है। 'समं समाधानं'। तुम ऋग्वेदका समाधान कर दो, हम पुराणका कर देंगे।

तो पौराणिक बातको भी समझना पड़ता है।

तो भविष्यपुराणमें वर्णन है कि शंकराचार्यने कहा कि आत्मा ब्रह्म है! तो श्रीरामानुज संप्रदायके महापुरुषने पूछा कि यह देखो, श्रुतिमें लिखा है, '**अंगुष्ठमात्रः पुरुषः**'—आत्मा तो अँगूठेके बराबर है। शंकराचार्यने कहा कि ठीक है, जरा एक बात तुम भी तो बताओ! तुम्हारे मतमें आत्माका स्वरूप अणु है और यहाँ अगूँठेके बराबर लिखा है! इसका क्या अर्थ हुआ?

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके अनुयायी बोले कि आत्मा तो अणु-मात्र ही

होता है। लेकिन, यह हृदयकी उपाधि जो है, यह अँगूठेके बराबर है। इसलिये, हृदय उपाधिको लेकर उसको अँगूठेके बराबर लिखा हुआ है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते॥ (कठ० ४.१२)

तो शंकराचार्यने कहा कि ठीक, यही बात है! आत्मा तो ब्रह्म है! लेकिन हृदयकी उपाधिकी दृष्टिसे उसको अँगूठेके बराबरका लिखा हुआ है। यह 'अंगुष्ठमात्रः' जो है, यह हमारे मतमें भी उपाधि है और तुम्हारे मतमें भी उपाधि है। औपाधिक दृष्टिसे ही यह अंगुष्ठमात्रता है।

तो बोले कि दोनोंमें-से किसका मत ठीक?

अरे भाई, मंत्रका अगला हिस्सा पढ़ो! **'ईशानो भूतभव्यस्य'**—जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा, उसका वह मालिक है! तो अणुत्वमें ईशानत्व नहीं आवेगा और ब्रह्मत्वमें ईशानत्वकी सिद्धि होगी। इसलिये, ब्रह्मको ही उपाधिके कारण अँगूठेके बराबरका कहा हुआ है।

तो आप देखो, जैन मतमें आत्माको मध्यम परिमाण माननेपर भी उसका संकोच-विस्तार मानते हैं। चींटीके शरीरमें जायेगा तो संकुचित हो चींटीके बराबरका हो जायेगा और हाथीके शरीरमें जायेगा तो बढ़कर हाथीके शरीरके बराबरका हो जायेगा। अतः मध्यम परिमाण संकोच-विकासशील होगा और जो बढ़ेगा और जो बढ़ेगा-घटेगा, वह तो सावयव होगा और जो सावयव होगा, वह अनित्य होगा। तो आत्माको नित्य भी मानना और बढ़ने-घटनेवाला भी मानना—यह दोनों बात नहीं बन सकती।

अब सांख्य-योगने विभु माना। तो विभु कैसे माना? बोले भाई कि अज्ञान-कालमें तो अन्तःकरणको एक करके बैठा हुआ है, तब छोटा है और जब समाधिकालमें वह चित्तका द्रष्टा होता है, तब उसकी विभुताका साक्षात्कार हो जाता है।

अब अणुके साथ एक प्रश्न है कि अणु शरीरके किसी एक अंशमें रहता है कि नहीं? हृदयमें रहता है कि दिमागमें रहता है? अगर सिरमें रहता है तो पाँवमें जब दर्द होता है, उसको वह कैसे जानता है? बोले कि टेलिफोन लगा है न! ये नसें-नाड़ियाँ संवेदन-सूत्र हैं! बोले कि नसें संवेदनाको सिरमें पहुँचा देती हैं, हृदयमें पहुँचा देती हैं।

बोले भाई कि अणु सावयव है कि निरवयव है? उसके हिस्से होते हैं कि

नहीं? देखो, हमारे वैज्ञानिकोंने जड़ अणुको तो तोड़ ही दिया। अब यह चेतनाणु टूटनेवाला है कि नहीं है? इसके हिस्से होते हैं कि नहीं? अगर हिस्से होंगे तो सावयव वस्तु जो हैं, वह नित्य नहीं होगी! सावयव वस्तु चेतन नहीं होगी, जड़ होगी। सावयव वस्तु देश, कालका द्रष्टा कैसे होगी?

तो एक साथ सारे शरीरमें होनेवाली वेदनाका अनुसंधान होना—यह नसों, नाड़ियोंके जरिये नहीं हो सकता है और असलमें यह जो पंचभूतका पिटारा है, यह क्लृप्त है। कोई-कोई तो पंचभूत नहीं, तीन भूत ही मानते हैं—पृथिवी, अग्नि और वायु। वे जलको नहीं मानते। जलको संयोगज मानते हैं। कोई-कोई आकाशको भी नहीं मानते और कोई-कोई आकाशको आधार-रूपसे मानते हैं। और महाराज, कोई-कोई तो तीनोंको एक कर देते हैं। तो कोई शक्ति-रूप मानते हैं और कोई पदार्थ-रूप मानते हैं।

अब अनुभवकी प्रणालीसे देखो! हमारे साधनकी जो शैली है, उससे देखो! नाकमें गंध मालूम पड़ती है। तो गंधाश्रय-द्रव्यको 'पृथिवी' बोलते हैं। जीभसे रस मालूम पड़ता है। तो रसाश्रय-द्रव्यको 'जल' बोलते हैं। हमारी जीभको स्वाद मालूम पड़ता है कि नहीं? भले ही दो गैस मिलनेसे बनता हो! पर, हमारी जीभको एक नयी चीज मालूम पड़ती है। आँखसे रूप मालूम पड़ता है। तो रूपाश्रय-द्रव्यको 'तेज' बोलते हैं। त्वचासे स्पर्श मालूम पड़ता है। तो स्पर्शाश्रय-द्रव्यको 'वायु' कहते हैं। कानसे शब्द मालूम पड़ता है। तो शब्दाश्रय-द्रव्यको 'आकाश' कहते है।

तो ये पञ्चभूत जो हैं, ये आखिरी कार्य हैं। इनका कार्य नहीं होता। इनसे जो चीज बनती है, वह पंचभूत ही रहती है। तो इन्हीं पंचभूतोंके मेलसे यह शरीर बना है। तो पंचभूत तो हुआ मोटर। अब इसमें जितने संवेदना सूत्र हैं, नसें-नाड़ियाँ हैं, जितना खून, हवा है—वे सब इन्हीं पंचभूतोंसे बने हैं। एक चेतना जो है, वह नयी पैदा हुई है। ऐसा नहीं समझना कि यह जो पंचभूतोंके मिश्रणसे चेतना उत्पन्न होती है, उसको नहीं मानते! उसको भी मानते हैं भला! एक नवीन चैतन्य उत्पन्न हुआ, उसको मानते हैं। आपको गीतामें बता दें—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (१३.७)

यह सविकार क्षेत्र है। कौन-सा? संघातजन्य चेतना। पहले संघात और संघातमें चेतना। यह क्षेत्रज्ञ नहीं है। क्षेत्रज्ञ जीव है, क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है—यह बात जुदा

है। परन्तु, यह चेतना एक नयी चीज उत्पन्न हुई है। जैसे अमुक-अमुक तार मिल जानेसे बिजली पैदा हो जाती है, वैसे-ही शरीरमें अमुक-अमुक धातु मिल जानेसे एक चेतना पैदा हो जाती है और यह जड़ चेतना है भला! यह जो इंजेक्शन लगा देते हैं कि काटनेपर मालूम न पड़े, वह उसी चेतनपर प्रभाव पड़ता है। वह नस-नाड़ियोंमें रहती है। यह संघात-जन्य चेतना है। यह भांग, गाँजा पीनेपर, अफीम खानेपर इसपर असर पड़ता है। यह भौतिकी चेतना है। और, यह जो जीव-चैतन्य है, यह क्या है? तो यदि यह अणु होवे और टूटनेवाला अणु होवे, तो सावयव हुआ न! सावयव होनेसे अनित्य होगा और जीवमें अनित्यता अनुभवमें किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये, यह जीव अणु नहीं है। अन्तः-सूक्ष्मवेत्ता लोगोंने जो अणुत्वकी स्थापना की है, वह विचारसे सिद्ध नहीं है।

'स्थूल इति च तद्विदः'।

कोई कहते हैं कि आत्मा स्थूल है।

नारायण, स्थूलकी तो बात ऐसी है कि यह जो अपनेको पहलवान मानते हैं, वही स्थूल नहीं होते हैं भला! सीकिया पहलवान भी स्थूल होते हैं। हड्डी, मांस, चाम—यही सब तो है। तो अपनेको ब्राह्मण माननेवाला कौन है? स्थूलवादी है कि सूक्ष्मवादी? स्थूलवादी है। अच्छा, अपनेको हिन्दू माननेवाला, अपनेको मनुष्य माननेवाला, अपनेको गोरा-काला माननेवाला, ये कौन हैं?

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पितः।

ये तो देहमें ही परिकल्पित हैं। तो किसी भी स्थूल-धर्मका आश्रय लेकर 'मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ' यह कहा जाता है। अफ्रीकाके काले लोग देह नहीं हैं क्या? अमेरिकाके गोरे लोग देह नहीं हैं क्या? तो जो लोग कहते हैं कि सुन्दरता गोरेपनमें होती है, कालेमें नहीं—वे मूर्ख हैं कि नहीं। कालेपनमें भी तो बहुत सुन्दरता होती है। हमारे तो द्रौपदीका वर्णन आता है कि श्यामा थी। श्रीकृष्ण, अर्जुन, उद्धव आदि श्याम-वर्णके थे।

तो, **'स्थूल इति च तद्विदः'**—जो लोग स्थूलताके रहस्यको जानते हैं, वे कहते हैं, 'देहोऽहं'। बोले कि मैं चलता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं करता हूँ, मैं इतने वजनवाला हूँ, मैं मनुष्य हूँ! तो ये सब प्रत्येक देहको लेकर होते हैं। इसलिये, जगत्का जो मूल-तत्त्व है वह देह ही है। वे देहको ही आत्मा मानते हैं।

देखो भाई, सुषुप्ति-कालमें तो देह मुर्देकी तरह पड़ जाता है और मुर्दा हो जानेपर भी देह रहता है। तो अगर देहको आत्मा मानोगे, तो मुर्देको भी आत्मा

मानना पड़ेगा न! और संघात जो होता है, जो कई चीजको मिला-मिलाकर बनता है अर्थात् इसमें हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा आदि कई चीजें हैं और इनसे बने हाथ, पाँव, आँख, कान तो कल-पुर्जे हैं। इनको 'मैं' मानना! नारायण कहो! यह मेरे लिये है, ऐसा कह सकते हो भला। क्योंकि इसपर चढ़कर चलो! इसकी नलीमें-से कुछ पानी भीतर डाल दो! इसके चश्मेसे देख लो। इसमें पहिये सरीखे पाँव लगे हैं, चला लो! इसमें पेट्रोल रखनेकी जगह है ही है! स्टीम बनती है न इसमें! वही जठराग्नि और उसीसे आप बोलते हैं। भोजनकी गर्मी जब आकर जिह्वाके मूलमें लगती है, तब जीभ बोल पाती है। और, भोजनकी गर्मी न रहे तो जीभ सायँ-सायँ करने लगेगी, बोल नहीं पायेगी।

तो यह बात क्या हुई कि जिसको हम स्थूल बोलते हैं, यह तो संघात है। इसमें चलनेके लिये पहिये लगे हैं, उठानेके लिये हाथ लगे हैं, दो आँख जैसे दूरबीन हों, सुननेके लिये मशीन है, दो कान! ऐसे कितनी मशीन लगाकर आप बैठे हुए हैं। तो नारायण, जो चीज कई चीजोंको जोड़कर बनती है, वह किसी दूसरेके लिये होती है। यह शरीर आप नहीं हैं आपकी मशीन है भला! यह तो आपकी माया है कि आप इसको ही 'मैं' मानते हैं और इसीमें मुग्ध हो रहे हैं कि वाह-वाह-वाह! और, जैसे बच्चा सोते समय भी अपने खिलौनेको नहीं छोड़ना चाहता, छातीसे चिपटाकर सोना चाहता है, ऐसे बच्चोंके समान आप इससे जुड़ गये हैं!

तो भाई मेरे, जिसकी जैसी बुद्धि होती है और जैसे संस्कार होते हैं, वह वैसी मान्यता बना लेता है और अपनी मान्यताको ही सर्वोपरि समझता है। वह क्यों? क्योंकि, यह अपना आपा सबका प्रकाशक है, सबका अधिष्ठान है, सबके पहले है। दुनियामें कोई भी चीज मालूम पड़ेगी तो पहले 'मैं' होगा, तब मालूम पड़ेगी! तो अपना आपा सबको अपनी नजरमें लेनेवाला है। उसकी नजर ही सबका अधिष्ठान है। अत: जो मान्यता बनती है, वह उसपर आरूढ़ हो जाता है कि यह मान्यता मेरी और मैं इस मान्यतावाला। तो जहाँ-जहाँ अपने 'मैं' का संयोग हो जाता है, वह चीज सबसे श्रेष्ठ मालूम पड़ने लगती है। अपना मकान सबसे बढ़िया! अपना धन सबसे ज्यादा! अपनी बुद्धि सबसे बढ़िया! तो बाहरकी चीजोंसे 'मैं' जरा कभी-कभी कम भी जुड़ता है। कभी-कभी दूसरेका मकान बढ़िया है, ऐसा भी मानेंगे। अन्य धनीको मानेंगे कि हमसे अधिक धनी हैं। पर, हमसे अधिक बड़ी बुद्धि किसीकी है, यह बात नहीं मानेंगे। तो जिसके साथ 'मैं' जुड़ जाता है, वह सबसे बड़ा हो जाता है।

बोले भाई कि तुम्हारी आँख खराब है? हाँ, महाराज! मोतियाबिन्द हो गया है। 'कान कैसा है भाई?' 'महाराज, अब कम सुनायी पड़ता है। कुछ खराबी आ गयी है!' 'हाथ-पाँव कैसे?' 'दर्द होता है।' उनसे पूछो कि तुम्हारा दिमाग कैसा है? तो आँख, कान, हाथ, पाँव, सबको खराब मानेंगे, परन्तु अपने दिमागको खराब कभी नहीं मानेंगे! यह जो लोग घाटा उठाकर आते हैं, उनसे हमारा काम पड़ता है। वे करोड़ों कमानेवालोंसे अपनी बुद्धिको छोटी नहीं मानेंगे। कहते हैं कि महाराज, जरा-सी गलती हो गयी! बुद्धि तो हमारी बहुत बढ़िया है।

तो यह अपना 'मैं' जिसके साथ जुड़ जाता है और बुद्धिके साथ खासतौरसे जुड़ता है। तो संसारमें जितने मत हैं, सम्प्रदाय हैं, जहाँ अभिमान हुआ कि उनवाला 'मैं', बस हिन्दू-मुसलमानमें कटाकट और वैष्णव-शैवमें कटाकट! बहुत विलक्षणता है।

काशीमें जब शास्त्रार्थ होता है तो हमने देखा है कि दोनों पंडित वेदांती हैं, वेदांतके सिद्धान्तको मानते हैं। परन्तु, शास्त्रार्थके समय एक न्यायका पक्ष ले लेता है और एक वेदांतका। अब महाराज, उसके बाद घुटनेके बल खड़े हो जाते हैं, घूँसा तन जाता है और मार-काटको तैयार! बोले कि हमारा पक्ष ठीक है! अरे भाई, पक्ष तो दोनोंका गलत है। नहीं भाई, इस समय जिस पक्ष पर मैं आरूढ़ हूँ, वह ठीक है।

तो, '**मूर्त इति मूर्तविदः**'।

हुआ क्या कि लोगोंने देखा कि घड़े तो कुम्हार बनाता है और जेवर तो सुनार बनाता है, कपड़ेको जुलाहा बनाता है। सो उन्होंने कहा कि यह सृष्टिका ताना-बाना भी किसी आदमीने बनाया होगा। किसी मूर्तिधारीने यह सृष्टि बनायी होगी।

एक अंग्रेजने बड़ी शोध करके लिखा है कि भारतवर्षमें जितने वेदांती हुए हैं, ये सब या तो जुलाहे थे या तो सुनार थे या लुहार थे या कुम्हार थे। क्यों? दृष्टान्त ही उन्होंने कपड़े, सोने, लोहे, घटका दिया है। तो इससे मालूम होता है कि उनके सामने वही चीज रहती होगी और उसीका दृष्टान्त दिया होगा। जिसका संस्कार चित्तमें रहता होगा, उसीका तो देते हैं!

तो किसीने कहा कि चक्रधारीने यह सृष्टि बनायी है! जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है।

किसीने कहा कि नहीं, जगदम्बाने बनायी है। किसीने कहा कि गणेशने बनायी है और किसीने कहा कि सूर्यने बनायी है।

तो 'मूर्त इति मूर्तविदः'।

'मूर्त' माने सुनार, लुहार, कुम्हार आदि और इनको जेवर, औजार, घड़ा आदि बनाते देखते हैं, उनको ठीक-ठीक समझते हैं और उनका संस्कार दिमागमें आया तो बोले भाई कि यह सृष्टि भी पहले-पहल किसी मूर्तिमान्‌ने ही बनाई होगी।

तन्त्रशास्त्रोंमें इसका वर्णन है। वैसे तन्त्रशास्त्र भी साकारवादी और निराकारवादी, दोनों ही प्रकारका है। तन्त्रोंमें तो बौद्ध-आगम और जैन-आगमका भी भेद है। यह जो देश-विशेषमें रहनेवाले खास-खास तीर्थंकरोंकी उपासना होती है, वे शरीरधारीको ही तो अमर मानते हैं न!

अब यह प्रश्न हुआ कि ठीक है, इन्होंने सृष्टि बनायी। तो कहीं बैठकर बनायी कि बिना बैठकर बनायी? वह जगह कौन-सी थी, जहाँ बैठे? तो आपको बड़ा मजा आवेगा कि लोगोंने यह भी निश्चय कर लिया है! ब्रह्माजीने अजमेरके पास पुष्करमें बैठकर सृष्टि बनायी। नहीं, कानपुरके पास बिठूरमें बैठकर बनायी। माने इसमें भी मतभेद है भला। कैलासपतिने कैलासमें बैठकर बनायी, वैकुण्ठ-पतिने वैकुण्ठमें बैठकर बनायी, देवीने देवीलोकमें बैठकर बनायी।

अच्छा, तो पहले सब मसाला मिट्टी, पानी, आग आदि थे, तब बनायी कि नहीं थे तब बनायी? और, उनके जो हाथ, पाँव आदि जो हैं, वे कभी बने हैं कि बिना बने हुए ही हैं? तो बाबा, मूर्ति तो जो बनेगी, वह पंचभूतसे बनेगी। उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध होगा और इनके ग्रहणकी शक्ति होगी माने इन्द्रियाँ होंगी और पंचभूत होंगे। इसके बिना तो मूर्ति बनेगी नहीं। तो जैसे उनकी मूर्ति पहले नहीं थी और पंचभूतसे बन गयी, वैसे ही सारी सृष्टि बन गयी। उन्होंने बनायी, यह माननेकी क्या जरूरत? और, जब मूर्ति बनी, तब बिगड़ भी जायेगी।

तो यह बात उठी कि नहीं भाई, उनका शरीर हमारी तरह नहीं है। हम लोगोंका शरीर तो कर्म-जन्य है। यह कर्म-जन्य मानना भी बड़ा मुश्किल है भला! इसमें कम तर्क नहीं है कि कर्मजन्य है कि नहीं है।

आज कल दिल्ली सरकारकी ओरसे एक आध्यात्मिक अनुसंधान समिति खुली है। मेरा नाम भी उसमें है भला! तो कभी-कभी उसकी प्रवृत्तियोंकी चर्चा हमारे पास आती है, उसका विवरण आता है कि यह-यह काम किया है। तो ये आध्यात्मिक अनुसंधान क्या कर रहे हैं कि ज्योतिष और ग्रह सच्चे होते है कि नहीं, भूत-प्रेत सच्चे होते हैं कि नहीं, पुननर्जन्म होता है कि नहीं! सोचो, हम लोग

दार्शनिक लोग कितने नये ग्रह बनाकर रख दें, कितने भूत-प्रेतोंकी सृष्टि कर दें! इसका नाम कहीं आध्यात्मिक होता है? भूत-प्रेतका नाम आध्यात्मिक नहीं है, ग्रह-ज्योतिषका नाम आध्यात्मिक नहीं है। तो, **'भिन्नरुचिर्हि लोकः'**—लोगोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है।

तो यह मूर्त जो है, उसकी यदि मूर्ति बनी तो यह ढूँढ़ना पड़ेगा कि वह मूर्ति कैसे बनी? उसमें इनका भी हाथ तो मुड़ता है! तो यदि कुहनी परसे दो भाग न हो तो कैसे मुड़ेगा? उनकी उँगली भी तो किसी चीजको पकड़ती है। अगर हाथ और उँगलीमें दो भाग न हों तो कैसे पकड़ेंगे? घुटने परसे पाँव न मुड़ता हो तो कैसे चलेंगे? तो जब कई जोड़से उनकी मूर्ति भी बनती है, तो जोड़-जोड़कर बनी हुई वह मूर्ति नित्य कैसे होगी? उसमें भी मिट्टी, पानी, आग, हवा आकाश है। वह बिना बने कैसे होगा? तो बोले कि वह लीलाविग्रह है और हम लोगोंका कर्मविग्रह है।

अब जरा लीला-विग्रहकी बात आपको सुनावें! कभी भक्तिका प्रसंग होगा तो लीला-विग्रहकी बात हम आपको बिल्कुल ठीक ढंगसे समझावेंगे। जैसे कोई पुरानी इमारत होती है, तो उसकी जब विशेषता बतानी होती है कि इसमें क्या विशेषता है, तो जिस रूपसे वह विशेषता मानी हुई होती है, उस रूपसे उसको बताते हैं। अलग-अलग खण्डहर हैं। अगर मोहन-जोदड़ोकी संस्कृति बतानी हो तो उस ढंगसे बतावेंगे और काशीके सारनाथकी बतानी हो तो उसको उस ढंगसे बतावेंगे।

अच्छा अब देखो, 'लीला-विग्रह' का अर्थ क्या है? लीलाके लिये विग्रहकी रचना अथवा लीलाके द्वारा अर्थात् खेल-खेलमें विग्रहका निर्माण। तो आप समझो कि विग्रह पहले होगा, तब लीला होगी, कि लीला पहले होगी, तब विग्रह होगा। अगर विग्रह नहीं होगा तो लीला कहाँसे होगी? विग्रहके बिना तो लीला ही सिद्ध नहीं होगी! तो लीलासे विग्रह बना, यह बात कहाँसे आवेगी? और फिर, जो स्वयं उत्पन्न है, वह दूसरोंकी उत्पत्ति क्या करेगा? वह तो पुर्जा जोड़नेका काम कर सकता है। अब इसमें ब्रह्माजीकी एकाध बात सुनाते हैं! क्योंकि, ब्रह्माजी बेचारे ही एक ऐसे हैं कि उनकी शानके खिलाफ कुछ भी बोल दो तो कोई नाराज नहीं होगा। शंकर और नारायणकी शानके खिलाफ बोले तो कई लोगोंको खटक जायेगा। पर, ब्रह्माजी जो पितामह हैं। ब्रह्माजीका शरीर हमारे जैसा पाँच-छः फुटका नहीं है। तो ब्रह्माजी हमारे जैसे पाँच-छः फुटके शरीरधारी मनुष्य हैं, ऐसी जो कल्पना लोगोंकी है, वह झूठी है।

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितास्तिकायः।

(भागवत, १०.१४.११)

ब्रह्माजी कहते हैं कि मैं हूँ तो साढ़े-तीन हाथका! लेकिन, हमारा शरीर कितना बड़ा? बोले कि प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन सबको मिलाकर जो एक शरीर बनता है, उस शरीरवाला मैं साढ़े-तीन हाथका। माने चींटी अपने हाथसे साढ़े-तीन हाथकी और आदमी अपने हाथसे साढ़े-तीन हाथका। बच्चा भी तो अपने हाथसे साढ़े तीन हाथका होता है और जवान भी अपने हाथसे साढ़े तीन हाथका होता है।

तो इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माजी कोई स्थूल देहधारी नहीं हैं। पंचभूतोंके मूलमें अहं, अहंके मूलमें महत्तत्त्व। तो महत्तत्त्वमें जो चैतन्य हैं, उसको 'सूत्रात्मा' बोलते हैं, 'हिरण्यगर्भ' बोलते हैं। तो हिरण्यगर्भ जो है, वह साकार मनुष्य शरीरवत् शरीरधारी नहीं है। वह तो सम्पूर्ण सृष्टिमें व्याप्त एक चैतन्य प्रधान धातु है, जिसको 'महत्तत्त्व' बोलते हैं। चेतनांशकी दृष्टिसे उसको 'हिरण्यगर्भ' बोलते हैं और जड़ांशकी दृष्टिसे 'महत्तत्त्व' बोलते हैं और सम्पूर्ण सृष्टिका बीज जो है, उसमें अंकुर-दशापन्न होता है। बीजदशापन्न होता है प्रकृतिमें और अंकुर-दशापन्न होता है महत्तत्त्वमें। तो वह ब्रह्माका शरीर है। अब यह कहो कि वह सफेद-सफेद दाढ़ी, लाल चेहरा, हँसकर बैठे हुए और हाथमें पुस्तक ये कौन हैं? तो ये ब्रह्मा दूसरे हैं सृष्टि बनानेवाले। ये तो उपासकोंके हैं भला और दार्शनिकोंके ब्रह्मा जो हैं, वे हिरयगर्भ हैं। तो वे भी मूर्त नहीं होते भला!

तो नारायण, मूर्ति परमार्थ कैसे होगी? वह तो हम लोगोंके शरीरकी तरह ही उसका निर्माण होगा और वह भी पाञ्चभौतिक होगी और विग्रहके बिना लीला होगी नहीं। इसलिये, जगत्का मूलतत्त्व कोई मूर्तिमान् है, यह कल्पना नहीं हो सकती। लेकिन जो लोग उसके ध्यानमें, उसकी कल्पनामें अपने चित्तका अभ्यास बढ़ा देते हैं, तो उनको वैसा ही लगता है। तो यह कहना पड़ेगा कि उनका ज्ञान वहीं तक हैं। 'मूर्तविदः'—जो मूर्तको जाननेवाले हैं, वे जगत्का कारण मूर्तको मानते हैं।

अब आगे बढ़े!

'अमूर्त्त इति च तद्विदः'—कोई कहते हैं कि नहीं भाई, ये अलग-अलग जो मूर्ति हैं, उनके रूपमें मूलतत्त्व नहीं है। वह तो अमूर्त है, निराकार है।

ऐसे आपलोग भी मूर्ति हैं। साधुओंका कहीं भण्डारा होता है, तो पूछ लेते

हैं, 'महन्तजी' आपके यहाँ कितनी मूर्ति हैं? सुनते हैं कि कोई सेठ किसी महन्तजीके पास आया। तो प्रणाम करके पूछा कि महाराज, आपके यहाँ कितनी मूर्ति हैं। तो महन्तजीने समझा कि अभी यह भण्डारा करेगा। तभी तो मूर्तिकी बात पूछ रहा है। तो उन्होंने कोठारीको बुलाया और पूछा कि आजकल अपने यहाँ कितनी मूर्ति हैं? तो उन्होंने फिर भण्डारीको बुलाया कि आजकल यहाँ कितना सामान लगता है? तो उन्होंने हिसाब-किताब बैठाकर बताया कि आजकल आश्रममें सौ मूर्ति हैं। तो सेठने कहा कि अच्छा महाराज, आप सबसे हमारा 'ॐ नमो नारायणाय' कह देना।

तो, आप सब भी मूर्ति हैं। वह जो कारीगर मूर्ति बनाते हैं, उस मूर्तिका नाम मूर्ति नहीं है। यह चलती, फिरती, हँसती, खेलती जैसी सिनेमामें मूर्ति होती है, थियेटरमें मूर्ति होती है, टेलिवीजनपर भी मूर्ति ही दिखती है और हम सबलोग भी इस विश्वके रंगमंचपर मूर्ति ही हैं भला! इनका सूत्रधार होता है। पहले गाँवमें कठपुतलीका खेल दिखानेवाले आते थे। सूत्रधार बहुत बढ़िया नचाता था। तो—

'अमूर्त्त इति च तद्विदः'।

अच्छा, जितनी मूर्तियाँ हैं, उनके लिए अवकाश चाहिए कि नहीं? जैसे, आपकी खिड़कीमें-से घरमें धूप आती है और उसमें छोटे-छोटे कण दिखायी पड़ते हैं, उनको 'त्रसरेणु' बोलते हैं। तो धूलिकणको घूमनेके लिए कोई निराकार जगह चाहिए न। रोशनीमें वे दिखते हैं और निराकार जगहमें वे घूमते हैं। ऐसे-ही ये जितनी भी मूर्ति हैं, इसमें छोटी-बड़ीका भेद नहीं है।

एक बार हमको ऐसा ध्यान लग गया कि हम सूर्यलोकमें हैं। बात समझनेके लिए कह रहा हूँ। तो यह पृथिवी कैसी मालूम पड़ी? अरे, सरसोंके दानेके बराबर मालूम पड़ी और इसमें हमसब लोग हैं। विराट्के शरीरमें जो पाँव है, उस पाँवमें यह धरती एक धूलिकणकी तरह सटी हुई है। और, हिरण्यगर्भके शरीरमें यह धरती क्या है? बोले कि एक संकल्प-कण है भला और, कारण-शरीरी जो ईश्वर है, उसमें यह पृथिवी कैसी है? एक तमःकण है और, परब्रह्म परमात्मामें यह पृथिवी है ही नहीं।

देखो, घटसे न्यारी होकर जो मृत्तिका है, उस मृत्तिकामें 'घट' नामकी कोई वस्तु नहीं है। ऐसे ही सबसे न्यारा होकर जो 'सर्व' है, उस सर्वमें 'अन्य' नामकी कोई वस्तु नहीं होती।

तो बोले कि भाई, जिसको तुम अमूर्त्त कहते हो, जिसमें कोई जाति भी नहीं

बनती। यह मनुष्यत्व जाति है ब्राह्मणत्व तो वर्ण है। वर्ण दूसरी चीज है और जाति दूसरी चीज है। **'आकृतिग्रहणाज्जातिः'** है। आकृतिसे देखकर निर्णय करते हैं कि यह चिड़िया है, पशु है, गाय है, भैंस है, घोड़ा है, गधा है। शकल देखकर जिसको पहचान लें, वहाँ जाति होती है। जातिमें सामान्य रहना चाहिए। माने एक चीज ऐसी होनी चाहिए, जो दोनोंमें बराबर हो। हजारोंमें बराबर हो।

'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं'।

नित्य हो, एक हो; लेकिन अनेकमें रहनेवाली हो, उसको 'जाति' बोलते हैं।

तो आदमीकी शकल देखकर तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी पहचान नहीं होती। तो यह 'वर्ण' है। 'वर्ण' काहेके लिए है? यह धर्म विभागार्थ है। विशेष-धर्मके विभागके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होता है। सामान्य-धर्मके लिए मनुष्य होता है।

अब 'अमूर्त्त' दखो। तो अमूर्त्तका कोई स्वभाव है कि नहीं? यदि कहो कि अमूर्त्तका स्वभाव है, तो स्वभाव तो एक दिन मूर्त्त बनेगा और, कहो कि निःस्वभाव है, तो वह सृष्टिका कारण नहीं हो सकता। निराकार जो वस्तु है, उसका कोई स्वभाव है कि नहीं? देखो, स्वभाव जो है, वह व्यावर्तक होता है, व्यवच्छेदक होता है। माने एकका स्वभाव दूसरा और दूसरेका स्वभाव दूसरा। तो अमूर्त्तको मूर्त्तसे अलग करोगे, तब उसका स्वभाव बनेगा। सो प्रत्येक मूर्तिका एक-एक अलग स्वभाव होता है। निःस्वभावको 'अमूर्त्त' बोल दिया। तो जब निःस्वभावको 'अमूर्त्त' बोला तो उसमें परिणाम तो होगा ही नहीं और जब परिणाम नहीं होगा तो उससे सृष्टि नहीं बन सकती। इसलिए, यह कहना कि निराकार एक सत्य वस्तु है और उससे सृष्टि बनती है, यह बात झूठी है। यह बात नहीं बनती है।

हमलोग एकबार हरिबाबाजी महाराजके बाँधपर थे। एक महाशयजी आये और बोले कि ईश्वर बिल्कुल निराकार है। मैंने उनसे पूछा कि तुम यह बताओ कि निराकार अनुभवका विषय होता है कि नहीं? यदि कहो कि अनुभवका विषय होता है, अनुभाव्य है, तब तो वर्तमानमें जो साकारका अनुभव हो रहा है, इससे विलक्षणता रूप आकार उसका होगा। वैलक्षण्य ही उसका आकार होगा। यदि अनुभवका विषय है, तो बादमें स्मृति भी तो होगी न! तो कैसी स्मृति होगी? यही स्मृति होगी न कि, **'इदमित्थंरूपेण निराकारोऽनुभूतः'**। इस रूपमें हमने निराकारका दर्शन किया।

अच्छा, कहो कि अनुभव बिल्कुल नहीं होता है। यदि अनुभव भी न होता हो तो उसके होनेमें प्रमाण क्या है? सब प्रमाणोंका फल तो अनुभव होता है, यह तो आप जानते हैं। नेत्रसे देखनेका फल है अनुभव। अनुमान करनेका फल है अनुभव। उपमानका फल है अनुभव। यदि हृदयमें प्रमाकी उत्पत्ति नहीं होगी, यथार्थानुभवकी उत्पत्ति नहीं होगी तो प्रमाण किस कामका? तो यदि निराकारका अनुभव ही नहीं होता, तो वह है, इसमें प्रमाण क्या? और, यदि अनुभव होता है तो साकार है।

वे महाशयजी बोले कि अच्छा, आप बताओ कि आप ईश्वरको कैसा मानते हो?

हमने कहा कि भाई, ईश्वर है और उसके अनुभवका झगड़ा कैसे लगता है?

जहाँ हम ईश्वरको अनुभाव्य मानते हैं, वहाँ ईश्वरको साकार मानते हैं भला! माने अनुभवके विषयमें जहाँ ईश्वरत्व आरोपित है, वहाँ साकार है और अनुभवके अविषयमें जहाँ ईश्वरत्व आरोपित है, वहाँ निराकार है। लेकिन, हम दोनोंको परमार्थ-ईश्वर नहीं मानते हैं। तब ईश्वर कौन है? हमारे तो अनुभव ही ईश्वर है। न अनुभवका विषय और न अविषय, वह तो साक्षादपरोक्ष है। अनुभवका अविषय होगा तो रहस्यवादीकी तरह, परोक्षवादियोंकी तरह कोई एक अनदेखी, अनसुनी, अनजानी चीज है, ऐसा आँख बन्द करके विश्वास करो और उसमें ईश्वरत्वका आरोप करो और नहीं तो अनुभवका विषय है तो द्विभुज, चतुर्भुज, त्रिशूलधारी, चक्रधारी आदि अनुभवका विषय है। उसमें ईश्वर-बुद्धि करो, ईश्वरत्व आरोपित करो और, यदि दोनों अध्यारोपोंका अपवाद कर देना हो तो दोनों के अध्यारोप और अपवादका जो द्रष्टा, साक्षी है, वह अनुभवस्वरूप है और वह परमार्थ ईश्वर है।

इसलिए, ईश्वरके सम्बन्धमें मूर्ति कल्पना भी उपासकोंकी सिद्धिके लिए और अमूर्तकी कल्पना भी उपासकोंकी सिद्धिके लिए है। परमार्थ यह नहीं है। यह अपना-अपना मतवाद है कि ईश्वर निराकार है कि ईश्वर साकार है। अरे, निराकार और साकार दोनोंकी कल्पनाका जो अधिष्ठान है, वह परमार्थ है।

आप देखो, कल्पनाका अधिष्ठान 'स्व' होता है, अन्य नहीं। रज्जुमें जो कल्पित सर्प है, उस सर्प-कल्पनाका अधिष्ठान कौन है? रज्जु है कि अन्तःकरण है? सर्प-कल्पनाका अधिष्ठान अन्तःकरण है? सर्प-भ्रान्ति अन्तःकरणमें है, रज्जुमें नहीं है। इसलिए, जहाँ-जहाँ आरोपित ईश्वरत्व है उस आरोपित ईश्वरत्वका

अधिष्ठान अपना अन्त:करण है। वह आरोप्य जो पदार्थ है, वह अधिष्ठान नहीं है भला! न परोक्ष निराकार अधिष्ठान है और न प्रत्यक्ष साकार अधिष्ठान है। प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनोंकी कल्पना जिस अन्त:करणमें हो रही है, उस अन्त:करणका जो अधिष्ठान है, उस अन्त:करणका जो द्रष्टा है, असलमें वही स्वयंप्रकाश, अनुभवस्वरूप साक्षाद्-ब्रह्म है। यह परमार्थके निरूपणकी पद्धति है।

जिनको समझ न आवे, उनको भी सोचना चाहिए कि ईश्वरके बारेमें जल्दी सन्तोष कर लेनेका नहीं है। अपने स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रयास करना चाहिए और, कई लोग तो महाराज, बात समझमें न आवे तब भी उसको महत्त्व देते हैं। हमारे श्रोता इतने उदार हैं।

एक बार श्रीकरपात्रीजी महाराजकी वृन्दावनमें कथा हो रही थी। तो उस समय वे इतनी सरल भाषा नहीं बोलते थे, राजनीतिकी बात नहीं करते थे। बड़ी ही क्लिष्ट भाषा बोलते थे। उनको हजारों आदमी सुननेके लिए आते। तो जब सुनकर उठते तो कहते कि बहुत बढ़िया कथा हुई, बहुत बढ़िया प्रवचन हुआ। तो उनसे पूछो कि आखिर उन्होंने कहा क्या भाई? सो तो बताओ। तो बोले कि वे हमारे समझनेकी बात थोड़े ही है, वह तो बड़े-बड़े लोगोंके समझनेकी बात है। तो ऐसी भी प्रशंसा होती है।

तो नारायण, जो नये-नये अक्लमन्द आये हों और उनकी समझमें बात न आती हो, वे ऐसे तारीफ करें कि भाई, बात बहुत बढ़िया कही गयी, वह बड़े लोगोंकी समझमें आयी, हमारी समझमें नहीं आयी। आपको हम तारीफ करनेका तरीका बता रहे हैं भला!



देश, कालका अनुसन्धान

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः॥ २४॥

'काल इतिः कालविदः'—कालवेत्ता लोग कहते हैं कि काल ही परमार्थ है। असलमें सृष्टिके व्यवहारमें जहाँ देखो, वहाँ यह काल जरूर मिलता है। सृष्टिका ऐसा कोई व्यवहार नहीं है, जिसमें काल अनुगत न हो। शुद्ध सच्चिदानन्द घन परमात्मामें स्फुरणा हुई। तो हुआ क्या? कि स्फुरणा का काल और स्फुरणाके पूर्वका काल; इस प्रकार परमार्थ ही कालमें बँट गया। फिर स्फुरणा शान्त हो गयी। तो बोले कि स्फुरणाके बादका काल।

देखो, एक परमार्थमें ऐसा मानें कि काल पहले नहीं था और बादमें भी नहीं है। तो पहले नहीं था—यह कहनेमें जो 'पहले' शब्द है, वह काल है और बादमें नहीं है—ऐसा जो बोलना है, वह भी काल है। तो पहले भी काल और बाद भी काल। इसलिए, प्रपंचकी स्फुरणा जो हुई, सो स्फुरणा-काल वर्तमान काल है और इसका प्रागभाव-काल जो है, वह भूतकाल है और इसका जो प्रध्वंसाभाव-काल है, वह भविष्यत्काल है। तो काल जो है, इसीसे त्रिमुख है—सत्त्व, रज, तम और भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये कालके रूप हैं।

अब आपको यह सुनाते हैं कि जो लोग मानते हैं कि काली ही परमार्थ है, सृष्टिका मूल है, वे लोग प्रकारान्तरसे कालको ही सृष्टिका मूल मानते हैं। ये कालीके बारह रूप होते हैं। सत्काली, चित्-काली, आनन्द-काली, स्फुरणकाली, बीज-काली अंकुर-काली आदि ऐसे इसके भेद होते हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें जो सृष्टिकी उत्पत्ति है, उस प्रक्रियाको 'काली' शब्दके द्वारा निरूपण किया गया है।

तो अब आपको कालके बारेमें एक-दो बात सुनाते हैं।

कालकी आदि आपको कभी मिल नहीं सकती। ढूँढो। कोई भी विद्वान्, बुद्धिमान् यह अनुभव करने लगे कि काल कब प्रारम्भ हुआ। तो जब प्रारम्भ हुआ, उसके पहले क्या था? पहले तो काल ही था। तो कालकी आदि नहीं होती, अनादि होता है। बोले कि अच्छा, कालका अन्त कब होगा? तो बोले कि अमुक दिन, अमुक समय कालका अन्त हो जायेगा। तो नारायण उस अन्तके बाद क्या होगा? वह भी तो काल ही होगा न! तो काल अनन्त है।

अच्छा, अब देखो कि काल एक है कि अनेक हैं? काल एक है। जो कहते हैं कि उदयकाल, अस्तकाल—यह क्या है? यह तो सूर्योदयकी सृष्टिमें एक क्रिया होती है और उसकी उपाधिसे कालका वर्णन करते हैं और सूर्यास्तकी एक क्रिया होती है और उससे एक औपाधिक कालका वर्णन करते हैं। वह वास्तविक नहीं है।

अब बोले भाई कि काल तो सबको फल देता है। ऐसा तो ज्योतिष-विद् मानते हैं। प्रश्न है कि काल एक है तो फल कैसे देगा? और, यदि अनेक है तो वह क्रियापरवश है, वस्तु-परवश है, पराधीन है। अतः तब भी वह फल कहाँसे देगा? ज्योतिषी लोग जिन सूर्य, चन्द्र, मंगल, बृहस्पति आदि पिण्डोंका हिसाब लगाते हैं, उनमें भी मतभेद है। कोई-कोई चन्द्रमाको ग्रह मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं। चन्द्रमा जो है, वह पृथिवी ग्रहका उपग्रह है, ऐसा आजकलका वैज्ञानिक मानता है। माने चन्द्रमा स्वतन्त्र ग्रह नहीं है। तो ये जो ज्योतिष-पिण्ड, ज्योतिषनीहारिकाचक्र हैं, ये तात्त्विक नहीं हैं, पारमार्थिक नहीं हैं।

आप इस बातको सुनकर यह मत समझना कि हम ज्येतिष-विद्याका खण्डन कर रहे हैं। क्योंकि, हमारे दादा भी ज्योतिषी थे, बाप भी ज्योतिषी थे और हमको भी सूर्य, मंगल, चन्द्रमा गिनना आता है भला! उँगलीपर गिनकर बता दें। किन्तु परमार्थ-दृष्टिसे इसका कोई महत्त्व नहीं है।

तो जब कालको हम एक करके देखते हैं, तब तो वह अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं होता, अपने द्रष्टा आत्मासे भिन्न नहीं होता। ब्रह्ममें काल नामकी वस्तु अध्यस्त है। यह अध्यारोप क्यों किया है? बोले कि अनादि और प्रवाह रूपसे नित्यकाल जिसमें अध्यस्त है, वह वस्तु अविनाशी होगी। अतः ब्रह्ममें अविनाशत्वकी सिद्धिके लिए उसमें कालका अध्यारोप किया गया है।

ब्रह्म अविनाशी कालाधिष्ठानत्वात्
यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी

ब्रह्म अविनाशी है। क्यों? कालाधिष्ठान होनेके कारण। जो कालका अधिष्ठान नहीं है, वह अविनाशी भी नहीं हो सकता। जैसे पृथिवी कालका अधिष्ठान नहीं है, कालमें कल्पित है।

तो देखो, कालकी कल्पनाका जो अधिष्ठान होगा, वह अविनाशी होगा।

अब बोले कि,

'ब्रह्म पूर्णं दिगधिष्ठानत्वात्।'

ब्रह्म पूर्ण है। क्यों? क्योंकि, वह दिक्-तत्त्वका अधिष्ठान है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे—यह जितनी कल्पना होती है, इसका अधिष्ठान होनेके कारण वह देश-परिच्छिन्न नहीं है।

तो ब्रह्मके स्वरूपको समझनेके लिए कालकी कल्पनाका अधिष्ठान, देशकी कल्पनाका अधिष्ठान—यह बात समझनी पड़ती है। वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान होनेसे सत् है, देशकी कल्पनाका अधिष्ठान होनेसे पूर्ण है और कालकी कल्पनाका अधिष्ठान होनेसे अविनाशी है और हमारे व्यष्टि-अहंकी कल्पना भी द्रष्टा होनेसे चैतन्य है। तो यह ब्रह्मके समझनेमें उपयोगी है, इसलिए देश, काल, वस्तुकी कल्पना की जाती है।

अच्छा, कालमें जो अनेकता मालूम पड़ती है, वह क्या है? यह जो घड़ीसे सेकेण्ड, क्षण मालूम पड़ते हैं, यह क्या हैं? यह स, क न—तीन अक्षरसे सेकेण्ड बनता है और क्षण भी स, क, न—तीन अक्षरसे बनता है। स और कका संयोग होनेसे 'क्ष' हुआ और ण। तो स, क. न—इन तीन अक्षरोंसे क्षण और सेकेण्ड दोनों उद्भूत होते हैं।

तो नारायण, यह कालका परिच्छेदक घड़ी है। अरे, घड़ी तो अब लोगोंने बना दी। पहले तो कटोरीमें छेद करके उसको पानीमें डालते थे। तो कितनी देरमें कितनी भरती है, इसके हिसाबसे कालका पता लगता था। धूप घड़ी बनाते थे। हम लोगोंको एक तरीका मालमू था—वित्ते-सी लकड़ी तोड़कर उसकी छायाको नाप लेते थे और बता देते थे कि इतना बजकर इतना मिनट हुआ। शंकुके द्वारा समय बताते थे। तो शंकु-घड़ी होती है, धूप-घड़ी होती है, पानी-घड़ी होती है। परन्तु, यह सब वस्तुकी उपाधिसे कालका परिच्छेद होता है। कालमें कला नहीं है, काष्ठा नहीं है, पल नहीं है, मिनट नहीं है, घंटा नहीं है, रात नहीं है, दिन नहीं है। कालमें सप्ताह, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भी नहीं हैं। सारा-का-सारा काम चलाऊ ढंगसे आदमियोंने अपने लिये कल्पित किया है। अब भला सोमवार और

मंगलवारके दिनमें क्या फर्क है, बताओ? नाम ही दो हैं कि धूप दो तरहकी होती है कि रात दो तरहकी होती है? तो यह कालमें जितने अवयव हैं, वे सब-के-सब कल्पित हुए।

तो यदि कालमें अवयव नहीं तो इसमें सृष्टिकाल, स्थितिकाल और प्रलयकालका भेद नहीं है। काल चैतन्य नहीं। क्योंकि, कालकी सिद्धि ही दूसरेके द्वारा होती है। काल स्वयंप्रकाश नहीं। इसलिये कल्पित है।

अच्छा, यदि काल एक हैं, तो इस समय मुहूर्त है और इस समय नहीं है— यह बात कट गयी कि नहीं कट गयी? कट गयी। अच्छा, मुहूर्तमें भी ऐसा होता है कि मुसलमानोंके मुहूर्त दूसरे ढंगके होते हैं, हिन्दुओंके मुहूर्त दूसरे ढंगके होते हैं।

तो यदि काल एक है तो उसमें शुभ मुहूर्त है और यह अशुभ मुहूर्त है—यह भेद नहीं हो सकता। और, यदि अनेक मानो तो सूर्योदय-सूर्यास्तकी उपाधिसे उसका भेद करना पड़ता है, इसलिये परतन्त्र हैं। अब यदि यह कहो कि सूर्योदय और सूर्यास्त भी नित्य है! तो क्रिया तो कभी नित्य होती नहीं। यह तो एक दिन ऐसा आवेगा, जब सूर्य नहीं रहेगा, चन्द्रमा नहीं रहेगा। यह तो जैसे गेंद आकाशमें फेंकते हैं और थोड़ी दूर चढ़कर फिर नीचे गिर जाती है, जैसे रॉकेट छोड़े जाते हैं और वे अमुक परिक्रमा करनेके बाद अपना काम बंद कर देते हैं, ऐसे-ही ये सूर्य, चन्द्र आदि ईश्वरके द्वारा फेंके हुये रॉकेट हैं, जो आकाशमें घूम रहे हैं!

अरे, यह जो आदमीका मन जो होता है, डूबते हुएको तिनकेका सहारा होता है। परमार्थका अनुसंधान करनेमें इन बातोंका सहारा नहीं लेना चाहिए।

'दिश इति च तद्विदः'—स्वरोदयवेत्ता कहते हैं कि देश ही परमार्थ है। बोले कि एक दिक्-तत्त्व है। वह क्या है? बोले भाई कि दाहिनी नाकसे जब साँस चलती हो तो यह काम करना और बायीं नाकसे साँस चलती हो तो यह काम करना।

हमारे एक मित्र थे। संन्यास भी हमसे लिया था। तो पास खाने बैठते थे तो पहले नाकका स्वर ठीक करते, फिर भोजन करना शुरू करते। क्यों? बोले कि ठीक स्वरसे खायेंगे तो भोजन पच जायेगा और गलत स्वरमें खायेंगे तो अपच हो जायेगा। तब वे अपनी एक नासिका ऊपर करते और एक नीचे करते और बड़ी देरतक ऊपर देखते कि स्वर ठीक हो जाये। अब वे ज्यादा खायेंगे तो अपच होगा और कम खायेंगे तो भोजन पचेगा। असली बात तो यह है कि उनकी जठराग्निके अनुसार भोजन होना चाहिए। अब वह बेचारी साँस दायीं-बायीं क्या करेगी?

कही जाना हुआ, ट्रेन छूटनेवाली, समय हो गया, घरसे निकलकर खड़े हो गये! अरे चलो भाई, गाड़ी छूटेगी! बोले कि नहीं-नहीं, अभी जरा स्वर ठीक हो जायें, तब चलेंगे!

एक बड़े अच्छे धर्मात्मा पुरुष हैं। उनका नाम नहीं लेते। साधु हैं। बड़े विद्वान् हैं। एक बार उनको चातुर्मास्य करनेके लिये कहीं जाना था। तो बनारससे निकले। निकले तो काली बिल्ली उनके सामनेसे निकल गयी। तो अब उनके साथ तो कई आदमी थे। सो उस समय तो उन्होंने लौटना ठीक नहीं समझा कि लोग समझ जायेंगे कि ये बिल्लीको इतना महत्त्व देते हैं। तो बिल्ली जिसका रास्ता काट जाये और उसका काम बिगड़ जाये। तो वह फौजके सामने क्या टिकेगा और वह दुश्मनका क्या मुकाबिला करेगा? तो वे महात्मा मनमें तो डर गये, लेकिन लौटे नहीं। जहाँ चातुर्मास्य करना था, उस ओर सौ-दो सौ मील चले गये। अब वहाँ जानेपर उनके सिरमें दर्द हो गया। फिर बुखार आ गया। अब वे सोंचे कि यह बिल्लीके रास्ता काट देने पर हम आये हैं, इसलियें सिरमें दर्द होता है। सो चातुर्मास्यका नियम तोड़कर, रेलगाड़ीपर न बैठनेका नियम तोड़कर एक डिब्बा रेलगाड़ीका बुक कराया गया, पानीसे खूब धुलवाया गया और चुपके-से मुँह ढँककर रातको रेलगाड़ीसे वापस आये। फिर दो-तीन दिन छिपकर रहे और फिर जब अच्छा मुहूर्त निकला, तो रास्ता काटनेका अशकुन मिटाकर गये।

तो देखो, 'दिक्' माने स्थान होता है। क्रमकी संवित्का जो निमित्त हैं, उसको काल बोलते हैं। जैसे एक उँगली उठी। बादमें दूसरी उठी, फिर तीसरी उठी। तो पहले उँगली उठनेमें, दूसरी और फिर तीसरी उँगली उठनेमें क्रम है। जैसे हम 'घट' बोलते हैं, तो पहले 'घ' और पीछे 'ट' बोलते है। तो यह घ-कार और ट-कारके उच्चारणमें जो क्रम है, इस क्रमकी संवित्का जो निमित्त है, उसको 'काल' बोलते हैं। और, दैर्घ्य-विस्तारकी जो संवित् है,—इतनी लम्बाई, इतनी चौड़ाई—उस संवित्के निमित्तको 'दिक्' बोलते हैं। यह लम्बाई और चौड़ाईके बिना तो संसारमें कुछ होता ही नहीं। तो बोले कि इसीसे सृष्टि हुई है। अरे, इससे सृष्टि नहीं हुई है भाई! यह लम्बाई-चौड़ाई तो किसीको मालूम पड़ती है। जिसको मालूम पड़ती है, उसको ढूँढो! वह कौन है, जिसको लम्बाई-चौड़ाई मालूम पड़ती है? और, जिसमें मालूम पड़ती है, उसको ढूँढो।

असलमें, सृष्टिमें जितने मनुष्य, उतने मस्तिष्क हैं और उतनी प्रकारकी

मान्यता है। **'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'**—जितने मुण्ड हैं, उतनी मति है। अतः मतभेद स्वाभाविक है। सो कालवेत्ता कहते हैं कि काल ही मुख्य है। क्योंकि, जो भी चीज बदलती है, आती है, जाती है, रहती है—तो वस्तुका आना-जाना, रहना, बदलना—सब कालको ही सिद्ध करता है। तो देखनेमें आता है कि कालका प्रभाव सबसे ऊपर है। अतः काल वेत्ताओंने कहा कि काल ही सबसे बड़ी वस्तु है। तो इसीके आधार पर सृष्टिकी कल्पना, मुहूर्तकी कल्पना की।

पर हमारे जो ज्योतिषी हैं, वे बड़े बुद्धिमान हैं। उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी की। वे इस सिद्धान्तको जानते थे कि सबमें सब है। बोले भाई कि दिनका मुहूर्त न निकले तो चौघड़ियाका मुहूर्त निकाल लो! चौघड़ियासे भी न बने तो उसमें भी फिर सूक्ष्म-से भी सूक्ष्म एक-एक मिनटका भी मुहूर्त होता है, एक-एक सेकेण्डका मुहूर्त होता है। माने सबमें सब होता है। वह तो ऐसा होता है कि एक बार शनिवारको पूर्व चलने गये तो सिरमें दर्द होने लगा। तो दुबारा जब चलनेका समय आया तो कल्पना हुई कि हम पिछली बार शनिवारको चलने गये थे तो दर्द हुआ। सो अबकी शनिवारको नहीं जायेंगे। इसी प्रकार, यह मान्यताके आधारपर है! जैसे डॉक्टर लोग देख लेते हैं कि एक रोगीको दवा दी तो वह इस रोगमें अनुकूल नहीं पड़ी! अतः दूसरे रोगीको नहीं देनी चाहिए।

तो नारायण, कालमें जो अवयवकी कल्पना है और उसके अभावकी कल्पना है, जो एकत्व और अनेकत्वकी कल्पना है—वह समूची कल्पना अन्तःकरणमें होती है और उस अन्तःकरणका जो साक्षी चैतन्य है, उसके साथ कालका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका अभिप्राय हुआ कि अनन्त काल, अनादि काल, वर्तमान काल आदि सब कल्पित हैं और इनका जो अधिष्ठान है वह अपना स्वयं, स्वयं प्रकाश चैतन्य है। काल तत्त्व नहीं, कालकी कल्पनाका अधिष्ठान तत्त्व है, कालकी कल्पनाका प्रकाशक तत्त्व है। इसलिये काल विनाशका कारण है, विनाशके अभावका कारण है और विनाश और स्थितिकी अपेक्षासे कालकी कल्पना है और अपना आत्मा स्वयं निरपेक्ष है। जहाँ सम्पूर्ण दृश्य कालके विकराल गालमें है, वहीं अपना आत्मा है। वह अकाल है।

अब पूर्व-पश्चिमादि दिक्-कल्पना सिद्ध है। देखो, प्रेम-कुटीर, अपने दायें वाले मकानसे बायें है और अपने बायेंवाले मकानसे दाहिने है, उत्तरवाले मकानसे दक्षिण है और दक्षिणवाले मकानेसे उत्तर है, ऊपरी मंजिलसे नीचे है और धरतीसे ऊपर है। तो प्रेमकुटीर स्वयं कहाँ है? तो असलमें दिशा भाति-सिद्ध है, अस्ति-

सिद्ध नहीं है। यह ऐसे मालूम पड़ती है, इसलिये है। मालूम पड़नेके सिवाय 'दिक्' नामकी कोई वस्तु नहीं है।

अच्छा, दिशाकी लम्बाई-चौड़ाई नापकर बताओ कि कितनी है? ओर-छोर तो है नहीं? इसीलिये, अपने अनन्त अधिष्ठानसे जुदा नहीं है। अतः कल्पित है। तो इस दिशाका साक्षी एवं अधिष्ठान अपनी अन्तरात्मा ही है।

जैसे हम बम्बईसे विदा होते हैं—तो हरी झण्डी दिखी, सीटी बजी और गाड़ीने प्लेटफॉर्म छोड़ दिया तो बम्बई छूट गयी। बम्बई देश छूट गया। तो कभी-कभी देखते हैं कि हमारे मनने बम्बईको छोड़ दिया कि नहीं छोड़ दिया? तो किसी विषयपर एक श्लोककी रचना कर देते हैं। कभी दस-बीस हो जाती है और कभी दो-चार हो जाती है। एक श्लोक आपको सुनाता हूँ—

प्रसाधनं दिक् तव पूर्णतायाः निजाश्रयस्येति न तर्कयामः।
निरस्य यत्तां नितरां विराजते न भूषणापेक्षि-निसर्ग-सुन्दरम्॥

संस्कृत भाषामें 'प्रसाधन' शब्द हेतुका भी वाचक है और शृंगारका भी वाचक है। **'प्रसिद्ध्यति अनेन'**—जिससे कोई वस्तु सिद्ध होवे, उसका नाम 'प्रसाधन'।

तो हे अनुभवस्वरूप आत्मदेव! यह दिक्तत्त्व तुम्हारी पूर्णताका प्रसाधन है! यह जितनी लम्बाई है—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे—इससे मालूम पड़ता है कि परमात्मा सर्वत्र पूर्ण है। कैसे मालूम पड़ता है? **'निजाश्रयस्य तव पूर्णतायाः प्रसाधनं'**—इस दिशाके आश्रय तुम हो, तुममें ही यह मालूम पड़ रही है! तो जब यह पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण ही इतने बड़े-बड़े हैं, उनका ओर-छोर नहीं हैं, तो जिससे ये भास रहे होंगे, वह कितना बड़ा होगा? तो इन दिशाओंको देखनेसे तुम्हारी पूर्णताका पता चलता है। क्योंकि, तुम इसके आश्रय हो! **'इति तु न तर्कयामः'**—हम तुम्हारे बारेमें ऐसा तर्क नहीं करते! क्यों नहीं करते? इसलिये नहीं करते कि, **'निरस्य यत्तां नितरां विराजते'**—जब तुम इस दिशाका निषेध कर देते हो, अपवाद कर देते हो कि मेरे अन्दर पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण व्यवहारका हेतु जो दीर्घता और विस्तारकी संवित् है, उसमें दीर्घता और विस्तार नहीं है, वह संवित् शुद्ध है। तो जब पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणका निषेध कर देते हो तो तुम्हारी शोभा कुछ और ही होती है। तुम अद्वितीय होते हो!

तो सचमुच ये दिशायें जो हैं, ये तुम्हारा प्रसाधन तो हैं, शृंगार तो हैं! इनसे

तुम्हारे बड़प्पनका श्रृंगार तो होता है, परन्तु तुम स्वयंमें इतने सुन्दर हो, इतने सुन्दर हो कि तुम्हें इनकी जरूरत नहीं है। **'न भूषणापेक्षि निसर्ग सुन्दरम्'**—जो स्वभावसे सुन्दर वस्तु होती है, उसको आभूषणकी जरुरत नहीं होती।

किसीके मुँहपर काला दाग होये तो उसको दबानेके लिये मेकअप करना पड़ता है और जो स्वभावसे ही सुन्दर है, उसको किसी चीजके द्वारा सुन्दर होनेकी जरूरत नहीं पड़ती! यह आभूषण अपनी हीनताके भावका प्रतीक है। हम वैसे तो सुन्दर नहीं हैं, इसलिये ऐसा स्नो लगावेंगे, ऐसा पावडर लगावेंगे, ऐसी साड़ी पहनेंगे, ऐसा आभूषण पहनेंगे तो सुन्दर हो जावेंगे। अपने अंदर जो असौन्दर्यका भाव है, उसको छिपानेके लिये बाहरी चीजोंसे सौंदर्य उधार लिया जाता है। यह 'उधार' शब्दका संस्कृतमें मूल है 'अध्याहार'। अध्याहार किया जाता है माने दूसरेसे लिया जाता है। तो अध्याहार्य सौन्दर्यको ही उधार-सौंदर्य कहते हैं। अरे, वह रंग तो भाई पराया है, तुम्हारा थोड़े ही है!

तो नारायण, कहनेका अभिप्राय क्या है कि जो परम सुन्दर होता है, उसको सौंदर्यके लिये किसीसे कुछ उधार नहीं लेना पड़ता।

तो यह जो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण दिशाएँ हैं, वे अपने आश्रयको सिद्ध करनेवाली, उसका आभूषण हैं। क्योंकि, जो दिशाओंका आश्रय है, वह तो उनसे भी बड़ा है। और, दिशाओंका आश्रय कौन? अपना अनुभव अथवा परब्रह्म परमात्मा अर्थात् त्वं-पदार्थ अथवा तत्-पदार्थ दोनोंकी एकता। बोले कि हम ऐसी कल्पना भी नहीं करते। क्योंकि पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणका निषेध कर देनेके बाद जो निर्दिक्-वृत्ति है, अन्तरमबाह्यं-आन्तर और बाह्यभावसे रहित जो चैतन्य है, वह चैतन्य तो इतना सुन्दर है, इतना सुन्दर है कि उसको दिशा-रूप प्रसाधनकी, आभूषणकी, साधनके कारणकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।

तो जो लोग समझते हैं कि दिशा ही तत्त्व है, तो वह दिशा तो जड़ है और भिन्न-भिन्न मालूम पड़ती है। अतः उसकी भिन्नता एक अनन्तमें अध्यारोपित है और वह अनन्त यदि जड़ होगा तो वह भी प्रकाश्य होगा और यदि दिशा चेतन अनन्तमें कल्पित है तो स्वयं प्रकाश, सर्वाभासक आत्मतत्त्वसे अतिरिक्त नहीं है।

☆

मंत्रवाद एवं भुवनवादियोंका मत

अब दूसरा प्रसंग सुनाते हैं।

'वादा इति वादविद:'—अनेक वाद हैं और प्रत्येकवादके वेत्ता अपने वादको ही परमसत्य कहते हैं।

मंत्रवादी कहते हैं कि मंत्र ही सबसे ज्यादा मूल्यवान् है। कोई कहते हैं कि नहीं, धातुवाद है! ताँबेको सोना बना लिया। कोई कहते हैं कि ऐसा मंत्र आता है कि जो चाहें सो बना दें!

यह मंत्रोंमें भी एक सीमित शक्ति होती है। असलमें मंत्र जितने हैं, यह सब मनके खेल हैं। हमारे एक संतने बताया कि, **मन+अन्तर=मन्तर**। माने जो मनके भीतर ही हो और जिससे मन अंतर्मुख हो, उसका नाम 'मंत्र'। वे संत फक्कड़ थे, संस्कृतके विद्वान् नहीं थे। वैसे संस्कृत भाषामें 'मंत्र' शब्दका अर्थ होता है, **'मत गुप्तपरिभाषणे'**—अर्थात् गुह्य चर्चाका नाम मंत्र है। मन-ही-मन अपने देवतासे कह दिया कि हे देवता यह कर दो!

बचपनसे बात शुरू करता हूँ। तो जो बड़े वेदांती हैं, उनको जरा कम लगेगा! जब काँखके नीचे बस्ता दबाकर स्कूलमें पढ़नेके लिये जाते थे, तो एक-डेढ़ मील दूर स्कूल था। तो कभी-कभी लौटते समय वर्षा होने लगती। हमारे बाबाने बताया था कि बेटा, बस्तेको तो कंधे पर लटका लेना और एक मंत्र मैं बताता हूँ, इसको मन-ही-मन बोलना और ताली पीटते हुए और नाचते हुए स्कूलसे चले आना। वर्षा तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ेगी! वह मंत्र तो हमको अभी तक याद है। लेकिन, अब हम वर्षामें चलें तो भीग जाते हैं। वह मंत्र हमारी रक्षा नहीं करता। उस समय बड़ा उत्साह था चित्तमें!

अच्छा, बिच्छूका जहर उतारनेका मंत्र होता है। किसीको चमक पड़ती है। उठा नहीं जाता, जब चमक पड़ती तो वह चमक झाड़नेका मंत्र होता है। साँपका जहर उतारनेका मंत्र, आग बाँधनेका मंत्र, जल बाँधनेका मंत्र—सब हमको याद था भला! पन्द्रह-सोलह वर्षकी उम्र तक वे मंत्र हमारे काम करते थे। जब मैं बड़ा हुआ, तब काम करना छोड़ दिया। कैसे-कैसे मंत्र होते थे, अब हमको सुनानेमें कोई आपत्ति नहीं। पहले तो यह कहा गया था कि मंत्र अगर

किसीको बता दोगे तो वह काम नहीं करेगा। देखो, बिच्छूका मंत्र आपको सुनाते हैं—'परबत ऊपर सुरभीगाय, ताके गोबर बिछी ब्याय, नौ क़ाली, नौ गौरी, नौ धौरी, दुहाई गौरा पारबती ईश्वर महादेवकी विष उतर जाय'। इससे बिच्छूका विष उतार देते थे। चमक उतारना होता तो बोलते, 'बाँस के चोंगा चोर समाय'। ये सब साबर मंत्र थे।

हमारे एक मित्र हैं। उनकी एक संतपर श्रद्धा है। जब कोई बिच्छूके काटनेपर काँपता हुआ उनके पास आता है तो वे बोलते हैं, 'मेरी भक्ति, गुरुकी शक्ति, फुरो मंत्र' और महाराज मन-ही-मन अपने गुरुजीका नाम लेते हैं। बोलते हैं कि सबसे बड़ा मंत्र हमारे गुरुजीका नाम है, उतर जा विष! और, विष उतर जाता है।

तो यह मानसिक शक्ति है! संकल्प काम करता है।

अब देखो, इस मंत्रवादमें आगे चलो। तो द्वादशाक्षर, अष्टादशाक्षर आदि मंत्र हैं, गायत्री मंत्र है, वेद-मंत्र हैं, प्रणव मंत्र है। परन्तु, इन मंत्रोंके द्वारा जिस वस्तुका वर्णन है, वह वस्तु परमार्थ है भला! वे मंत्र परमार्थ नहीं हैं, क्योंकि, बड़े-बड़े जो मंत्रवेत्ता हैं, उनकी भी पराजय हो जाती है।

हमारे काशीके बडे-बड़े अनुष्ठानी विद्वान् हैं। किसीको यक्षिणी सिद्ध है, किसीको उच्छिष्ट गणपति सिद्ध हैं। एक पंडित हमको पढ़ाते थे। हमलोग जानबूझकर उनसे पढ़नेके लिये जाते थे। वे एक मदारकी चौकीपर बैठ जाते थे और फिर शास्त्रका कोई भी विषय उनसे पूछो, तो वे तुरन्त उसका उत्तर देते थे। उन्होंने दर्शन लिखवाये थे। मैं लिखता था, वे बोलते थे। पृश्विवीदर्शनम्, अग्निदर्शनम्, वायुदर्शनम् आदि इस प्रकार कोई ४२ विषयपर लिखवाये थे। बड़े-बड़े सूत्रात्मक थे। काव्य लिखवाया था।

तो नारायण, उनको ऐसा मंत्र सिद्ध था कि चौकीपर बैठते थे तो उस समय बुद्धि उनकी जग जाती थी। वैसे नारायण! झूठ बहुत बोलते थे। उनकी बातको समझना कि ये क्या सच बोल रहे हैं और क्या झूठ बोल रहे हैं, बड़ा मुश्किल था। एक दिन बोले कि रातको हमको मिलने कौन आया था, तुमको मालूम है? जर्मनीसे एक विद्वान् कल रात हमारे पास आया था और उसने हमसे अणु-संयोजनास्त्र और अणु-वियोजनास्त्रके सम्बन्धमें चर्चा की कि अणुओंको कैसे जोड़ना और कैसे तोड़ना। यह उस समयकी बात है, जब अखबारों एवं किताबोंमें इसकी चर्चा नहीं थी। एक दिन बोले कि रातको गोपीनाथ कविराज काँखके नीचे

पोथी दबाकर हमारे पास आये थे और यह-यह बात उनको नहीं मालूम थी, सो हमसे पूछकर गये.। तो उनको ऐसा बोलनेका शौक था।

तो मंत्रवाद जो है, यह परमार्थ नहीं है। यह विश्वास, श्रद्धा करके मंत्रमें प्रतिपादित जो देवता है, उसका ध्यान करो तो मन एकाग्र हो जायेगा और उससे राग हो जाय तो संसारमें कहीं राग नहीं होगा और मंत्रका जप करने लगोगे तो बद-जबानी जो है, वह छूट जायेगी। किसीको गाली देना, किसीकी निन्दा करना, परचर्चा करना आदि वाणीके दोष निवृत्त होंगे, मन एकाग्र होगा तो संसारमें राग-द्वेष नहीं होगा। और, कई लोग तो महाराज राग ही करनेके लिये मंत्र जपते हैं कि हमारा अमुकसे राग हो जाये। तो अब उनको तो राग ही होगा। उनका कहाँसे छूटेगा?

दुनियामें फँसनेके लिये कुछ नहीं करना चाहिए भला! फँसे तो अपने आप ही हैं कहीं-न-कहीं। इससे जो छूटनेका प्रयत्न है, उसमें तो पौरुष है, प्रयत्न है और फँसाव तो स्वाभाविक है। पैदा हुए तो माँमें फँसाव था। उससे बड़े हुए तो खानेकी चीजें बहुत अच्छी लगती थीं और उससे बड़े हुए तो पैसा अच्छा लगने लगा और उससे बड़े हुए तो दोस्त अच्छे लगने लगे।

अब बोले भाई कि ताँबेका सोना बनावेंगे यह भी वाद है! अब जो बना हुआ सोना है, वह भी गलत! हमारे एक सत्संगीने एक दिन सुनाया कि महाराज, हम अमुक महात्माके पास गये थे। तो वे नदीमें उतरे और उन्होंने हमारे सामने बंडल-के-बंडल नोट नदीमें-से निकाल कर दिये। उससे हाईस्कूल बना, कॉलेज बना। अब उनके भोलेपनपर आप विचार करो, तब पता चलेगा यह बिल्कुल भोलापन है। भोलापन नहीं, मूर्खता है भला! कैसे? नोट जितने सरकारके यहाँ छपते हैं, उसपर नम्बर होता है। तो जो नोट नदीमें-से निकले, उनपर नम्बर थे कि नहीं? अगर वे नम्बरवाले नोट थे तो जिस कारखानेमें छपे, वहाँ गड़बड़ हुई या जिस सेठके घरसे उठाकर आये, वहाँ गड़बड़ हुई। हिसाब बिगड़ गया। और, यदि उनपर नकली नम्बर थे, तो वे नोट भी नकली थे। तो इसलिये यह मूर्खता जो है कि महात्माजीने नदीमें-से नोट निकालकर दे दिये, यह भोलेपनकी बात है। उसमें बुद्धिमानीकी बात बिल्कुल नहीं है भला!

तो यह जो लोग सट्टेसे धनी होना चाहते हैं—वे जैसे कभी-कभी धोखेमें पड़ते हैं, जैसे ऐसे ही जो लोग मंत्रसे ताँबेका सोना बनाकर, छप्पर फाड़कर ईश्वर हमारे घर बरस जाये, इसमें लगे हैं—वे भी धोखेमें पड़ते हैं। अतः ये सब वाद झूठे हैं और आदमीको मूर्खतामें फँसानेके लिये हैं।

अच्छा, यदि मंत्रसे काम हो जाता तो साँपके डँसनेसे कोई मरता नहीं। बोले भाई कि कालने डँस लिया उनको, तब मंत्र क्या करे! तो भाई, जब काल डँसता है, तब मंत्र तो काम देता नहीं और बिना कालके ही जब वह डँसा है तो बिना मंत्रके ही अच्छा हो जायेगा।

तो नारायण, ये असलमें एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। असलमें साँप विषवाला है कि निर्विष है, इसकी तो कोई पहचान होती नहीं। कैसा भी साँप काट जाये तो आदमीका दिल घबरा जाता है, पसीना आने लगता है, व्याकुल हो जाता है। सो उस समय मंत्र आदिकी चर्चा करनेसे उसको थोड़ा सन्तोष होता है, उसके हृदयको धैर्य मिलता है, उसके दिलको बल मिलता है। इसलिये, ये सब मनोवैज्ञानिक सत्य हैं भला!

'भुवनानीति तद्विदः'—अब किसीने कहा कि चौदह भुवन जो हैं, वे सत्य हैं। यही तत्त्व है।

बोले भाई कि तुम देखकर आये हो? तो **'तेषामदृष्टत्वात्'** देखकर तो आये नहीं। एक श्रद्धामें उसको माना जाता है। बोले कि नहीं-नहीं, जिन लोगोंने देखा है, उन्होंने वर्णन किया है। ठीक है, लोग हैं, तब सब एक-ही तरहका वर्णन क्यों नहीं करते?

देखो, यह परमार्थका जहाँ निरूपण किया जाता है, वहाँ सम्पूर्ण नाम, रूपका निषेध किया जाता है और नाम-रूपका निषेध लौकिक युक्तिसे भी किया जाता है और पारलौकिक युक्तिसे भी किया जाता है।

अब चौदह भुवन क्यों हैं? तो ऐसे देखना पड़ेगा कि यदि तुम्हें विराट्-पुरुषका ध्यान करना हो, तो सात भुवन नीचे और सात भुवन ऊपर और एक विराट् पुरुष है, अपने विश्वात्माको उससे एक कर दो और देखो कि सृष्टिमें जो चौदह भुवन हैं, वे हमारे शरीरमें ही हैं। तो धारणाके लिये तो यह कल्पना बहुत उपयोगी है। अब यह कहो कि हम तो गये थे उनको देखकर आये हैं। तो झूठी बात है।

एकने कहा कि सात समुद्र होते हैं। एक दूधका समुद्र, एक दहीका समुद्र, एक मट्ठेका समुद्र, एक गन्नेके रसका समुद्र होता है। बोले कि ध्यान करनेके लिये बहुत बढ़िया है! कोई कहे कि नहीं, हम तो दहीके समुद्रमें-से दही खाकर आये हैं। तो उसकी बातपर विश्वास नहीं करना। बात क्या है कि जैसे गायके थनमें दूध आता है, बकरी, गदहीके थनमें दूध आता है, स्त्री (माता)के स्तनमें भी दूध आता

है, तो जैसे व्यष्टिके शरीरमें दूधका उदय होता है, ऐसे समष्टिके शरीरमें एक दूधका खजाना है, जो तदनुकूल वातावरण होने पर शरीरमें प्रकट हो जाता है। जैसे रेडियो-स्टेशनसे किया गया ब्रॉडकास्ट वातावरणमें भरा रहता है और हमारे रेडियोमें अनुकूल स्टेशन लगा देनेपर वह प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार वातावरणमें दूध भरा हुआ है और वह माताओंके स्तनमें प्रकट होता है। वातावरणमें इक्षु-रस भरा हुआ है, मिठास भरी हुई है और वह गन्नेमें प्रकट होती है। तो वातावरणके अनुकूल शरीरकी स्थिति होनेपर मनमें और शरीरमें वे-वे भाव प्रकट होते हैं। परन्तु, वे परमार्थ हैं, सो बात नहीं। क्यों? दरअसल यह बात सूक्ष्म जगत्की होनेसे जब उसका हम स्थूल जगत्में वर्णन करने लगते हैं, जैसे कि हम दही-समुद्रमें-से दही खाकर आये हैं, तो हम परमार्थसे च्युत हो जाते हैं।

हमारे एक महात्मा थे। वे कहते थे कि ऐसे ध्यान करो कि हृदयमें कृष्ण है और कृष्ण अपने ध्यानमें राधाको देख रहे हैं और फिर उनके ध्यानमें जो राधा हैं, वे कृष्णको देख रही हैं और फिर उनके ध्यानमें जो कृष्ण हैं, वे राधाको देख रहे हैं। अब इस तरह देखते-देखते सौ पीढ़ी बना लो। और देखो, तुम्हारे मनमें कैसी अन्तर्मुखता आ जाती है।

तो यह नहीं कहना कि एक, दो, तीन, चार वहाँ राधा हैं और एक, दो, तीन, चार वहाँ कृष्ण हैं। ऐसा नहीं है। वह तो ध्यान करनेके लिये ही उसमें बाह्य और आन्तरका भेद कल्पित किया गया है। उसमें वास्तविकता नहीं है। वह मूलवस्तु नहीं हैं। वह प्रयोजनीय हैं, उपयोगी है।

अब मुसलमान-धर्ममें स्वर्गका रूप दूसरा और ईसाई-धर्ममें स्वर्गका रूप दूसरा, पारसी-धर्ममें स्वर्गका रूप दूसरा, हिन्दू-धर्ममें स्वर्गका रूप दूसरा। कहीं बैलके ऊपर सृष्टि है, तो कहीं शेषके ऊपर सृष्टि है, तो कहीं कछुएके ऊपर है। तो इस तरहसे यह प्रतीकात्मक वर्णन है, उसको लौकिक-सत्य करके नहीं मानना। वह परमार्थ नहीं है। जो सारी कल्पना होती हैं कि परमात्मा ऐसा, परमात्मा ऐसा, संसार ऐसा—यह ऐसा-ऐसा जिस बुद्धिमें है, उस बुद्धिका द्रष्टा जो है, वह कौन? बोले कि 'मैं'। वह 'मैं' कैसा? श्रुति कहती है कि यही सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुका प्रकाशक, स्वयं प्रकाशक और सर्वाधिष्ठान द्रष्टा है। इसको परमार्थ बोलते हैं।

★

आन्तरवादियोंका मत

मन इति मनोविदा बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः॥ २५॥

'मन इति मनोविदः'—कोई कहते हैं कि यह मन ही आत्मा है! यह नारायण, आजकल जो बड़ी-बड़ी खोजें होती हैं, वे मनके अन्दर ही रह जाती हैं। आजकल वैज्ञानिक तो चेतन अणु ढूँढनेमें लगे हैं। उनका ख्याल है कि एक छोटी-सी चिमटीसे जीवाणुको उठाकर किसी शीशीमें डाल दें और उसमें अमुक-अमुक मसाला डाल दें और वहीं जीव पैदा हो जाये और वहीं उसको चाहे तो बैल शरीर बन जाये और चाहे तो मनुष्य शरीर बन जाये। अब देखो, यह शरीर बनानेके लिये तो शरीरमें-से निकला हुआ होना चाहिए भला! और, शरीरमें पला हुआ होना चाहिए। आजकल चिकित्सा-शास्त्रने इतनी उन्नति की है कि वह पुरुषसे वीर्य निकालकर और स्त्रीमें गर्भाधान कर दे तो बच्चा हो जाये। माने दोनोंका मेल न होये और बच्चा हो जाय। लेकिन वह पुरुषकी आकृति कैसे बनेगी? मनुष्यकी आकृति कैसे बनेगी? जब एक मनुष्यकी आकृतिका सार होगा और दूसरे मनुष्यकी आकृतिसे उसको संपोषण मिलेगा। नहीं तो, पुरुषको ही वे कारण मानते हैं और शीशीमें ही बच्चा बना लेते हैं। जिसे 'ट्यूबबेबी' कहते हैं। लेकिन जीवाणुकी उत्पत्ति कैसे होती है, यह बात अभी उनकी समझमें नहीं आयी।

आप देखो, विज्ञानने इतनी उन्नति कर ली है! लेकिन, शरीरमें जो रक्त है, उसको अभी नहीं बना पाये। नहीं तो अमुक-अमुक औषधियोंके मिश्रणसे और अमुक डिग्री ताप देनेपर यह खून बन जाता, तो यह लोगोंसे उधार लेनेका झगड़ा नहीं करना पड़ता! जैसे दवायें बाजारमें बिकती हैं, ऐसे खून भी बिकता! पर वह नहीं बनता है।

तो बहुत लोग जो हैं, ये मनको ही सबसे बड़ा सत्य मानते हैं। यहाँ तक कि मानसिक शक्तिसे जड़-वस्तुको चला देते हैं। चिड़ियाको बुला देते हैं। चींटी आ रही हो सामनेसे, अपने मनमें सोचेंगे कि लौट जा और लौट जायेगी। चिड़िया उड़ रही हो, मनमें सोचेंगे कि बैठ जा और बैठ जायेगी। वह भैंसेसे वेद पढ़ानेवाली जो बात है, वह मानसिक शक्तिके विकासका ही एक रूप है भला! यह जो आजकल भूत-प्रेत विद्या है, वह सब परस्परके मानसिक शक्ति और मानसिक मिश्रणसे ही सम्पन्न होता है। तो अपने मनको ही आत्मा बनाकर रख देते हैं!

अच्छा, हमारे कई महात्मा लोग भी मनोवृत्तियोंका ऐसा बढ़िया विश्लेषण करते हैं कि लोगोंको समझमें आता है कि यही परमार्थ है।

एक डॉक्टर एक बार यहाँ आया था। तो उसने कहा कि मन जो कहे, सो ही करना चाहिए। अब एक बच्चेको अगर छोड़ दो कि उसके मनमें जो आवे, सो ही करे, तो सिर फोड़ लेगा भला! वह आगमें हाथ डाल लेगा। बच्चेके मनमें जो आवे, सो ही उसको खाने दो, तो वह जहर खा लेगा। अत: उसके हित-अनहितका ध्यान तो करना पड़ता है। तो जैसे बच्चेको उसके मनका उतना ही करने दोगे, जितना उसके स्वास्थ्यके अनुकूल हो, ऐसे-ही मनकी भी बात है।

वृंदावनमें एक बच्चेको खेलनेके लिये छोड़ दिया। अब वह दीपावलीका दिन था। उसने एक फुलझड़ी उठाकर मुँहमें डाल ली और खा गया। खा लिया तो मर गया। सो, बच्चेको ऐसे कैसे छोड़ा जा सकता है? इसका अर्थ यह है कि किसीको उसको मनपर पूरी तरह छोड़ देना कि जो मन कहे, सो ही करो। तो आदमी रास्तेपर चलते-चलते दूसरेको ढकेल देंगे। क्योंकि मनमें आता है कि यह हमारे आगे क्यों चलता है? जो चीज दिखायी पड़ेगी, उसीको खाने लगेंगे। दूसरेकी चीज बढ़िया लगेगी तो छीन लेंगे। यह तो उच्छृंखलता हो जायेगी! माने चाहे जो खाओ और चाहे जो पीओ और चाहे जो करो! तो आदमी क्या हो जायेगा? पशु हो जायेगा।

तो मनुष्य और पशुकी संस्कृतिमें भेद तभी हो सकता है, जब मनपर नियन्त्रण होवे। नियन्त्रित मनके द्वारा ही मानव-जाति, पशु-जातिसे पृथक् हो सकती है।

अब इसी तरहसे जो लोग धर्मको महत्त्व देते हैं वे कहते हैं, कि जैसे स्वास्थ्यके विरुद्ध बच्चेकी माँग होनेपर उसको मना कर देते हैं, इसी प्रकार धर्मके विरुद्ध यदि मन की माँग होवे तो उसको मना कर देना चाहिए। उसको समझा-बुझाकर ठीक करना—यह दूसरी बात है। उसको उसका अनिष्ट समझा देना—यह बात दूसरी है और न समझमें आवे तो श्रद्धाके द्वारा संचालित करना—यह बात दूसरी है। लेकिन, मन सर्वस्व है, यह बात गलत है। मनकी अगर प्रत्येक बात आदमी माने तो बड़ा मुश्किल हो जायेगा।

हमारे कई डॉक्टरोंके बारेमें मालूम हुआ कि उनके पास स्त्री-पुरुष कोई समस्या लेकर जाते हैं तो वे कहते हैं कि नेचरकी माँग तुम पूरी करो! यह जो मनको ही सर्वस्व मानता है, असलमें मनोविज्ञानका उनको ठीक-ठीक अनुभव नहीं है।

अच्छा बताओ, मन स्वतन्त्र है कि परतन्त्र है? यदि कहो कि स्वतन्त्र है, तो मन दुःखी क्यों होता है? इस बातपर विचार करो! अच्छा, यह कहो कि बड़ा भारी दुःख आ गया भाई, तो मन दुःखी क्यों न हो? तो ऐसा भी नहीं है। सबेरे सुखी था और दो घंटे बाद पिछले छह महीनेकी बात सोचकर दुःखी हो गया। सबेरे तो बेटा-बेटीका ब्याह था, सो खूब हँस रहा था। फिर, पत्निके मरनेकी याद आ गयी तो रोने लग गया। अब मन यदि स्वतन्त्र है, तो वह क्लेशको क्यों स्वीकार करता है? आदमी अपने आप शोक, मोह, राग-द्वेष और दुःखकी ओर क्यों जाता है?

बोले कि नहीं भाई, मनको तो जाना पड़ता है। तब फिर मन भी परतन्त्र है। परतन्त्र है तो घड़ेकी तरह है। अनात्मा है, औजार है। जैसे दीयेको हाथमें लेकर हम किसी चीजको देखते हैं, वैसे मनको भी हाथमें लेकर किसी चीजको देखते हैं। मनमें करणत्व है, अनात्मत्व है, घटत्व है। और, मन यदि स्वतन्त्र है तो दुःखी होनेका कोई कारण नहीं है। इसलिये, मन किसी प्रकार आत्मा नहीं हो सकता।

हमारा मन दूसरी बातोंको समझनेके लिये एक औजार है। मन दृश्य है। क्योंकि, मनमें हजार बात आयी। आप ऐसे समझो कि जैसे हमारा यह हाथ है। तो मिट्टी, पानी, आग, हवा, सब इसमें हैं। इसमें कठोर हड्डी है, वह मृत्तिकाका अंश है। जो खून है, वह पानीका अंग है और इसमें ऊष्मा है। इसमें हवा घूमती है, तब इसको हिलाना-डुलाना होता है। गर्मी न हो तो खून जम जाये। इसमें अवकाश है, नहीं तो कोई चीज चले-फिरे कैसे? तो पंचभूत हमारे हाथमें हैं। अब यह मुट्ठी बाँधना और मुट्ठी खोलना—यह क्रियाशक्ति है। तो जो पाँच भौतिक अंश है, उसको 'अन्नमयकोश' बोलते हैं, उससे 'मैं' करके बैठा हुआ चैतन्य—उसको 'अन्नमय पुरुष' बोलते हैं और यह जो क्रिया-शक्ति है, इसको 'प्राणमय कोश' बोलते हैं और इसमें 'मैं' करके बैठा हुआ जो चैतन्य है, उसको 'प्राणमय पुरुष' बोलते हैं। लेकिन, इच्छा हो कि हाथ समेटें, तो समेट लिया और इच्छा हुई कि खोल दें, तो खोल दिया। इसको 'मनोमय कोश' बोलते हैं और इसमें जो चैतन्य है, उसको 'मनोमय पुरुष' बोलते हैं। लेकिन, इच्छाएँ तो हजार होती हैं। कोई लिस्ट बना सकते हो कि तुम्हारे मनमें कितनी इच्छाएँ हैं? मनमें जो आजाये, सो बोलते चलो! यह जिन लोगोंका मन अपने हाथमें नहीं है, उन लोगोंके लिये चुनौती है भला! क्या? कि अगर तुम घंटे भर तक अपने मनमें आती हुई सभी बातोंको बोलना शुरू कर दो, जो आवे सो बोल दो, तो देखो, माँ तो मारेगी भला और भाई दुश्मन हो जायेगा, मित्र बिगड़ जायेगा, पति-पत्नीमें तलाक हो जायेगा। इसका मतलब है कि मन पागल है। तो तुम भले मानुस

कैसे बने हुए हो? इसलिये जीभरानी काबूमें है। वह बोलती नहीं है। केवल दो तोलेकी जीभने तुमको भले मानुस बना रखा है। नहीं तो मनीराम तो कहींका नहीं छोड़ते। क्योंकि, ऐसी-ऐसी बातें मनमें आती हैं—दुश्मनके लिये, दोस्तके लिये, स्त्रीके लिये, पुरुषके लिये। इसीसे भगवान्‌ने यह चामकी चद्दर ओढ़ायी कि तुम्हारे मनका किसीको पता न चले। अगर जैसा मन होता और वैसा ही आदमी होने लगता तो क्या होता? दिनभर में कई बार शेर हो जाता, कई बार बानर हो जाता कई बार गीध हो जाता, कई बार साँप हो जाता। जैसा मन हो, वैसी शकल अगर आदमीकी बनने लगे तो आदमीकी यह हालत हो जाती। सो भगवान्‌ने चामकी चादर ओढ़ायी कि भई, दूसरेको देखकर पता न लगे कि यह भले मानुस भीतर-ही-भीतर क्या गुल खिला रहे हैं। आपके मनमें क्या-क्या व्यजंन बन रहे हैं? सो भगवान्‌ने मित्रतासे इसको ढँक दिया।

अच्छा, यह मन तो है पागल! अब इसको कहाँ जोड़ना चाहते हो?

तो बोले कि हमारा मन ऐसा होता है कि खूब चीजें मनमें इकट्ठी हो जायें, फिर हम सुखसे रहेंगे। तो एक लिस्ट बनाओ कि जिन्दगी भरमें तुमको किस-किस चीजकी जरूरत पड़ेगी और क्या-क्या इकट्ठा कर लेना चाहते हो? कभी लिस्ट पूरी नहीं होगी। रोज बढ़ती जायेगी। एक बात और रह गयी, वह भी लिख दें! इतनी माँग है, इतनी माँग है। इसीलिये माँगोंका वर्गीकरण करनेके लिये बताते हैं। पचास माँग धर्मके विरुद्ध हैं, उनचास माँग धर्मके अनुकूल हैं, एक माँग निरोधकी है। अब उसको एक सौ एक करो! ईश्वरकी चाह उसमें भरो! ब्याह ही करनेका मन है तो ईश्वरके साथ करेंगे। सेवा करनेका मन है तो ईश्वरकी ही करेंगे। सारा खजाना ही अपने घरमें इकट्ठा करना है तो ईश्वरका खजाना ही इकट्ठा करेंगे।

तो जो लोग मनको सर्वस्व मानते हैं, वे असलमें मनको जानते नहीं हैं। जबतक मन छोटी चीजको पकड़ता है, तबतक छोटा है। दो आनेके लिए लड़ गया। देखो, एक तो दो आना पैसा गया और दूसरे अपने मनमें दुःख घुस आया। अरे, दो आना गया तो गया। अब गुण्डेको तो अपने भीतर मत आने दो।

समझो कि एक आदमी तुम्हारा दो आना पैसा छीनकर ले गया। तो अब दूसरे गुण्डेको घरमें बुला लिया। तो एक गुण्डा दो आना पैसा छीनकर ले गया, तो दूसरे गुण्डेको तो घरमें मत बुलाओ।

तो नारायण, दुनियाकी किसी चीजके लिए दुःखको मनमें बुलाना, यह मनुष्यकी समझदारी नहीं है। यह मन तो हजार इच्छाएँ करता है और इसका कर्ता

एक 'मैं' है और वह भी कर्तापनको छोड़कर सुषुप्तिमें आनन्दमय पुरुषके रूपमें रहता है और वह भी अविद्याको छोड़ देनेपर साक्षी पुरुष, ब्रह्मके रूपमें रहता है। तो अपने आपके बारेमें जानो। मनके बारेमें जो जानकारी है, वह तुम्हारे किसी काम नहीं आवेगी। मन परमार्थ नहीं है। यह दीयेकी तरह है, अनात्मा है, औजार है।

ऐसी-ऐसी कल्पना मनमें होती हैं। अगर अपने मनकी कल्पना आपको सुनाने लगें तो एक तो उनका अन्त न होवे और दूसरे, आप लोग हँसने ही लग जायें कि ऐसी-ऐसी कल्पना भी आती हैं। लेकिन, केवल मेरे मनमें ही नहीं आती हैं। आप सब लोगोंके मनमें आती हैं। बचपनमें भी आयीं, जवानीमें भी आयीं, अधेड़ होनेपर भी आती हैं और बुढ़ापेमें भी आती हैं। जबतक मन रहता है, तबतक इसमें कल्पनाएँ आती रहती हैं। कितनी कल्पना आयीं और कितनी गयीं। दसियों बार तो यह मालूम हुआ कि इनसे प्रेम हो गया। इतना धोखा देता है यह मन और जब मालूम पड़ता है न कि इनसे दुश्मनी हो गयी, तो लगता है कि हमेशाके लिए हो गयी। जब मालूम पड़ता है कि इनसे प्रेम हो गया तो लगता है कि हमेशाके लिए हो गया। अरे, दस-बीस दिनमें, छः महीनेमें ऐसा बदलता है कि न उस प्रेमी मनका पता चलता है और न प्रीतमका पता चलता है; न उस दुश्मनका पता चलता है और न दुश्मनीका पता चलता है। हर बार मालूम पड़ता है कि पिछली बार तो कमजोर था, अबकी बार बड़ा जोरदार है।

तो यह मन बहुत गुमराह करता है। गलत रास्तेपर ले चलता है। इसलिए, यह मन सच्ची चीज नहीं है। मन परमार्थ नहीं है। मनुष्यको मनके आधारपर अपना जीवन नहीं बनाना चाहिए। सोच-विचारकर बुद्धिके आधारपर अपना जीवन बनान चाहिए।

एक दिन आप कोई मीठी-मीठी चीज पीओ। उसको पीते समय ऐसा स्वाद आवेगा कि मनमें आवेगा कि इसको हमेशा पीते रहो। लेकिन, आपका मन कितनी गलत बात बता रहा है। यदि चार-छः दिन लगातार वही पीना पड़े तो आपका मन कहेगा कि अब पीनेको शुद्ध जल चाहिए, अब दूध चाहिए, चाय चाहिए। तो एक ही वस्तुको पीकर नहीं रह सकते।

जैसे नाकमें गुलाब सूँघो तो मनमें आवेगा कि चौबीसों घण्टे यही गन्ध रहे। लेकिन, चौबीसों घण्टे अगर उसमें रहोगे तो गन्धका पता ही नहीं चलेगा कि वही गन्ध है। नाक गुलाबवत् हो जायेगी। तो यह स्थिति मनकी है। जो यह कहता है कि हमको हमेशाके लिए यह स्त्री चाहिए, यह पुरुष चाहिए। तो इसमें मनकी

पसन्दपर नहीं आना चाहिए। ठोस जीवन दूसरी चीज है और मनकी कल्पना दूसरी चीज है। उसमें शास्त्र, धर्म, संस्कार, बुद्धिमत्ता चाहिए। केवल एक मनः प्रिय पुरुषार्थ नहीं होता है। धर्म भी पुरुषार्थ होता है, अर्थ भी पुरुषार्थ होता है, भोग भी पुरुषार्थ होता है, मोक्ष भी पुरुषार्थ होता है। केवल जो मनको प्यारा लगा, वही सब कुछ है—इस झगड़ेमें कभी नहीं पड़ना चाहिए।

इसलिए, जो लोग मनको बड़ी कीमती, मूल्यवान् वस्तु मानते हैं, असलमें उनकी मान्यता गलत है। परमार्थ तो इससे बिल्कुल निराला है।

तो नारायण, दुनियामें ऐसा कोई नहीं है जो दुःखी होना चाहता हो और यह मन दुःखी होता है। तो यदि मन स्वतन्त्र होता तो दुःखी क्यों होता? अपने आपको दुःखी क्यों करता? इसका मतलब हुआ कि मनको जबरदस्ती दुःख देनेवाला कोई मौजूद है। आदमी अच्छा काम करेगा तो मन प्रसन्न होगा और बुरा काम करेगा तो मन दुःखी होगा। बुरा काम करके कोई चाहे कि हम सुखी होंगे तो सुखी नहीं हो सकता। वह तो बादमें जब उसके मनमें यह आवेगा कि हाय-हाय, मैंने बुंरा काम किया तो दुःख अपने आप ही आवेगा। यह दुःख कहनेसे बरस नहीं पड़ता और दुःख कहीं बाहरसे भी नहीं आता। जब हमारा मन ईश्वरके मनसे मिला हुआ नहीं होता है, माने जैसा ईश्वर कर रहा है, उसमें हमारा मन हाँ-हजूरी नहीं करता है, तब इसके ऊपर चपत पड़ती है। जो हो जाये, उसको स्वीकृति दे दो। संसारकी सब घटनाओंके लिए एक महामन्त्र हैं, 'ओम्'। 'ओम्' का अर्थ है स्वीकार। दधि आनय। ओम्। गाम् आनय। ओम्। ईश्वरने कहा कि बीमार पड़ो। 'अच्छा महाराज! लेट जाते हैं।' उन्होंने कहा कि साँस छोड़ दो। 'अच्छा महाराज, सांस छोड़ देते हैं।' 'अच्छा, यह पाँच रुपये इस दूकानसे उस दूकानपर जाने दो।' 'अच्छा महाराज!' तो देखो, क्या मौज है। यह तो जब हम बड़ेसे दुश्मनी करते हैं न, माने ईश्वरके मनसे अपने मनको विरुद्ध स्थापित करते हैं, तब दुःख होता है।

सो, यह मन महाराज, बन्दरकी तरह चंचल!

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।'

जागो, तब तो तुम्हारे पाससे भाग जाये और सो जाओ तो तुम्हारे पास आ जाये। अब बताओ कि यह कोई भलेमानुसकी बात हैं।

एक स्त्री थी। देखे कि पुरुषकी आँख खुली है। तो घूँघट काढ़कर भाग जाय और देखे कि आँख बन्द करके सो रहे हैं तो पास जाकर देखे कि इनकी भौंह कैसी है, आँख कैसी है, नाक कैसी है।

तो यह मनीराम तो ऐसे ही शर्मीले-से हैं। जागते रहो तो भाग जायें और सो जाओ तो अपने पास आकर छातीसे चिपक जायें और,

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

बड़ी लम्बी यात्रा करता है। सब इन्द्रियोंमें एक इन्द्रिय है। ऋग्वेदमें एक मनःसूक्त है। वर्णन है कि तुम्हारा मन समुद्रोंमें दौड़ रहा है। तुम्हारा मन सप्तद्वीपोंकी यात्रा कर रहा है। तुम्हारा मन जंगलोंमें, पर्वतोंमें, पशु और पक्षियोंमें भटक रहा है। अब हम तुम्हारे मनका आवाहन करते हैं कि 'लौट आओ ओ रे मन! लौट आओ!'

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि आनन्दमें स्वतन्त्र नहीं है, क्लेशकी कल्पना कर बैठता है। तो मालूम होता है कि कोई कर्म-संस्कार होगा। ईश्वरका नियम ऐसा है, मर्यादा ही ऐसी है! समझो कि ईश्वरने किसीके साथ अपना पहरेदार नहीं रखा कि कौन क्या करता है, कौन क्या करता है। एक सबके कलेजेके भीतर ऑटोमैटिक मशीन लगा दी। जब उसमें यह भाव बनता है कि मैंने गलत किया, उसी समय रिकार्ड हो जाता है और जहाँ यह रिकार्ड हुआ कि मैंने गलत किया, उसका परिणाम, वह सुई दबती है, जहाँसे दुःख आवे! जहाँ यह हुआ कि मैंने गलत किया, वहाँ दुःखका बीज बो गया। बोले कि हम मानेंगे ही नहीं कि हमने गलत काम किया है। अरे,क्या स्वतन्त्र है मन? समाजका, परिवारका, माँ-बापका और नाना-नानीका संस्कार उसके ऊपर, पढ़े-लिखेका संस्कार उसके ऊपर, देखे-सुनेका संस्कार उसके ऊपर है। वह अपनी मान्यतामें स्वतन्त्र कहाँ है? इसीसे मैंने गलत किया और मैं दुःखी हूँ—यह दोनों बात आती है।

अच्छा कहो कि ज्ञानमें स्वतन्त्र है मन। तो ज्ञानमें भी स्वतन्त्र नहीं है मन। क्यों? यह रंगीन हो जाता है। सबसे बड़ा दोष यह है कि मनपर रंग चढ़ जाता है। हमारे गाँवमें बोलते हैं कि आजकल भाई उसपर तो उसीका रंग है। दो आदमीकी परस्पर दोस्ती हो जाती है, तो कहते हैं कि बस, उन्हीं-उन्हींका रंग है।

समर्थ रामदासने रामायण लिखी। तो लिखा कि अशोक वाटिकामें श्वेत कमल खिले हुए थे। जब हनुमानजीको सुनाया तो वे बोले कि नहीं, लालकमल थे। तो दोनोंमें विवाद हुआ। निर्णय हुआ कि चलो जानकीजी से ही पूछ लिया जाये। जानकी जीसे पूछा तो उन्होंने कहा कि श्वेत ही थे। हनुमानजीने कहा कि माता, मैंने देखा था। वे बोलीं कि देखा तो ठीक था। पर, उस समय तुम्हारी आँखमें लाली आ गयी थी। जब क्रोधकी लालीसे युक्त हो गया तुम्हारा मन, तो

सफेद भी लाल दिखने लगा और समर्थ रामदास ध्यान करके शान्त चित्तसे लिख रहे हैं, सो इनको श्वेत मालूम पड़ता है।

अरे भाई, जिस दिन मनमें डर समाया हुआ होता है, उस दिन पत्ता खड़कता है तो मालूम पड़ता है कि चोर आ गया, डाकू आ गया। कहीं शेर न आ जाय। रस्सी पड़ी हो तो मालूम पड़ता है कि कहीं साँप न हो। यह क्यों? मन जो है, यह गलत सूचना देता है। क्यों? राग-द्वेष, भय, मोहके कारण ऐसा होता है। राग होता है तो मन बताता है कि इसमें बड़ा गुण है, दोषपर नजर नहीं जाती है। हमारे महाकवि भारविका तो कथन है कि असलमें गुण किसीमें होते ही नहीं। जिससे प्रेम हो जाता है, उसमें गुण मालूम पड़ते हैं।

'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि'।

अच्छा, बोले कि दोष? तो दोष भी किसीमें नहीं होते। जिससे द्वेष हो जाता है, उसमें दोष मालूम पड़ते हैं। यह गुण और दोष वस्तुनिष्ठ नहीं हैं। राग-द्वेष विशिष्ट अन्तःकरणमें गुण और दोष मालूम पड़ते हैं। वस्तु तो निर्गुण है।

तो देखो, मन सच्चा आनन्द नहीं बताता है। क्लेशकी कल्पना कर लेता है और राग-द्वेष, भय, मोहसे ग्रसित हो जाता है। अपना बच्चा कैसा भी हो, कितना प्यारा लगता है। दूसरेका बच्चा बहुत बढ़िया हो, तब भी प्यारा नहीं लगता। तो मन मोहके कारण गलत बताता है न! तुम्हारी किसीसे दुश्मनी हो और हम वर्णन करें कि भाई, आजकल वह भगवान्‌का नाम खूब लेता है। तो कहोगे कि स्वामीजी, आप नहीं जानते! वह दिखानेके लिए माला फेरता है। वह तो फेरेगा माला और तुम कहोगे कि दिखाता है। क्यों? क्योंकि तुम्हें उससे द्वेष है भला!

तो यह मन जो है, यह सच्चा ज्ञान भी नहीं देता है। अच्छा, मन कहो कि सच्ची स्थितिमें रखे। तो यह पट्ठा तो यह कहता है कि अपने घरमें भी मत रहो। दूसरेके घरमें चलकर रहो। माने मन दिलमें रहनेवाली बातोंके बारेमें कितना सोचता है, यह देखो! तो इसकी स्थिति ही सती नहीं है, इसका ज्ञान भी सत् नहीं है और सुख भी सत् नहीं है। यह दुःख दे, अज्ञानके मार्गमें ले जाये और चंचल बना दे। इसलिए, मनको जो लोग परमार्थ मानते हैं, वे गलत मानते हैं। यह मन परमार्थ नहीं है। यह तो एक अपनेको ऐसा औजार मिला है कि इसको दो पाटके बीचमें डालो। क्या? एक तो यह कहो कि हे मनीराम, तुम चाहे कुछ भी बोलो, मैं गलत काम नहीं करूँगा। तुम भले लोभके अधीन होकर कहो कि अमुक चीज उठा लो। लेकिन मैं तुम्हारी नहीं सुनूँगा। हाथसे उस चीजको नहीं उठाऊँगा।

तो एक तो कहो कि मनके कहे गलत कामको हम किसी इन्द्रियसे नहीं करेंगे—एक चक्कीका पाट तो यह है और दूसरा यह है कि बुद्धिसे उसको समर्थन मत दो। उसको बताओ कि यह अधर्म है, यह अकर्त्तव्य है। यह अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाला है, यह पतित करनेवाला है। तो बुद्धि दृढ़ निश्चयी हो और बुरा कर्म न करनेका दृढ़व्रत हो तो इस निश्चय और व्रतके बीचमें यह मन जो है, यह ठिकाने लग जाता है भला! नहीं तो यह बहुत दुःख देता है।

'बुद्धिरिति च तद्विदः'—अब बुद्धिके जो वेत्ता हैं, वे कहते हैं कि वही परमार्थ है।

यह 'परमार्थ' शब्दका अर्थ तो आप समझते ही होंगे। 'अर्थ' माने ठोस वस्तु जिसको हम चाहते हैं। **'अर्थ्यते इति अर्थः'**। जिसके लिए हमारे मनमें प्रार्थना होती है कि हमको यह मिले, यह मिले, यह मिले। तो हम ठोस वस्तुको चाहते हैं न! तो 'अर्थ' माने ठोस वस्तु और वह वांछाका विषय हो, आकांक्षाका विषय हो। कोई चाहते हैं हमको धन मिले, कोई चाहते हैं हमको भोग मिले, कोई चाहते हैं हमको खूब बढ़िया काम करनेको मिले, समाज-सेवा मिले। कोई चाहते हैं कि हमारे लिए कोई बन्धन न रहे, हम मुक्त हो जायें। तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों आकांक्षाके विषय हैं।

बोले भाई कि चाहते तो सब हैं। पर, चाही हुई चीज परमार्थ नहीं होती। एक ऐसी चीज है, जो चारों में है। 'अर्थ' का जो परमरूप है, उसको 'परमार्थ' बोलते हैं। अच्छा, जैसे देखो दस घड़े रखे हों, तो एक-एक घड़ा एक-एक अर्थ है। लेकिन उसमें परमार्थ क्या है? माटी है। **'मृत्तिकेत्येव सत्यं'**। सोनेके दस जेवर रखे हों। तो दसों जेवर अर्थ हैं। हजारों-हजारों रुपयेके दसों हैं। लेकिन उनमें परमार्थ क्या है? सोना है। इसी प्रकार, यह संसारमें जो अनेकता दिख रही है, यह जो भेद दिख रहा है, उनमें जो एकता है, वह 'परमार्थ' है। 'परमार्थ' माने अर्थका परमरूप। जैसे शक्करसे बहुत सारे खिलौने बना लिये। बच्चे परस्पर लड़ते हैं कि हमको घोड़ा चाहिए, हाथी चाहिए। तो वे जो खिलौने हैं, वे 'अर्थ' हैं, उनको हम चाहते हैं और परम-अर्थ उसमें क्या है? खाँड़ है, जिससे वे खिलौने बने हैं।

तो नारायण, यह जो संसार है, इसमें परमार्थ माने असलियत ऐसा उपादान है, जिसका कभी नाश न होता होवे माने अबाधित उपादान है। वह उपादान क्या है? तो किसीने कहा कि बुद्धि ही वह अबाधित उपादान है।

बुद्धिके लिए तो बड़ी प्रार्थना की जाती है। हे भगवान्, सद्बुद्धि दो।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु॥

हे अग्निदेवता, हमको मेधावी बनाओ।

'मेधा' उसको कहते हैं, जो अच्छे-बुरेका परिच्छेद करे। एक 'मेध-धातु' हिंसाके अर्थमें भी है और एक मेध-धातु समझदारीके अर्थमें है। जैसे अश्वमेध, गोमेध, नर-मेधमें जो 'मेध' शब्द है, वह हिंसाके अर्थमें धातु है, उससे बनता है। वैसे देखो, बुद्धि भी हिंसा करती है। क्या हिंसा करती है? बोले कि 'परिछिन्नत्ति'—चीजोंको टुकड़े-टुकड़े करके दिखा देती है कि यह अच्छा है, यह बुरा है; यह दोष है और यह गुण है; यह अपना है, यह पराया है और यह शत्रु है, यह मित्र है; यह सच्चा है, यह झूठा है। इस तरह यह बुद्धि भी परिच्छेद करती है और, जिसके बुद्धि नहीं है, वह तो पशु है। क्योंकि, ज्ञान-ही एक विशेष-वस्तु है, जो मनुष्यमें है। सो, बुद्धिका आदर करना चाहिए।

हाँ, बुद्धिका आदर तो करना चाहिए। लेकिन आप देखो, संसारमें संस्कार-शून्य बुद्धि नहीं होती, ऐसी कोई बुद्धि ही नहीं होती, जिसमें कोई-न-कोई संस्कार न हो। इसीसे बुद्धिके द्वारा सत्य जाननेमें बड़ी कठिनाई है। हमने देखा है कि दंगे कैसे होते थे। हिन्दुओंमें कोई एक आदमी अफवाह फैला जाता कि आज मुसलमान आक्रमण करनेवाले हैं। तो लोग कहते हैं कि भाई, रक्षा करो। अब ढेला, पत्थर, लाठी, बल्लम, तलवार, बन्दूक ले-लेकर लोग किसी छतपर इकट्ठे हो जाते। सो रक्षाके लिए इकट्ठे हो जाते और, जब इकट्ठे हो जाते, तब आपसमें क्या चर्चा करते कि देखो, जब वे आक्रमण कर देंगे, तब हम क्या रक्षा करेंगे? अरे, वे तो सोते होवें, तभी उनके मुहल्लेमें जाकर आक्रमण कर देना चाहिए। चलो-चलो, हम उनपर आक्रमण करें। अब जाकर देखो तो मुसलमानोंके यहाँ न लाठी, न बल्लम। कुछ नहीं निकलता। न बन्दूक, न ढेला। वे तो बेचारे डरके मारे अपनी-अपनी किवाड़ी बन्दकरके पड़े होते और ये लोग द्वेषके कारण उनपर टूट पड़ते।

तो देखो, यह बुद्धि दुःख देती है। कभी-कभी यह बुद्धि द्वेषाक्रान्त होती है और कभी-कभी रागाक्रान्त होती है। रागमें मालूम पड़ता है कि सब हमसे प्रेम ही करते हैं।

एक हमारे मित्र हैं। उनकी ओर अगर कोई प्रेमकी आँखसे देख ले तो शौच जाना बन्द कर देते हैं और हाथमें लोटा लिए-लिए देखनेवालेके पीछे बड़ी दूरतक चले जाते हैं। उनको यह ख्याल होता है कि यह आदमी हमसे बहुत प्रेम करता है। तो यह घूम-घूमकर हमको देखेगा, इसलिए चलो थोड़ा इसके पीछे-पीछे चलेंगे,

तो इसको आनन्द मिलेगा। अब बुद्धि तो उनकी रागाक्रान्त है और वह कल्पना करते हैं दूसरेके आनन्दकी।

तो संस्कार-शून्य बुद्धिका होना बड़ा मुश्किल है। अच्छे नहीं तो कम-से-कम बुरे संस्कार तो मिटाओ।

लेकिन, प्रश्न यह है कि अगर बुद्धि परमार्थ होती, तो यह झूठ न बताती। कभी-कभी ऐसा गलत पक्ष लेती है। बुद्धिमें भी ममता होती है। अरे, यह तो हमारा आदमी है, इसका तो पक्ष लेना ही पड़ेगा। यह हमारा आदमी क्या होता है जी? यह सत्यमें हमारा-तुम्हारा क्या होता है? सत्यमें हिन्दू-मुसलमान क्या होता है? सत्यमें हिन्दुस्तान-पाकिस्तान क्या होता है? सत्यमें गुजरात-महाराष्ट्र क्या होता है? सत्यमें शैव-वैष्णव क्या होता है? बोले कि यह हमारी पार्टी है। यह दलबन्दीका दलदल कहाँसे निकला? यह बुद्धिमें-से निकला। जानबूझकर लोग दल बनाते हैं। इसीसे भगवान्ने कहा कि,

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (गीता २.५२)

मोहके दलदलसे यह बुद्धि ऊपर उठे। जो सुनते-सुनते, पढ़ते-पढ़ते संस्कार पड़ गये हैं, उन्हें हटाना पड़ेगा। हमने २०-२५ वर्ष पहले देखा कि एक संस्था बच्चोंका क्लास लगाती थी। ८ से १५ वर्षकी उम्र तकके बच्चे सबेरे क्लास लगाकर बैठ जाते। उसमें और सब बहुत-सी बात तो सिखाते ही, एक बौद्धिक-क्लास भी उनका लगता। ऐसी बात उन बच्चोंके मनमें बैठा देते थे कि अगर वे हमारे सम्पर्कमें आवें और हम उनको समझाते कि तुम्हारे अध्यापकने तुमको गलत शिक्षा दी है, यह तो राग-द्वेषकी शिक्षा है, यह तो ठीक नहीं है। तो बच्चे हमारी नहीं मानते।

अब देखो, हमलोग बच्चे थे तो गान्धीजीके प्रति सनातन-धर्मियोंने क्या-क्या भर दी थी। बोले कि वे धर्मको क्या जानें? फिर नेहरूजीका समय आया, तब भी कहें कि वे धर्मको क्या जानें? तो यह बात बच्चेकी समझमें कैसे आती है? हम कहते हैं कि कुछ भी हो, उस समय जो पन्द्रह-सोलह वर्षका बच्चा सोचने-विचारने वाला था, गान्धीजीकी बुद्धि तो उनसे बहुत बड़ी थी, नेहरूजीकी बुद्धि भी बहुत बड़ी थी। बैरिस्टर थे, उन्होंने विदेशोंमें जाकर बहुत अनुभव किया था, बहुत शिक्षा पायी थी। लेकिन हमारा एक सनातन-धर्मी, एक हिन्दुत्व भावाक्रान्त, एक सोलह वर्षका बालक कहता कि वे मूर्ख हैं। वे धर्मके बारेमें कुछ नहीं जानते। बात सच्ची आपको सुना रहा हूँ। आज भी ऐसा होता है भला! इसका कारण क्या है? यह बुद्धि जो है,

इसको जैसा सिखाया जाय, जैसी बात बार-बार सुनायी जाये, उसका संस्कार पड़ता है। तो यह बुद्धि संस्कारशून्य होकर परमार्थ-वस्तुको ग्रहण करे। तो वह भी हमेशाके लिए संस्कार-शून्य न होकर, संसारके संस्कारका अपवाद कर दे और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिके द्वारा परमार्थका साक्षात्कार करे—वह नात तो दूसरी है। लेकिन बाबा, जैसे अपनी बुद्धि कभी गलती करती है, वैसे दूसरेकी बुद्धि भी कभी गलती करती है—यह बात मत भूलना। हमारी बुद्धि खुदा है, ऐसा नहीं मान लेना। हमारी बुद्धि भी गलत करती है। इसलिए, उसके बारेमें भी सोचना चाहिए और जव सद्गुरुकी कृपासे शास्त्रके अर्थकी निर्मलतासे, ईश्वरकी कृपासे यदि ऐसा मालूम पड़े कि हमारी बुद्धि गलत समझती है तो उसको छोड़ना चाहिए। यह बुद्धि-बुद्धि करके बुद्धिवादकी स्थापना नहीं करनी चाहिए।

ईमानदारीकी बात यह है कि बुद्धिवाद इन्द्रियवाद है। कैसे? बुद्धि अतीन्द्रियको तो देखती नहीं। इन्द्रियोंसे संसारमें जो अनुभव होता है, उसीसे संस्कार लेती है। तो बुद्धिके जितने अनुभव हैं, पौरुषेय अनुभव हैं। इसलिए उनमें भ्रम भी हो सकता है, प्रमाद भी हो सकता है। थोड़ी देरके लिए दूसरी ओर चली गयी। विप्रलिप्सा अर्थात् ठगनेकी इच्छा भी हो सकती है और कभी-कभी बुद्धिसे ठीक वह पदार्थ ग्रहण न किया गया हो, ऐसा भी हो सकता है। तो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषबुद्धिमें हैं। सो दूसरेकी बुद्धि गलत और हमारी सही, यह जो दुराग्रह है, यह गलत है! तो,

प्रातः श्रद्धामाह्वामहे!

प्रातः उठकर आमन्त्रित करना कि मैं श्रद्धाको आमन्त्रित करता हूँ, मैं मध्याह्न-कालमें श्रद्धाको आमन्त्रित करता हूँ, मैं सायंकालमें श्रद्धाको आमन्त्रित करता हूँ। अरी श्रद्धे, तू मेरी चिरसंगिनी बनकर रह!

वेदमें यह श्रद्धा-सूक्त है और इसमें एक ही ढंगके कई मन्त्र हैं। आप तो जानते ही हैं, **श्रद्धया सत्यमाप्यते।**

तो बुद्धिवादी नहीं होना। क्योंकि, बुद्धिवाद तो इन्द्रियोंसे लिया हुआ संस्कार है। और, बुद्धिजीवी भी नहीं बनना। अपनी बुद्धिको बेचना नहीं चाहिए। बुद्धिसे यथार्थ-अयथार्थका ज्ञान प्राप्त करना। कर्मको जीविका बनाना चाहिए, बुद्धिको नहीं। जैसे ग्रन्थ-लेखन जीविकाके लिए नहीं होना चाहिए। वह तो अपने अनुभवका ग्रन्थ-लेखन होना चाहिए। यदि प्रकाशकसे या सरकारसे पैसा लेकर और उनकी बुद्धिके अनुसार लिखा गया और अपनी बुद्धिका तिरस्कार कर दिया

गया, तो वह बुद्धिका विक्रय हो गया। बुद्धिवादी भी नहीं होना और बुद्धिजीवी भी नहीं होना और अपनी बुद्धिपर अन्धश्रद्धालु भी नहीं होना।

यह बुद्धि कैसी है, आपको क्या सुनावें? जैसे घरमें दीया जलाकर पढ़ते हैं और जब सोना होता है, तब दीयाको बुझा देते हैं और जब सूर्योदय होता है तो जाग जाते हैं और सूर्यास्त होता है तो सोते हैं। ऐसे ही यह बुद्धिका दीया जलाकर हम इससे अपना काम लेते हैं और सुषुप्तिकालमें बुद्धिका दीया बुझा देना पड़ता है। बुद्धिके सूर्यको सुषुप्तिकालमें अस्त होना पड़ता है। यदि सुषुप्ति-कालमें बुद्धिका सूर्य अस्त न होवे तो कोई सोवे कैसे? तो केवल साक्षी रहता है। यह साक्षी परमार्थ है। अज्ञात साक्षीका नाम 'ईश्वर' है और ज्ञात साक्षीका नाम 'ब्रह्म' है। जबतक तुम इसको जानते नहीं हो, तबतक विश्वको जाननेवाला एक ईश्वर चैतन्य है, ऐसा विश्वास करते हो। तो साक्षीकी अज्ञात-दशाका नाम 'ईश्वर' है और साक्षीकी ज्ञात-दशाका नाम 'ब्रह्म' है। अपना आपा ही है।

एक दिन एक सज्जन हमारे पास बैठे हुए थे। तो ईश्वरका शास्त्रोंमें कैसे वर्णन है, यह मैं उनको सुना रहा था। तो मैंने उनको सुनाया कि अमुक प्रान्तमें एक बहुत बड़ा कस्बा है। उसमें एक बहुत उत्तमकोटिका ब्राह्मण परिवार रहता है। उसके कई भाई-बहन हैं, उसकी माता है। वह स्वयं बड़ा सदाचारी है। देखनेमें उसका कद ऐसा है। उसका नाम भी बहुत बढ़िया है। हमको बहुत अच्छा लगता है।

अब जो सुननेवाले सज्जन थे, वे पूछने लगे कि ऐसा कौन है महाराज? 'भई है'। आपको बहुत पसन्द है? हाँ, हमको बहुत पसन्द है। फिर उन्होंने बहुत आग्रह किया कि बताओ। तो मैंने कहा कि वह तुम्हीं हो!

अब देखो, उनको पहले ऐसा लगा कि किसी परोक्ष व्यक्तिका वर्णन कर रहे हैं। यही ईश्वरका वर्णन है—ईश्वर ऐसा है, ईश्वर ऐसा है, ईश्वर ऐसा है। वह सत् है, चित् है, आनन्द है, साक्षी है, अद्वितीय है, सर्वावभासक है, सर्वाधिष्ठान है। अरे बाबा, वह कौन है? तो इसका उत्तर क्या है? अरे भाई, यह तुम्हारा ही वर्णन है। यह तुम्हीं हो, दूसरा कोई नहीं है। इसीको 'परमार्थ' बोलते हैं।

परोक्षप्रिया हि देवाः परोक्षेण प्रत्यक्षद्विषः।

गोपथ-ब्राह्मणमें यह प्रसंग आया कि देवता लोग वर्णन करनेमें ऐसा वर्णन करते हैं, जैसे परोक्षका वर्णन कर रहे हों! लेकिन, असलमें वे परोक्षका वर्णन नहीं करते हैं। वे तो अपरोक्षका वर्णन करते हैं।

देखो, जैसे हमारे हाथमें यह पुस्तक है! तो यह प्रत्यक्ष हुआ और स्वर्गका वर्णन करने लग जायें तो वह परोक्ष हो जायेगा। अब यहाँ बैठकर पहाड़का वर्णन करने लग जायें तो परोक्ष हो जायेगा। हाथ, पाँव प्रत्यक्ष हैं। लेकिन हमारे दिलमें जो राग-द्वेष है, वह क्या है? तो यह न तो स्वर्गकी तरह परोक्ष है और न ही घटादिकी तरह प्रत्यक्ष है। तब ये क्या हैं? ये राग-द्वेषादि अपरोक्ष हैं। अपरोक्ष हैं माने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंसे विलक्षण हैं। और, अपना आत्मा क्या है? बोले कि साक्षादपरोक्ष है। क्योंकि, राग-द्वेष सुषुप्तिमें नहीं मालूम पड़ते और अपना आत्मा तो सुषुप्तिमें भी रहता है। तो इसको जाननेके लिए कोई औजार, करण नहीं चाहिए।

तो महाराज, यह बुद्धि परमार्थ नहीं है! क्योंकि, सुषुप्तिमें नहीं रहती। और, बुद्धि जो है, यह तो स्वातिरिक्त वेद्य है। स्वातिरिक्त वेद्यका अर्थ क्या हुआ? बुद्धिके अलावा कोई ऐसा है, जो बुद्धिको जानता है। आज हमारी बुद्धि कुछ भोथर हो गयी है—ऐसा कहते हैं न! 'भोथर' शब्दका अर्थ शायद आप लोग नहीं जानते हैं। कुछ गँवारू ढंगका है। चारा काटनेवाली जो गडाँस होती है, जब उसकी धार कुंठित हो जाती है तो उस धारकी कुंठाको गाँवमें 'भोथर' बोलते हैं। उसका अभिप्राय है, स्थूल हो गयी। तो आज हमारी बुद्धि स्थूल हो गयी अथवा आज तो हमारी बुद्धिमें बड़ी-बड़ी बात सूझ रही है। आज तो नींद-सी आ रही है। इस प्रकार बुद्धिकी कई अवस्थाएँ होती हैं। तो जैसे घड़ा जाना ज़ाता है कि यह काला है, यह लाल है, यह सफेद है, इसी प्रकार बुद्धि अपने अतिरिक्तके द्वारा भास्य है। जो बुद्धिसे भिन्न है, वह बुद्धिको देखता है। माने आत्माके द्वारा बुद्धि भासित होती है। बुद्धि साक्षी-भास्य है।

अत: जब अपनेसे अतिरिक्तके द्वारा जानी जाती है, तो बुद्धि परमार्थ नहीं हो सकती।

'चित्तमिति चित्तविदः'—किसीने कहा कि चित्त ही परमार्थ है।

यह चित्त परमार्थ क्या है? 'चित्त' शब्दका अर्थ है 'राशि'। *'चिति संज्ञाने'*। 'संज्ञान' माने किसी चीजका नाम रखना। अब जैसे यह चित्र है—यह एक नाम हुआ और यह पुस्तक है—यह दूसरा नाम हुआ, यह रूमाल है—यह तीसरा नाम हुआ। तो चित्रका संज्ञान, पुस्तकका संज्ञान और रूमालका संज्ञान—यह संज्ञान, संज्ञान, संज्ञान—इसको 'चित्त' बोलते हैं। माने ऐसी पुस्तक होती है, ऐसा चित्र होता है, ऐसी रूमाल होती है—यह जो ज्ञानोंकी गठरी है, राशि है, ढेर है, उसको 'चित्त' बोलते हैं! यह शब्द दोनों तरहसे बन सकता है—'चिति संज्ञाने' धातुसे भी बनता है और *चिञ्चयन* अर्थमें भी बनता है। जैसे, चायके पत्ते भिन्न-भिन्न वृक्षोंसे चुने जाते हैं, इसी प्रकार यह चित्त भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें-से ज्ञान चुनकर अपने अन्दर रखता है।

अब यह जो योग-दर्शनके द्वारा वृत्ति निरोध होता है, तो कई लोग उसे चित्त-निरोध समझ बैठते हैं। योग-दर्शनके द्वारा चित्त-निरोध नहीं होता, चित्त-वृत्ति निरोध होता है। चित्त-वृत्ति निरोध यह होता है कि जैसे आपके घरमें किसी गीली जगहमें चना अथवा गेहूँ रखे हों! तो गीले-पनके कारण उसमें-से अंकुर फूट आवें! तो अंकुरको तोड़ दिया। वृत्तिका निरोध माने चित्तसे उठनेवाली, व्यवहार करनेवाली वृत्तियोंका निरोध। न चित्तका निरोध, न चित्तका बाध। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान करनेसे यह होता है कि चित्तमें-से जो लौ निकलती रहती है, उस लपटका निकलना बंद कर दिया जाये। जैसे कोई अंगारा हो और बीच-बीचमें उसमें-से लौ निकलती हो और उसको ढँक दिया, राखसे दबा दिया तो क्या होगा? आग नहीं बुझी, केवल उसमें-से लपटोंका निकलना बंद हो गया। तो इसी प्रकार, चित्त एक सांसारिक ज्ञानोंकी राशि है। 'चिति संज्ञाने' धातुमें जो 'चित' है उसमें 'त्' प्रत्यय करनेपर 'चित्त' शब्द बना। उसमें ढेर-के-ढेर ज्ञान भरे हुए हैं। तो समाधिके समय वृत्तियोंका उठना बंद हो गया और जब फिर उठे तो यह ज्ञान हुआ कि यह माँ है, यह बाप है, यह भाई है, यह रुपया है, यह मकान है, यह हमारा है और यह तुम्हारा है, यह शत्रु है, यह मित्र है। तो यदि वह संतान ही नष्ट हो गयी होती या संज्ञान ही निरुद्ध हो गया होता, तो समाधिसे उठनेके पूर्वकी जो स्मृति है, वह न उठती और पूर्वमें संचित जो अनुभव है, वे न निकलते। इसका अर्थ है कि योगके द्वारा चित्तका निरोध नहीं होता व चित्तका नाश नहीं होता, चित्तका बाध भी नहीं होता। केवल चित्तकी व्यवहार-दशा समाधि-कालमें शान्त हो जाती है। माने उसकी वृत्तिरूपी अंकुर नहीं निकलते। उससे लपटें नहीं निकलतीं, किरणें नहीं निकलती, यह कुछ लोग महाराज, नस दबाकर समाधि लगवा देते हैं।

भारतमें एक आश्रम था। ३०-३५ वर्ष पहलेकी बात कर रहा हूँ। तो वहाँ जो लोग जाते थे, उनको उन्मनी-दशा हो जाया करती थी। पर, सबको नहीं होती थी। क्यों? वहाँके जो अधिकारी थे, वे तजबीज लेते थे कि जितने लोग आये हैं, इनमें-से भोला कौन है? भावुक कौन है? नाम-जपका अभ्यास है कि नहीं है? तो वे प्रसाद जो बनाकर रखते, वह दो तरहका होता। एक प्रसादमें उन्मनी-बूटी होती! माने भाँगका थोड़ा हिस्सा होता। तो किसीको देख लेते कि यह भोला है, माला फेरनेवाला है, तो प्रसादमें उसे वह भाँगवाला पेड़ा दे देते। और कहते कि तुरन्त खा जाओ अब खानेके थोड़ी देरके बाद उसको कुछ मजा आने लगा! वे बोले कि देखो, यह आश्रमके वातावरणका प्रभाव है। तो जो लोग ज्यादा चमत्कार चाहते हैं, वे बहुत

फँसते हैं भला! यह चमत्कारका रास्ता नहीं है। परमार्थ दूसरी चीज है और जादू-टोना, चमत्कार दूसरी चीज है। एक जग क्या करते कि अपनी बैठकमें महात्माजी राल जलाया करते। अब कोई जाकर बैठता तो थोड़ी देरमें उसका कुछ असर उसके ऊपर पड़ता और वह कहता कि अरे, यहाँ आनेपर तो स्वभावसे ही ध्यान लग रहा है। कितना शान्त वातावरण है। अब यह मूर्ख लोगोंको कुछ पता तो है नहीं! ध्यान चित्तकी पवित्रतासे होता है। ध्यान दीर्घकालके अभ्याससे होता है। ध्यान गुरुकी बतायी हुई युक्तिसे होता है। वह पीठकी रीढ़की हड्डी दबानेसे नहीं होता है भला! वह नस दबवाकर अथवा इञ्जेक्शन लगवाकर नहीं होता। परमार्थ वस्तु जो है, वह दूसरी है।

तो कुछ कहते हैं कि चित्त परमार्थ है!

बोले कि अच्छा, चित्त परमार्थ है तो एक बार चित्तका बाह्याकार शून्य करो! चित्तमें कोई बाहरी आकार न हो और बाह्य आकारसे शून्य चित्तका नाम 'आत्मा' है! अरे बाबा, यह तो कालका बच्चा है, आत्मा काहेका है! एक समयके लिए तो आकार-शून्य हुआ न! एक समयके लिए जो वस्तु होती है, उसका नाम 'आत्मा' नहीं होता। क्योंकि, आत्मा समयका साक्षी है। वह देशके विस्तारका भी साक्षी है। वह विषयाकारका भी साक्षी है और शून्याकारका भी साक्षी है। जिसका कोई प्रति .गी होता है, कोई प्रतिद्वन्द्वी होता है, उसका नाम 'आत्मा' नहीं है। आप यह लक्षण घटा लो! शून्याकारका प्रतिद्वन्द्वी कौन है? विषयाकार। विषयाकारका प्रतिद्वन्द्वी कौन है? शून्याकार। ये दोनों आपसमें टकराते हैं और जो दोनोंकी टक्करका साक्षी है, उसका नाम 'आत्मा' है। चित्त कभी विषयाकार हुआ और कभी शून्याकार हुआ और दोनोंमें जो एकरस है, उसका नाम 'आत्मा' होता है।

अतः परमार्थ चित्त नहीं है। चित्त तो अर्थ है। जिसमें-से कभी वृत्तियाँ निकलती हैं और कभी नहीं निकलती हैं, जिसमें कभी विषयोंकी परछाईं पड़ती है और कभी नहीं पड़ती। तो चित्त क्षणिक है—कभी शून्य और कभी विषयाकार, कभी सुषुप्तिरूप, कभी स्वप्नरूप और कभी जाग्रत्-रूप। और, आत्मा जो है, वह एक रूप है। इसलिए जो लोग कहते हैं कि चित्त परमार्थ है, वे लोग परमार्थके स्वरूपको नहीं समझते।

यह देखो, इतनी बात जो बतायी जा रही है, इसका मतलब है कि परमार्थका विचार करनेके लिए आपकी बुद्धिकी तैयारी हो। झटसे मान बैठना—यह बात झूठी है!

★

पूर्व मीमांसकोंका मत

'धर्माधर्मौ च तद्विदः'

पूर्व मीमांसक कहते हैं कि धर्माधर्म ही परमार्थ है। यह धर्म-अधर्मकी बात बड़ी विलक्षण है। देखो, अच्छी चीज धर्म होती है और बुरी चीज अधर्म होती है—यह कल्पना नहीं है। अच्छा, कोई सुन्दर स्त्री है या सुन्दर पुरुष है। तो पुरुष सुन्दर होनेपर भी, सद्गुणयुक्त होनेपर भी यदि परपुरुष है तो स्त्रीके लिए उससे सम्बन्ध करना क्या धर्म हो सकता है? नहीं हो सकता! अधर्म हो गया। अच्छा, स्त्री सुन्दरी होनेसे ही तो ग्राह्य नहीं है न! उसमें परायापन तो नहीं होना चाहिए न! परायी स्त्री तो नहीं होनी चाहिए न! अब जो लोग सागुण्य देखकर धर्माधर्मका निर्णय करते हैं, उनके लिए यह बात कितनी टेढ़ी पड़ेगी।

बोले कि भाई, यह मिठाई तो खानेमें बड़ी स्वादिष्ट है और शरीरके लिए हितकारी है। तो क्या इससे उसको खाना धर्म हो जायेगा? ऐसे धर्म नहीं होता। यह तो बड़ी अद्भुत लीला है।

एक सिपाही चौराहेपर खड़ा है और इधर-उधरसे मोटरें आ रही हैं और उनको बराबर हाथ दे-देकर यातायात नियंत्रित कर रहा है। अगर, एक मिनटके लिए कहीं इधर-उधर हो जाये तो मोटरोंमें एक्सीडेंट हो जाये। अब उसने देखा कि एक छोटा-सा बालक धरतीपर गिरा है! तो उस बालकको बचाना तो बड़ा औचित्य मालूम पड़ता है न! उसकी तो रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि वह उठकर

भाग नहीं सकता, उसके बुद्धि नहीं है, सोच नहीं सकता। लेकिन क्या सिपाहीको उस समय अपनी ड्यूटी छोड़कर उस समय वहाँ जाना चाहिए? नहीं जाना चाहिए! नहीं तो दस एक्सीडेंट और हो जायेगा। पचासों आदमी मर जायेंगे! उसको वहीं खड़े-खड़े किसीको इशारा कर सकता हो, तो वही करना चाहिए।

अभी हाल ही में हमसे किसीने आकर पूछा कि अमुक चीज तो शरीरके लिए बहुत बढ़िया, बहुत हितकारी और बहुत गुणकारी है। उसको खाना धर्म क्यों नहीं? तो, अच्छाईकी दृष्टिसे धर्म सोचा ही नहीं जाता! अच्छी चीजसे भी अपने मनको रोकनेके लिए धर्म है। अच्छी चीजपर तो मन ज्यादा चलता है। स्वादिष्ट चीज पर मन और ज्यादा चलता है। गुणकारी चीजपर अपना मन और ज्यादा चलता है। वहाँसे भी मनको रोकनेका साधन धर्म है।

बोले कि भावसे धर्म बनता है! तो देखो, न तो वस्तुसे धर्म बनता है, न तो क्रियासे धर्म बनता है और न तो भावसे धर्म बनता है। यह आपको इस लिए सुना रहे हैं कि आपके चित्तपर इसका थोड़ा भी संस्कार बना रहे! एकने कहा कि है तो हमारी बहन, है तो हमारी बेटी, लेकिन हमारा भाव तो अब उसके प्रति पत्नीका हो गया है। क्योंजी, पत्नीका भाव हो जानेसे बहनका साथ धर्म हो जायेगा? यह भावसे भी नहीं बनता है।

अच्छा, तब धर्म बनता कैसे है? किसी प्रकारकी स्थितिसे भी धर्म नहीं बनता। अच्छा बोले कि आत्मामें धर्माधर्म कुछ हैं क्या? तो आत्मामें भी धर्माधर्म नहीं है। बड़ी विचित्र बात है! हाथरसकी जो माटी है, वही माटी ब्रजभूमिकी है! पर ब्रजभूमिकी माटीको सिरमें लगाना धर्म है, हाथरसकी माटीको सिरमें लगाना धर्म नहीं है। पानी तो बोतलमें जो आता है, सो भी है और गंगा जल भी है। लेकिन, बोतलवाला पानी पीनेसे धर्म उत्पन्न नहीं होगा और गंगाजलका पान करनेसे धर्म उत्पन्न होगा। बोले कि गंगाजलमें भाव है! तो भाव-वाव कुछ नहीं है।

असलमें जब वस्तु एक है, परमात्मा एक है, प्रकृति एक है, परमाणु सब-के-सब एक सरीखे हैं, पञ्चभूत एक हैं, स्त्री-पुरुष सब-के-सब एक सरीखे हैं, सिवाय अध्यारोपके और किसी प्रकारसे धर्माधर्मकी सिद्धि हो ही नहीं सकती। नहीं तो ब्राह्मणका धर्म अलग और क्षत्रियका अलग-अलग कैसे होगा? अच्छा, गृहस्थका धर्म अलग और संन्यासीका धर्म अलग। दोनों मनुष्य हैं। कैसे धर्म अलग होगा? बेटीका धर्म अलग और पत्नीका धर्म अलग, बहनका धर्म अलग

और माँका धर्म अलग! सब स्त्री हैं। धर्म अलग-अलग कैसे होगा? तो यह धर्ममें पृथक्ता कहाँसे आती है? तो यह केवल अध्यारोप-अपवाद न्यायसे ही धर्माधर्मकी पृथक्ता आती है। नहीं तो एक ब्रह्म, सब एक माटी, सब एक प्रकृति, सब एक प्रकारके मनुष्य!

तो इसका अभिप्राय क्या निकला कि धर्माधर्मका जो विभाग है, वह शास्त्रैक्यगम्य है। अब इसको ऐसे समझो! सड़कपर दायेंसे चलना चाहिए कि बायेंसे? अरे बाबा,चाहे दायें चलो कि बायें चलो, सड़क तो एक ही है, पटरी तो दोनों तरफ हैं। बोले कि नहीं, बायेंसे चलना चाहिए! क्यों? यह शास्त्रैक्यगम्य है। यह भारतवर्षका कानून है कि बायेंसे चलो! यह सड़कमें भेद करके कानून नहीं बनाया गया है कि बायें दूसरी सड़क है और दायें दूसरी सड़क है! यह वस्तुका भेद करके नहीं बना। अच्छा, चलनेमें जो बायीं ओर चलता है, वह सिरसे चलेगा और जो दायीं ओर चलता है, वह पाँवसे चलेगा—ऐसा नहीं है। तो क्रियामें भी भेद नहीं, वस्तुमें भी भेद नहीं, मनुष्यमें भेद नहीं। और, अपने गन्तव्यपर सबको पहुँचाना है। अत: भावमें भी नहीं है। फिर, बायेंसे चलना चाहिए कि दायेंसे—यह बात कैसे मालूम हो सकती है? केवल विधानसे मालूम हो सकती है।

इसी प्रकार, एक ब्रह्ममें, एक प्रकृतिमें, एक आत्मामें, एक पञ्चभूतमें, एक मनुष्य-जातिमें धर्माधर्मका विभाग अध्यारोप-अपवाद न्यायसे मालूम पड़ता है। शास्त्रैक्यगम्य धर्माधर्म हैं।

देखो, ईश्वरमें ऐसा वैषम्य नहीं हो सकता कि एकको धनी बनावे, एकको दो हाथ और एकको चार हाथका बनावे, किसीको बिना हाथका ही बना दे! ऐसा पक्षपात ईश्वर क्यों करे? बोले कि इसके लिए धर्माधर्मकी आश्यकता होती है। तो धर्माधर्मके कर्ताके रूपमें जीवकी जरूरत होती है। तो जीवके जीवत्वकी रक्षाके लिए अनादि मायाकी आवश्यकता पड़ती है। तो अन्ततोगत्वा परब्रह्ममें अध्यारोपित जो अनादि माया, उसके कारण जो सुषुप्त जीव है, वह अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर धर्माधर्म करता है और उस धर्माधर्मके अनुसार सृष्टि होती है—यह व्यवस्था माननी पड़ती है।

एक बात आपको और सुनावें! पूर्वजन्मके कर्म स्वीकार कर लेनेके बाद जातिको जन्म-मूलक स्वीकार करना पड़ेगा और जातिको सोलहों आने कर्म-मूलक स्वीकार कर लेनेके बाद पूर्वजन्मका सम्बन्ध बिलकुल कट जायेगा। तो यह जो हमारे सनातन-धर्मी पंडित हैं, वे जब कोई गुण-कर्मसे जातिको सिद्ध

करने लगते हैं तो वे बेचारे बहुत जोर लगाते हैं कि नहीं। इसी जन्मके गुण, कर्मके अनुसार नहीं है, इसमें पूर्वजन्मका भी गुण, कर्म है। यदि पूर्वजन्म कट जाये तो उसका नतीजा यह होगा कि आपका मोक्षशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सबपर पानी फिर जायेगा। फिर, अवतारवाद, ईश्वरवाद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध—सारा-का-सारा कट जाता है। इसलिए, एक सनातन-धर्मी पंडितको यह सिद्ध करना पड़ता है कि पूर्वजन्मके अनुसार जाति होती है। केवल जातिका प्रश्न नहीं है! उसके साथ तो हजार सवाल जुड़े हुए हैं।

यह तो आपको धर्माधर्मकी व्यवस्थामें कितना सोच-विचार करना पड़ता है, उसका एक नमूना बताया यह बात श्रुतिमें आयी है—

तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्।
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा।
य इह कपूयचरणाभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्।
श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(छांदोग्य० ५.१०.७)

जिनके आचरण पवित्र होते हैं, उन्हें पवित्र योनिकी प्राप्ति होती है। जैसे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि, वैश्ययोनि आदि। और, जिनके आचरण अपवित्र होते हैं, उन्हें अपवित्रयोनिकी प्राप्ति होती है। जैसे, श्वयोनि, शूकरयोनि आदि।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि अन्यथा उपपत्ति रूप प्रमाणके द्वारा ही, सृष्टिमें जो पृथक्-पृथक् भेद दीख पड़ते हैं, उनकी संगति लगायी जा सकती है। इसके अलावा और कोई मार्ग नहीं है। 'अन्यथा' माने इस मार्गसे अतिरिक्त मार्गके द्वारा इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। माने सृष्टिमें जो भेद देखनेमें आता है—चिड़िया अलग, पशु अलग और पशुओंमें भी गाय, भैंस, ऊँट अलग, वह कैसे है? तो कोई उपादानको पृथक्-पृथक् बाँटनेवाली चीज न होती, तो यह अलग-अलग उपादान नहीं बन सकते! बोले कि, बीज बाँट लेंगे! तो बीजमें संस्कार होना अपेक्षित है और उसीको कर्म संस्कार, धर्म संस्कार कहते हैं। जैसे आपके पास एक सोनेका पत्रा हो और उसमें औरत, मर्द, सूअर आदि बनाना हो तो उसमें टाँकी चलावेंगे न! तो टाँकी चलाना तो कर्म है। यदि उस सोनेको गलाकर किसी साँचेमें डालेंगे तो वह भी कर्म है। तो इसको 'अन्यथा उपपत्ति' नामसे दार्शनिक बोलते हैं कि इसको स्वीकार किये बिना व्यवस्था चल नहीं सकती। इसलिए धर्माधर्म वेत्ता लोग कहते हैं कि जगत्का जो कारण है, वह धर्माधर्म है।

अब दूसरी बात आपको सुनाते हैं!

हम वेदान्ती लोग हेतु—फलभावको उतना महत्त्व नहीं देते हैं। हेतु—फलभाव माने कार्य-कारण भाव। हम तो उपादानैक-परीक्षण दक्ष हैं माने एक मात्र उपादानका स्वरूप क्या है— इसके परीक्षणमें दक्ष हैं।

तो पहले आपको सुनाया कि द्रव्यसे धर्माधर्मकी सिद्धि नहीं होती, कर्मसे धर्माधर्मकी सिद्धि नहीं होती, भावसे धर्माधर्मकी सिद्धि नहीं होती, कर्तासे भी धर्माधर्मकी सिद्धि नहीं होती। धर्माधर्मकी सिद्धि केवल शास्त्रीय विधि-निषेधसे ही होती है। यह बड़ी क्रांतिकारी दृष्टि है भला! साधारण तार्किक लोगोंकी समझमें यह बात आती नहीं। कम्युनिस्ट आदि जो लोग बात कहते हैं, वे खुद अपनी बातको नहीं समझते और दूसरा कोई भी उस बातको नहीं समझता है। वे तो धर्माधर्मको प्राकृत आधारपर सिद्ध करना चाहते हैं, सामाजिक एवं जातीय आधारपर सिद्ध करना चाहते हैं या फिर वर्गके आधारपर सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि यह बात कभी बन नहीं सकती।

देखो, जैसे एक मनुष्यके मनमें कामवासना है। तो उसका नियन्त्रण आवश्यक है। अब उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे उसका नियन्त्रण करें कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे करें कि गृहस्थाश्रमके ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे करें कि वानप्रस्थाश्रमके ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे करें कि संन्यासाश्रमके ब्रह्मचर्यकी दृष्टि करें। देखो, भेद हो गया! उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यमें आगे विवाह करनेकी संभावना है। अगर निष्काम और निवृत्ति-परायण अन्तःकरण नहीं हुआ, तो उपकुर्वाण ब्रह्मचारीका आगे विवाह कर देंगे। लेकिन, उच्छृंखल नहीं छोड़ेंगे। अच्छा, नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावेंगे, बहुत दिनों तक संन्यासका उम्मीदवार बनाकर रखेंगे! अब गृहस्थाश्रम उचित जो नियंत्रण हैं, उसमें अनेक प्रकारके नियम हैं। वानप्रस्थाश्रममें स्त्री-पुरुष साथ हैं और ब्रह्मचर्य है और संन्यासाश्रममें स्त्रीके साथ नहीं है और ब्रह्मचर्य है।

तो नारायण, यदि यह बात किसी प्राकृत आधारपर निश्चित की जाये, तो नहीं बनेगी!

हमारे एक वैद्यराज हैं काशीमें! अच्छे वैद्य माने जाते हैं। अच्छे क्या, आजकल काशीमें सर्वोपरि वैद्य वही माने जाते हैं। उनके पास एक रोगी गया। उसने अपना रोग बताया और बोला कि वैद्यजी, हमको कोई पेटैंट औषधि बता दो, हम खरीदेंगे और खायेंगे। तो उन्होंने कहा कि देखो भाई, हमारे तो अमुक

रोगपर अमुक दवा चलती है—यह नियम हमारे यहाँ नहीं है। किस रोगीके लिए कैसी दवा होनी चाहिए—यह हमारी मर्यादा है। हम रोगकी दवा नहीं करते, रोगीकी दवा करते हैं। एक सर्दीके मुल्कमें रहनेवाला आदमी है और एक गर्मीके मुल्कमें रहनेवाला है। एकका भोजन मांस, अण्डा है और एकका भोजन रोटी, सब्जी है। दोनोंके देशानुसार तथा भोजनानुसार रोगकी चिकित्सा होगी। एक बच्चा है, एक जवान है, एक बूढ़ा है—सो उसके अनुसार चिकित्सा होगी।

तो इसी प्रकार यह धर्माधर्मकी व्यवस्था सर्वदेशमें एक नहीं होती। तिब्बतके लिए अलग है और समतल भूमिवालोंके लिए अलग है। पाश्चात्य-देशके लिए अलग है और पौरस्त्य-देशके लिए अलग है। इसमें भी संन्यासावस्थामें अलग है और गृहस्थावस्थामें अलग है, वानप्रस्थावस्थामें अलग है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्माधर्म-व्यवस्था वस्तुनिष्ठ नहीं है, अधिकारीनिष्ठ है। जो लोग इसको तात्त्विक समझते हैं, वे गलत समझते हैं। तो यह बात तो हमारे महात्माओंको मालूम थी कि यह तात्त्विक नहीं है! यह तो लौकिक, पारलौकिक व्यवस्था और अन्तःकरणकी शुद्धिको दृष्टिमें रखकर शास्त्रके अनुसार है। यह तत्त्व नहीं है, यह व्यस्था है और शास्त्रीय है।

एक आश्चर्यकी बात है कि ऐसी कोई क्रिया शास्त्रमें नहीं लिखी है, जो कभी अधर्म न हो जाती हो और ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो कभी-न-कभी धर्म न हो जाती हो! कई लोगोंको अनुकूल नहीं पड़ेगा, इसलिए नाम लेकर नहीं बताते हैं। शास्त्रमें ऐसे उदाहरण आते हैं।

एक महात्मा भजन कर रहा था। उसको यह शिक्षा दी गयी थी कि सत्य बोलना धर्म है। एक दिन क्या हुआ कि एक कसाईकी गाय भगकर उसके सामनेसे निकली। उसने देख लिया कि किधर गयी। अब कसाई ढूँढ़ता हुआ आया और उसने पूछा कि महात्माजी, हमारी गाय क्या इधरसे गयी? उसको तो मारना था। महात्माजी बड़े सत्यनिष्ठ! उन्होंने कह दिया कि इधर गयी है। कसाईने जाकर गाय पकड़ ली और ले जाकर उसे मार डाला। अब महात्माको गायके वधमें सहायता करनेकी दृष्टिसे पाप लगा। मृत्यु पश्चात् महात्माजी यमराजके सामने उपस्थित किये गये। 'क्यों महात्माजी, तुमने तो बड़ा भारी पाप किया?'

तो देखो, सत्य बोलना वहाँ पाप हो गया। महात्माजीने पूछा कि हम तब

करते क्या? यमराज बोले कि तुम लाठी लेकर खड़े हो जाते और कहते कि गाय इधरसे गयी है। पहले तुम हमको मार लो, तब इधरसे जाओ! ऐसे तुमको करना चाहिए था! या तो तुम चुपचाप हो जाते, कुछ न बोलते! चाहे वह तुमको कितना ही सताता! तो सत्य बोलना धर्म नहीं है, झूठ न बोलना धर्म है। यह नहीं कि रातमें पत्नीके साथ जो बातचीत हुई, वह अपनी माताको ज्यों-का-त्यों बता दी जाये! यह धर्म है क्या? नहीं है। अरे आपको कितनी व्यवस्था बतावें! वंशका लोप हो रहा हो नारायण, पढ़ो शास्त्रको, तब मालूम पड़ेगा कि इस प्रसंगमें क्या करना चाहिए? यह कोई खास देश, कालकी बात नहीं है। जगन्नाथपुरीमें जाओ, वहाँ उच्छिष्ट अनुच्छिष्टकी विधि दूसरी है। गुरु-शिष्यके बीचमें उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टकी विधि दूसरी है। बृहस्पति-स्मृति खोलते ही निकला कि पति-पत्नीके बीचमें उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टकी विधि दूसरी है। यज्ञमें, युद्धमें हिंसा धर्म हो जाती है कि नहीं? हो जाती है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जो लोग वस्तु, क्रिया, भाव, व्यक्तिमें धर्म-अधर्म मान लेते हैं, वे गलत मान लेते हैं। मतलब यह है कि यह वास्तविक नहीं है, यह तो शास्त्रके द्वारा अध्यारोपित है और जिन महापुरुषोंको यहाँ तककी दृष्टि प्राप्त हो गयी थी, उसके लिए आप यह बताओगे कि उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी और आजकलके लोगोंकी बुद्धि विकसित है! अध्यात्मिक-ज्ञानमें उस महापुरुषकी बुद्धि विकसित थी जिसने धर्मका आधार शास्त्रको बनाया। यह तो बड़ी क्रान्तिकारी दृष्टि है कि उसने वस्तुमें धर्माधर्मका आरोप न करके वचनमें धर्माधर्मका अध्यारोप किया।

अब यह कहो कि यही जगत्‌का कारण हो! तो यह जगत्‌का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि, धर्माधर्म तो कर्ताके अधीन होता है। पहले कर्ता सिद्ध हो, तभी धर्माधर्मकी सिद्धि हो और कर्ता तब सिद्ध हो, जब कर्म सिद्ध हो! हाथ, पाँव होंगे, तब न कहो कि यह करना, यहाँ जाना धर्म है और यह करना, यहाँ जाना धर्म नहीं है! पहले जीभ हो, तब न यह बोलना धर्म और यह बोलना धर्म नहीं।

तो देखो, क्या भोगना चाहिए, क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए-इन तीनोंमें शास्त्रोंके नियन्त्रणकी पद्धति है, उसके अनुसार चलना धर्म है और उसके विपरीत चलना अधर्म है। तो यह तो तात्त्विक नहीं है। सृष्टि बनानेके बाद यह धर्माधर्मकी व्यवस्था बनती है।

अच्छा, कहो कि पूर्व सृष्टिकी है। तो पूर्व सृष्टिके पहले क्या था? फिर उसको बीजांकुर न्यायसे अव्यवस्थित मानना पड़ेगा।

अच्छा देखो, कभी प्रणाम करना धर्म होता है और कभी नहीं होता। जैसे, जिसको प्रणाम करना हो, वह चल रहा हो तो पाँव छूकर प्रणाम नहीं करना। दूरसे हाथ जोड़ना। और वह दातौन कर रहा हो, तब भी छूकर प्रणाम नहीं करना। स्नान कर रहा हो, तब भी प्रणाम नहीं करना है गुरु! लेकिन ऐसी व्यवस्था है। लेटा हो, तब भी प्रणाम नहीं करना! अब यह बात प्राकृत-स्थितिसे थोड़े ही मिलायी जाती है।

अच्छा, देवताको कब छूना और कब नहीं छूना? घरमें बेटा हुआ है, खुशीकी बात है। लेकिन देवताको छू नहीं सकते। घरमें मृत्यु हुई है, दुःख हो रहा है। देवताके पास आश्वासनके लिए जाना चाहिए कि हे देवता, शान्ति दो! लेकिन शास्त्राज्ञा है कि देवताको छूओ मत! अलग रहो!

तो यह सब क्या है? यह सब शास्त्रीय व्यवस्था है भला! धर्मानुसार होंलीके दिन गाली सुननी चाहिए! ससुरालमें जाकर गाली सुननी चाहिए। क्योंकि, गाली सहनेकी तो आदत होनी चाहिए न! गाली देनेकी क्रिया ही अधर्म नहीं है। वह अमुक देशमें, अमुक कालमें, अमुक व्यक्तिके लिए अधर्म होती है। पति-पत्नीका संयोग अधर्म नहीं है। गृहास्थाश्रमें उचित है और वही वानप्रस्थ, संन्यासाश्रममें उचित नहीं है। तो यह सब व्यवस्था बदलती रहती है। इस बातको जो लोग ठीक-ठीक समझते हैं, वे कभी धर्माधर्मको सच्चा एवं परमार्थ नहीं मानते!



तत्त्वोंकी संख्या

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे॥ २६॥

प्रत्येक वस्तुको गणितमें ले आना, यह बुद्धिकी पराकाष्ठा है। क्योंकि, जिस विषयमें हम गणितसे संख्या निश्चय करते हैं, उसमें क्या होता है कि भूतमें उसके जितने भेद हुए हैं सो और वर्तमानमें जितने हुए हैं सो और आगे उसके जितने अवान्तर भेद हो सकते हैं सो—जबतक सब-के-सब अपनी बुद्धिमें अपरोक्ष नहीं हो जायेंगे, तबतक किसी संख्याका निश्चय नहीं कर सकते!

एक दिन एक मिनिस्टर बैठे हुए थे। किसी संस्थाके बारेमें चर्चा चली। तो बोले कि यह रख दो, यह रख दो, यह रख दो! पाँच-सात बात बोले। हमने कहा कि भाई, इन बातोंको कुछ आधार भी तो होना चाहिए न! नहीं तो फिर आगे चलकर इनकी गिनती दस हो जायेगी, पन्द्रह हो जायेगी या फिर सातकी गिनतीको लोग तीन या दो कर देंगे!

तो देखो, कैसे गिनती होती है—यह हम आपको बताते हैं! जैसे, मैं हूँ और रहना चाहता हूँ। तो इसका मतलब क्या हुआ? हमको भोजन चाहिए! एक बात निकल आयी। तो भोजन चाहिए, वस्त्र चाहिए, रोग होनेपर औषधि चाहिए। यह सद्भावकी शाखा हुई। माने हमारे जीवनका संवर्धन और ह्रासके निवारणकी युक्ति चाहिए।

अब देखो, मैं जानता हूँ और जानना चाहता हूँ! तो हमारे लिए विद्यालय चाहिए, सत्संग भवन, पुस्तकालय, वाचनालय चाहिए। यह चिद्भावकी शाखा है। और, वाद्य, संगीत, नृत्य, नाट्य आदि आनंद भावकी शाखा है। क्योंकि, मैं सुखी हूँ और सुखी रहना चाहता हूँ! प्रियभावकी शाखा है।

तो यह दर्शन-शास्त्रकी रीति है कि मूलमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी स्थापना करके गणना करते हैं।

अब देखो, सत्त्व, रज, तमकी स्थापना करो, तो कैसे बनेगा?

एक तो हमको शान्तिसे बैठनेकी जगह चाहिए! कोई विक्षेप न करे। और, एक हमको काम करनेकी जगह चाहिए! और एक जहाँ सोवें, ऐसी जगह चाहिए। सत्त्व कहता है कि शान्तिसे बैठो, रज कहता है कि काम करो और तम कहता कि

नींद लो! तो सत्व, रज, तम—तीनोंके अनुसार हमको स्थान चाहिए। इसका नाम है 'गणना'। इस प्रकार शास्त्र हमारे जीवनको बिलकुल गणितपर ढाल देता है।

अब पहले पच्चीसकी गणना आपको सुनाता हूँ।

पंचविंशक इत्येके।

काम करनेके लिए पाँच इन्द्रियाँ शरीरमें हैं। माने काम करनेके लिए हाथ—एक, चलनेके लिए पाँव—दो, बोलनेके लिए मुख—तीन, मल निकालनेके लिए गुदा—चार और पानी निकालनेके लिए उपस्थ—पाँच। अब पाँच इन्द्रियाँ ही जाननेकी हैं—कर्ण, त्वचा, आँख, रसना और नाक। इनको ज्ञानेन्द्रिय और पहलीको कर्मेन्द्रिय बोलते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जाने जाते हैं। इन पाँचो विषयोंको जाननेवाली पाँच ज्ञानेन्दियाँ तो असाधारण करण हैं और सब कर्म करनेके लिए और सब चीज जाननेके लिए मन एक साधारण करण है 'करण' माने औजार। जैसे लकड़ी छीलनेके लिए वसीला होता है, ऐसे शरीरके भीतर जो औजार होते हैं, उनको 'करण' बोलते हैं। '**क्रियते अनेन**'—जिसके द्वारा किया जाये।

तो देखो, पाँच विषय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन सोलहको विकार बोलते हैं। विकार इसलिए कि ये किसी चीजसे बने हुए हैं। ये कार्य तो हैं, परन्तु कारण नहीं हैं।

अच्छा, अब देखो, इनके पहले सात ऐसी चीजें हैं, जो कारण भी हैं और कार्य भी हैं। पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच विषयोंकी मूलभूत उपादान वस्तु जो है, उसको 'पंचतन्मात्रा' बोलते हैं—गंधतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा आदि। अब इन पाँचोंको व्यवस्थित रखनेवाला अहंकार। वह इन पाँचोंको ही व्यवस्थित नहीं रखता है बल्कि, पाँचों कर्मेन्द्रियों एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको व्यवस्थित रखता है, पाँचों वस्तुओंके ज्ञानोंको ग्रहण करता है। अब इस अहंकारका भी मूल महत्तत्त्व है। इस प्रकार पंचतन्मात्रा अथवा पंचमहाभूत, एक अहंकार और एक महत्तत्त्व—ये सात अपने कार्यके तो कारण हैं! माने पहले जिन सोलहका नाम लिया, उनके तो कारण हैं और इनका भी एक कारण है, उसको बोलते हैं 'प्रकृति, प्रधान'।

'प्रधान' किसको कहते हैं? जिसमें सब चीज रख दी जाय। '**प्रधीयते अस्मिन् इति**'। जैसे आपके घरमें दस भगोना हों और छोटेको उससे बड़ेमें रखा और उससे बड़ेको, उससे बड़ेमें रखा। इस प्रकार रखते-रखते एक भगोनेमें दस

भगोने आ गये। तो ऐसे प्रकृति जो है, वह सबसे बड़ा भगोना है। उसमें महत्तत्त्व रख दिया, महत्तत्त्वमें अहंकार रख दिया, अहंकारमें पंचततन्मात्रा रख दिया और पंचतन्मात्रामें पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच विषय और एक मन रख दिया। सब मिलकर प्रलयके समय एक हो गये।

तो देखो, सोलह विकार और सात प्रकृति-विकृति और एक प्रकृति, इस प्रकार चौबीस तत्त्व हो गये। अब एक बचा। वह कौन? बोले कि, 'न प्रकृतिर्न विकृतिः'—वह कार्य-कारणकी परम्परामें उलझता नहीं! वह टुकुर-टुकुर देखने वाला है। 'साक्षी' उसका नाम है।

तो प्रकृति सृष्टिकी बीजदशा है। जैसे बीजको पानीमें रखा तो वह फूल गया। यह दशा महत्तत्त्व है और उस बीजमें-से फूलने पर जो अंकुर निकला, वह 'अहंकार' है और फिर उसमें-से पत्ते निकले, तो यह पंचतन्मात्रा हुई और इन पंचतन्मात्रामें-से फिर पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पाँच विषय और एक मन-यह प्राकृत विस्तार हो गया और अपना आत्मा 'न प्रकृतिर्न विकृतिः' स्पर्श आते हैं और जाते हैं, रूप आते हैं और जाते हैं, रस, गंध आते हैं और जाते हैं और ये महापुरुष बिलकुल अपनी जगहपर तटस्थ, कूटस्थ, द्रष्टा! जैसे पहाड़के शिखरपर बैठा हो! यह साक्षी इन्द्रियोंका मंद, मध्यम और उत्तमदशाको भी देखता है जैसेकी हमारी आँख मंदी है, हमारी आँख तेज है; हमारे कानसे कुछ कम सुनाई पड़ता है, हमारा हाथ आजकल उठता नहीं है आदि। और, आज हमारा मन अलसा गया है, आज हमारा मन खूब प्रसन्न है—इसको कौन जानता है? इसको भी यह जानता है। बोले कि भाई, आज तो ऐसा लगता है कि हमारे बराबर दुनियामें कोई है ही नहीं! अरे, कभी-कभी ऐसा लगता है! सो यह महाराज उसका भी द्रष्टा है। कभी बोले कि आज तो नींद-ही-नींद आ रही है! तो इसका भी द्रष्टा है!

तो नारायण, सोलह विकार, सात प्रकृति विकृति और एक प्रकृति—ये अदलते-बदलते रहते हैं और जो द्रष्टा है, वह न तो किसीका कार्य है और न किसीका कारण है। वह न किसीको बनाता है, न बिगाड़ता है। न किसीके बनाये बनता है, न बिगड़ता है। अब ये जो पच्चीस तत्त्व हैं, उसको सांख्यलोग कहते हैं कि यही तत्त्व है और इसी का नाम 'प्रपञ्च' है। इसमें पाँच-पाँच ज्यादा है न! सो पंच-पंच ज्यादा होनेसे इसको 'प्रपञ्च' बोल दिया। *'यह मुड़ियोंने परपञ्च रचा है!* 'प्रपञ्च' माने पाँचका विस्तार। बोले कि यही तत्त्व है।

अब यह प्रश्न हुआ कि देखो भाई, तत्त्वकी कल्पना तब होती है, जब वह

अतत्त्वका व्यावर्तक हो। जितने विशेषण होते हैं, वे अपने विरोधीके व्यावर्तक होते हैं। यह जो तुमने सृष्टिका विधानात्मक रूपसे इतना विस्तार बताया, यह व्यावर्तक किसका है?

नारायण कहो! हमारे संस्कृत भाषामें एक ग्रन्थ है, 'स्वराज्यसिद्धि'। इस ग्रन्थकारका कहना है कि देखो, द्रष्टाको प्रकृतिसे परे मानना और उसको-फिर अनेक मानना, यह **'दुर्वचं ब्रह्मणोऽपि'**—ब्रह्माके लिए भी अशक्य कथन है। वे भी इसको सिद्ध नहीं कर सकते। तो देश, काल, विषयका जितना भेद है, वह तो प्रकृतिमें है और प्राकृत है और उसका द्रष्टा जो पुरुष है, वह देह-भेदसे अनेक हो जाये-यह केवल औपाधिक होगा, वास्तविक नहीं। इसलिए, हे सांख्यवादी, द्रष्टा अनेक नहीं हो सकते! तुम सिद्ध करके बताओ! वह कौन-सी वस्तु है, जो द्रष्टाको अलग-अलग करती है? जन्म? जन्म तो शरीरका होता है। मरण? मरण तो शरीरका होता है। करण? वे भी प्रत्येक शरीरमें होते हैं। सुखी-दु:खी? वह भी अंत:करणवाला होता है! द्रष्टामें न तो अंत:करण है, न शरीर है! तो जन्म-मरण करण, सुखी-दु:खी आदिके भेदसे द्रष्टा अनेक नहीं हो सकता! द्रष्टा तो द्रष्टा है। इसलिए, द्रष्टाकी अनेकता तुम्हारी झूठी!

अब दूसरी बात लो! बोले कि तुम प्रकृतिको परिणामिनी भी कहते हो और नित्य भी! सो कैसे सिद्ध करोगे बाबू? 'परिणाम' माने बदलना। नम हो जाना। जैसे, बीज अंकुर निकलनेसे पहले थोड़ा नम हो जाता है। तो 'परि' माने चारों ओरसे नमीका आजाना, इसका नाम 'परिणाम' है। रूपसे रूपान्तरापत्ति—एक रूपसे दूसरे रूपमें जाना। पहली शकलका बदल जाना। तो यदि वस्तुकी पहली शकल बदल गयी, तो वह नित्य कहाँसे रही? और, नहीं बदली तो सृष्टि कहाँसे हुई? कहो कि एक अंशमें बदली और एक अंशमें ज्यों-की-त्यों रही। तो उसमें अंश-भेद हो गया और अंश-भेद होनेसे तो वह पहले ही टूट-फूट गयी। वह वस्तु कहाँ-से रही?

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि द्रष्टाका अनेकत्व और प्रकृतिका नित्यत्व और फिर द्रष्टाका सुखित्व-दु:खित्व, जन्म-मरणवाला होना-यह सब कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए, सांख्यका यह जो विचार है, वह वेदान्तियोंको मान्य नहीं है।

'षड्विंश इति चापरे'—दूसरोंने कहा कि भाई, पच्चीस नहीं छब्बीस तत्त्व मानो! यह छब्बीसवाँ कौन होगा? छब्बीसवाँ ईश्वर होगा। प्रकृतिका नियन्ता!

यह ईश्वरवाद भी बड़ा विलक्षण है।

देखो, सृष्टिमें सर्वत्र अचिन्त्य रचना-कौशल देखनेमें आता है। यह आँख जो

है, यह कैसे अपना काम करती है, दो रश्मियाँ कैसे दो बिन्दुमें आकर अपना-अपना काम करती हैं और दोनों आँखसे देखी हुई चीजको एक कोणमें मिला देती हैं—इस रचनाको देखें तो आश्चर्य होता है! देखो, शरीरमें ऐसी-ऐसी चीजें हैं, जो अभीतक वैज्ञानिकोंकी समझमें नहीं आयीं। वैज्ञानिक रक्त नहीं बना सकते, वीर्य नहीं बना सकते, मन नहीं बना सकते। पहलेसे होवे तो उसमें वृद्धि-ह्रास कर सकते हैं। लेकिन, नया-नया नहीं बना सकते। अच्छा, बोलो कि आगे बना लेंगे! ऐसी कल्पना कर लेनेमें क्या हर्ज है? लेकिन, यह जो व्यवस्था देखनेमें आती है, यह अद्‌भुत है। आँख देखती है और पाँव पड़ता है! रास्ता देखती है आँख और वहाँ पाँव पड़ता है! यह आँख और पाँवको मिलानेवाली एक चीज कौन-सी है? पक्षियोंको देखो! बया पक्षीका घोंसला आपने देखा है कभी? क्या बढ़िया बनाता है! मोरका शरीर देखो। कोयलकी आवाज देखो! हंसोंकी धवलता देखो! तोतेमें हरीतिमा कहाँसे आयी? अच्छा एक और बात है कि अणुओंकी गति भी तो व्यवस्थित मिलती है और उनको तोड़ने और जोड़नेका परिणाम भी सुनिश्चित होता है। क्योंकि इतने गणितके अनुसार सृष्टि बनाना—यह बिना ईश्वरके कैसे हो सकता है? तो अचिन्त्यरचना बिना ईश्वरके हो ही नहीं सकती। सम्पूर्ण विश्वका नियमन, एक बुद्धिमान् शक्तिशाली, ऐश्वर्यशाली पुरुषके बिना कैसे हो? भले ही उसका नाम अलग-अलग रखो!

देखो, ईसाई लोग भी उसका एक नाम रखते हैं! मुसलमान लोग भी उसका एक नाम रखते हैं। तो बोले कि छब्बीसवाँ वह है। क्योंकि, जितना कार्य होता है वह कर्ताके प्रयत्नसे होता है। जैसे घड़ा बनता है तो कुम्हारके प्रयत्नसे। प्रयोजनीय वस्तु जो होती है, वह कर्ता प्रयोजनके अनुसार बनाता है-यह बात सृष्टिमें सर्वत्र देखनेमें आती है। तो देखो, स्त्री जब स्त्री बनायी गयी होगी और पुरुष जब पुरुष बनाया गया होगा तो दोनोंके शरीरकी रचनामें प्रयोजन दृष्टिगोचर होता है कि नहीं? स्त्रीका शरीर एक विशेष प्रकार का बनाना और पुरुषका शरीर एक विशेष प्रकारका बनाना किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए यह भेद हुआ है कि बिना प्रयोजनके ही यह भेद हो गया है? यह तो बिलकुल प्रत्यक्ष है भाई! जिसकी आँखमें धूल न पड़ी हो, वह इस बातको देख सकता है कि अमुक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए अमुक प्रकारकी सृष्टि की गयी है!

यह देखो, हाथ बीचमें-से क्यों मुड़ते हैं? इसका कुछ प्रयोजन है कि नहीं है? अगर बीचमें-से हाथ न मुड़ते तो क्या मजा आता? भोजन कर सकते आप? नहीं कर सकते थे। बिलकुल स्पष्ट प्रयोजन मालूम पड़ता है।

कहते हैं कि एक राजाने दो पाँत बैठा दी। दोनोंमें पत्तल पड़ गया। बोले भाई देखो, सबके बाँहमें एक हाथकी लकड़ी बाँध दो! हाथ सीधा रहेगा! और, खूब लड्डू, पूड़ी, मालपूआ परसा गया। राजाने कहा कि खाओ! अब सब नौजवान-नौजवान थे वहाँ। बड़ी कोशिश की उन्होंने खानेकी! लेकिन, मुँहतक हाथ ही न पहुँचे! एक बुड्ढा भी उनके बीच था। उसने कहा कि मूर्खो! ऐसे तुम थोड़े ही खा सकते हो! अपने हाथसे उठाओ और दूसरेके मुँहमें डालो! देखो, सबका पेट भर जायेगा! यह बुड्ढेकी बुद्धि है! अब सबने वैसा ही किया! सबका पेट भी भर गया और किसीका जूठा भी किसीको नहीं खाना पड़ा!

तो नारायण, कोहनीसे हाथ मुड़नेका भी एक प्रयोजन है। अच्छा, घुटनेसे यदि पाँव टेढा न होता तो हमेशा खड़े ही रहना पड़ता भला! पाचन न होता, मल न निकलता तो क्या होता? अरे, आपको क्या सुनावें। हमको एक बड़े वैज्ञानिकने यह बात बतायी कि यह जो धरती है, यह जितनी दूरीपर सूर्यके इर्द-गिर्द घूमती है, उससे अगर दो फुट और सूर्यके पास होती तो न ऐसा दिन होता, न ऐसी रात होती। ऋतुका विभाग बिलकुल नहीं होता और गर्मी इतनी ज्यादा होती कि इस तापमानमें रहनेवाले उस गर्मीमें रह नहीं पाते। और, चन्द्रमा यदि धरतीके थोड़ा और पास होता तो समुद्र बंबईमें नहीं रहने देता! दो फुट नाप-तौलमें अगर फर्क हो जाता समुद्र और चन्द्रमाके, तो बंबई यहाँ नहीं बस सकती थी। इसीको बोलते हैं, 'अचिन्त्य-रचना'।

तो धर्मके अनुसार कर्मका फल देना, अधर्मके अनुसार कर्मका फल देना, संसारको नियमित रखना, अचिन्त्य, अनन्तकोटि जो आश्चर्य हैं-उनका निर्माता होना और गणितकी रीतिसे सारी सृष्टिका व्यवस्थित होकर चलना—हवाका चलना, अग्निका प्रज्वलित होना, जलका बहना, पृथिवीका स्थिर होना—यह बिना ईश्वरके नियमनके सम्भव नहीं। जिससे यह अन्तरिक्षमें जितने ग्रह-नक्षत्र, तारागण हैं, सब टिके हुए हैं। अपनी धुरीपर सब-के-सब घूम रहे हैं और अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते।

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम। (तैत्ति० २.८.१)

जन्म-मृत्युकी व्यवस्था, सुख-दुःखकी व्यवस्था है। इसलिए, छब्बीसवाँ तत्त्व स्वीकार करना चाहिए। वह कौन? बोले कि ईश्वर!

तो यह है, पातञ्जल-योग! जिनका कहना है कि ईश्वरको मानोगे तो बड़े-

बड़े लाभ होंगे! एक तो सारी व्यवस्था उससे सिद्ध हो जायेगी और दूसरे उसका ध्यान करो। वे कहते हैं कि, **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः'**

सब बापोंका पहला बाप ईश्वर है। सब गुरुओंका पहला गुरु ईश्वर है। समय उसने बनाया। समय वह नहीं बना। **'कालेनानवच्छेदात्'**—वह कालसे अपरिच्छिन्न है। अच्छा,

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'

वह सद्भाव है, चिद्भाव है।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः'

उसमें क्लेश, कर्म विपाक और आशय नहीं है। क्लेश नहीं माने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नहीं और कर्मका फल सुख-दुःख नहीं और 'आशय' माने अन्तःकरण भी नहीं। ऐसा ईश्वर महाराज! जिसका ध्यान करनेसे चित्तकी एकाग्रता होवे और प्रत्यक् चेतनका अधिगम होवे।

अतः योगियोंने कहा कि पच्चीस नहीं, छब्बीस तत्त्व हैं।

अब योग-दर्शन और सांख्य-दर्शनमें जो मतभेद है, उसपर एक दृष्टि डालो!

एकने कहा कि पच्चीस तत्त्व हैं और एकने कहा कि छब्बीस हैं। तो जो लोग परमार्थकी खोज करते हैं, वे विचारसे घबड़ाते नहीं हैं। जो सोच-विचार करनेमें कतराते हैं, घबड़ाते हैं, बचनेकी कोशिश करते हैं, वे मन्द-बुद्धि कहे जाते हैं। कोई भी बात अगर युक्ति और तर्कसे कही जा रही है और अनुभवारूढ़ होती है, तो सत्यके खोजीको वह माननेके लिए तैयार रहना चाहिए!

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमभ्युक्तं पद्मजन्मना॥ (योगवासिष्ठ)

अगर बालक भी युक्ति-युक्त वचन कहता हो तो उसको स्वीकार करना चाहिए और बुद्धि एवं अनुभवके विरुद्ध यदि ब्रह्मा भी बोलते हों तो उसको तिनकेकी तरह छोड़ देना चाहिए।

असलमें हमारे जो छः आस्तिक दर्शन हैं, वे तीन जोड़ी हैं। माने उनके तीन युगल हैं। तो पहला युगल है, न्याय और वैशेषिकका (गौतम और कणाद)। तो एकमें बताया गया है कि पदार्थके परीक्षण अर्थात् पदार्थको परखनेकी प्रणाली क्या है? न्याय-दर्शन प्रमाण-निरूपण प्रधान है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द क्या हैं? प्रमाण कितने होने चाहिए? हेतु क्या है? हेत्वाभास क्या हैं? विचारके समय

कैसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन-पंचावयवयुक्त वाक्यका प्रयोग कैसे करना चाहिए? इन सब बातोंका निरूपण न्याय-दर्शन करता है!

वैशेषिक पदार्थ-प्रधान दर्शन है। उन प्रमाणोंसे वस्तु जो सिद्ध होती है, वह क्या है? तो एक प्रक्रिया-दर्शन हुआ और एक पदार्थ-दर्शन हुआ। वैशेषिकमें विचार है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु हैं और आकाशके परमाणु नहीं हैं। मनका स्वरूप क्या है? आत्मा क्या है? काल और दिशा क्या है? इन सब पदार्थोंका विवेचन है।

अब दूसरा युगल है, योगदर्शन और सांख्यदर्शन।

तो एकने बताया कि पाँच विषय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन-ये सोलह तो विकार हैं और पंचतन्मात्रा, अहंकार और महत्तत्त्व-ये सात प्रकृति-विकृति हैं और एक प्रधान, मूल-प्रकृति है और द्रष्टा, पच्चीसवाँ सबसे विलक्षण है।

योग-दर्शन कहता है कि अगर इस बातको देखना हो, यदि तुम खुद इसका अनुभव करना चाहते हो, तो आ जाओ हमारी पार्टीमें! ये जितने साधन-साध्यका व्याख्यान देनेवाले होते हैं, वे अपनी पार्टी ही तो बढ़ाते हैं! अगर बुद्धिगत दोष हो, संशय हो तो आमने-सामने बातचीत करके मिटा लो और भगवद्-रसका आस्वादन करना हो तो भगवत्-चरित्र श्रवण करो और ये जो व्याख्यान हैं, ये तो सम्प्रदायकी वृद्धिके लिए होते हैं। तो भोलेभाले लोग उसमें फँस जाते हैं।

तो योग-दर्शनका यह कहना है कि एक तो अपने जीवनमें जो नियम बनाओ, उसमें ईश्वरको दैनिक वस्तु बना लो! ईश्वर-प्रणिधान माने थोड़ा रोज भगवान्‌के नामका जप करो, मूर्तिका थोड़ा ध्यान करो, पूजा करो! इससे तुम्हारे जीवनमें नियम आवेगा! तो सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह-ये यम हैं और ईश्वर-प्रणिधान है नियम। तो उनका यह कहना है कि नियम कभी-कभी छूट जाये तो उतनी हानि नहीं है; परन्तु यम कभी छूट जाये तो बड़ी भारी हानि है। अतः जो सत्य, अहिंसा आदि पाँच यम हैं, उनमें-से किसीको छोड़ो मत! और, कभी पवित्रताके नियममें बाधा पड़ जाये या कभी स्वाध्याय छूट जाये, कभी मनमें लोभ आ जाये, कभी माला न फिरी—इसमें कोई हानि नहीं है।

'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्'। (भागवत, ११. १०. ५)

एक-आध-दिन माला छूट जाये, पर झूठ मत बोलना। एक-आध-दिन माला भले छूट जाये, लेकिन किसीको सताना मत। एक-आध-दिन माला छूट गयी, कोई बात नहीं। लेकिन, किसीकी चोरी मत करना, बेईमानी नहीं करना।

तो नियमसे यम बड़ा होता है, यह योगदर्शनका मत है।

यमानभीक्ष्णं सेवेत न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान्यतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

नियमका तो पालन करे। पूजा करे; माला फेरे परन्तु, झूठ बोले, दूसरेको सतावे, दूसरेका माल चुरावे तो उसका पतन हो जाता है।

एक तो 'ईश्वर-प्रणिधान' योगियोंने योगमें रखा और दूसरा क्रिया-योगमें भी रखा। रोज दान करना तो थोड़ा ईश्वरके नामपर भी करना। क्योंकि, जिसकी दी हुई चीज है, उसकी याद किये बिना तो तुम कृतघ्न हो जाओगे। सो, चार दाने चनेके उसके लिए निकाल दो, एक नया पैसा उसके लिए निकाल दो। अपनी क्रियामें ईश्वरके लिए थोड़ा स्थान रखो।

तीसरी बात योग-दर्शनवालोंने यह कही कि यदि ईश्वरका ध्यान करोगे, तो तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जायेगा।

'ईश्वरप्रणिधानाद् वा समाधिसिद्धिः'।

ईश्वरका ध्यान करनेसे समाधिकी सिद्धि होती है।
चौथी बात उन्होंने यह कही कि ईश्वरका ध्यान करने, प्रणवका जप करनेसे जो साधनमें विघ्न आते हैं, वे मिट जाते हैं। यह सब बात तो ठीक। परन्तु, उन्होंने तत्त्वविवेकमें ईश्वरको कहाँ रखा जाये—यह बात स्पष्ट नहीं की। उन्होंने यह भी कहा कि ईश्वर अविनाशी है, सर्वज्ञ है, कर्मक्लेश विपाकाशयसे अपरामृष्ट परमानन्दस्वरूप है। परन्तु तत्त्व-विवेचनकी भूमिकामें ईश्वरको कहाँ रखा जाये—यह बात उन्होंने 'पुरुष विशेष' कहकर छोड़ दी।

तो 'पुरुष-विशेष' का अभिप्राय आपको बताते हैं। सांख्योंने एक तो द्रष्टा आत्मा माना और एक दृश्य माना। तो दृश्यमें कार्यरूप पंचभूत और कार्य-कारणरूप प्रकृति-विकृति और कारणरूप प्रकृति माने इन सबका द्रष्टा जो है, वह अपना आत्मा है और ध्यानका स्वरूप यह है कि कहीं भी सृष्टिमें राग-द्वेष न होने पावे। स्वयं अपनेको कूटस्थ, तटस्थ द्रष्टाके रूपमें अनुभव करो। यह प्रकृति और प्राकृत सम्पूर्ण जगत् दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ।

अब योगियोंने इसपर यह बात कही कि देखो, प्रकृति सारी सृष्टिको बनाती है ऐसा तुम मानते हो और द्रष्टा आत्मा अलग है, यह भी मानते हो। लेकिन एक द्रष्टा आत्मा कोई विशेष है। वह विशेष क्या है? वह प्रकृतिको नियन्त्रित करता है। प्रकृति चेतन नहीं है, अचेतन है। तो वह नियमसे, व्यवस्थासे सब काम नहीं कर सकती।

सारी रचना वह गणितके नियमानुसार नहीं कर सकती। इसलिए, उसमें कोई सर्वज्ञ पुरुष लगा हुआ है और उसीकी प्रेरणासे, उसीके सन्निधानसे यह प्रकृति सारी सृष्टि ठीक-ठीक बनाती है। इसलिए, तुम पच्चीस नहीं छब्बीस तत्त्व मानो।

तो अब देखो, कितनी बात हो गयी। एक तो मनुष्यके जीवनमें नियमके लिए सदाचार रहनेके लिए, दूसरी बात, व्यक्तित्वका अभिमान तोड़नेके लिए ईश्वरके प्रति समर्पण और तीसरी बात, चित्तकी एकाग्रताके लिए ईश्वरका ध्यान और चौथी बात, समाधि-सिद्धिके लिए ईश्वरका ध्यान और पाँचवी बात, जगत्के नियमनके लिए सर्वज्ञ ईश्वर। जैसे इस शरीरमें जीवात्मा शरीरका नियमन करता है, वैसे समग्र विश्वमें जो सबका नियन्ता है, सर्वज्ञ ईश्वर-वह पुरुष-विशेष है। उसके ध्यानसे सुख-शान्ति मिलती है, समाधि सिद्ध होती है। वही सबको ज्ञान भी देता है, वही सबको बनाता भी है और वही सबका परमप्रिय भी है—उसके आधारपर समाधि लगाना।

अब वेदान्ती योग-दर्शनवालोंसे बात करते हैं। तो वेदान्तीका यह कहना है कि जहाँतक तुम अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए ईश्वरका उपयोग मानते हो, वहाँतक हमारा-तुम्हारा कोई मतभेद नहीं है। ईश्वरके नामपर सदाचारी बनो, ईश्वरके नामपर चित्त एकाग्र करो, ईश्वरके नामपर अपने कर्म विश्वकी सेवामें लगाओ। यह सब ठीक है। परन्तु, जहाँतक तुम पुरुष-विशेषके रूपमें ईश्वरको मानते हो वहाँ प्रश्न यह है कि दूसरा कोई द्रष्टा पुरुष है, दूसरा कोई चेतन पुरुष है—यह तुम्हारे अनुभवमें कैसे आता है? जरा उसकी प्रक्रिया बताओ।

तो एक तो अपनेसे पृथक् जो अनुभवका विषय होगा, वह दृश्य होगा और उसमें जड़ता आवेगी। हमसे अलग होकर अगर ईश्वर होवे, तो वह जड़ होगा। जो नये श्रोता हैं, उनकी समझमें यह बात जल्दी नहीं आवेगी—यह बात मैं मानता हूँ भला! पर, विचार करके देखो। 'चेतन' उसको कहते हैं, जो अपनेको जाने और दूसरेको भी जाने और 'जड़' उसको कहते हैं, जो जाना जाय। आजकलकी विद्यामें यह बात बतायी जाती है कि जिसके इन्द्रियाँ होवें, वह चेतन और जिसके इन्द्रियाँ न होवें वह जड़। ऐन्द्रियत्व चेतनका लक्षण है और निरीन्द्रियत्व जड़का लक्षण है। परन्तु, प्राचीन परिभाषामें इन्द्रिय वालेको चेतन नहीं मानते। इन्द्रियाँ भी जड़ हैं और इन्द्रियवाला यह शरीर भी जड़ ही है। केवल जो शुद्ध ज्ञान है, उसीको 'चेतन' मानते हैं। तो, जिसको जानने वालेकी जरूरत हो, उसको 'जड़' कहते हैं और जो अपनेको भी जाने और दूसरेको भी जाने, उसको 'चेतन' कहते हैं।

अब देखो, प्रश्न यह है कि जहाँ द्रष्टा और दृश्यके विवेककी भूमि उपस्थित

हुई, वहाँ ईश्वर द्रष्टा है कि दृश्य है? तो यदि ईश्वर द्रष्टा है तब तो अपना आत्मा है और यदि दृश्य है, तो प्रकृति-प्राकृतके अन्तर्गत जड़ है। वह भी किसी जड़ताके नियममें बँधा हुआ है। 'ईश्वर' नियमित है कि नहीं? ईश्वरकी प्रत्येक गति-विधि नियमानुसार है कि नहीं? तो उपाधिके नियन्त्रित होनेसे उपाधिस्थ चैतन्य भी नियन्त्रित हो गया। इसी बातको वेदान्ती लोग कहते हैं कि कारणोपाधिक ईश्वर है और कार्योपाधिक जीव है। अन्तःकरण कार्य है और इसकी उपाधि लेकर जो बैठा है, वह जीव और कारणको जो अपनी उपाधि बनाकर बैठा है, सो ईश्वर और शुद्ध जो चैतन्य है, वह न कार्योपाधिक और न कारणोपाधिक है। वह जीव और ईश्वर—दोनोंसे विलक्षण है।

तो देखो, इसमें बात यह आयी कि दूसरा द्रष्टा ही नहीं हो सकता। सांख्यों ने द्रष्टाको तत्त्व मानकर जो अनेक माना, वह भी गलत और योगियोंने ईश्वरको जो 'पुरुष-विशेष' के रूपमें माना, सो भी गलत। यह ईश्वरका निषेध नहीं हुआ। ईश्वरके अमुक रूपका निषेध हुआ। जैसे पूर्वमीमांसक कहते हैं कि हम नैयायिकोंके ईश्वरका खण्डन करते हैं। वस्तुतः वे ईश्वरका खण्डन नहीं करते, नैयायिकोंने जो ईश्वरको कर्ताके रूपमें माना, उसका वे खण्डन करते हैं। क्योंकि, कर्ता ईश्वर तो कर्मका नौकर होगा। उसमें क्या ऐश्वर्य होगा?

अच्छा, यदि यह कहो कि ईश्वर हमारे पीठके पीछे है। ईश्वर भी तो कई तरहके होते हैं न! एक तो वह, जिनको अपनी गोदमें लेकर खिलाया जाय। बच्चेकी वासना जिनके चित्तमें ज्यादा है, वे ईश्वरको पुत्रके रूपमें देखते हैं। ईश्वर पुत्र भी है। जिनको मित्रकी इच्छा है, वे मित्रके रूपमें देखते हैं। जिनको पतिकी इच्छा है, वे ईश्वरको पतिके रूपमें देखते हैं। जिनको स्वामीकी इच्छा है, वे ईश्वरको स्वामीके रूपमें देखते हैं। यह क्या है? यहाँ वृत्तिमें ईश्वरका विषयत्व है भला!

अब योग-दर्शन तो कहता है कि वृत्तिका निरोध करो। तो जब वृत्तिका निरोध करेंगे, तो वृत्ति आकार-शून्य होगी, वृत्ति निरुद्ध होगी, वृत्ति निर्विषय होगी; तब उसमें इन रूपोंमें ईश्वर कहाँ रहेगा? तो असलमें, अपने सिवाय दूसरा द्रष्टा ही नहीं है। जब दूसरा द्रष्टा ही नहीं है, तो द्रष्टाओंकी अपेक्षासे एक द्रष्टा विशेष कहाँसे होगा?

तो एक तो द्रष्टा-दृश्यकी भूमिकामें अपने आत्मासे पृथक् ईश्वरको स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए, तत्त्वको छब्बीस बनाना बिलकुल गलत है।

अब दूसरी जरा समाधिवाली बात भी आपको सुनाते हैं। वह यह है कि वेदान्तियोंका तो ऐसा कहना है कि जो लोग आत्मामें आनन्दका चिन्तन करते हैं

कि आत्मा आनन्दरूप है, तो उनको विषयसे वैराग्य होवे—यह फल तो ठीक है। माने आत्मामें ही आनन्द है, विषयोंमें आनन्द नहीं है। अरे क्या? विषय तो बड़े गन्दे हैं। एक आमका स्वाद लेना हो तो उसको काटना पड़ता है और दाँतसे कुचलना पड़ता है और फिर निगल जाना पड़ता है। विषय-भोगकी यह स्थिति है। इसीसे भोगको 'हिंसा' बोलते हैं।

'नानुपहत्य भूतानि भोगं सम्भवति'।

बिना किसीको दुःख पहुँचाये, भोग नामकी वस्तु हो ही नहीं सकती। एक-न-एकको दुःख देंगे, तब भोग करेंगे। कोई वस्तु नष्ट होगी, कोई कर्म नष्ट होगा। किसीका धर्म नष्ट होगा। तो प्राणियोंको दुःख पहुँचाये बिना भोग नहीं हो सकता। ईश्वर भी जो सम्पूर्ण जगत्का कारण है, जो विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अखण्ड चैतन्य है, उसको जबतक नन्हा-सा गोदमें नहीं ले आवेंगे, तबतक वृत्तिका विषय कैसे होगा?

तो वेदान्तियोंका इस सम्बन्धमें यह कहना है कि यदि ईश्वरको आनन्दरूप मानोगे तो इतना प्रयोजन तो सिद्ध होगा कि ईश्वरमें आनन्द है, आत्मामें आनन्द है, विषयमें आनन्द नहीं है और विषयसे वैराग्य होगा। लेकिन, उस आनन्दमें जो रागात्मक-वृत्ति होगी, उस वृत्तिका समाधिके लिए तो निरोध करना पड़ेगा और आत्मज्ञानके लिए उसका बाध करना पड़ेगा। बिना उसका बाध किये स्वरूप स्थिति नहीं होगी।

यह आनन्द चाहनेवाले जो हैं, इनके ऐसा ही है कि समझो एक आदमीने कहा, 'हम तो चाट खाना चाहते हैं। पैसेसे मिले तो पैसेसे खरीद लो और न मिले तो चुराकर ले आओ। क्योंकि हम तो चाट खाना चाहते हैं।' तो जो वस्तुके प्रेमी हो जाते हैं, वे फिर न्याय-अन्याय नहीं देखते हैं। बोले कि देखो भाई, हमारी तो आदत पड़ गयी है चोरी करनेकी और उसीमें मजा आता है। चोरी नहीं करो तो तुंबाफेरी ही करो और, जो सत्यका प्रेमी होता है, वह कहता है कि जन्म-जन्म नरकमें पड़ेंगे, हम परिश्रम ही करते रहेंगे, हम बार-बार मरेंगे और जीयेंगे! लेकिन, जो सच्ची चीज है, उसका हम पता लगाकर छोड़ेंगे, जिज्ञासु सत्यका प्रेमी होता है। आनन्द भी सच्चा हो तो उसको चाहिए और झूठा आनन्द नहीं चाहिए।

दुआबामें जहाँ गंगा और सरयू मिलती हैं, वहाँ वर्षाके दिनोंमें खूब बाढ़ आती है। तो लोगोंका घर बह जाता है। सो छप्पर डाल लेते हैं। गर्मीके दिनोंमें खूब तेज लू चलती है! सो दिनमें किसीके घरमें रसोई नहीं बनती। सत्तू बनाकर रखते

हैं, वही खाते हैं। अब बच्चे खेल रहे हैं कि आओ भाई, झूठ मूठका सत्तू खायें। एक बच्चेने कहा कि जब झूठ-मूठ सत्तू खाना है, तो सत्तू काहेको खाते हो भाई; लड्डू खाओ न!

इसीसे देखो, वेदान्तके विचारमें आत्माकी आनन्दरूपतापर उतना जोर नहीं दिया जाता। क्योंकि, आत्मा आनन्द है, अगर ऐसी वृत्ति भी बनेगी, तो रागात्मक-वृत्ति बन जायेगी और व्यक्तित्वका बाध नहीं होगा। इसलिए, वेदान्ती आत्माको अविनाशी, स्वयं-प्रकाश, अचिन्त्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य आदि कहते हैं। परन्तु, आत्माकी आनन्दरूपतापर उतना जोर नहीं देते। क्योंकि, यदि रागात्मक वृत्ति बन गयी तो उससे वैराग्य नहीं होगा और वृत्तिसे वैराग्य नहीं होगा तो उसका बाध नहीं होगा।

अब देखो, ये योगी लोग समाधिके कई भेद मानते हैं। वितर्कानुगत और विचारानुगत—इन दोनोंमें ईश्वरका आलम्बन चलता है और आनन्दानुगत समाधिमें भी ईश्वरका आलम्बन चलता है। परन्तु, जब अस्मितानुगत-समाधि वे लगाते हैं माने सम्प्रज्ञात-समाधिकी चतुर्थ भूमिकामें जब पहुँचते हैं, इसमें ईश्वरका आलम्बन नहीं होता।

वितर्कानुगत समाधिमें स्थूलालम्बन अर्थात् शालग्राम, मूर्ति आदिका आलम्बन लिया जाता है और केवल सूक्ष्म भावात्मक रूपको लेकर अपने चित्तको एकाग्र किया—यह विचारानुगत समाधि है और केवल आनन्दमात्रका चिन्तन करके शब्द ज्ञानानुपाती वृत्तिसे आनन्दानुगतसमाधि हुई। परन्तु सम्प्रज्ञात-समाधिकी चतुर्थ भूमिकामें आनन्द नहीं होता है। अब जब असम्प्रज्ञात समाधि लगती है तो उसमें सविकल्प और निर्विकल्प—दो भेद हैं। निर्विकल्पमें भी दो भेद हैं—सबीज और निर्बीज समाधि।

तो असम्प्रज्ञात-समाधिकी भूमिकामें जब सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध होता है, तब योगियोंके मतमें भी 'अयं ईश्वरः' इत्याकारक वृत्ति नहीं रहती है और, 'अहं आनन्द आत्मा' इत्याकारक वृत्ति भी नहीं रहती है। केवल दृङ्मात्र वस्तु रहती है। लेकिन उसके भी पहलेवाला संस्कार रह जाता है कि जगत् सत्य है, ईश्वर अन्य है, द्रष्टा अनेक हैं। उस समय तो ऐसी वृत्ति नहीं होती है। परन्तु, समाधिसे उठनेके बाद वैसी वृत्ति हो जाती है।

तो योगियोंके दर्शनमें ईश्वर सम्प्रज्ञात-समाधिकी तीन भूमिकाओं तक रह सकता है, चौथीमें नहीं रह सकता और जो असम्प्रज्ञात-समाधि है, उसमें ईश्वरका

चिन्तन नहीं होता है। इसीसे भक्त लोग जो योगियोंसे डरते हैं, उसका कारण क्या है? ये महाराज आसन, प्राणायाम करवाकर, प्रत्याहार, धारणा करवा कर कहीं हमारे ईश्वरको न छुड़वा दें। भक्त लोग योगियोंके संसर्गसे डरते हैं।

अब ये जो वेदान्ती हैं, ये कहते हैं कि तुम्हारी समाधि लगी तो चित्त-वृत्तियोंका निरोध हुआ न और, उसके तुम द्रष्टा हुए। तो एकचित्तके द्रष्टा हुए कि सब चित्तके द्रष्टा हुए? योगी तो एक चित्तका द्रष्टा हुआ। वेदान्ती कहता है कि यदि तुम एक चित्तके द्रष्टा हो तो जैसे पहले चित्तके साथ सम्बन्ध नहीं था और प्रकृतिने नाचकर, गाकर, लुभाकर तुमको चित्तका संगी बना लिया; ऐसे तुम थोड़ी देरके लिए चित्तके द्रष्टा बन जाओ। लेकिन, **'पुरैव प्रकृतिः संगमापादयेत्'**—प्रकृति तुमको पहलेकी तरह अपना संगी बना लेगी। क्योंकि, प्रकृतिको तो चाहिए कोई साथी।

ये नाचनेवाले जो होते हैं, अगर कोई देखनेवाला न हो तो सीखते समय तो भले ही एकान्तमें नाचें; लेकिन सीख जानेके बाद, बिना दिखाये उनको मजा नहीं आवेगा। गवैया लोगको कोई-न-कोई सुनवैया चाहिए। अरे, उनको तो वाह-वाह चाहिए। तो नारायण, यह सृष्टि जो है, यह प्रकृतिकी एक कला है। कहीं प्रकृति गा रही है, कहीं गुदगुदा रही है, कहीं हँस रही है, कहीं अपना सौन्दर्य प्रकट कर रही है। क्या शीतल गंगाजीका जल बह रहा है। क्या सुन्दर फूल खिल रहे हैं। क्या बढ़िया इत्र निकल रहा है। माटीका भी इत्र निकलता है। तो यह प्रकृति जो इत्र बन रही है, जो स्वाद बन रही है, जो सौन्दर्य बन रही है, जो सौकुमार्य बन रही है और जो सौस्वर्य बन रही है, यदि इसको देखनेवाला कोई न होवे तो यह बेचारी तो मुरझाकर बेहोश हो जायेगी।

तो महात्मा लोग प्रकृतिका जो रहस्य है, वह समझते हैं।

तुम क्या माया नाचो कूदो, हम तो बड़े नचनियाँ।
इहाँ तुम्हारी दाल न गलिहै, हम हैं पलटू बनियाँ॥

तो यह जो प्रकृतिका नृत्य है, इसको देखनेवाला द्रष्टा चाहिए।

अब वेदान्तका योगियोंसे यह कहना है कि तुम पहलेसे द्रष्टा हो कि नहीं? हाँ हैं। लेकिन तुमको प्रकृतिने नाचकर फँसा लिया कि नहीं? 'हाँ, फँसा लिया'। अरे बाबा, अब तुम योगाभ्यास करके द्रष्टा हुए हो और फिर यह तुमको नाचकूदकर फँसा लेगी। अतः तुमको ब्रह्मसे एक हो जाना चाहिए। जब तुम अपने को ब्रह्म जान जाओगे द्रष्टाजी, कि सिवाय दूसरा कोई द्रष्टा नहीं है, मेरे सिवाय दूसरा कोई पुरुष-विशेष नहीं है, मेरे सिवाय कोई प्रकृति नहीं है, मेरे सिवाय प्रकृतिका कोई नाच नहीं है, खेल नहीं है। यह अपना स्वरूप है। तब फिर यह पच्चीस और छब्बीसका झगड़ा

बिलकुल मिट जायेगा! पच्चीसको काट दिया छब्बीसने और छब्बीसको काट दिया पच्चीसने! इन दोनोंको अलग रहने दो! अब आगे चलो!

अब शैव आये! ये इकतीस तत्त्व मानते हैं। शैवोंमें भी कश्मीरी शैव दूसरे हैं और पाशुपत शैव दूसरे हैं। शैव-उपासकोंमें भी दो तरहके हैं—'यह ईश्वर है'—ऐसी उपासना करनेवाला और 'मैं ईश्वर हूँ'—ऐसी उपासना करनेवाला। वेदान्तीलोग मैं ईश्वर हूँ—यह नहीं बोलते हैं।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे एक दिन किसीने पूछा कि महाराज, जीव-ईश्वर दोनों एक ही हैं न? बोले कि किसने कह दिया तुमसे? कहाँ सुनकर आये हो? जीव-ईश्वर एक नहीं हुआ करते। जीव, जीव है और ईश्वर, ईश्वर है। जीव तो कर्ता-भोक्ता, परिच्छिन्न, संसारी है और ईश्वर, कारणोपाधिक, परिपूर्ण है। दोनोंमें जो शुद्ध चैतन्य है, वह एक है, अद्वय है। उसमें तो जीव ईश्वरका भेद ही नहीं है।

तो ब्रह्म-चैतन्यको एक बताना दूसरी चीज है और जीव-ईश्वरकी एकता बताना दूसरी चीज है।

तो यह जो पाशुपत-दर्शन है, यह कहता है कि छब्बीस नहीं, इकतीस पदार्थ हैं। **एकत्रिंशक इत्याहुः।**

तुमने इकतीस कैसे गिना? बोले कि राग, अविद्या, नियति, काल-कला और माया—ये पाँच और छब्बीसमें जोड़ दो तो इकतीस हो गये।

बोले अच्छा भाई, रागको तुम तत्त्व स्वीकार करते हो, तो अस्मिताको तत्त्व स्वीकार क्यों नहीं करते?

शैव कहते हैं कि वह तो अविद्याके अन्तर्गत है।

अच्छाजी, जब अस्मिता अविद्याके अन्तर्गत है तो क्या राग अविद्याके अन्तर्गत नहीं है? राग भी अविद्याके अन्तर्गत है।

अच्छा, रागको तत्त्व मानते हो तो द्वेषको क्यों नहीं मानते?

तो शैव कहते हैं कि वह तो रागका दूसरा पहलू है!

अच्छा, फिर विद्याको तत्त्व क्यों नहीं मानते? वह भी अविद्याका दूसरा पहलू है। तुम्हारे गिननेमें गड़बड़ है। एक तो काल-कला और नियति—ये दोनों अलग-अलग नहीं होती हैं और पहलेके छब्बीस तत्त्वोंमें प्रकृति तो पहले आ ही गयी थी, अब एक अविद्या और एक माया तुमने और जोड़ दी। तो माया, अविद्या, प्रकृति—ये तीन तत्त्व हो गये। यह भी बात गड़बड़ा गयी। अतः यह गिननेकी प्रक्रिया अच्छी नहीं है। इसलिए जो लोग कहते हैं कि तत्त्व इक्तीस हैं, उनकी गणना ठीक नहीं है।

'अनन्त इति चापरे'–कोई लोग कहते हैं कि गिनती करनेमें क्या लगते हो? अरे, तत्त्व तो अनन्त हो सकते हैं। यह क्या है? ऐसे लोग बचनेकी कोशिश करते हैं।

आप जानते ही हो कि विचार की प्रणालीमें जगत्‌को शून्य सिद्ध करने पर्यन्त बौद्धोंकी जितनी युक्ति है, वह वेदान्तियोंको इष्ट है। केवल जब वे अधिष्ठानको मिथ्या करने चलते हैं, तब वेदान्तियोंका उनसे विरोध पड़ता है। जैन और वैष्णव, इनकी प्रक्रियामें उपवास कैसे करना, वेश कैसे बनाना, व्रत कितने करना, अवतार, तीर्थंकर कितने मानना, शरीरसे तपस्या कैसे करना, अपने सन्तोंके वचनकी प्रामाणिकता कैसे स्वीकार करना और देश-विशेषमें जाकर मुक्त होना—जैसे वैकुण्ठ, गोलोक आदिमें जाकर और सिद्ध-शिलाके द्वारा अलोकाकाशके सिरेपर जाकर मुक्त होना—ये सब बात है! इन दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि वैष्णव, वेदको प्रमाण मानते हैं और जैन, वेदको प्रमाण नहीं मानते और भी कुछ रहनीमें भेद है। वह बात जुदा है।

वेदान्तकी जो प्रक्रिया है, वह पूर्वमीमांसा है। वेदान्तके सिद्धान्तमें स्थिति कैसे होगी? तो बोले कि इसकी प्रक्रिया समझो। एक तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी अपेक्षा तत्त्वके निरूपणमें वेदको प्रमाण मानना। वे कहते हैं कि अनन्त और पूर्ण वस्तुको साक्षात् करानेके लिए यह हमारी इन्द्रियाँ काफी नहीं हैं। किसी एक इन्द्रियके द्वारा भी समग्रताका साक्षात्कार नहीं हो सकता और सब इन्द्रियाँ मिलकर भी समग्रताका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं और पूरी होनेपर भी समग्रताका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। इसीलिए उनके द्वारा होनेवाला अनुमान भी गलत है, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि भी गलत है। अलौकिक -अर्थके ज्ञानमें एकमात्र अपौरुषेय वेद-वाणी प्रमाण है। वेदान्तियोंका इस बातपर जोर है। नहीं तो शून्य ही मिलेगा। यन्त्रोंके द्वारा परीक्षा करोगे तो जड़ मिलेगा और युक्तियोंके द्वारा परीक्षा करोगे तो शून्य मिलेगा और भाव, भक्तिसे परीक्षा करोगे तो ईश्वर मिलेगा और, अनुभवकी परीक्षा करोगे तो अपना आत्मा ही ब्रह्म मिलेगा।

तो इस अपने आत्माको ब्रह्मरूप बतानेके लिए श्रुति प्रमाण है। पौरुषेय अनुभवके संग्रहका नाम श्रुति नहीं है। पौरुषेय अनुभवसे विलक्षण अनुभवका संग्रह है श्रुतियोंमें। एक तो श्रुतियोंकी प्रामाणिकता और दूसरे, श्रुति प्रतिपादित धर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और तीसरे, देहसे अतिरिक्त आत्माका बोध और चौथे, श्रुति-तात्पर्य निर्णयकी पद्धति—इतनी बात पूर्वमीमांसासे मालूम पड़ती है और वेदान्ती उनकी चारों बात लेकर अपनी पाँचवीं बात बताते हैं कि आत्मा ब्रह्म है। वेदान्तियोंको केवल इतना ही चाहिए। ✯

साधककी सिद्धि

जितनी निष्ठा होती हैं, उनकी अपनी-अपनी एक प्रक्रिया होती है। उनमें साधन क्या होता है, स्थिति क्या होती है और फल क्या होता है—यह सब बिलकुल पक्का होता है। अब जिसके हृदयमें ईश्वरकी भक्ति है, उसका बल है ईश्वरका विश्वास। चाहे रोग आवे, चाहे शोक आवे, चाहे मोह आवे चाहे कि लोभ आवे,कि मृत्यु आवे, चाहे विरोध आवे—हर हालतमें उसका विश्वास बना रहना चाहिए कि ईश्वर हमारी रक्षा करेगा। सम्पूर्ण विपत्तियोंको सहन करनेके लिए ईश्वरपर विश्वास आत्मबल देता है।

अब एक आदमीकी अद्वैत-निष्ठा है। तो उसके जीवनमें भी रोग आवेगा, शोक और मोहके अवसर आवेंगे। कभी पाँव फिसल भी जायेगा और कभी ठीक आगे भी बढ़ेगा, कभी मृत्यु आवेगी। ऐसेमें उसका बल यह है कि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ—इन परिस्थितियोंसे मेरा न तो कुछ बनता है और न बिगड़ता है। ये तो मृग-मरीचिका हैं, मायामात्र हैं, अपने स्वरूपमें कुछ नहीं है। इस निष्ठाके बलके सिवाय यदि वह यह कहने लगे कि हे ईश्वर, हमको बचाओ। तो उसकी निष्ठा कच्ची है।

अब कोई मन्त्रका जप करता है तो अपने मन्त्रपर उसका विश्वास है कि मन्त्र हमारी रक्षा करेगा। पर, कोई काम पड़ा, कोई रोग आया, कोई समस्या आयी अथवा मृत्युका अवसर आया और वह अपना मन्त्र छोड़कर भगा, दूसरे मन्त्रकी शरणमें तो वह अपनी निष्ठासे च्युत हो गया। बल हमेशा अपनी निष्ठाका होना चाहिए। ज्ञानी-पुरुषके जीवनमें जो कठिनाई आती है, उसको वह मन्त्र-जप करके पार नहीं करता, उसको वह देवताके बलपर पार नहीं करता, ईश्वरकी प्रार्थना करके पार नहीं करता। वह जानता है कि अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपमें यह सब स्फुरणा-मात्र हैं। इनकी कोई कीमत ही नहीं है।

तो नारायण, तबतक अपनी निष्ठाको पक्की नहीं समझना, जबतक अपनी निष्ठाके अतिरिक्त और किसीका सहारा लेना पड़ता हो। जो मौका पड़नेपर टल जाये, उसकी निष्ठा पक्की नहीं। अब एक योगी, जो समाधि लगानेका अभ्यास करता है और उसके जीवनमें कोई रोग, मोह, शोकका प्रसंग आता है, तो वह यदि कहता है कि हे ईश्वर, बचाओ अथवा आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है— उसकी निष्ठा पक्की नहीं। उसको तो तुरन्त अन्तर्मुख हो जाना चाहिए। ऐसी शक्ति उसके अन्दर होनी चाहिए कि तुरन्त चित्त-वृत्तिका निरोध हो जाये। कहीं कुछ नहीं।

तो अपने घरमें बैठनेका जो अभ्यास है, वह साधककी सिद्धिका लक्षण है और जो पराये घरमें बैठकर आँधी, तूफानसे बचते हैं, उनकी निष्ठा पक्की नहीं है। अपनी निष्ठा पक्की करनी चाहिए।



ईश्वरका स्वरूप

अब एक-दो बात आपको ईश्वरके बारेमें सुनाते हैं।

ईश्वर है, यह बात यदि कोई प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध करना चाहे तो नहीं कर सकता है और अनुमान जितना होता है, वह प्रत्यक्षके द्वारा ही होता है। अत: अनुमानसे जो ईश्वर सिद्ध होगा, वह पीठके पीछे होगा। इस प्रकार ईश्वर दो तरहका होगा—एक पीठके पीछे परोक्ष ईश्वर—जिसपर हम विश्वास करते हैं और एक प्रत्यक्ष ईश्वर—जो हमारी इन्द्रियोंसे अनुभवमें आवे। तो इन्द्रियोंके अनुभवमें तो परिपूर्ण ईश्वर कभी आ नहीं सकता। जो आवेगा, सो अधूरा और जो पीठ पीछे है, वह केवल श्रद्धाका, विश्वासका ईश्वर है।

अब एक ईश्वर ऐसा है जो हमारे मन, बुद्धि, प्रकृत अविद्या, माया आदिको बनानेवाला कोई अलग है। माने कार्यको देखकर कारणका अनुमान है। इसमें भी वह कुम्हारकी तरह है कि माटीकी तरह—इसपर विवाद है। तो यह सब-की-सब मनकी कल्पना है। वस्तुत: ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें जो अकाट्य प्रमाण है, वह केवल आत्माका अस्तित्व है। यह जरूर है कि जबतक तुम अपनेको शरीरधारी मानोगे, तबतक ईश्वर भी शरीरधारी है—ऐसा मान सकते हो। जबतक अपनेको कर्ता-भोक्ता जीव मानते हो, तबतक ईश्वरको कर्ता-भोक्ता मान सकते हो और, जब अपनेको निराकार आत्मा मानते हो, तब ईश्वरको भी निराकार आत्मा मान सकते हो। जब अपनेको सगुण मानते हो, तब ईश्वरको भी सगुण मान सकते हो। लेकिन, जब तुम अपनेको निर्गुण जान ज़ाओगे, तब तुम्हारा ईश्वर भी निर्गुण हो जायेगा। देखो, 'गुण' माने होता है—विषय, इन्द्रिय, अन्त:करण। तो जब तुम अपनेको विषय-रहित, इन्द्रिय-रहित और अन्त:करण-रहित शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके रूपमें जानोगे, तब तुम्हारा ईश्वर भी विषय, इन्द्रिय, अन्त:करण एवं

कार्य-कारण भावसे रहित हो जायेगा और तब आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं रहेगा।

तो ईश्वर यदि अपना आत्मा ही है, तब तो वह साक्षात् अपरोक्ष है और यदि सामने है तो 'दृश्यत्वाद् विशेषात्'—जैसे सारे दृश्य हैं, वैसे ही एक वह भी है और यदि पीछे है, तो वह अनुमित, कल्पित है और केवल विश्वासका विषय है।

तो ईश्वरका साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप केवल अपना आत्मा है। सामनेवालेमें जो ईश्वरत्व है, वह श्रद्धा और भावसे अध्यारोपित है। शालग्रामकी बटिया ईश्वर है, नर्मदाकी शिला ईश्वर है, पति-परमेश्वर है, पिता-परमेश्वर है, माँ परमेश्वर है—यह क्या है? यह सामनेवाली छोटी-सी वस्तुमें बड़ा-सा ईश्वर अध्यारोपित है। तो ईश्वरका साक्षात्कार कहाँ है? जब आत्माका साक्षात्कार है। अपना आपा जो है, वह न प्रत्यक्ष है न परोक्ष, न रागादि के समान साक्षीभास्य है; वह तो स्वयंसाक्षी है, स्वयं अपना आपा है। इस अर्थमें ईश्वरका अस्तित्व बिलकुल अकाट्य है। जैसे कोई अपनी सत्ताको नहीं काट सकता, वैसे-ही ईश्वर-सत्ताको भी नहीं काट सकता।

असलमें मनुष्य अपनी इन्द्रियोंमें इतना फँस गया है, इतना फँस गया है कि उससे ऊपर उठनेका संकल्प तक नहीं। वह इनिद्रयोंके चक्करमें पड़कर हार मान गया, परमार्थसे विमुख हो गया। बोले कि ईश्वर किसको मानते हो भाई? 'जिसके दाढ़ी-मूँछ न हो'। हद हो गयी न! अगर ईश्वर है तो दाढ़ी-मूँछ होनेपर भी वह ईश्वर ही रहेगा। क्या दाढ़ी-मूँछमें इतनी ताकत है कि वह ईश्वरताको मिटा दे? लोग कहते हैं कि जिसकी आवाज कान को मीठी लगे, जो देखनेमें आँखको अच्छा लगे, सूँघनेमें जिससे सुगन्ध आवे, माने हमारी सब इन्द्रियोंके भोग्यका नाम 'ईश्वर'। अर्थात् इन्द्रियोंके भोग्यका नाम 'ईश्वर' है। यहीं मनुष्य हार गया। 'हार गया' माने धर्मके पन्थसे च्युत हो गया, ईश्वरके असली स्वरूपकी जो खोज थी, उससे नीचे आ गया।

एक बारकी बात है कि वृन्दावनमें एक लड़का जो उस समय बी.ए. में पढ़ता था, उसने एक महात्मासे मन्त्र लिया। अब जितनी उसकी उम्र थी, उतनी ही उनकी उम्र थी। अब क्या हुआ कि थोड़े-ही दिनमें दोनोंमें हुई लड़ाई और वह हमारे पास आया और बोला कि हमारी तो गुरुजीसे लड़ाई हो गयी। अब हम क्या करें? तो मैंने पूछा कि तुमने उड़ियाबाबाजी, हरिबाबाजीको गुरु क्यों नहीं बनाया? तो वह बोला कि महाराज, वे लोग तो बुड्ढे हैं, उनको हम गुरु बनाते, तो वे पहले

मर जायेंगे और हम जिन्दा रह जायेंगे। सो हमने सोचा कि जवानको गुरु बनायेंगे तो साथ-साथ जिन्दा भी रहेंगे। मैंने कहा कि लो, अब साथ-साथ लड़ो भी। तो बड़ी अद्भुत लीला है यह।

एक बहुत मशहूर आदमी हैं—अभी जीवित हैं, इसलिए नाम लेना तो उचित नहीं रहेगा। बड़े ऊँचे ओहदेपर दिल्लीमें रहते हैं। पहले वृन्दावनमें रहते थे। उनकी पत्नी भी लेखिका हैं, बड़ी-बड़ी पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं। तो उन्होंने एकको ईश्वर बनाया—बालक था छोटा-सा। क्या करते कि सबेरे उठकर पहले तो मंगला आरती करते, भोग लगाते, फिर उसको स्नान करवाते, चन्दन, फूल-माला आदि पहनाते। अष्टयाम सेवा जैसे करते हैं, वैसे अपने साथ रखकर अष्टयाम सेवा करते और भोजन करना होता तो पहले थाली उसके सामने रखते और जब वह खा लेता, तब खाते। उसको सुलाकर पंखा झलते। अब वह लड़का धीरे-धीरे बड़ा हुआ। उसको लेकर झूसी गये। वहाँ प्रभुदत्त ब्रह्मचारी मिले। तो वे बड़े खिलाड़ी। उनके जैसा खिलाड़ी—उनके जैसा खिलाड़ी दूसरा साधु नहीं है। सो उन्हें सूझा खिलवाड़ उस लड़केसे मिलकर उसका कान उन्होंने ऐसा-ऐसा भरा कि दोनोंमें लड़ाई हो गयी और जब लड़ाई हो गयी, तब महाराज वे जो सज्जन थे, उन्होंने लड़केको एकान्तमें ले जाकर खूब मारा। अब देखो, जिसको भगवान् मानते थे, उसको खूब मारा। मारा तो वह भगा झूसी स्टेशनपर और तब प्रभुदत्तजी गये और जाकर मनाकर उसको ले आये और बोले कि वे नहीं रखेंगे तो कोई बात नहीं, हम रखेंगे। बादमें जब वह लड़का बीस-बाईस वर्षका हुआ तो हाथमें कटार रखता था और ढूँढ़ता था कि कहीं हमारे पुजारी हमको मिल जायें तो हम उनको मार देंगे। वह लड़का, जिसको उन्होंने एक दिन भगवान् बनाया था—उनको मारनेके लिए ढूँढ़ता था।

तो नारायण, ईश्वरों-का-ईश्वर अपना आत्मदेव है, उसको छोड़कर, गुरुको एवं शास्त्रको छोड़कर केवल इन्द्रियोंकी प्रीतिमें ही अपनी ईश्वरताको उतार देना—यह ईश्वरके मार्गमें चलना नहीं है। हार मान गये हम। मनुष्यको इसके सम्बन्धमें सावधान होकर परमेश्वरकी ओर चलना चाहिए।



क्या लोकानुरञ्जन ही परमार्थ है?

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः।
स्त्रीपुनपुंसकं लैङ्गा परापरमथापरे॥२७॥

लोकाँल्लोकविदः प्राहुः लोकानुरञ्जनमेव तत्त्वं—जो लोग इस लोकको ही सब कुछ मानकर सोचते हैं, उनका कहना है कि देखोजी, हमारे तो लोकानुरञ्जन ही तत्त्व है। अब निकले तो थे ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए, आत्माके अनुसन्धानके लिए और कहने लगे कि लोकानुरञ्जन ही तत्त्व है।

अरे भाई, तुम्हें धन चाहिए, तो लोकानुरञ्जन करो। तुमको भोग चाहिए, तो लोकानुरञ्जन करो और, तुम्हें धर्म चाहिए तो लोकानुरञ्जन नहीं, लोक-सेवा करनी होगी। माने काम बदल जायेगा। और फिर, यदि ईश्वर चाहिए तो अपने समस्त ऐन्द्रिय-व्यापारका निरीक्षण करना पड़ेगा कि यह किसके लिए हो रहा है। यह जो हम कानसे मीठा सुनना चाहते हैं, अपनी भोगवासनाके लिए कि ईश्वरके भोगके लिए? जो हम संसारका सौन्दर्य आँखसे देखना चाहते हैं, यह अपने लिए कि ईश्वरके भोगके लिए? यह जो नासिकासे हम सुगन्ध सूँघना चाहते हैं, वह अपने भोगके लिए कि ईश्वरके भोगके लिए? यह जीभसे जो हम स्वाद चाहते हैं, अपने भोगके लिए कि ईश्वरके भोगके लिए? तो इन्द्रियोंका जो अनुरञ्जन है, यह ईश्वरकी प्राप्तिमें साधक नहीं बाधक है।

लोग कहते हैं कि भाई सबको खुश करो, सबको खुश करो; नाचो-गाओ-तान तोड़ो।

नाचे-कूदे तोरे तान, ताकर दुनिया राखै मान।

लेकिन नाचने-गानेसे भी तो लोग खुश नहीं होते हैं। इसीसे महात्मा लोग कहते हैं कि अपनी निष्ठा नहीं छोड़ना। लोगोंकी खुशी तो एकदम अनवस्थित है।

एक छोटी-सी घटना आपको सुनाता हूँ। बरेलीमें एक संगीत प्रतियोगिता थी और एक बड़े घरका लड़का यह चाहता था कि जो लड़की संगीत प्रतियोगितामें विजयी होगी, उसके साथ हम ब्याह करेंगे और इसी ख्यालसे उसने इसका आयोजन भी चुपके-चुपके करवाया था। अब ऐसा हुआ कि दो लड़की बिलकुल समान रूपसे प्रतियोगितामें जीतती गयीं, जीतती गयीं आमने-सामने आ गयीं। सब लोग खुश थे कि वाह-वाह, कैसा सुन्दर इनका गला है, कितनी सुन्दर हैं, एटीकेट माने इत्तिकृत्त्यके ज्ञानमें कितनी निपुण हैं। नारायण, हुआ क्या कि आखिरी प्रतियोगितामें एक लड़कीके मनमें हीनताका भाव उदय हुआ। उसने सोचा कि मैं तो इसमें पास नहीं हो सकती। सो मैं बदनाम हो जाऊँगी और उस लड़केके साथ मेरा ब्याह भी नहीं होगा। तो उसने क्या किया कि अमुक चीज पानमें मिलाकर दूसरी लड़कीको खिला दिया और उसी समय उसका गला बन्द हो गया और अभी तक ठीक नहीं हुआ।

तो अब देखो, मनोरंजन करनेके लिए गये थे और वहाँ ईर्ष्या-द्वेषका शिकार होना पड़ा। जिससे लोग ज्यादा प्रसन्न होते हैं, उससे दूसरे लोग ईर्ष्या-द्वेष भी करने लगते हैं।

अच्छा, एक साधुकी बात आपको सुनाता हूँ। साधुने हिमालयमें रहकर एक देवताकी आराधनाकी। क्या आराधना की ? कि देवता प्रसन्न होवे और उससे वरदान माँगें। देवता प्रसन्न हुआ। देवताने कहा कि बाबाजी, वर लो ! उसने कहा कि हम यह वर माँगते हैं कि दुनियामें किसीको कोई रोग न हो। तो देवताने कहा कि बाबा, यह तो हमारे वशकी बात नहीं है। क्योंकि, यह तो गुणोंकी विषमता और साम्यसे वात, पित्त, कफ आदि तो होगा ही होगा। उसको तो कोई रोक नहीं सकता। बड़े-बड़े ज्ञानियोंको रोग होता है, देवताओंको रोग होता है। अग्नि देवताको अपच हो गया। हवन लेते-लेते ज्यादा घी-बूरा खानेसे अपच हो गया। इन्द्रका शरीर फूट गया। तो किसीके शरीरमें रोग न होवे, यह बात हमारे वशकी नहीं। तो महात्माने कहा कि अच्छा, हमको कोई ऐसी दवाई बता दो कि सबका रोग मिट जाये। बोले कि दुनियामें ऐसी कोई दवा भी नहीं है। दवा भी तो एक-एक गुणवाली होती हैं। यह जो सब रोगोंपर चलनेवाली पेटेण्ट-दवाएँ होती हैं, वे विश्वासके आधारपर ज्यादा चलती हैं, फायदा कम करती हैं। यह रामबाण औषधियाँ जो बाजारोंमें बिकती हैं, वे सब रोगोंके लिए

नहीं होती हैं। वह तो किसी-किसीका दिमाग ही फेल होता है जो एक दवाको सब रोगोंके लिए मान लेता है।

तो देवताने कहा कि अच्छा, एक रोगके लिए हम तुमको एक दवा बताते हैं। यदि किसीके बच्चेको सुखण्डी रोग हो जाय, उसका शरीर सूखने लगे तो तुम अपना एक बूँद रक्त उसकी नाकमें डाल दोगे तो वह अच्छा हो जायेगा।

अब साधुजी वहाँसे एक नगरके समीप आ गये। उनके पास लोग सत्संगके लिए आते। एक दिन कोई माता अपने साथ अपने रोगग्रस्त बच्चे सहित सत्संगके लिए आयी थी। अब उन महात्माजीको आयी दया और उन्होंने सब-के देखते-देखते अपना एक बूँद रक्त निकालकर बच्चेकी नासिकामें डाल दिया और वह ठीक हो गया।

बरस-दो बरस बीतते-बीतते सारे देशके बच्चे उनके पास पहुँचने लगे। अब वे निचोड़ें अपने शरीरमें-से खून, लेकिन खून ही नहीं रहा! लोगोंने कहा कि बाबाजी, हमको तो सिर्फ एक बूँद चाहिए! हमको तो एक ही बूँद चाहिए न! जैसे हमारे पास आनेवाले कहते हैं कि हम तो पाँच ही मिनटके लिए आये हैं! और फिर कहते हैं कि तो हफ्ते-भरके बाद आये हैं और सिर्फ पाँच मिनटके लिए आये हैं। तो, 'बाँझ क्या जाने, प्रसूतिकी पीड़ा?' तो अंतमें लोगोंने क्या किया कि बाबाजीको उलटा किया और पेड़पर टाँग दिया और अपने-अपने बच्चेकी नाक उसके शरीरके पास ले जाकर खून निचोड़ लें! इस प्रकार निचोड़ते-निचोड़ते बाबाजी बिलकुल सूख गये।

तो देखो, यह लोकानुरञ्जन जो है कि हम सबको खुश रखेंगे—असलमें यह ख्याल ही गलत है! क्यों? **'भिन्नरुचिर्हि लोकः'**—लोककी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। स्वयं ईश्वर भी यदि चाहे कि हम सबको खुश कर लें, तो संभव नहीं।

आपने बचपनमें शायद किसी किताबमें पढ़ा होगा कि एक सज्जनकी दो बेटी थीं। तो एकका ब्याह कर दिया मालीसे और एकका कुम्हारसे कर दिया। अब एक दिन वह दोनोंके घर गया। तो मालीके साथ ब्याही बेटीसे पूछा कि क्या हाल-चाल है? वह बोली कि वर्षा न होने-से सब पौधा सूख रहा है! ईश्वर अगर कृपा कर वर्षा कर दें तो पौधे बच जायें! अब दूसरी बेटीके घर गये और देखा कि वह तो आसमानकी ओर देख रही है कि कहीं बादल न आ जाये! आज हमारे सब बर्तन सुखाये जा रहे हैं! कहीं वर्षा हो जायेगी तो सब नाश हो जायेगा! हमारी सारी मेहनत चली जायेगी।

तो अब ईश्वर क्या करे? कुम्हारकी खुशीके लिए वर्षा न करे कि मालीकी खुशीके लिए वर्षा करे! इसीसे यह जो लोकानुरञ्जन है, इसमें दण्ड-शक्ति शिथिल हो जाती है। लोकतंत्रका सबसे बड़ा दोष यही है! वोट सरकारकी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह सोचती है कि यदि हम सख्ती करेंगे तो लोग खिलाफ हो जायेंगे, हमको वोट नहीं देंगे और हमारा तख्ता पलट जायेगा! और, सख्ती न करें तो चोर, भ्रष्टाचारी, गुण्डे—ये बढ़ते हैं।

नश्येत त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।

जहाँ दण्डनीति शिथिल पड़ती है, वहाँ कानूनकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। बड़ी सख्ती चाहिए इसके सम्बन्धमें! मनुष्यको उसकी बुद्धिपर कब छोड़ा जा सकता है? जब दुनियामें कोई पागल न हो, कोई मूर्ख न हो, कोई बच्चा न हो, कोई स्वार्थी न हो, कोई कामी, क्रोधी, लोभी न हो, तब दुनियाको उसकी बुद्धिपर छोड़ा जा सकता है! नहीं तो न्यायका डंडा सबके सिरपर होना चाहिए।

तो, यह लोकानुरञ्जनमें दण्ड-शैथिल्य दोष है! इससे होता क्या है? अकेले तो कोई चुनाव जीत नहीं सकता! उसको मददगार चाहिए और मददगार सब दूधके धुले हों—ऐसा कैसे हो सकता है? वह तो तब तुम्हारी मदद करेंगे जब तुमको भी उनकी करनी पड़ेगी। अब उसमें भाई-भतीजा, मामा-मौसा आ जायेगा। अतः लोकानुरञ्जन अपने मददगारोंके प्रति पक्षपात और अपने विरोधियोंके प्रति द्वेष नहीं तो उदासीन-दृष्टि तो कर ही देगा! मुश्किल हो जायेगी! अतः समाज जो कहे, सो ही तत्त्व—यह ठीक नहीं!

आजकल ईश्वरके नामपर वोट पड़ते हैं। रूसमें वोट पड़े तो बेचारा ईश्वर दो-तीन वोटसे हार गया! हद हो गयी न! एक और मजा देखा कि ये नेता लोग यह नहीं कहते हैं कि हमारी यह इच्छा है, हमारी यह बुद्धि है! वे तो बड़ घुटे हुए लोग होते हैं। बोलते हैं कि यह जनताकी माँग है। सबके सामने बोलेंगे और कहेंगे कि यह तुम्हारी माँग है। जो लोग सुनते हैं तो कहते हैं कि हाँ, यह हमारी माँग है, हमारी इच्छा है। तो दो-चार बार जहाँ सुना, वहाँ मान लिया। तो यह जो पार्टी-बन्दी है, इससे परमार्थके मार्गमें नहीं चल सकते! देखो, एक सम्प्रदायने दूसरे सम्प्रदायकी हत्या करनेकी कोशिश की! ये यहूदी और ईसाई कहाँसे पैदा हो गये! यह मुसममाननोंमें कई तरहके जो पंथ हो गये, वह कैसे हो गये? हिन्दुओंमें शैव-वैष्णवोंमें कितनी मारकाट हुई! तो इस बातको लोगोंपर नहीं छोड़ा जा सकता। यह केवल अनुभवी पुरुषोंकी वस्तु है, जो अंतर्मुख हैं, और जो अनारोपिताकार

तत्त्वका अनुभव करनेमें समर्थ हैं। इस बातको आप ध्यानसे देखो! जो जगत्का मूल-तत्त्व है, उसमें अपनी वासना और अपने अंत:करणकी मान्यता और श्रद्धाके अनुसार किसी आकारका आरोप न करते हों।

'तत्त्व' उसको कहते हैं, जिसमें आकारका अध्यारोप नहीं किया गया। 'पृथिवी' क्या है? जिसमें घट, शरावादिका आरोप नहीं किया गया, उसका नाम 'माटी'। जिसमें फेन, तरंग, बुदबुद आदिका आरोप नहीं किया गया उसका नाम 'जल'। जिसमें लपट, चिंगारी आदिका आरोप नहीं किया गया, वह 'अग्नि'। जिसमें घटाकाश, मठाकाशका आरोप नहीं किया गया, वह 'आकाश'। जिसमें मैं, तुम, वहका आरोप नहीं किया गया, वह जगत्का मूल-तत्त्व चैतन्य है।

अनारोपिताकारं तत्त्वं।

जिसमें आकारका बिलकुल अध्यारोप नहीं किया गया—न इंद्रियोंके द्वारा, न बुद्धिके द्वारा, न मान्यताके द्वारा—वह जगत्का मूल-तत्त्व है! तो वह सामाजिक प्रत्यक्ष नहीं है।

देखो, कविताका पाठ होता है और श्रोता लोग गलेबाजी पर ताली पीटते हैं। मूर्ख हैं कि नहीं? जब तुम कविता सुनने गये तो काव्यके गुणोंपर तुम्हें ताली पीटनी चाहिए न! न कि गलेबाजीपर ताली पीटनी चाहिए! अच्छा, संगीत सुनने गये और गानेवालीकी सुन्दरतापर वाह-वाह कर रहे हैं, ताली बजा रहे हैं। नारायण, सुनने गये कि रूप देखने गये? तो यह जो लोग हैं, इनकी जो बुद्धि है, इसपर परमार्थ-तत्त्वको नहीं छोड़ा जा सकता। यह खास-खास अनुभवी लोगोंकी वस्तु है!



आश्रम-वादियोंका मत

आश्रमा इति तद्विदः।

अब कई लोग महाराज आश्रमपर बहुत जोर देते हैं। देखो, एक अखंड परमात्माकी सिद्धिके लिए उसके सिवाय जो कुछ मालूम पड़ता है, सबमें माया है, सबमें कल्पना है, सबमें अविद्या है और उसकी पोल तो खोलनी पड़ेगी!

तो जो आश्रमके अभिमानी हैं, वे कहते हैं कि आश्रम ही सबसे बड़ा है। हमने गाँवमें कितनी बार देखा किसीने पूछा कि ए, तुम, ब्राह्मण हो कि नहीं हो? तो सामनेवालेने तो झट जनेऊ दिखा दिया कि देखो, यह क्या हमारे पास है! जनेऊ दिखा दिया, अब हो गये ब्राह्मण!

एक मुसलमान जनेऊ पहनकर, चोटी रखकर जाकर ब्राह्मणोंकी पंगतमें बैठ गया, भोजन करने लगा। लोगोंको शंका हुई, तो पूछा कि तुम कौन हो? बोले कि हम 'बिराहमन' हैं! अरे, कौन बिराहमन हो भाई? क्या गोत्र है? कौन-सी शाखा है? वह बोला, 'याखुदा, बिराहमन' में भी कौन?

तो नारायण, जनेऊ तो कोई भी पहन सकता है।

अब साधु लोग भी आश्रमके बड़े पक्षपाती होते हैं। आजकल तो मकानोंका नाम 'आश्रम' हो गया न! ईश्वरकृपासे यह बहुत बढ़िया हुआ। है तो महल और नाम है आश्रम। ऐसी-ऐसी कुटिया हैं महाराज कि करोड़-करोड़ रुपयेकी बनी होंगी। बनारसमें एक आश्रम है नाम है 'नीड़'। 'नीड़' माने घोंसला। हमारे बम्बईके ही एक सेठका झोपड़ा पूनामें है, 'पर्ण-कुटी'। लेकिन 'पर्ण' का उसमें कहीं पता नहीं लगेगा। तो आजकल ईश्वर-कृपासे अपने मकानोंका लोग 'आश्रम' नाम रखने लग गये! बोले कि तब आश्रम कैसे बोलते हैं? वेशधारी हो जाते हैं। वृदावनमें एक गीत गाते हैं,

वेशधारी हरिके उर सालैं!

केवल वेशके बल पर पुजवाना!

'वेषस्य आश्रम शब्दार्थत्वे'—यदि वेशका ही नाम 'आश्रम' करोगे कि जो गेरुआ पहने, सो संन्यासाश्रमी, जो पीला कपड़ा पहने, दाढ़ी रखे, वह वानप्रस्थाश्रमी और जो कुर्ता, कोट पहने, वह गृहस्थाश्रमी—तब तो जाति बिलकुल-ही कट जायेगी। हमारे तो कोई दिन ऐसा नहीं होता कि बम्बईमें मोटरमें

आते-जाते गेरुआ कपड़ा पहने माँगते हुए न दीख जायें! ये लोगोंके घरमें जाकर कहीं शंख बेचते हैं! बिलकुल नकली! आजकल नकली शंख बनाया जाता है भला! उसको काटकर भी बना देते हैं। उसमें सोना-चाँदी लगा देते हैं। कोई-कोई शालग्राम बेचते हैं, रुद्राक्ष बेचते हैं। अब ये भोले-भाले गृहस्थ-श्रद्धालु! उनके चक्करमे फँसते हैं। गेरुआ देखकर ही समझते हैं कि महात्मा हैं! कोई खड़ा चन्दन लगा लिया तो समझे कि महात्मा हैं। कोई कठमाला धारण कर लिया, बोले कि महात्मा हैं! कोई दण्ड ले लिया, कहे कि महात्मा हैं। कोई खड़ाऊँपर चलने लगा, बोले कि महात्मा हैं।

तो नारायण, वेशसे महात्मा नहीं होता है भला! अच्छा, अब बोले कि आश्रम वेशमूलक नहीं होता। तब कैसा है? बोले कि संस्कार-मूलक है। तो संस्कार तो शरीरमें होता है। वह परमार्थ कैसे होगा? जब शरीर ही परमार्थ नहीं है, तो शरीरको ताप लगा दो तो भी परमार्थ नहीं होगा!

एक अपने बचपनकी भूल आपको बताता हूँ! हमारी माताजीने ताप संस्कार करवा लिया था। 'ताप-संस्कार' माने शरीरपर मुहर लगा लेते हैं। तो वे पहले द्वारिका गयीं थी, वहींपर वह संस्कार करवा आयी थीं। तो बचपनमें हमलोग उनको चिढ़ाते थे कि माताजी, अब तुम वैकुण्ठमें जाओगी, तो द्वारपाल तुमको रोकेंगे कि कहाँ भीतर जा रही हो? तो ऐसे बाँह करके दिखा देना कि यह देखो! ऐसे उनको चिढ़ाते थे। पर, यह हमारे बचपनकी बात है। अब ऐसा मत समझना! बादमें तो वे कायदेसे रामानुज-सम्प्रदायमें दीक्षित हो गयी थीं। लेकिन एक बात यह अवश्य थी कि उनको वैष्णव-सम्प्रदाय या संन्यासी-सम्प्रदाय—ऐसा भेद नहीं था। वे तो हम जहाँ जाते, वहीं जातीं। उड़िया बाबाजीके पास गये तो उनके पास और रामानुजदासके पास गये तो रामानुजदासके पास जातीं। जहाँ-जहाँ हम जाते, वहाँ-वहाँ जातीं। क्यों? साधुसे प्रेम रहेगा तो इनको चेला नहीं बनावेगा, साधु नहीं बनावेगा! उनके मनमें जो स्वार्थ यह था! तो वे ममत्वसे भी सबके पास जातीं।

तो नारायण, हम लोग जो जानते हैं कि यह शरीर कहीं रहनेवाला नहीं है। यह परमार्थ नहीं है। शरीर तो अर्थ भी नहीं है! अर्थाभास है। अर्थ तो पञ्चभूत हैं और जो शरीर उसमें क्लृप्त हुआ है, यह अर्थाभास है और परमार्थ जो अखण्ड-सत्ता है, उसमें पञ्चभूत भी कल्पित हुए हैं। तो पञ्चभूत ही जब परमार्थ नहीं हैं, तो उनसे बना हुआ शरीर परमार्थ कैसे होगा और इसमें लगा हुआ जो निशान है, वह

ईश्वरतक कैसे पहुँचावेगा? तो यह पड़ा चन्दन और खड़ा चन्दन—इसको लेकर जो लोग लड़ते हैं कि हमारा यह आश्रम, हमारा यह आश्रम, हम उदासी, हम संन्यासी! अरे, राम-राम! किसीसे द्वेष करना मजहब नहीं सिखाता है। नर्मदा शंकर जरा लम्बे हुये और शालग्राम जरा गोल हुए—इससे क्या फर्क पड़ा? अपना भाव शिवाकार अथवा नारायणकार होना चाहिए कि गोल होने से ईश्वर नहीं रहा और लम्बा होनेसे हो गया अथवा लम्बा होनेसे ईश्वर नहीं रहा और गोल होनेसे हो गया! इस लम्बी और गोल आकृतिका महत्त्व नहीं है! उसमें अपनी ईश्वर भावनाका महत्त्व है।

यह बाहरी संस्कार मरनेके बाद परलोकमें जायेंगे कैसे? और, आत्मा तो असंस्कारी है! उसमें तो न संस्कार, न विकार। वह तो संस्कार, विकार दोनोंसे असंग है! इसलिए, जिनकी दृष्टि किसी कारणसे बाह्य-वस्तुमें अटक जाती है, वे अटक गये! चले थे ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए, और कहीं अभिमान धारण करके बैठ गये। सम्पूर्ण अभिमानोंकी निवृत्ति होने पर जिस परमात्माकी प्राप्ति होती है, उसको पानेके लिए चले थे और एक वेशका अभिमान, एक आश्रमका अभिमान, एक जातिका अभिमान, एक सम्प्रदायका अभिमान धारण करके अटक गये! भटक गये भाई!

ये आश्रम किसलिए हैं? आश्रम हैं अपने श्रमको मर्यादित करनेके लिए। गुरु-सेवा करके शिक्षा प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मचर्याश्रम है। श्रमकी प्रधानता है इसमें! यदि श्रम नहीं करोगे तो आश्रमी नहीं हो सकते। *'आ-समन्तात् श्रम एव यस्मिन्'*—चारों ओरसे जिसमें श्रम-ही-श्रम है। वह होता है—आश्रम ब्रह्म-चर्याश्रम सेवा करनेके लिए है। जब इसमें विकास हुआ तो यह हुआ कि प्रवृत्ति-परायण अन्तःकरण है कि निवृत्ति-परायण? बोले कि है तो प्रवृत्ति! राग, भोग-परायण दिखता है। बोले कि चलो गृहस्थाश्रममें! गृहस्थाश्रममें रहकर राग, भोगको नियन्त्रित करो! बोले कि प्रवृत्ति-परायण नहीं है, राग, भोग-परायण नहीं है। चलो, नैष्ठिक हो जाओ! अच्छा, गृहस्थाश्रममें रहकर राग, भोग नियन्त्रित कर लिया! बोले कि अब वानप्रस्थाश्रम चलो! वहाँ भोगके पास रहकर भी भोगसे बचो और संन्यासाश्रममें स्वरूपतः भोग और रागका त्याग कर दो!

शारीरिक श्रम ब्रह्मचर्याश्रम है और शारीरिक और मानसिक श्रम गृहस्थाश्रममें है। मानसिक और शारीरिक तपस्या वानप्रस्थाश्रममें है और असंग आत्मामें स्थिति संन्यासाश्रम है। संन्यासाश्रम जो है, वह आश्रम नहीं है, ब्रह्मावस्था

है। इसीलिए, श्रीमद्भागवतमें जहाँ संन्यासाश्रमका वर्णन आया है, *'न यतेराश्रमः प्रायः'*—यति, संन्यासी आश्रमी नहीं है!.वह आश्रमातीत है। इसलिए,

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

(भागवत ११.१८.२८)

चाहे ज्ञानविष्ठ होवे, चाहे अतिशय विरक्त होवे, चाहे भगवान्‌का निष्काम भक्त होवे, सलिंग आश्रमोंका परित्याग करके—गेरुआ पहने कि न पहने, दण्ड रखे कि न रखे, कमण्डलु रहे कि न रहे, कोई पहचाने कि न पहचाने कि यह कौन है—विधि-गोचर होकर न रहे माने तुम आश्रममें हो और तुम्हारा यह कर्त्तव्य है और यदि आश्रमी बनकर रहेगा तो उसके लिए कर्त्तव्य होगा। इसलिए, आश्रम-संन्यास करके रहना चाहिए। देखकर कोई पहचान न सके कि कौन है! लिंग उसका व्यक्त न हो! माने आश्रमकी पहचान स्पष्ट न हो! और, एक केवल भिक्षा-मात्र ही प्रयोजन है! मनमें कोई दूसरी बात नहीं रखे! यह आश्रमातीत है।

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥

(भागवत ११.१८.२९)

होये विद्वान्, पर बालककी तरह खेले! होये कुशल पर जड़वत् आचरण करे! हो विद्वान्, पर पागलकी तरह बोले! हो वैदिक, परन्तु गोचर्याका आचरण करे। जो विधि-निषेध दोनोंसे अतीत है, वह विधि तो करे, परन्तु वह शास्त्राज्ञा मानकर नहीं करे, स्वच्छन्दतासे करे! वह निषिद्ध न करे, परन्तु आज्ञा मानकर न करे, स्वच्छंदतासे ऐसा करे!

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥

(भागवत, ११.७.११)

इसीसे जो तत्त्वज्ञपुरुष हैं, वे आश्रमी नहीं होते! आश्रमाभिमानी नहीं होते। आश्रमाभिमान परमार्थ नहीं है। आश्रमाभिमान अर्थ भी नहीं है, परमार्थकी तो बात क्या? वह देहाभिमानका संस्कृतरूप है। एक देहाभिमानका विकृतरूप होता है। वह क्या है? भोग-परायण रूप। और आश्रम, देहाभिमानका संस्कृत रूप है। और, जो तत्त्वज्ञपुरुष है, वह न विकृत है न संस्कृत है! वह तो उभयातीत है। इसलिए, आश्रमाभिमान उसका स्पर्श नहीं करता। ★

वैयाकरणों का मत

'स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः'।

कोई कहते हैं कि लिंग-भेद ही परमार्थ है। वैसे इस बातको ऐसे देखें कि नर-मादा परमार्थ है। व्याकरणकी बात तो बिल्कुल छोड़ दें! वैसे, व्याकरणका अर्थ होता है, किसी मूलधातुको विशेष आकारमें प्रतिष्ठित करना। 'वि' माने विशेष और 'आकरण' माने आकृत्यापादन। किसी भी मूलधातुको विशेष आकृति देना—यह देनेकी जो पद्धति है, उसका नाम हुआ 'व्याकरण'। जैसे, कुम्हार व्याकरण करता है। कैसे व्याकरण करता है? मूलधातु मिट्टीको विशेष आकृति देता है कि यह घट है, यह सकोरा है! यही व्याकरण है। उपनिषद्में आया, ***'नामरूपेव्याकरवाणि'***। कुम्हार रूपका व्याकरण करता है और वैयाकरण लोग धातुका नामकरण करते हैं। एक-एक धातुके कई रूप होते हैं। देखो, एक 'भू' धातु है! 'भू' धातु बहुत साधारण है! तो, भवति, भवतः, भवन्ति—इस प्रकार दस लकारके रूप हुए। अब उसके साथ कृदन्तके रूप अलग होंगे—भूतं, भव्यं, भवत, भविस्यत्, भविष्माणः आदि। अब इनके भी किसीका सर्वकी तरह और किसीका रामः की तरह रूप चलेंगे! फिर इसके स्त्रीलिंग रूप होंगे—भव्या, भवितृ, भविष्यन्ति आदि। और फिर इनके तद्धित् रूप होंगे। तब और विलक्षण हो जायेगा। माने दो हजारके करीब धातु हैं और एक-एक धातुके कोई दो-दो लाख रूप बन जाते हैं। इसको 'व्याकरण' बोलते हैं। माने एक 'भू' धातुको दो लाख विशेषरूपमें करनेकी जो प्रक्रिया है, उसका नाम 'व्याकरण'। ***'नामरूपेव्याकरवाणि'***—ईश्वरने संकल्प किया कि हम नाम बनाते हैं। ऐसी व्यवस्थित प्रक्रिया है कि उसमें कोई गलती नहीं कर सकता है!

तो अब देखो, इस बातको इस प्रकार ले लें कि एक पुरुष है और एक स्त्री है। नर और मादा। यह लिंग भेद है। बोले कि एक ऐसा भी होता है, जो नर है न मादा है। उसको 'नपुंसक' बोलते हैं। तो हमारे वैयाकरणोंने क्या किया कि माया को तो स्त्रीलिंग रखा और ईश्वरको पुलिंग रखा और ब्रह्मको नपुंसकलिंग रखा। माने वह कार्यकारण भावसे अतीत है न! न वह कर्ता है, न कर्म है, न करण है! तो कर्ता, कर्म, करण भावसे अतीत होनेके कारण 'ब्रह्म' नपुंसक लिंग है! वह न नर, न मादा है।

देखो, पाणिनिका एक सूत्र है, *'अपवर्गे तृतीया'*। 'तृतीया' माने नपुंसक प्रकृति। जब अपवर्ग हो जायेगा माने मोक्ष हो जायेगा, तब तुम्हारी प्रकृति क्या हो जायेगी? तृतीया प्रकृति। एक स्त्री प्रकृति है, एक प्रकृति है और तृतीया नपुंसक प्रकृति है। बोले कि अपवर्गे तृतीया। तो हमलोग हँसी उड़ाते हैं कि *अपवर्गे सति मनुष्यस्य तृतीया प्रकृतिर्भवति, नपुंसको भवति इत्यर्थः।*

परन्तु, ऐसा विलक्षण नियम है व्याकरणका! उसका गुर होता है। बिलकुल सूत्र याद न हो, तो हम धातु और शब्दकी प्रकृतिपर विचार करके बता देंगे कि यह आत्मनेपदी धातु है, यह परस्मैपदी धातु है और तद्धितमें इसके रूप कैसे बनेंगे और कृदन्तमें इसके रूप कैसे बनेंगे और कौन-सा इसका लिंग होगा! क्योंकि, गणितके नियमानुसार शब्दोंका विभाजन है।

देखो, एक 'सर्व' शब्द है। तो यह पुलिंग होना चाहिए या नपुंसकलिंग कर लो! यह सर्वः पुलिंगमें और सर्वः स्त्रीलिंगमें—यह कैसे होगा? हिन्दीमें तो 'सब' शब्द स्त्री और पुरुष दोनोंके लिए होता है। परन्तु, संस्कृतमें स्त्रीके लिए 'सर्वाः' होता है। 'सर्वाः स्त्रियाः'—ऐसे बोलेंगे और 'सर्वे पुरुषः' —ऐसे बोलेंगे। तो बोले कि भाई यह जो 'सर्व' शब्दमें तुमने जो स्त्री और पुरुषका लिंग-भेद कर दिया, इससे तो सर्वका सर्वत्व ही व्याहत हो गया।

अच्छा देखो, स+स+स= ते और त्वं+त्वं+त्वं=यूयं हो गया। ये बहुत बढ़िया बनाया । अब जो बोलते हो, अहं+अहं+अहं=वयं, यह कैसे हो गया? यह अनुभव-विरुद्ध भाषा है! 'मैं' शब्दका बहुवचन नहीं हो सकता। तुम 'मैं' हो, यह अनुभव तो कभी होता ही नहीं। तो फिर विशेषण बनाओ कि ये हमारे चेले, ये हमारी चाँटी! चेला, चेली सहित मैं माने हम! चेला-चेला गौण हो गये, 'मैं' मनुष्य हो गया। तो व्याकरणमें 'मैं' शब्दका जो बहुवचन है, वह व्याकरणके गणितसे बिलकुल नहीं बैठता है। कल्पित है। इसीसे पाणिनिसे भिन्न एक व्याकरणमें कहा गया कि, *'आत्मशब्दो नित्यैकवचनान्तः'*। 'मैं' को बहुवचनमें मत ले जाओ! मैं, मैं, मैं—ऐसा अनुभव ही नहीं होता! 'मैं' शब्द हमेशा एक वचन ही रहता है!

तो 'सर्व' शब्दका स्त्रीलिंग कर देना और 'मैं' शब्दका बहुवचन कर देना गलत है! आपको एक आश्चर्यकी बात बतावें! 'मति' शब्द पाणिनि व्याकरणकी दृष्टिसे नदी संज्ञक मानते हैं। लेकिन यमुना, गंगा शब्द नदीसंज्ञक नहीं है। इकारान्त जो शब्द होता है, उसमें नदी संज्ञा होती है। जो आकरान्त शब्द हैं, उनकी पाणिनि

व्याकरणमें नदी संज्ञा नहीं है। बोले कि क्या आश्चर्य है पाणिनिजी, गंगा-यमुना तुम्हारी दृष्टिमें नदी नहीं हैं। और सखी, मति, धृति—ये सब नदी हैं!

हमलोग जैसे सांख्यमें गुणोंकी साम्यावस्था एक प्रकृतिसे फिर तीन गुण, फिर उनसे महत्तत्त्व, महत्से फिर अहंकार और उससे पंचतन्मात्रा आदिकी उत्पत्ति मानते हैं, ऐसे ही शब्दोंमें-से कैसे उत्पत्ति होती है, इसकी हम व्युत्पत्ति जानते हैं! हम कह देंगे कि व्याकरणको इस प्रसंगमें ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिए!

'स्त्रीपुंनपुंसकं लिंगः'।

तीन विभागमें सारी सृष्टिको बाँट लेना। यह कहो कि शब्दका स्वभाव एक है कि अनेक है? तो शब्दका स्वभाव तो अनेक है। एक स्वभावका तो कोई शब्द होता ही नहीं। वही कर्ममें भी प्रयुक्त होता है और वही कर्तामें भी प्रयुक्त होता है, वही करणमें भी प्रयुक्त होता है। एक आपको शब्दका आश्चर्य बताते हैं! एक 'गच्छति' शब्द हम बोलते हैं। यह क्या है? क्रिया-पद है। अब इसमें अर्थ कितना है, सो देखो! एकः गच्छति—एक आदमी जा रहा है। एकत्व है उसमें! फिर; *'वर्तमाने एव गच्छति'*—इसी समय जा रहा है और गमनं क्रिया करोति—वह गमन क्रिया कर रहा है। तो देखो, कालका सम्बन्ध हो गया कि वर्तमानमें 'गच्छति' और क्रियाका सम्बन्ध हो गया कि गमन-क्रिया कर रहा है, व्यक्तिका सम्बन्ध हो गया कि वह एक है और 'गच्छति' माने गमन क्रियां कुर्वन् दृश्यते—चलता हुआ दीख रहा है माने सामने है। तो 'गच्छति' एक पदका प्रयोग करनेसे वर्तमान काल, सम्मुखस्थदेश, एक व्यक्तित्व और गमन-क्रियाका कर्तृत्व एवं गमन-क्रियाका दृश्य होना—इन पाँच बातोंका बोध हुआ। तो ये पाँचों अर्थ क्या परमार्थ हैं कि इसमें कोई एक अर्थ परमार्थ है?

शब्द तो एक है, परन्तु बताता है हजारों बातोंको। वक्ताकी सत्ताको तो सिद्ध करता ही है। पर, एक ही शब्द जब अनेकार्थको सिद्ध करता है, तब उसमें परमार्थतः कहाँ है? यह तो देश,काल, वस्तु, परिस्थिति, परम्पराके अनुसार बाहरकी खटखटसे बनाये हुए इशारे नहीं, भीतरकी खटखटसे बनाये हुए जो इशारे हैं, उनका नाम 'शब्द' है। कहनेका मतलब है कि हैं सब ध्वनियाँ और इनमें जो शब्दत्व और अर्थत्व है, जो धातु और प्रत्यय है, जो लिंग है—वह इन उच्चारित ध्वनियोंमें कल्पित है। इसलिए, यह परमार्थ-तत्त्व नहीं है। असलमें, जिसमें ये कल्पित किये गये हैं, वह एकमात्र चैतन्य धातु वह परमात्मा, वह आत्मा ही परमार्थ है। बाकी कोई भी वस्तु परमार्थ नहीं है! ★

परापर-वादियोंका मत

'परापरमथापरे'।

'अपरेकेचिद् उपनिषदैकदेशिनः'—कोई-कोई उपनिषद्के एक देश 'पर' और 'अपर' ब्रह्मका दो स्वरूप मानते हैं।

द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये परञ्चापरञ्च।

दोनों ब्रह्मको जानना चाहिए—पर-ब्रह्मको भी और अपर-ब्रह्मको भी।

तो यह पर और अपरका भेद कैसे करते हैं? एक ब्रह्म तो ऐसा है, जैसे जितना नाम-रूपात्मक प्रपञ्च भासता है—इसके मूलमें पंचभूत है और पंचभूतके मूलमें मन है और मनके मूलमें अहंकार है और अहंकारके मूलमें बुद्धि है, बुद्धिके मूलमें प्रकृति है और उस प्रकृतिका संचालक जो परमेश्वर है, जो सृष्टि-स्थितिकालमें प्रपञ्चात्मना और प्रलयकालमें प्रलयात्मना भासता है, जो कार्यके रूपमें प्रपञ्च बना हुआ है और कारणके रूपमें अव्याकृतात्मा बीज है, वह अपर-ईश्वर है।

पर-ईश्वर कौन है? जिसमें कार्य-कारणभाव नहीं हैं। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है।

असलमें, इस प्रत्यक्षको देखकर यदि इसके कारणका अनुमान किया जाये तो प्रकृतिकी सिद्धि होती है। द्रव्यात्मक, क्रियात्मक, ज्ञानात्मक सृष्टि—इन तीनोंके लिए सत्त्व, रज, तम और इनकी साम्यावस्था! पर, उसमें चैतन्य है, यह बात श्रुतिसे सिद्ध होती है। चैतन्यकी सत्ता प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होती। चैतन्यकी सत्ता अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिका विषय नहीं है! क्योंकि, चैतन्य किसी प्रमाणका प्रमेय नहीं होता। चैतन्यसे प्रमाणकी सिद्धि होती है, प्रमाणसे चैतन्यकी सिद्धि नहीं होती। हम भीतर चैतन्यरूपसे बैठे हैं, तब आँख देखती है—यह बात तो ठीक है परन्तु, आँखसे चैतन्यको देखते हैं, यह बात गलत है। तो हम बुद्धिके भीतर बैठकर बुद्धिको देखते हैं, यह तो सही है। परन्तु, बुद्धिसे हम चैतन्यको देखते हैं, यह बात गलत है। इसलिए, चैतन्य प्रमाणका विषय नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है, इसलिए अनुमानका भी विषय नहीं है। अनुमान माने प्रत्यक्षका छोटा भाई। 'अनु' माने पीछे 'मान' माने प्रमाण। प्रत्यक्षके पीछे जिसका मान-पना सिद्ध हो, वह अनुमान। *'प्रत्यक्ष पूर्वकं तत त्रिविधं'*। प्रत्यक्ष तो अक्ष-अक्षके प्रति भिन्न होता है।

'अक्षं-अक्षं प्रति विद्यते'। आँखके लिए जुदा, नाकके लिए जुदा, कानके लिए जुदा, जीभके लिए जुदा। परन्तु, अनुमान इसी प्रत्यक्षके आधारपर सिद्ध होता है।

यह जो जगत्‌की विविधता है, इसकी मूलभूत प्रकृति है, प्रधान है और जो चैतन्य ईश्वर है, वह श्रुति-प्रमाणसे सिद्ध है। लेकिन कार्य-कारण भावका संचालक जो चैतन्य है वह तो सोपाधिक हुआ। प्रकृतिकी जहाँ उपाधि है, वहाँ वह संचालन करता है और *'त्रिपादस्यामृतं दिवि'*-जहाँ प्रकृतिकी उपाधि नहीं है, वहाँ संचाल्य-संचालक भाव नहीं है! वह तो परतत्त्व है, साक्षी तत्त्व है, ब्रह्मतत्त्व है।

यह लोअर, अपर जो बोलते हैं, उसमें 'अपर' जिसको बोलते हैं, वह तो संस्कृतका 'पर' है और जिसको 'लोअर' बोलते हैं, वह संस्कृतका 'अपर' है। जैसे बोलते हैं, राम और लक्ष्मण। तो यह 'और' शब्द कहाँसे बना? हमारे बाबा माने पितामह हिन्दी लिखते थे तो 'और' नहीं लिखते थे, 'अवर' लिखते थे। राम अवर लक्ष्मण—ऐसे लिखते थे। 'अवर' माने छोटे। मुख्यका नाम पहले आया और गौणका नाम बादमें आया।

अब यह बात हुई कि जिसको हम 'ब्रह्म' कहते हैं—बाहर-भीतर, पूर्व-पश्चिम आदि देश-कल्पनाका अधिष्ठान और आज, कल, परसों-काल-कल्पनाका अधिष्ठान और यह, वह, घट, पट आदि वस्तु-कल्पनाका अधिष्ठान और वह अधिष्ठान जड़ नहीं, चेतन अधिष्ठान माने स्वयं-प्रकाश, सर्वावभासक अधिष्ठान-जिसमें देश,काल, वस्तु सब स्फुरण-मात्र, कल्पित—ऐसा जो ब्रह्मतत्त्व है, उसको 'परब्रह्म' कहते हैं।

असलमें सत्यको 'ब्रह्म' कहते हैं, ज्ञानको 'ब्रह्म' कहते हैं और अनन्तको 'ब्रह्म' कहते हैं। *'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म'*। उसमें परापरका भेद नहीं हो सकता। उसमें कार्य-कारणका भेद कभी संभव ही नहीं है।

परिच्छेदे क्वचिदपि ब्रह्मत्वायोगात्।

परिच्छिन्न-वस्तुको हम कभी 'ब्रह्म' कहते ही नहीं हैं। ब्रह्म तो वस्तुतः अपरिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्नमें यह पर है, यह अपर है; यह छोटा है, यह बड़ा है; यह उपसभापति है और यह सभापति है—इस तरहका भेद कभी नहीं होता है। 'ब्रह्म' तो अद्वय है, अखण्ड है, अविनाशी है, परिपूर्ण है।

अतः परापरवादियोंका मत परमार्थ नहीं है!



पौराणिक विवेचन

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा॥ २८॥

सृष्टिवेत्ता सृष्टिको, लयवेत्ता प्रलयको और स्थितिवेत्ता स्थितिको सत्य बतलाते हैं। इस प्रकार सभी वाद सर्वदा इस आत्मतत्त्वमें कल्पित हैं।

सृष्टि, स्थिति और प्रलय--इसके सम्बन्धमें आपको क्या सुनावें, किसी-न-किसी दृष्टान्तको सृष्टिमें-से ले लेते हैं। जैसे, देखते हैं कि एक पत्थरपर पानी जमता है, काई होती है और काईसे फिर उसमें कोई हरियाली, कोई पौध निकल आती है; तो ऐसे सृष्टि हुई—इसका वैज्ञानिकोंने अपने यन्त्रके द्वारा निर्णय किया। कोई कहते हैं कि स्वेदसे सृष्टि हुई। कोई कहते हैं कि नहीं, एक हिरण्मय अण्ड हुआ। अण्डसे सृष्टि हुई। जैसी-जैसी सृष्टि लोकमें देखी जाती है, इसीके आधार पर लोगोंने सृष्टि होनेकी कल्पना की है।

वैसे हिन्दीमें तो सृष्टिकी उत्पत्ति हुई—ऐसी बात भी चलती है। पर, संस्कृतमें ऐसे बोलनेका ढंग नहीं है। उत्पत्तिके अर्थमें ही 'सृष्टि' शब्दका प्रयोग करते हैं। तो सृष्टि हुई, ऐसा बोलेंगे—*सृज्यते! 'सृष्टि उत्पद्यते'*—ऐसा बोलनेका अभ्यास संस्कृतके पण्डितोंको नहीं है। क्योंकि वे सृष्टि और उत्पत्ति, दोनों शब्दका अर्थ एक ही मानते हैं। ऐसे हिन्दीमें लौकिक भाषामें कई भेद होते हैं। जैसे हिन्दीमें बोलना हो तो सायंकाल बोलेंगे, प्रातःकाल बोलेंगे और संस्कृतमें बोलनेके लिए 'काल' लगानेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि, सायं और प्रातः—यह काल अर्थमें ही प्रत्यय हुआ है। हिन्दीमें तो ऐसे भी बोलते हैं—सायंकालके समय, प्रातःकालके समय। वह संस्कृतमें तो तिहरा हो जाता है। केवल 'सायं' कहनेसे काम चलता है। सायं तो काल ही है। अब उसमें काल जोड़नेकी क्या जरूरत? तो सृष्टिकी उत्पत्ति भी ऐसे ही है। जो सृष्टि है सो उत्पत्ति है, जो उत्पत्ति है, सो सृष्टि है। इसलिए, 'की' का कोई अर्थ नहीं है। यह तो आपको भाषाकी बात सुनायी।

किसीने कहा कि जैसे धरती छेदकर बीज निकल आता है, ऐसे ही यह सारी सृष्टिका बीज पहलेसे मौजूद था और जैसे उद्भिजकी उत्पत्ति हुई, वैसे सारी सृष्टिकी हुई। 'उत्पत्ति' शब्दका अर्थ यही होता है, *'उत् ऊर्ध्व पत्तनं उत्पत्तिः'*। माने नीचेसे ऊपरको उठ आना, छिपी चीजका जाहिर हो जाना, इसका नाम 'उत्पत्ति' है। जो पिताके वीर्यमें था वह माताके पेटमें-से बाहर निकल आया तो

उसका नाम हुआ 'उत्पत्ति'। छिपी हुई चीजका जाहिर हो जाना या भीतरकी चीजका बाहर निकल आना—इसीको 'उत्पत्ति' बोलते हैं। उत् ऊर्ध्वं पत्तनं उत्पत्तिः। *उत् ऊर्ध्वं पदनं उत्पत्तिः। उत्पादः उत्पत्तिः।* किसी चीजका ज्ञान नहीं था। थी तो, पर मालूम नहीं थी। अब मालूम पड़ गयी। देखो, मनमें वासनाएँ थीं। पर, मालूम नहीं था। सपनेके समय उत्पन्न हो गयीं। यह 'उत्पत्ति' है। यह 'उत्' उपसर्ग और 'पद' धातुसे 'उत्पत्ति' शब्द बनता है।

अब देखो, सर्जनं सृष्टि। जितनी सृष्टि विषयक कल्पना की जाती है, वह देखो। लोकमें जैसे माता-पितासे सन्तान होती है, तो आदि-दम्पती गौरी शंकरसे सन्तान होती है, लक्ष्मी-नारायणसे सन्तान होती है। अण्डेमें-से सृष्टि निकलती है। तो बोले कि पहले एक सोनेका अण्डा था, उसमें-से सृष्टि हुई। पानीमें-से सृष्टि होती देखी जाती है। बोले कि पानीमें-से सृष्टि हुई जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, ऐसे ही ईश्वर सृष्टि बनाता है—यह कल्पना कर ली। तो दुनियामें जैसे-जैसे चीजें बनती दीखती हैं, इसी ढंगसे सृष्टिकी पूरी कल्पना की जाती है। यह कहो कि सृष्टि होते समय कोई देखकर आया है और वह बताता है तो सृष्टि देखनेके लिए आँख कहाँसे होगी? जब सृष्टि नहीं होगी, तब आँख ही नहीं होगी। आँख तो सृष्टि होनेके बाद बनी न! अरे, बुद्धि भी सृष्टि होनेके बाद बनी और साक्षीके पास जबतक अन्तःकरणका उपकरण नहीं है, तबतक वह उत्पत्तिको देखेगा कैसे?

अच्छा, अब एक दूसरी बात सृष्टि, लयके सम्बन्धमें देखो। समझो कि एक अंकुर निकला; फिर दो पत्ते निकले। तो बीजका बीजत्व भंग करके अंकुर होता है। अंकुरका अंकुरत्व भंग करके पत्ते निकलते हैं। पत्तेका पत्रत्व भंग करके पुष्प होता है। पुष्पका पुष्पत्व भंग करके फल होता है। माने पूर्वावस्थाका नाश होते जाना और उत्तरावस्थाकी सृष्टि होते जाना—इसीको 'उत्पत्ति' बोलते हैं। उत्पत्ति और प्रलय, दोनों एक साथ होते हैं। एक क्षणका नष्ट होना और दूसरे क्षणका उत्पन्न होना। एक कणका नष्ट होना और दूसरे कणका उत्पन्न होना। तो उत्पत्ति और प्रलय, ये दोनों नितान्त भिन्न नहीं हैं। निद्राका टूटना और जाग्रत्का होना। जाग्रत्का होना और निद्राका टूटना। इसी प्रकार एकके नाशमें दूसरेकी उत्पत्ति है और एककी उत्पत्तिमें दूसरेका नाश है। तो इस संसारमें सृष्टि और लयको कोई पृथक् करके देखें—ऐसा शक्य नहीं है।

अच्छा, कई आचार्योंका मत है कि सृष्टि और प्रलय बिलकुल नित्य हुआ करते हैं। माने हर समय होते हैं। यह मत तो पौराणिकोंका है। इसलिए पौराणिकोंकी दृष्टिसे आपको यह बात सुनाता हूँ। भागवतमें लिखा है,

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्त्रोतसांतदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥ (११.२२.४४)

११वें स्कन्धमें यह श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण, उद्धवजी से कहते हैं। वे कहते हैं कि, *'उत्पत्ति प्रलयावे के नित्यं परिचक्षते'*। कोई-कोई आचार्य ऐसे हैं, जो उत्पत्ति और प्रलयको नित्य मानते हैं। माने हर समय उत्पत्ति हो रही है, हर समय नाश हो रहा है। जैसे दिनका नाश और रात्रिकी उत्पत्ति और रात्रिका नाश, दिनकी उत्पत्ति। एक-एक क्षण दिन छीज रहा है और क्षण-क्षण रात्रि है और क्षण-क्षण रात्रि उत्पन्न हो रही है। तो वहाँ बताया कि आप अपने घरमें कभी दीया जलाते हैं तो प्रति क्षण क्या होता है? नयी बत्ती हर क्षणमें जलती है और नया तेल जलता है और हर क्षणमें नयी लौ पैदा होती है। देखनेसे मालूम नहीं पड़ता। दीपक जल रहा है और क्षण-क्षणमें नयी बत्ती, नया तेल और नयी लौ होती है। और, आदमीको क्या मालूम पड़ता है? उसको तो यही मालूम पड़ता है कि यह वही है, जो घण्टे-भर पहले जलाया था। घण्टे भर पहले जो लौ थी, वह अब है क्या? अरे, वह तो कहाँ? हवा उसको उड़ाकर ले गयी। आकाशमें लीन हो गयी। अब कोई वैज्ञानिक यन्त्र लगाकर भी ढूँढे कि घण्टे भर पहले वाली लौ कहाँ गयी, तो उसको आसमानमें वह मिलनेवाली नहीं है। वह तो खतम हो गयी। *खतमं, अतिशेन खं शून्यं खतमं।* वह तो 'ख' हो गयी, शून्य हो गयी, आकाश हो गयी। खातमा हो गयी।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि, *'स्रोतसां तदिदं जलम्'*। पहले हम हर साल स्वर्गाश्रम जाते थे। गंगाजीमें एक बड़ी चट्टान पड़ी थी। गंगाजीका जल आकर उससे टकराता था। हम गुफाके सामने बैठ जाते और वह जल आकर टकराता और उछलकर घुस जाता। दस वर्ष लगातार गये और हर साल वैसा ही मिला। वैसे-ही मालूम पड़ता था कि जल उछल रहा है। रोज गंगाजीमें स्नान करते हैं। मालूम पड़ता है कि यह वही गंगाजी हैं जो कल थीं। झरना वही बह रहा है, जो कल था। *'स्रोतसां तदिदं जलम्'*। लेकिन, कलवाला झरना आज कहाँ गया?

अच्छा, आपके घरमें आमका पेड़ लगा हो। पहले उसमें बौर आया। फिर सरसोंके दानेके बराबर उसमें फल लगे। फिर मटरके दानेके बराबर हो गये। फिर बेरके दानेके बराबर हो गये। फिर बड़े आम हो गये। लेकिन, वे किस समय बढ़ते

हैं, आपको मालूम है? आपकी आँखको पता लगता है कि वह सरसोंसे मटर कब हो गया, मटरसे बेर कब हो गया और आँवलेसे आम कब बन गया? वह किस समय बढ़ता है, मालूम पड़ता है? तो पुराने उसके जो कण हैं, वे बदलते जाते हैं, नये कण पैदा होते जाते हैं। क्षण-क्षणमें नवीन कणोंकी सृष्टि और क्षण-क्षणमें प्राचीन कणोंका प्रलय होता है। तो सृष्टि, स्थिति, प्रलय कहाँ है?

देखो, सृष्टिसे कोई ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं कि ब्रह्माजीने सृष्टि बनायी। लयसे कोई रुद्रकी उपासना करते हैं कि रुद्रने लय किया। योगवासिष्ठवाले कहते हैं कि महाप्रलय, महाप्रलय, महाप्रलय। न कहीं नाम, न कहीं रूप। एक अखण्ड ब्रह्म मैं। वे महाप्रलयका दर्शन करते हैं। महाप्रलयका चिन्तन करनेसे यमराजके दरवाजे पर पहुँच जाते हैं जैसे नचिकेता मृत्युका चिन्तन करनेसे मृत्युके दरवाजे पर पहुँच गया था। और, तीन दिन जहाँ महाप्रलयका ध्यान हुआ कि वह महाप्रलय यम बनकर तत्त्वज्ञानका उपदेश करने लगता है।

अब कोई स्थितिकी प्रधानतासे विष्णुकी उपासना करने लगते हैं। विष्णुमें स्थिति देखनेमें आती है। पौधा सूख रहा हो तो उसमें खाद डाल दो, पानी डाल दो। आदमी भूखसे मर रहा हो तो उसको अन्न दे दो, पानी दे दो तो अच्छा हो जायेगा। शरीरमें माटी है। सो माटीसे बना अन्न चाहिए और शरीरमें पानी है तो प्यास लगनेपर पानी चाहिए। शरीरमें ऊष्मा है, उसको बनाये रखनेके लिए शरीरमें गर्मी बनी रहनी चाहिए। शरीरमें वायु है, तो स्वास लेनेके लिए वायु चाहिए। शरीरमें अवकाश है, तो बाहरके अवकाशसे सम्बन्ध चाहिए। शरीरमें मन है, तो समाजके मनके साथ उसको मिलना चाहिए। उसमें बुद्धि है, तो समष्टि-बुद्धिके साथ मेल खाना चाहिए।

मिट्टी मिट्टीसे, पानी पानीसे, आकाश आकाशसे मिलना चाहते हैं कि नहीं? बिना मिले जिन्दा नहीं रह सकते। इसी तरह यह आत्मा, परमात्मासे मिले बिना जिन्दा नहीं रह सकता।

एकने पूछा कि महात्माजी, यह आममें मिठास किसने भेजी? ये केलेमें हुआ पैक करके किसने भेजा? क्या बढ़िया पैकिंग है। दुकानदार ऐसा कर सकते हैं? हर केलेके पेड़में-से कई केले निकलें और प्रत्येकको ऐसा बढ़िया बन्द किया हुआ है कि बाहरकी हवा न लगे। किसने किया है? नींबूमें खटास किसने भेजी? इमलीको इतनी प्यारी किसने बना दिया कि दक्षिणके लोग उसपर लट्टू हैं। जिसके घरमें इमलीका पेड़ न हो, वहाँ

लड़कीका व्याह न करें। आँवला धातृ है। एक माता वह है जिसने जन्म दिया और एक माता आँवला भी है। हरितकीको भी माता बोलते हैं। हरितकीमें जीवनशक्ति किसने भेजी? आँवलेमें जीवनशक्ति किसने भेजी? यह स्थिति कौन कर रहा है? यह तुम्हारे पेटके भीतर ऐसी पकड़ किसने बना दी कि बार-बार साँस निकल जाय तो बार-बार उसको खींच ले। तो बोले कि स्थितिका देवता विष्णु है, वह सर्वत्र रहता है।

सृष्टिकी प्रधानतासे ब्रह्मपुराणादि पुराण हैं। लयकी प्रधानतासे लिंगपुराण, शिवपुराणादि हैं। स्थितिकी प्रधानतासे विष्णुपुराण, भागवतादि हैं। कोई शक्तिकी प्रधानतासे हैं तो कोई शक्तिकी प्रधानतासे कोई शक्तिमानकी प्रधानतासे हैं। बात यह है कि जो कुछ मालूम पड़ता है, जिसका नाम लिया गया और जिनका नाम नहीं लिया गया, जितने भेद मालूम पड़ते हैं, वे सब सिद्धमें मालूम पड़ते हैं कि असिद्धमें मालूम पड़ते हैं? तो उन भेदोंके सिद्ध होनेसे पहले जो स्वतः सिद्ध आत्मा है, उसीको मालूम पड़ता है कि यह अन्तःकरण है, ये इन्द्रियाँ हैं, यह शरीर है, यह विषय है, यह प्रलय हो रही है—यह किसको मालूम पड़ता है? तो जो सर्वका ज्ञाता है, जो सर्वका द्रष्टा है, जो सर्वका साक्षी है, जो देश-काल-वस्तु सबका साक्षी है, वह तो पहलेसे सिद्ध है। 'मैं हूँ'—यह सिद्ध करनेके लिए किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं है। लेकिन मुझे जो चीजें मालूम पड़ती है, वे ठीक-ठीक मालूम पड़ती हैं कि नहीं—यह देखनेकी जरूरत पड़ती है।

इस प्रकार यह समझो कि ये सब-के-सब अपने स्वरूपमें ही कल्पनावस्थामें उपलब्ध होते हैं और आत्मा जो है, वह कल्पित नहीं है। तो हर समय सृष्टि भी मालूम पड़े, स्थिति भी मालूम पड़े, प्रलय भी मालूम पड़े। जिसको मालूम पड़ती है, वह तो पहलेसे है और इसी आत्माका असली नाम 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' माने देश-काल-वस्तुका प्रकाशक और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न और देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इसके सिवाय और ब्रह्म नहीं है।

तो असली बात यह हुई कि पहल जो 'प्राण इति प्राणविदः' कहा गया था—वह प्राण जो है, वह बीजात्मा प्राज्ञ है, ईश्वर है और उसीके ये कार्यभेद स्थिति पर्यन्त हैं और जितने भी प्राणियोंने मूल सृष्टिमें भेद कल्पना की है, यह रस्सीमें साँपकी कल्पनाके समान ही है। अपना जो आत्मा है, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका अधिष्ठान है।

यह देखो, 'सर्व' कहना और 'केवल' कहना—इन दोनोंमें फर्क होता है।

'एक' कहना और 'अद्वय' कहना—इसमें फर्क है। इस बातको समझना चाहिए। देखो, 'सर्व' उसको कहते हैं—एक और एक दो, दो-दो चार और चार-चार आठ और आठ-आठ सोलह—ऐसे गिनते चले जाओ और जिसके बाद कोई गिनती न हो सके, गुणा न हो सके, उसका नाम होगा 'सर्व'। सम्पूर्ण संख्याओंकी जो समष्टि होगी, उस समष्टिको 'सर्व' बोलेंगे। करोड़का करोड़ गुना, बोले कि नहीं, अरबका अरब गुना, नहीं-नहीं, नील-का-नील गुना; बोले कि नहीं, परार्थका परार्ध गुना, असंख्य-का-असंख्य गुना करो। असंख्य भी एक संख्या है। तो बहुतोंके जोड़को 'सर्व' कहते हैं और जिसमें बहुत्व न हो, उसको 'केवल' कहते हैं। तो यह परमात्मा जो है, यह 'केवल' है। 'केवल' शब्दका हिन्दीमें जो अपभ्रंश हुआ है, वह 'अकेला' है। 'केवल'में-से 'व'को 'के' के पहले रख दो तो 'वकेल' हो जायेगा और वही फिर अकेल, अकेला हुआ। नहीं तो ऐसे कहो कि हिन्दीवालोंने जानबूझकर 'अकेला' शब्द ही बनाया है। वह कैसे? बोले कि केला जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ बहुत होता है। तो 'अकेला' माने जो केलेकी तरह समूहमें न होये, सो अकेला। माने जिसमें एक बटे दो न हो, सो अकेला। जिसमें एक-एक दो न हो, सो अकेला। माने अद्वय ब्रह्मतत्त्व। इसीसे आपको यह बात सुनाते हैं कि जैसे एक-एक रात, एक-एक दिन गिनते चले जाओ, तो सम्पूर्ण दिन और रातोंकी जो समष्टि होगी, उसको 'सर्वकाल' बोलेंगे। लेकिन वह काल जिसमें नहीं है, उसको 'अकाल' बोलेंगे। और, यह जो एक-एक इंच जो देश है, फिर एक-एक फुट फिर एक-एक गज, फिर एक-एक मील—ऐसे जोड़ते-जोड़ते जो देशकी समष्टि होगी, इसको सर्वदेश बोलते हैं और यह सर्वदेश जिसमें कल्पित है और जिसमें सर्वदेश नहीं है, उसको 'परिपूर्ण' बोलते हैं, 'अद्वय' बोलते हैं। यह कण-कण-कण सबको जोड़ लिया। कोई कण बाकी नहीं रहा। भूतमें होनेवाला कण भी बाकी नहीं रहा, भविष्यमें होनेवाला कण भी बाकी नहीं रहा, वर्तमानमें बिखरा हुआ कण भी बाकी नहीं हुआ। तो सब कणोंकी जो समष्टि होगी, उसको 'सर्ववस्तु' कहेंगे। वह सर्ववस्तु, जिस प्रकाशमें दिखायी पड़ रही है, उस प्रकाशका जो अधिष्ठान है, जिसमें यह सब वस्तुएँ नहीं हैं, इनके 'अत्यन्ताभाव'का जो साक्षी अधिष्ठान है, उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। इस प्रत्यक् चेतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वमें यह जो कला-काष्ठा मुहूर्त क्षणादि काल-सृष्टि है, और उसमें यह जो देश-सृष्टि है इंच, फुटादि और जो अणु-परमाणु आदि वस्तु-सृष्टि है, यह सब जिसमें भास रहे हैं, जिसमें कल्पित हैं, जो इनका

अधिष्ठान है, जो इनका प्रकाशक है और जो इनके अत्यन्ताभावका भी अधिष्ठान और प्रकाशक होनेके कारण इनसे सर्वथा रहित है, उस आत्माको 'ब्रह्म' बोलते हैं। माने भाषा समझनेके लिए कि वेदान्तकी भाषा आप समझें, इसके लिए यह बात सुना रहे हैं।

बोले कि ईश्वरसे लेकर स्थिति पर्यन्त ये जो वाद दिखाये सो क्या है? अमुक वाद कि यह कुल धर्म है, यह ग्राम धर्म है यह देश धर्म हैं। बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ हैं। ये सब आदमीको दिखायी पड़ती हैं। ब्रह्माका दर्शन होता है, विष्णुका दर्शन होता है, शिवका दर्शन होता है। सब देवी-देवता मिलते हैं। कोई वैकुण्ठमें जाता है, कोई नरकमें जाता है, कोई स्वर्गमें जाता है कोई कहता है कि हमको यह दर्शन हुआ, हमको वह दर्शन हुआ। तो यह सब क्या है?

बोले कि देखो, इसमें बात ऐसी है कि,

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम्॥ २९॥

संसारके लोग अज्ञानी हैं। ये अधिष्ठानको तो जानते नहीं। अपनेको देहवाला, अन्तःकरणवाला, इन्द्रियवाला परिच्छिन्न जानते हैं। तो इनको, इनका गुरु या दूसरा कोई बुद्धिमान् पुरुष जैसा समझा देता है और ये जैसा ध्यान करने लगते हैं और जैसा मान बैठते हैं, वैसे ही इनको दिखता है। इनकी नजर पर हमको कोई आक्षेप नहीं है। कोई कहे कि मैं भूत देखकर आया तो मानो कि हाँ, वह भूत देखकर आया। क्यों? क्योंकि, उसके दिलमें किसीने भूतकी कल्पना बैठा दी है और अपनी उस भूतकी कल्पनाको वह प्रत्यक्ष करके आया है और बताता है। सो उसको झूठा कहनेका कोई कारण नहीं है। जिन बातोंका वर्णन किया गया है और जिनका वर्णन नहीं किया गया है, इनमेंसे कोई भी बात अगर मनुष्यके मनमें बैठा दी जाय तो उसको वैसा ही दर्शन होने लगता है।

कोई आदमी जंगलमें बैठा हो और दूरसे कोई आता दिखे और एक आदमी उसको जँचा दे कि यह बड़ा भारी चोर आ रहा है, डाकू आ रहा है और यह तो तुमको लूटनेके लिए आ रहा है! तो देखो उसका शरीर थर-थर काँपने लगेगा! मालूम पड़ेगा कि वह चोर ही है, डाकू ही है! भले ही वह उसका हितैषी ही हो। उसका मित्र होवे! तो कल्पनाका बड़ा महत्त्व है। यह बात हमने देखी है। कहो कि देवताका दर्शन आँखसे नहीं होता! नहीं, होता है। जिस चीजका मनमें दर्शन हो सकता है, उस चीजका आँखसे भी दर्शन हो सकता है। कैसे? जो मन आँख

बंदकरके भीतर देखता है, वही मन आँख खुली रहनेपर बाहर देखता है। देखनेवाला तो मन ही है। अगर भीतर वह ध्यान कर सकता है, तो बाहर वह खुली आँखसे दर्शन भी कर सकता है। क्योंकि यह तो मनीरामका खेल है। तो इसीसे कबीर पन्थीको अन्तमें कबीरका दर्शन होता है। राधास्वामीको अन्तमें राधा स्वामीका दर्शन होता है। रैदासीपन्थमें रैदासका दर्शन होता है। चरणदासीको अन्तमें चरणदासका दर्शन होता है।

नारायण, इसमें होता यह है कि जब ध्यान करने बैठते हैं तो पहले तो ऐसा लगता है कि जिस देवताका मैं ध्यान कर रहा हूँ, वह मेरे सामने बैठा है। उसको चन्दन लगाया, उसको माला पहनाई, उसको भोजन कराया, वह मुस्करा रहा है—ऐसा मालूम पड़ेगा। वह बात कर रहा है, वह हमको खिला रहा है—ऐसा मालूम पड़ेगा। लेकिन बादमें जब अपना मन नियन्त्रण खो देता है, तब ऐसा लगता है कि यह देवता मैं ही हूँ। अच्छा, उसके बाद जब मन देवताके आकारको छोड़ देता है, तब समाधिस्थ हो जाता है। बिना देवताका आकार छोड़े समाधिस्थ नहीं होता। देवताके आकारमें जो समाधि है, उसको 'भाव-समाधि' बोलते हैं। तो यह इदं रूपसे भी देवतामें समाधि और अहं रूपसे भी देवतामें समाधि होती है। और, जब मन देवताकी शकल-सूरतको छोड़ देता है, तब वह शान्त हो जाता है, निर्विषय हो जाता है। लेकिन भ्रम यह बना रहता है कि मैं देवताका ध्यान कर रहा था। जब घंटे दो घंटेके बाद जब फिर वृत्ति उठती है तो मालूम पड़ता है कि हम ध्यानमें डूब गये थे! अब फिर देखो वही देवता दिखायी पड़ने लगा! तो जब ध्यानमें तन्मयता होती है, तब दर्शनसमानाकार वृत्ति हो जाती है। माने, जैसे हम जाग्रतमें किसीको देखते हैं, ऐसे-ही उसको देखते हैं, बोलते हैं, चलते हैं, फिरते हैं—ये सब बातें मालूम पड़ने लगती है।

आपको क्या बतावें? देखो, विशिष्टाद्वैतमें स्थित होना यह चित्तकी एक स्थिति है द्वैताद्वैतमें भी चित्तकी एक स्थिति होती है। द्वैतमें भी चित्तकी एक स्थिति होती है। विशुद्ध-द्वैतमें भी चित्तकी एक स्थिति होती है। ये सारे-के-सारे भेद सम्प्रज्ञात-समाधिके ही हैं! असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज असम्प्रज्ञातके नहीं ये तो सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत कोई वितर्कानुगत भेद हैं, कोई विचारानुगत हैं, कोई आनन्दानुगत हैं और कोई अस्मितानुगत हैं। लेकिन इनसे उठनेके बाद आदमीको मालूम पड़ता है कि यह तो हमको प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। अब उसको प्रत्यक्ष क्या है, परोक्ष क्या है, अपरोक्ष क्या है, साक्षादपरोक्ष क्या है—इसका तो विवेक नहीं है।

तो इसका विवेक न होनेके कारण उसको ऐसा ही मालूम पड़ता है कि हमको तो चलते, फिरते जाग्रत–अवस्थामें ऐसा अनुभव हुआ। तो इसीसे गुरुलोग बता देते हैं कि तुम्हारी हृदयमें स्थिति हो गयी, किसीको बताते हैं कि तुम्हारी नाभिमें स्थिति हो गयी, किसीको बतातें हैं कि तुम्हारी मूलाधारमें स्थिति हो गयी, किसीको बताते हैं कि आज्ञाचक्रमें हो गयी, किसीको बताते हैं कि सहस्रारमें, शून्य शिखरमें, त्रिपुटीमें, बंकनालमें, अलखलोकमें तुम्हारी स्थिति हो गयी। बड़े-बड़े इसके भेद हैं। यह शरीरमें तत्‌लोकोंके मानों द्वारा बने हुए हैं और भावनासे उनमें प्रविष्ट हो गये और जैसे योगवासिष्ठमें मण्डपोपाख्यान है, घोड़े सहित लीला पत्थरकी चट्टानमें घुस गयी। तो जैसे यह वर्णन है, वैसे ही यह सब–का–सब मनीरामका खेल होता है। इसमें ठोस वस्तु भी मिल सकती है। खानेके लिए देवता प्रसाद भी दे सकता है। उसको खा भी सकते हैं। माने बिलकुल इस प्रतिभासिक मनके द्वारा व्यावहारिक–वस्तुकी उत्पत्ति होना भी शक्य है। हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि किसीको ऐसा होता होवे तो उसको आप बड़ा भारी चमत्कार नहीं मानें! यह जब जादूका खेल है और यह मनकी एकाग्रतासे और मानसिक शक्तियोंसे होता है। पितर बुलाकर दिखा दें, प्रेत बुलाकर दिखा दें, मन्त्रोंकी सिद्धि बुला कर दिखा दें। यह सब अपनी मानसिक शक्तियोंका विकास है। पेंसिल उठकर कागज पर लिखने लग जाय, जो बात किसीको नहीं मालूम है, वह आ जाय—यह सब-का–सब मानसिक शक्तियोंका चमत्कार है। परमार्थके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जो चतुर, बुद्धिमान् लोग होते हैं, जो मानसिक शक्तियोंको विकसित कर लेते हैं और इसमें निपुण होते हैं, वे जिसको जो चाहें, उसको वह दिखा दें। गोलोक, वैकुण्ठका दर्शन करा दें। देवताका दर्शन करा दें।

'यं भावं दर्शये द्यस्य तं भावं स तु पश्यति'।

यह सब जादूका खेल है। बोले कि, **'तं चावति स भूत्वाऽसौ'**—यह भाव जब उसका प्रबल हो जाता है, तब जैसी भावना करो, वैसी–वैसी वह होकर उसकी रक्षा भी करती है। और, यह भी होता है। क्या? बोले कि उसमें जब अत्यन्त आग्रह हो जाता है, अत्यन्त निष्ठा हो जाती है कि यही सत्य है तो उसकी उसको प्राप्ति भी हो जाती है। स्वर्गमें चला जायेगा, नरकमें चला जायेगा वैकुण्ठ, गोलोक, कैलाशमें चला जायेगा। यह तो जैसे जिसको गुरु दिखावे, वह वैसा मानने लगता है। अतः दुनियामें जो सम्प्रदायका भेद हुआ, उसका कारण केवल यही है। यह अनारोपित आकार, जिसमें आकारका आरोप नहीं किया गया है—ऐसे

तत्त्वका साक्षात्कार नहीं है। यह तत्त्वमें आकारका आरोप करवा करके और भावनाके द्वारा यह सब-की-सब चीजें दिखायी गयीं हैं। सृष्टि बनाते ब्रह्माको देख लो, पालन करते विष्णुको देख लो, संहार करते रुद्रको देख लो, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डको देख लो। यह रहा विराट यह रहा हिरण्यगर्भ और यह रहा ईश्वर जो चाहो सो रख लो जैसे जादूकी मूठ मारो और नयी दुनिया देख लो, ऐसे आचार्य अपने मनके संकल्पसे वह सब दिखानेमें समर्थ होता है। और, उस भावनासे भावना करनेवालेकी रक्षा भी होती है तथा उसमें अतिशय आग्रह हो जानेके कारण वह वस्तु उस भावुकके सामने आकर प्राप्त भी हो जाती है। यह सब होता है। लेकिन भाई, बात क्या है? बात यह है कि परमात्माके असली स्वरूपमें यह सब जादूका खेल है, माया है, विवर्त है। 'विवर्त' माने 'वि' माने विपरीत, विरुद्ध और 'वर्त' माने वर्तन अर्थात् विरुद्ध बर्ताव है। एकको अनेक देखना, यह विरुद्ध बर्ताव है। चेतनको जड़ देखना, यह विरुद्ध बर्ताव है। द्रष्टाको दृश्य देखना, यह विरुद्ध बर्ताव है। अपनेको परिच्छिन्न देखना-यह विरुद्ध बर्ताव है। *विरुद्ध वर्तनम् वा विवर्तः*। जो चीज जैसी है, उसके विरुद्ध उसको देखना-यह विरुद्ध वर्तन है।

तो असलमें '*प्राण इति प्राणविदः*'से लेकर '*स्थितिरिति स्थितिविदः*' तक जितने पदार्थ हैं, ये अपृथग्भाव हैं। अपृथग्भाव हैं माने परमात्मासे पृथक् इनकी कोई सत्ता नहीं है। ये सब-के-सब सत्ताशून्य होकर ही परमात्मामें दिखायी पड़ते हैं। 'पृथगेवेतिलक्षितः'। यह तो महाराज, आचार्योंने कल्पना करके मूढ़ लोग जो हैं, जिनके ऊपर जादूका असर हो जाता है, जिनका मन कमजोर है, उनको परमात्माको पृथक्-पृथक् करके दिखलाया है और जो इस बातको ठीक-ठीक जान जाता है, **एवं यो वेद तत्त्वेन**'—जो जानता है कि कितनी भी चीजें अलग-अलग दिखायी पड़ें, माने यह जो असंश्लिष्ट पदार्थ दिखते हैं कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पशु है, यह पक्षी है—यह जो अलग-अलग वस्तुएँ हैं वह तो असलमें एक अद्वय तत्त्वमें ही मालूम पड़ती हैं। तो जिसको यह बात मालूम हो गयी कि एकमें ही अनेककी कल्पना हो रही है, '**एवं यो वेद तत्त्वेन,**' '**इदं सर्वं यदयमात्मा**', जिसने जान लिया कि इदं सर्वंके रूपमें जो दिखायी पड़ रहा है, वह यह आत्मा ही है, यह ब्रह्म ही है, '**कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः**' — उसको छुट्टी है। क्या छुट्टी है? जैसी मौज हो, वैसी कल्पना करे! चाहे जिसको जो दिखावे! लेकिन दिखानेमें भी बुद्धिमानी चाहिए।

एक हमारे मित्र थे। उनको वेदान्तका संस्कार तो था। जरा जवान थे। उन दिनों

जब उनकी उम्र बीस वर्षकी थी, तबकी बात थी। अब वेदान्तके अनुसार '**एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः**'— जिसने इस तत्त्वको जान लिया कि परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है, वह चाहे एक मिट्टीका डला उठाकर कह दे कि यह परमात्मा है! भक्तोंको उसमें परमात्मा दिखेगा। उसको कल्पना करनेका सामर्थ्य है। तो नारायण, वे माण्डूक्य-कारिका भी पढ़ते सुनते थे। सो एक दिन बोले कि स्वामीजी, अब मैं लोगोंको यह प्रतीत कराऊँ कि यह शरीर ही भगवान् है, तो कैसा रहेगा? वे बड़े सुन्दर थे। अब एक दिन मैंने देखा महाराज, रासलीला हो रही थी। चारों ओर बगीचा था मैं तो रासलीलामें जाकर आगे बैठ गया और वे बिलकुल एक कुंजकी आड़में खड़े होकर देखें अपने दाएँ पाँवको बाएँ पर रखें और कभी बाँसुरी लेकर जैसे कृष्ण खड़े होते हैं, वैसे खड़े हों। रासमें जैसे-जैसे भगवान् करते दिखें, वैसे-वैसे नकल वे करें और हमको दिखायी पड़ता था। तो बादमें मैंने पूछा कि क्यों भाई, शुरू कर दिया? लेकिन देखो, अपनेको ईश्वर बताओगे तो यह भगत लोग मार डालेंगे! क्योंकि, ज्ञानी बकाय मारे और भगत खवाय मारे। ज्ञानी लोग बुलवाते बहुत ज्यादा हैं और भगत लोग मुँहमें ठूँस देने तककी हिम्तत करते हैं। तो ये खिला-खिला क्रर मार डालते हैं और कहेंगे कि अच्छा, तुम भगवान् होतो हमको एक बेटा दिलवा दो, हमारे घरमें धनकी वर्षा करवा दो, हमारा यह रोग मिटा दो! तुम भगवान् बनोगे तो यह तुमको बहुत परेशान करेंगे। इसलिए, तुम भगवान् मत बनना, ईश्वर मत बनना। सीधे ब्रह्मचारी ही रहना भाई! क्योंकि, ब्रह्मसे कोई काम लेनेकी हिम्मत नहीं कर सकता। ईश्वर बनोगे तो इन भगतोंने नौकरी करवाई तुमसे! तुम शुद्ध ब्रह्म रहना अकर्ता, अभोक्ता। कर्ता, भोक्ता नहीं बनना। नहीं तो ये भगतलोग नौकरी करवाये बिना छोड़ेंगे नहीं।

तो, '**एवं योवेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः**'—जो यह जान गया कि ब्रह्मातिरिक्त न स्वर्ग है न नरक, न गोलोक है न कैलाश, न वैकुण्ठ है न धरती। सात पाताल, सात स्वर्ग—ये कोई ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यह कबीर, दादू, रैदास—कोई परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। यह पतञ्जलि, शेष कोई परमात्मासे भिन्न नहीं है। व्यास, जैमिनि, कपिल, कोई परमात्मासे भिन्न नहीं है। एक परमात्मासे अलग कोई नहीं है। तो यह तत्त्वज्ञान जिसको हो गया, वह निर्विशंक, कोई शंका किये बिना जहाँ चाहे वहाँ बता दे कि यह परमात्मा है और उसका कोई सच्चा भक्त हो, श्रद्धालु हो तो उसको वहीं परमात्माका दर्शन हो जाय।

★

परमार्थदर्शीका स्वातन्त्र्य

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः॥ ३०॥

ये कहते हैं कि परब्रह्म परमात्मासे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं हैं, जिनका नाम अब तक गिनाया गया है। बहुत सारे नाम गिनाये गये—प्राण, भूत, गुण, तत्त्व, मन, पाद विषय, लोक, देव, वेद, यज्ञ, भोक्ता, भोज्य, सूक्ष्म, स्थूल, मूर्त, अमूर्त, काल, दिश, वाद, भुवन, बुद्धि, चित्त, धर्म, अधर्म, पच्चीस, छब्बीस, इक्तीस, अनन्त, आश्रम, स्त्री, नपुंसक, पर, अपर, सृष्टि, लय, स्थिति आदि। परन्तु, इनमें से कोई भी वस्तु न तो परब्रह्म परमात्मामें पैदा हुई है और न तो आगे होगी। ब्रह्म वह वस्तु है, जो अद्वय है। एक नहीं, अद्वय है। 'एक' उसको कहते हैं, जिसमें समा जाये और जिसमेंसे सब निकल आवे। *'एक इति अनुगता संख्या उच्यते'*—'एक' उसको कहते हैं, जो दो के साथ मिलता है—एक-एक दो, एक-एक-एक तीन और जो दो, तीन, चारमेंसे निकल कर खड़ी हो जाये, उसको 'एक' बोलते हैं। और, जो न किसीमें अनुगत हो और न किसीसे अलग हो, उसको 'अद्वय' बोलते हैं। जब दूसरी वस्तु ही नहीं है तो कौन किसमें व्यापक हो और कौन किसका व्याप्य हो। तो कार्य-कारणभावसे रहित है यह ब्रह्म।

संसारी मनुष्योंको यह संस्कार हो जाता है कि जैसे दुनियामें कोई काम किसी कारणसे होता है-जैसे भोजन करते हैं तो भूख मिट जाती है, तो भोजन करना कारण है और भूख मिटना उसका कार्य है। किसीको एक चांटा मारते हैं तो उसको बड़े जोरसे चोट लगती है। तो यह कार्य-कारण भाव दुनियामें देखनेमें आता है। माँ-बाप होते हैं, तब बेटा होता है। तो यह दुनियामें कार्य-कारण भाव देखते-देखते दिमाग इस संस्कारसे इतना प्रभावित हो गया है कि वह सब जगह कार्य-कारण ही ढूँढता है और कल्पना भी कर लेता है कि कार्य-कारण है। यह असलमें दिमागकी कमजोरी है। दस, बीस जगह कार्यकारण भाव दिखता है इसलिए यह नियम लेना कि परमार्थका भी किसीके साथ कार्य-कारण भाव होता है-यह बुद्धिकी दुर्बलता है। परमार्थ वह वस्तु होती है, जो किसी कार्य नहीं और किसीका कारण नहीं। यह तो सारे संस्कारको काट दिया बिलकुल बंटाधार कर दिया। देखो, श्रुति कहती है,

'न तस्य कश्चित् जनिता'

परमार्थको पैदा करनेवाला कोई नहीं है।

'न तस्य कार्यं'—परमार्थसे कुछ पैदा नहीं हुआ। 'करणञ्च'—उसके पास कोई औजार नहीं है। तो न कारण है, न कार्य है, न कार्य-कारण है और न कार्य-कारणातीत है। अन्वय और व्यतिरेकसे बिलकुल जुदा है।

एक सज्जन बोले कि महाराज, जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब तो ब्रह्म-ही-ब्रह्म था—यह बात समझमें आती है और सृष्टि नहीं रहेगी, तब भी ब्रह्म रहेगा—यह भी समझमें आता है। लेकिन जब इतनी बड़ी सृष्टि मौजूद हैं-धरती, सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुव, ग्रह-नक्षत्र हैं, कोटि-कोटि सौर-मण्डल, ब्रह्माण्ड मण्डल मौजूद हैं, तब ब्रह्ममें अद्वयता कहाँ?

वेदान्त जो प्रतिपादन करता है, उसकी शैली बिलकुल निराली है। वह यह नहीं कहता है कि सृष्टिके पहले ब्रह्म रहता है या सृष्टिके बादमें ब्रह्म रहता है। उसका कहना तो यह है कि 'सृष्टिके पहले' जो यह तुम सोचते हो, वह तो ऐसे ही है जैसे तुम शरीरकी उत्पत्तिके पहले बारेमें तुम सोचते हो! भई, शरीर हमारा एक दिन पैदा हुआ, सो इसके पहले कुछ था और एक दिन सबकी तरह हमारा शरीर नहीं रहेगा तो कुछ रहेगा। यह जो काल वासनासे युक्त अन्तःकरण है, इसीसे सृष्टिके पहलेकी बात और सृष्टिके बादकी बात तुम सोचते हो! यदि यह संस्कार, कल्पना, स्मृति छोड़कर विचार करो, तो बात समझमें आवेगी!

वेदान्त यह कहता ही नहीं कि पहले ब्रह्म था और बादमें ब्रह्म रहेगा। उसका कहना है कि इसी समय, जब तुम्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध मालूम पड़ते हैं, जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मालूम पड़ती है, जब हाथ, पाँव, शरीर सब मालूम पड़ता है, इस प्रतीतिकी दशामें ही अभी-अभी यहीं और यहीं ज्यों-का-त्यों ब्रह्म ही है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है कि ब्रह्मातिरिक्त काल-कल्पना, देश-कल्पना, वस्तु-कल्पना कुछ नहीं है। जिन लोगोंको उत्पत्तिके निरूपणका बहुत शौक हो जाता है, वे हर जगह यही मानते हैं कि चीज पैदा हुई। यहाँ तक कि एकने पूछा कि ईश्वर किससे पैदा हुआ? ब्रह्म किससे पैदा हुआ महाराज? तो उनके ख्यालमें यह बात बैठ गयी है कि बिना पैदा हुए कोई कैसे होगा? तो यह अपना ख्याल जो है, यह बिगड़ जाता है। इसीको तो अन्तःकरणकी शुद्धि बोलते हैं कि जरा ख्यालको ठीक बनाओ।

देखो, उत्पत्तिके सम्बन्धसे कुल-चार प्रक्रिया हो सकती हैं—

१.जगत्के मूलमें कोई सद्वस्तु थी और उससे सद्वस्तु सृष्टिकी उत्पत्ति हुई। सत्की उत्पत्ति हुई। इस पक्षमें बड़े दोष हैं। क्या दोष हैं? कारण भी सत् और कार्य भी सत्। जो पहले था सो भी सत् और जो पीछे हुआ सो पीछे हुआ सो भी सत्। तो सत् तो वह होना चाहिए, जो कालसे परिच्छिन्न न हो। तो जो चीज पैदा हुई, वह सत् कैसे? वह तो पहले थी ही नहीं। सो सत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्यों नहीं हो सकती ? क्योंकि, पहले सत् और दूसरे सत्में, उत्पादक सत् और उत्पन्न सत्—इन दोनों भेद होना चाहिए। अत: प्रथम सत्से भिन्न द्वितीय सत् असत् हो जायेगा।

२. अच्छा कहो कि सत्-वस्तुसे असत्-वस्तुकी उत्पत्ति हुई। यह वदतो व्याघात है। जब असत् ही है, तो उत्पन्न क्या हुआ? तो इसका अर्थ यह हुआ कि सत्से असत्की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

३. अब देखो कि पहले असत् था तो असत्से सत्की उत्पत्ति हुई। अच्छा जी, जो चीज असत् थी, वह किसीका कारण कैसे बनी? तो असत्में कारणपंना नहीं हो सकता।

४. अब यह कहो कि असत्से असत्की उत्पत्ति हुई। सो भी नहीं हो सकता। क्योंकि, जो चीज थी ही नहीं, वह उत्पन्न कैसे हुई? असत् उत्पन्न हुआ तो उत्पन्न क्या हुआ?

तो कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि न सत्से सत्की, न सत्से असत्की और न असत्से सत्की, न असत्से असत्की—चारों प्रकारोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए, 'उत्पत्ति' शब्द जो है, वह मैटर रहित पदार्थके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। माने जैसे घट उत्पन्न है। ठीक है, घटकी उत्पत्ति हुई। लेकिन, मिट्टीकी उत्पत्ति नहीं हुई। तो पहलेसे विद्यमान मृत्तिकाके सिवाय 'घट' नामकी जो वस्तु है, उसका कोई वजन नहीं हुआ। अभिप्राय यह है कि 'उत्पत्ति' शब्दका प्रयोग उस वस्तुके लिए किया जाता है, जिसमें कोई वजन नहीं होता। सोनेमें जेवर बन गया, मिट्टीमें घड़ा बन गया। पंचभूतमें नाना प्रकारके आकार, विकार बन गये। पंचभूत बन गये और आत्मामें पृथक् सत्ता भासने लगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मसत्तासे पृथक् दूसरी कोई वस्तु है नहीं। तो यह सब अन्त:करण, इन्द्रिय, शरीर, धरती, ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्रमा, कोटि-कोटि गणितके होनेपर भी अद्वय चैतन्य ब्रह्ममें सृष्टि नामकी कोई वस्तु नहीं है।

तब बोले कि फिर यह प्राण, भुवन, पाद, मन आदि क्या है?

बोल कि, 'मूढैः पृथगेव इतिलक्षितः'। जो लोग इस अद्वय-तत्त्वको नहीं जानते, उन मोहग्रस्त पुरुषोंने ब्रह्मसे अलग इन पदार्थोंकी गणना की है। देखो, इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे लोहामें ही नाना प्रकारके औजार कल्पित होते हैं एक सोनामें ही नाना प्रकारके जेवर कल्पित होते हैं, एक मिट्टीमें ही घट, सकोरा आदि नाना प्रकारके विकल्प होते हैं, एक रस्सीमें ही नाना प्रकारके भाव कल्पित होते हैं, इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही ये नाना प्रकारके भाव कल्पित हैं।

अब देखो, हम इससे ऐसे बढ़िया नतीजे पर पहुँचते हैं। ये ब्रह्माण्डके भेद कल्पित हैं भला! अच्छा, फिर नरक स्वर्ग और महर्जनः, सत्यं, तपः के भेद कल्पित हैं। यह पृथिवी कल्पित है। तो इस प्रकार यह एशिया और यह अमेरिका और यह अफ्रिका और यह यूरोप—यह क्या है? बोले कि यह सब नाम कल्पित हैं। अच्छा, एक देशमें यह महाराष्ट्र, यह गुजरात, यह बिहार, यह राजस्थान, यह उत्तर प्रदेश—यह भीं कल्पित है। यह मनुष्य, यह पशु, यह पक्षी—सब कल्पित है। मनुष्यमें यह हिन्दू, यह मुसलमान, यह ईसाई, यह भी कल्पित है। यह वेद, कुरान, बाइबिल—यह भी कल्पित है। माने इसका अर्थ यह हुआ कि इन चीजोंको मौलिक तत्त्व मान करके जो हम राग-द्वेष करते हैं और द्वन्द्व मचाते हैं, वह सब-का-सब झूठा है। इससे ऊँची क्रान्तिकारी दृष्टि आप बताओ कोई! इससे ऊँची राग-द्वेष मिटानेवाली कोई दृष्टि बताओ।

सचमुच जिसने अनन्त कोटि ब्रह्माण्डको कल्पित रूपसे जाना, उसने वेदको और वेदोक्त-धर्मको और वेदोक्त गतिको भी कल्पित रूपसे जाना कि नहीं जाना? और, जब उसको भी कल्पित रूपसे जाना तो झगड़ेका द्वन्द्वका, विवादका सारा मूल ही कट गया। इसीसे कहते हैं कि,

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः।

विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पादि रज्जुसे व्यतिरिक्त नहीं हैं। इसी प्रकार प्राणादि जो हैं, वे आत्मामें कल्पित हैं और आत्मासे व्यतिरिक्त नहीं हैं। इसका एक भाव आपको सुनाता हूँ, उसपर ध्यान देना।

यह वेदान्ती लोग जो रज्जु-सर्प, रज्जु-सर्प कहते हैं, इसका एक खास मतलब हैं। क्योंकि, नये लोग कहते हैं कि रज्जु-सर्प सुनते-सुनते तो हम घबड़ा गये। हमारे एक व्याकरण पढ़े-लिखे पण्डित हैं। वे एक बार भाष्यका अनुवाद करने लगे तो उसमें एक जगह था, रजत, सर्पवत्। यह संसार कैसा है? बोले कि रजत, सर्पवत् है। अब उन्होंने अपना व्याकरण भिड़ाया कि रजत, सर्पवत् क्या

हुआ? तो कोई चांदीका सांप, रजतस्य सर्पः रजत सर्पः तदवत् अर्थात् चांदीके बनाये हुए सांपकी तरह है। लेकिन उसका मतलब यह नहीं है। आप इसे समझो कि शुक्तौ रजतवत्, रज्जौसर्पवत्—यह उसका मतलब है। माने सीपमें चांदीकी तरह और रज्जुमें सांपकी तरह यह संसार ब्रह्ममें कल्पित है।

तो नारायण, कई हमारे अनपढ़ महात्मा लोग भी इस दृष्टान्तसे परहेज करते हैं। इसमें एक खास पदार्थ बताना है, जो बिना इस ढंगके दृष्टान्तके बताया ही नहीं जा सकता। वह क्या है? रस्सीमें जो साँप दीखता है, वह रस्सीमें नहीं होता। रस्सीके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अच्छा, रस्सीमें जो सर्प है, उसका अधिष्ठान रस्सी तो है ही नहीं। वह तो भ्रान्ति-कालमें तो रज्जुका ज्ञान ही नहीं है कि वहाँ रज्जु है। साँप-ही-साँप दिखता है। तो असलमें साँप जो है, वह देखनेवालेकी बुद्धिमें है। इसलिए, साँपका अधिष्ठान कौन है? तो सर्पाकाराकारित बुद्धिका जो अधिष्ठान है, वही सर्पका अधिष्ठान है।

आप देखो, हमारे वेदान्ती यह बात बताना चाहते हैं कि सर्पाकाराकारित बुद्धिका जो अधिष्ठान है, वही सर्पका अधिष्ठान है। आप इसको और समझो। असलमें साँप जिसमें दिख रहा है, उस समय रस्सीमें तो है नहीं। तो कहाँ है? बोले कि बुद्धिमें है। तो साँपका अधिष्ठान कौन हुआ? बुद्धिका जो अधिष्ठान है, वही साँपका अधिष्ठान है। क्योंकि, बुद्धिसे जुदा सांप नहीं है। बुद्धिका अधिष्ठान कौन है? अपना आत्मा है। बुद्धिका प्रकाशक कौन है? अपना आत्मा है। तो भ्रान्तिसे जो पदार्थ दिखायी पड़ता है, उस पदार्थका अधिष्ठान दूसरा नहीं होता, उस पदार्थका अधिष्ठान देखनेवाला ही होता है।

अब आप एक बार यह प्रपञ्चका अधिष्ठान जो ब्रह्म है, उसके बारेमें विचार करो। असलमें जो प्रपञ्च है, वह ब्रह्ममें नहीं है। प्रपञ्चाकाराकारित बुद्धिमें ही है। इसलिए, हमारे अन्तःकरणका जो अधिष्ठान है, वही सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान है और देखो, केवल बुद्धिका अधिष्ठान है, यह माननेपर अधिष्ठान परिच्छिन्न भी हो सकता है। लेकिन जब प्रपञ्चाकाराकारित बुद्धिका अधिष्ठान है, इस बातको हम जानते हैं तब वह अपरिच्छिन्न हो जाता है। इसलिए, प्रपञ्चका अधिष्ठान ब्रह्म और बुद्धिका अधिष्ठान आत्मा—ऐसा नहीं है। जैसे सर्पका अधिष्ठान रज्जु और सर्पाकार अन्तःकरणका अधिष्ठान आत्मा—यह भेद जैसे नहीं है। माने सर्पका अधिष्ठान और बुद्धिका अधिष्ठान, दोनों अपना आत्मा ही है। इसी प्रकार, अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य है, वही अन्तःकरणका भी और अन्तःकरणमें प्रतीत होनेवाले सर्पका भी

अधिष्ठान है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्त:करण और अन्त:करणसे जो कुछ मालूम पड़ता है। अनन्त जीव, अनन्त जगत् और अनन्त ईश्वर आदि—ये सब-के-सब अन्त:करणके द्वारा परब्रह्म परमात्मामें प्रतीत होते हैं। इसलिए, जो अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य है, वही प्रपञ्चावच्छिन्न चैतन्य है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य प्रपञ्चावच्छिन्न चैतन्य ऐसे बोलो, अथवा ईश्वर और जीव—इन दोनोंके भीतर जो चैतन्य है, वह बिलकुल एक है, वही परमार्थ है और वही अखण्ड वस्तु है। यह बात समझाना यहाँ इष्ट है।

इसलिए, यह मत कहो कि जो ब्रह्म समस्त प्रपञ्चका आधार है, वही अन्त:करणका आधार है। बल्कि, यों कहो कि जो परब्रह्म परमात्मा, जो आत्मा, जो द्रष्टा, साक्षी, जो चैतन्य अन्त:करणका प्रकाशक है और अन्त:करणका अधिष्ठान है, वही अन्त:करणके द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्चाका भी अधिष्ठान है। इसलिए वह देश-काल-वस्तु रूप प्रपञ्च और प्रपञ्चकार वृत्ति और वृत्तिका अधिष्ठान अपना आत्मा परब्रह्म परमात्मा है। अत: आत्मासे अलग न तो वृत्ति है और नहीं प्रपञ्च है। जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्प अपनी वृत्तिसे भिन्न नहीं है और वृत्ति अपने आपसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपञ्च अपने आत्मासे भिन्न नहीं है। माने भ्रान्तिका जो विषय होता है, वह जिस अन्त:करणमें भ्रान्ति होती है, उस अन्त:करणके अधिष्ठानमें होता है। इसलिए, आत्मातिरिक्त न अन्त:करण है और न भ्रान्ति है, न भ्रान्तिका विषय है। यह समझानेके लिए रज्जु-सर्पका दृष्टान्त दिया जाता है और जो लोग सम्प्रदाय परम्परासे इन दृष्टान्तोंको नहीं समझते हैं, वे बेचारे डर जाते हैं कि यह क्या बात कही गयी है।

'एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेऽसोऽविशङ्कितः'।

इसीसे श्रुति कहती है, *'इदं सर्वं यदयमात्मा'*—यह जो कुछ मालूम पड़ रहा है, यह सब आत्मा ही है। तो इस प्रकार, रज्जुमें कल्पित जो सर्प है, वह जैसे अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यसे जुदा नहीं है, वह सब-के-सब अपने मनमें ही कल्पित हैं और आत्मा जो है, वह केवल है, निर्विकल्प है—इस बातको जो तत्त्वेन श्रुतित: युक्तिश्च माने अनुभवकी दृष्टिसे, तार्किक दृष्टिसे जो जान गया, उसके महत्त्वका वर्णन करते हैं—'सो अविशङ्कितो वेदार्थं कल्पयेत् विभागशः'—अर्थात् जो इस बातको जान गया, वह वेदार्थकी कल्पना करनेमें समर्थ हो जाता है। भाष्यमें यह बात है, *'इदमेवं परं वाक्यमदोऽन्यपरमिति'*-इस वाक्यका अभिप्राय यह है।

बोले कि, अच्छाजी, यह संसारकी उत्पत्ति और प्रलय होता है—यह बात वेदमें है। हाँ, है तो सही। इसका क्या मतलब है फिर? बोले कि इसका मतलब यह है कि प्रपञ्चकी उत्पत्ति भी होती है और नाश भी होता है, इसलिए इससे वैराग्य करो। यह वचन वैराग्यपरक है, तत्त्व-निरूपण परक नहीं है। जहाँ-जहाँ सृष्टिका वर्णन है और प्रलयका वर्ण न है, वह यह कहनेके लिए है कि बाबा, यह चीज एक दिन पैदा हुई थी और एक दिन मर जायेगी। इसलिए, इससे राग-द्वेष मत करो। इसकी उपेक्षा कर दो।

बोले कि एक वाक्य यह कहता है कि आत्मा मरनेके बाद स्वर्गमें जाती है। तो स्वर्ग सच्चा है न? वेदने कह दिया। बोले कि वेदका यह अभिप्राय नहीं है। तब फिर क्या अभिप्राय है? वेदका अभिप्राय यह है कि देहसे अतिरिक्त आत्मा होती है। स्वर्गमें जाता है कि नरकमें जाता है कि पुनर्जन्ममें जाता है—यह बतानेमें वेदका तात्पर्य नहीं है।

एकने कहा कि वेदमें तो यह लिखा है कि आत्मा कर्त्ता है, भोक्ता है।

बोले कि इसका अभिप्राय वेदका यह नहीं है कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यको कर्मके द्वारा ही परमार्थ प्राप्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि, जब कर्म करेगा, तब उसका फल भोगनेको मिलेगा। इसलिए, अपनेको कर्तृत्व, भोक्तृत्व—दोनोंसे विलक्षण जानना—उसका यह अभिप्राय है।

एकने कहा कि भाई, श्रुतिमें लिखा है कि आत्मा नरकमें जाता है।

तो बोले कि वह इसलिए लिखा है कि तुम जिन्दगीमें पाप मत करो।

तो नारायण, वेदके तात्पर्यको ठीक-ठीक वही बता सकता है, जो आत्मतत्त्वको जानता है।

अब यह तो भाष्य है। भाष्यकी टीकामें आनन्द गिरिजी कहते हैं—*'यथोक्तविज्ञानवान् वेदकिंकरो न भवति। किन्तु, स यं वेदार्थ ब्रूते स एव वेदार्थो भवतीत्यर्थ'।*

वे कहते हैं कि जो इस अद्वय प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वको जान लेता है, वह वेदकिंकर नहीं होता। वेदका पशु नहीं होता। उसके सिरपर वेदका बोझ रहे और वह वेदकी पोथी अपने दिमागमें भरकर कहे कि हम वेदके सेवक हैं, हम वेदके सेवक हैं—ऐसे वह तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं बोलता। *स वेद किंकरो न भवति।* तब क्या होता है? वह वेदका व्याख्याता होता है? नहीं, वह जो बोलता है

वही वेद हो जाता है। *'स यं वेदार्थं ब्रूते स एव वेदार्थो भवति'*—वह जब कहता है कि वेदका तात्पर्य यह है, तो वेद वही अपना तात्पर्य करके देता है।

ब्रह्मवेद अहि ब्रह्मविद् ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संसकिरत करत भेद भ्रम छेद॥

निश्छलदासने विचारसागरमें कहा कि जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्मवेत्ता है और उसका जो वचन है, उसका नाम वेद है। वह भाषामें बोले अथवा संस्कृतमें बोले, वह भेदभ्रमको काटनेवाली वाणी होती है।

तो ये कहते हैं कि अज्ञानी लोग जो हैं, वे वेदार्थका अनुसरण करते हैं और ज्ञानी पुरुषका जो वचन है, वेदार्थ उसका अनुसरण करता है। वेदके पीछे चलते हैं अज्ञानी और ज्ञानीके पीछे-पीछे चलते हैं वेद। इसलिए, वह जो निरूपण करता है, वही वेद हो जाता है। तो विभाग रूपसे वेदका व्याख्यान कैसे होता है?

बोले कि देखो, ज्ञानकाण्ड जो है, जो यह बतावे कि आत्मा अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है, अपूर्व है, अनन्तर है, अबाह्य है—वह तो साक्षात् अद्वैतवस्तुका वर्णन कर रहा है और, कर्मकाण्ड जो है, वह साध्य-साधन सम्बन्ध बताता है कि यह करोगे तो यह मिलेगा, यह करोगे तो यह मिलेगा। इससे परम्परासे अन्तःकरण शुद्धिके द्वारा यह परमात्माका प्रापक है।

'सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति'।

सारे वेद उसी परमात्माका वर्णन करते हैं। अब जो आत्मवेत्ता होता है, वही असलमें वेद वेत्ता होता है। नहीं, तो अपने घरमें वेदका अर्थ रखा हुआ और पहचानते तो हैं नहीं। वेदका अर्थ कौन है?

एक आदमीने पूछा कि 'मघवा' शब्दका क्या अर्थ है? तो टीकाकारने लिख दिया 'मघवा' माने 'विडौजा'। तो जिसकी समझमें मघवा नहीं आया, उसकी समझमें विडौजा कहाँसे आवेगा? अब तीसरेके पास जाना पड़ा कि महाराज, यह 'मघवा' 'विडौजा' क्या होता है? तो उसने बताया कि भाई, ये इन्द्रके नाम हैं। अब तो समझ गये। बोले कि नहीं, एक आदमी यदि 'घट' शब्दका अर्थ 'कलश' और कुम्भ समझ जाय, तो शब्दका अर्थ शब्द नहीं होता—यह बात आपको मालूम होनी चाहिए। संस्कृतमें जैसे बोलते हैं, 'घटीयन्त्र'। उसका अर्थ है 'घड़ी'। यह तो शब्दके बदले शब्द हुआ। मुँहसे ही 'घटीयन्त्र' बोला गया और मुँहसे ही 'घड़ी' शब्द बोला गया। तो 'घटीयन्त्र'का अर्थ क्या मुँहमें ही रहता है? ऐसा नहीं। जैसे आपसे कोई पूछे कि 'नाक' शब्दका अर्थ क्या

है? तो नाक पर अंगुली रखकर बता दो कि इसका नाम नाक है। यह 'नाक' शब्दका अर्थ हुआ। 'गाय' शब्दका अर्थ 'धेनु' नहीं है। 'गाय' शब्दका अर्थ वह चतुष्पाद प्राणी है, जिसके गलेमें ललरी होती है, जो दूध देती है, जिसके बछड़ा होता है, जो घास चरती है, जो धरती पर घूमती है। उसकी पहचान होनी चाहिए। तब अर्थकी पहचान होनी चाहिए न। तब अर्थकी पहचान हुई।

आपको बहुत सुगम करके मैं यह बात समझा रहा हूँ कि शब्दका अर्थ शब्द नहीं होता। शब्दका अर्थ वस्तु होती है। यदि किसीको घड़ीके हजार नाम मालूम हों और उसको देखकर वह पहचान न सके कि यह घड़ी है, तो उसका सब शब्द ज्ञान झूठा है। तो वेद, जिस परमात्माका वर्णन करता है, वह कौन जानता है? बोले कि 'आत्मा' माने ब्रह्म, 'ब्रह्म' माने परमात्मा 'परमात्मा' माने अद्वितीय, 'अद्वितीय' माने अखण्ड प्रत्यक् चैतन्य। यह सब रहनेसे काम नहीं चलता। इन सब शब्दोंका अर्थ कौन है? आपको मालूम है? इन सब शब्दोंके अर्थ तुम हो। यह हड्डी, मांस, चामके पुतलेमें जब तक 'मैं' करके बैठे हो, तब तक मालूम नहीं पड़ता कि इसका अर्थ क्या है? शब्दके बदले शब्द रट लिया।

हमको एकने बताया कि प्रयाग युनिवर्सिटिमें कोई अंग्रेज प्रोफेसर था। वह हिन्दी बिलकुल नहीं जानता था। तो जब क्लॉसमें अंग्रेजी पढ़ाता तो विद्यार्थी क्लॉसमें बोलते कि तू बड़ा गधा है, तू बड़ा नालायक है। अब एक दिन उसने किसीसे पूछा कि भई, तुमलोग बीच-बीचमें क्या बोलते हो? उसने बताया कि हम आपकी तारीफ करते हैं कि आप बहुत बढ़िया पढ़ा रहे हैं। तो उसने पूछा कि अच्छा, तारीफके लिए क्या बोलते हैं? वह बोला कि किसीकी तारीफ करना हो तो हमलोग कहते हैं कि तू गधा है, तू नालायक है। अब उस अंग्रेज प्रोफेसरने एक दिन किसी दूसरे प्रोफेसरको अपने घर बुलाया। खान-पान हुआ, गोष्ठी हुई। अंग्रेजीमें बात-चीत होती रही। आखिरमें वह यह बतानेके लिए कि हम भी हिन्दी जानते हैं, उसने कह ही दिया कि तू बड़ा गधा है, तू बड़ा नालायक है। दूसरे प्रोफेसरने पूछा कि यह क्या बोलतें हैं आप? उसका चेहरा लाल हो गया कि आप हमारा अपमान करते हैं? वह बोला कि हमको तो लड़कोने बताया है कि जब किसीकी तारीफ करना होता है, तब ऐसे बोलते हैं कि तू बड़ा गधा है, तू बड़ा नालायक है। तब दूसरे प्रोफेसरने उन्हें सब बताया कि यह विद्यार्थियोंकी बदमाशी है। अब वह तो बेचारा समझता था कि हम 'तू गधा है' शब्दका अर्थ जानते हैं, 'तू नालायक है'—का अर्थ जानते हैं।

एकसे हमने सुना था कि एक श्रीमतीजी विलायतसे हिन्दुस्तान आने लगीं। तो वहाँ पहले बड़ी गड़बड़ी थी। लो यह कहते थे कि भारतमें साँप बहुत होते हैं, काट लेते हैं। हिन्दुस्तानको साँपोंका देश बोलते थे। यह वेदोंका देश, ब्रह्मज्ञानियोंका देश है, ऐसे नहीं। अब किसीने उन श्रीमतीजीको बताया कि हिन्दुस्तानमें एक मच्छर नामके जानवर होते हैं, वे अगर किसीको काट लें तो मलेरिया हो जाता है। तो उसने अपनी डायरीमें लिख लिया 'मच्छर'। कैसा होता है मच्छर? बोले कि काला-काला होता है, उसके सूँड होता और वही सूँड आदमीकी देहमें गड़ाकर अपना जहर डाल देता है। अब श्रीमतीजी हिन्दुस्तानमें आयीं तो उनके स्वागतके लिए हाथी लाया गया। उसने दूरसे हाथी देखा। बोलीं कि अरे, यह तो काला-काला है, इसके सूड भी है। अरे, यह तो मच्छर है, मच्छर। यह काट लेगा तो मलेरिया हो जायेगा।' तो उसको क्या 'मच्छर' शब्दका अर्थ मालूम हुआ। 'मच्छर' शब्दका अर्थ मालूम नहीं हुआ।

प्रत्येक शब्दके अर्थकी पहचान होनी चाहिए। जैसे बच्चेसे पूछा कि नासिका किसको कहते हैं? तो वह मुँहसे बोलकर 'घ्राण' नहीं बतावेगा। वह तो अपनी अंगुली नाकपर रख देगा। उससे पूछो कि कान क्या है? वह 'श्रोत्र' नहीं बोलेगा, कानपर अंगुली रख देगा कि यह कान है। ऐसे ही जब आपसे कोई पूछे कि ब्रह्म कौन है? तो आप 'ब्रह्म' शब्दके बदलेमें परमात्मा, अद्वितीय—ऐसा कुछ न बोलकर उस चीजपर अंगुली रखिये, जिसका नाम ब्रह्म है। वह अर्थ आपको 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ मालूम है। तब तो आप ब्रह्म शब्दका अर्थ समझते हैं और, यदि वह अर्थ आपको नहीं मालूम है, तो कोई पूछे कि 'ब्रह्म' किसको कहते हैं? बोलेंगे कि *परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावो पलक्षिततत्वं ब्रह्मत्वपरिच्छेद*—सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित होना—ये ब्रह्मका लक्षण है।

ऐसे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ नहीं आता है। केवल पोथी पढ़े-लिखे जो लोग होते हैं, वे ऐसे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ बताते हैं, *'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'*। आप देखो, ब्रह्मको पहचानो। 'सत्य' उसको कहते हैं जो कालसे बाधित न हो। यह जाग्रत्-अवस्थाकी दुनिया स्वप्नावस्थामें नहीं रहती। स्वप्नावस्थाकी दुनिया सुषुप्ति-अवस्थामें नहीं रहती। सुषुप्ति-अवस्था स्वप्नावस्थामें नहीं रहती। स्वप्नावस्था, जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहती। लेकिन तुम? देखो, अबाधित हो। तीनों अवस्थामें तुम हो। तो 'सत्यं' तुम्हारा नाम है।

अच्छा, एक जीव है, एक ईश्वर है, एक जगत् है—यह कौन जानता है?

तुम्हीं तो जानते हो न। तो 'ज्ञानं' तुम्हारा नाम है! तुमने अपनी कल्पना करते हो मौतकी? जबकि 'अनन्तं'. तुम्हारा नाम है।

'शब्दका अर्थ कौन जानता है? श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने एक शुभवचन अपना यहाँ दिया' कि 'न ह्यनध्यात्मविद् वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः'। भाष्यमें गद्य लिखते-लिखते यह पद्य लिख दिया। वे कहते हैं कि जो अध्यात्मको नहीं पहचानता, वह तत्त्वतः वेदार्थको नहीं समझ सकता।

'अध्यात्म' माने आत्मनि इति अध्यात्मं। 'अध्यात्म' शब्दका अर्थ है, शरीरके भीतर। 'अधि' जो उपसर्ग है, यह सप्तमी विभक्तिका वाचक है 'मे'। तो 'अध्यात्म' माने आत्मामें माने अपनेमें। तो जो अपनेमें माने इस शरीरमें विद्यमान वस्तुओंको नहीं जानता कि आँख क्या है, नाक क्या है, जीभ क्या है, उसका ईश्वर तो सातवें आसमानमें जाकर बैठेगा। ईश्वर कहता है कि अब यह तो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको तो पहचानता नहीं, हमको तो यह हथौड़ा ही मारेगा। माने ज्यादा चन्दन लगानेसे कभी ईश्वरको भी जुकाम हो सकता है, यह बात समझनी चाहिए। बिहारीजीको सर्दीके दिनोंमें फूल नहीं चढ़ाते हैं कि कहीं बिहारीजीको जुकाम न हो जाय। गर्मीके दिनोंमें बिहारीजीके लिए फुहारा बनाते हैं, वैसे ही जाड़ेके दिनोंमें अंगीठी रखी जाती है। तो जब बिहारीजी देखेंगे कि यह तो बाबा अपनी नाक, कान, आँखको नहीं पहचानता, इसको अपने ही मन, बुद्धिकी पहचान नहीं है, अपने अहंकारकी पहचान नहीं है, तो यह मेरेको कैसे पहचानेगा?

ऐसे कई भगतराज देखे हैं, जो अपनी श्रेष्ठता तो प्रकट करते हैं हजार तरहसे; लेकिन मुँहसे कहते हैं कि कहीं अभिमानकी बात न आजाय महाराज! तो वे समझते ही नहीं हैं बेचारे कि अभिमान क्या होता है? उनको अभिमान समझनेकी ताकत नहीं है। तो जो अपने अभिमानको नहीं समझता, वह ब्रह्मको कैसे समझेगा? तो ब्रह्म उनसे छिपकर रहता है कि बाबा, इनके सामने प्रकट होंगे तो यह हमारे ऊपर आक्रमण ही करेगा।

तो जो अध्यात्मवेत्ता नहीं है, वह तत्त्वतः वेदोंका अर्थ नहीं समझ सकता—यह बात शंकराचार्य भगवान्‌ने अपने वचनसे कही और इसके लिए उन्होंने क्या किया कि आधा श्लोक मनुस्मृतिका उद्धृतकर दिया। आप विचार करके देखो, भाष्यकारने यहाँ आश्चर्य कर दिया है। मूल श्लोकमें लिखा है।

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः।

जो इस बातको जान ले कि ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसको निःशंक होकर कल्पना करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह कैसे भी वेदार्थकी कल्पना कर ले। अब इसके भाष्यमें शंकराचार्यने आधा श्लोक तो अपना रखा और आधा मनुजीका रखकर एक कल्पना यहीं कर ली। मनुजीका श्लोक क्या है कि,

न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।

जो अपने भीतरके तत्त्वको, रहस्यको नहीं जानता, वह क्रियाफल माने प्रमाणफल माने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको भी नहीं जानता है। वह आदमी दुनियाकी किसी चीजको नहीं जानता, जो अपने आपको नहीं जानता।

समझो कि एक आदमी खुर्दबीन लेकर किसी चीजको देख रहा है। लेकिन यह खुर्दबीन जो चीज जैसी है, उसको कितना गुना करके दिखाता है—यह उसको मालूम नहीं है। उसने खुर्दबीन आँख पर लगाया और कणको देखा! अब वह कण कितना बड़ा दिखने लगा। वह एक चट्टानके बराबर दीखने लगा? पर उसको यह मालूम नहीं है कि हमारा खुर्दबीन किसी चीजको कितना गुणा करके दिखाता है? तो क्या वह पत्थरकी चट्टान देखकर उस कणका रूप समझ गया? वह कणका स्वरूप नहीं समझ गया।

जिसको यह बात मालूम नहीं है कि हमारी आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हमारा मन, बुद्धि हमको उलटा करके दिखाते हैं। देखो शीशेमें आप पूर्व मुँहसे खड़े हो जाओ तो शीशा आपको पश्चिम मुँहसे खड़े दिखावेगा—यह बात पक्की है। अच्छा, जिसको यह नहीं मालूम है कि शीशा पश्चिम मुँह दिखता है, वह जब देखेगा तो नहीं समझ सकेगा कि ऐसा कैसे हुआ? अभी हमको कल ही कोई सुना रहा था कि उसके घरमें बिजली जलती है। परसों कुछ ऐसा कारण पड़ गया कि बिजली फेल हो गयी तो घरमें मोमबत्ती जलने पर जो बड़ी-बड़ी परछाईं पड़ती है, उससे डरकर रोने लगा। क्यों रोने लगा? वह जानता नहीं है कि यह हमारी परछाईं है। अच्छा, हमने देखा कि हमारे वृन्दावनके स्नान घरमें जो शीशा है, उससे चिड़िया आ-आकर चोंच मारती हैं। क्यों? क्योंकि, उनको जो शीशेमें अपना ही रूप दिखता है तो वे समझती हैं कि यह कोई दूसरी चिड़िया है। कुत्तेका दृष्टान्त तो सूरदासने दिया है।

आपका जो मन, बुद्धि, अन्तःकरण है, यह आपका खुर्दबीन है, दूरबीन है। यह दुनियाको कितना घटाकर, कितना बढ़ाकर, कितना उलटकर, कितना

बदलकर दिखाता है—जबतक यह बात आप नहीं समझ लोगे, तबतक दुनियाका स्वरूप आपको कैसे मालूम पड़ेगा? कुत्तेने पानीमें अपनी परछाईं देखी, उसके मुँहमें रोटी थी। अब उसने सोचा कि एक और कुत्ता पानीमें है और उसके मुँहमें भी रोटी है। सो वह उसके ऊपर झपटा तो उसके मुँहकी रोटी पानीमें गिर गयी। जो उसके पास थी वह भी गयी हाथसे।

यह जो हमारा अन्त:करण है, यह देखनेवालेको ही कैसे उलटा करके दिखा रहा है कि चेतनको जड़ दिखा रहा है, एकको अनेक दिखा रहा है, आत्माको पराया दिखा रहा है, पूर्णको परिच्छिन्न दिखा रहा है, अद्वयको द्वैत दिखा रहा है। तो जो इस अन्त:करणकी लीलाको नहीं जानता है, वह सचमुच आँख कान, नाक और मन बुद्धिसे जो दुनिया मालूम पड़ती है, उसको भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकता है—यह बात मनुजीने कही—

'न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते'। क्रियाफलं प्रमाण फलं इत्यर्थः उक्तेऽर्थे स्मृतिमुदाहरन्ति क्रियाशब्देन प्रमाणमुच्यते तत्फलं तत्त्वज्ञानमग्निहोत्रादिक्रियायाश्च बुद्धिद्वारा तस्मिन् पर्यवसानं शुद्धि।

अग्निमें 'इन्द्राय स्वाहा' आदि हवन करनेका अभिप्राय इन्द्रको तृप्त करना नहीं है। वस्तुका त्याग होनेसे, आगके सामने बैठनेसे, श्रद्धा होनेसे, अपनेको देहातिरिक्त समझनेसे अभिप्राय है। तुम देखो, अपनी बहुत परिश्रमकी कमाई तो आगमें डाल रहे हो। तुम्हारे हृदयमें श्रद्धा है और देहातिरिक्त, देहके नष्ट हो जाने पर हम इसका फल स्वर्गमें प्राप्त करेंगे, यह श्रद्धा है और वेदमें जो बात कही गयी है, सो प्रामाणिक है और इस तरहसे आप अपने अन्त:करणको इस ढंगका बना लेते हो कि आत्मदर्शनके लिए और है जितने प्रमाण हैं, वे द्रष्टाको सिद्ध करनेके लिए हैं दृश्यको सिद्ध करनेके लिए नहीं हैं। तो मनुजीने कहा, **'न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते'**।



परमार्थदर्शीकी दृष्टि

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ ३१॥

वस्तुको गंभीरतासे आमूलचूल देखना होवे तो दूसरी ओरसे अपनी नजर हटानी पड़ती है। घड़े परसे आँख हटाये बिना कपड़ेको ठीक-ठीक नहीं देख सकते। माने एकको देखेंगे तो दूसरी ओरसे नजर हटानी पड़ेगी। इसीको वेदान्तशास्त्रमें 'अपवाद' शब्दसे कहते हैं। यदि तुम्हें अपरिच्छिन्न, पूर्ण, ब्रह्म-वस्तुका साक्षात्कार करना है, तो परिच्छिन्न वस्तु परसे नजर हटानी पड़ेगी। यदि तुम्हें आत्मवस्तुका साक्षात्कार करना है, तो अनात्मवस्तु परसे नजर हटानी पड़ेगी। दूकान भी देखें और नाटक भी देखें, ऐसा कैसे होगा? नाटक देखनेके लिए दूकान परसे अपनी नजर हटायी। तो दो वस्तु एक साथ न इन्द्रियोंके द्वारा देखी जा सकती और न तो मनके द्वारा सोची जा सकती हैं और न तो बुद्धिमें आरूढ़ होती। यह जो मालूम पड़ता है कि हम दो अंगुलीके साथ-साथ देख रहे हैं, यह गलत है। दो अंगुली साथ-साथ नहीं दिखती, मालूम तो पड़ती है! वह जो चाक्षुषज्ञानमें इतना चांचल्य है और इतनी तेजीसे वह दोनों अंगुलियों पर आता-जाता है कि मालूम पड़ता है कि हम दोनोंको देख रहे हैं। अतः एक साथ दो चीज नहीं देखी जा सकती। एक पर से जब नजर हटती है, तब दूसरा दिखायी पड़ता है। दूसरे पर जब नजर जाती है तो पहली चीज अपने आप छूट जाती है। इस बातको प्राचीनभाषामें 'अपवाद' और 'वैराग्य' कहा हुआ है।

'वैराग्य' माने चीजको तोड़ना-फोड़ना नहीं होता। यह नहीं कि कपड़ा देखना हो तो घड़ेको तोड़-फोड़ दें! या घड़ा देखना हो तो कपड़ेको फाड़कर फेंक दें! यह इसका मतलब नहीं होता। परन्तु, अपने मनमें जो दुविधा है, यह देखें कि वह देंखे इस दुविधाको छोड़कर, सत्यका दर्शन किया जाता है। आत्माका दर्शन करना हो तो अनात्मा परसे दृष्टि हटाओ! परमात्माका दर्शन करना हो तो संसार परसे दृष्टि हटाकर पहचानो! अपरिच्छिन्न, अद्वयब्रह्मको देखना हो तो द्वैत परसे दृष्टि हटाओ!

जो लोग परमात्माके दर्शन पर चल रहे हैं, उनको द्वैत-दर्शनकी उपेक्षाकरके अद्वैत पर अपनी दृष्टि लगानी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि द्वैत-वस्तुको उपेक्षास्पद बताया जाय कि भई, इसमें कुछ ज्यादा कीमत नहीं है, ज्यादा महत्त्व नहीं है। इसका अधिक मूल्यांकन मत करो। आओ, जरा पहले परमात्माको समझ लो! अगर यह जिद करोगे कि हम तो दोनों चीज एक साथ देखेंगे, तो बात गड़बड़ा जायेगी। इसलिए देखो, युक्तिसे यह बात सिद्ध की कि मनकी चंचलतामें ही अनेकता भासती है, जैसे स्वप्न, मनोरथ और जब मन शान्त हो जाता है, तब सुषुप्ति-कालमें अथवा समाधि-कालमें अथवा एकाग्रता-कालमें अथवा अपने प्रियतमके चिन्तनमें बिलकुल तन्मय हो गये हों तो प्रियतमका भान होगा, दुश्मनका भान नहीं होगा, समाधि लग जायगी तो विक्षेपका भान नहीं होगा। सुषुप्ति हो जायेगी तो जाग्रत-स्वप्नके पदार्थोंका भान नहीं होगा। सो यह सारी सृष्टि मनीरामकी रचना है, उसकी बनाई हुई है। तो इधरसे अपनी नजर हटाकर पहले अपने आपको तो समझो!

दूसरी बात यह है कि दुनियामें जितनी भी वस्तु जानी जाती है, समझी जाती है, अनुभवमें आती है, वह 'आत्मानं पुरोधाय'—पहले अपनेको आगे रखकर ही, तब दूसरी चीज जानी जाती है। माने आप अगर यह तसवीर देख सकते हैं कि किसकी है, तो पहले आँख अपने साथ रख करके तब देख सकते हैं। बिना आँखके तसवीरको नहीं देख सकते। और, आँखसे अगर देख सकते हैं, तो पहले आँखके साथ मन रख करके देख सकते हैं और मनको अगर आँखमें रख सकते हैं तो पहले आप होंगे, तब रखेंगे! इसलिए, जो चीज मनकी चंचलतामें तो भासे और मनकी एकाग्रतामें न भासे, उसका मनके साथ अन्वय-व्यतिरेक हुआ। माने मन यदि वैसा होवे तो दिखे और मन वैसा न होवे तो न दिखे। जब मन वैसा है, तब दिखती है—यह मनके साथ उसका व्यतिरेक है। इसलिए सृष्टिके जितने

भेद-विभेद हैं, वे मनके बिना दिखायी नहीं पड़ते। इसलिए मनको दूसरी ओरसे हटाकर, जरा अपने आपको समझना आवश्यक है।

आपको कल सुनाया था कि जो अध्यात्मवित् नहीं है, वह वेदका अर्थ नहीं समझ सकता। जो अध्यात्मवित् नहीं है, कर्मका फल भी उसको नहीं मिल सकता। माने पदार्थ समझनेके लिए आपको क्या करना पड़ेगा? बच्चोंकी स्थितिमें जाना पड़ेगा। बच्चेसे पूछते हैं कि नाक क्या है? तो वह यह नहीं कहता कि नाकको संस्कृतमें नासिका कहते हैं या घ्राण कहते हैं। वह तो सीधे नाक पर अंगुली रख देता है। ऐसे ही आपसे किसी शब्दका अर्थ पूछे—कि धर्म क्या है? आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है?—तो वस्तु बताइये। ब्रजमें एक पद गाते हैं,

नैना रे चितचोर बतावो।
तुमही रहत भवन रखवारे, बांके बीर कहाओ।
घर के भेदी बैठ द्वार पर, दिन ही घर लुटवावो।
नारायण, मोंही वस्तु न चहिए, लेनेहार दिखावो।
नैना रे चितचोर बतावो।

हमको वस्तु चाहिए! वह पदार्थ चाहिए! शब्दके बदलेमें शब्द नहीं।

अच्छा पदार्थ देखना है? अपरिच्छिन्न माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छन्न ब्रह्म वस्तुको जानना है तो उसका आत्मासे अभिन्न होना अनिवार्य है। क्योंकि, जो चीज हमसे अलग होगी, वह ब्रह्म नहीं हो सकती। क्यों? हम ब्रह्म! हमसे अलग ब्रह्म है, तो हम जितने हैं उतना ब्रह्म नहीं। हमसे जुदा ब्रह्म! और, हम अगर ब्रह्मसे जुदा हैं तो या हमसे ब्रह्म जुदा है तो जड़ है। चैतन्यका अन्यके रूपमें अनुभव नहीं हो सकता। और, यदि हम ब्रह्मसे जुदा हैं, तो परिच्छिन्न हैं, विनाशशील है। ब्रह्मसे पृथक् होकर कोई वस्तु अविनाशी नहीं हो सकती। इसलिए, यह सत्ता और चैतन्यकी जो एकता है, उसको जाननेके लिए बाहरकी सृष्टि परसे नजर हटानी पड़ती है। द्वैत सृष्टिपरसे नजर हटानी पड़ती है। इसीको बहिरंग साधनकी दृष्टिसे वैराग्य बोलते हैं और अन्तरंग साधनकी दृष्टिसे अनात्मप्रत्ययका तिरस्कार बोलते हैं। तो अनात्मप्रत्ययका तिरस्कार हुआ निदिध्यासनके अन्तर्गत और वैराग्य हुआ साधन-चतुष्टयके अन्तर्गत। वैराग्यसे अन्तःकरणकी शुद्धि और अनात्मप्रत्ययके तिरस्कारसे निदिध्यासन!

यह बात जो अभी तक युक्तिसे सिद्ध की, यहाँ कहते हैं कि वेदान्तकी दृष्टिसे यही सिद्ध है।

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे'—जैसे आपको बताया कि स्वप्न क्या होता है, माया क्या होती है? **'असद् वस्त्वात्मिके असत्यौ'**—यह सपना है। जो मर गया, फिर जिन्दा नहीं हो सकता। जो बीत गया, वह फिर लौट नहीं सकता। गया रविवार, अब नहीं आ सकता। गया गुरुवार अब नहीं आ सकता। उसका नाम रखा गया गुरुवार ही। लेकिन कालकी धारामें गुरुवार बह गया, रविवार बह गया। मनकी धारामें जो वस्तुएं आयीं, वे बह गयीं। जैसे सिनेमाके पर्दे पर जो रोशनी आती है, मिनट भर मालूम पड़ता है कि वही तसवीर है। लेकिन वह तसवीर तो बहती जाती है। इसी प्रकार, यह सृष्टि बहती जाती है। गयी बात फिर लौट नहीं सकती! यह माया है, जादूका खेल है। अविवेकी लोगोंको ही यह सच्ची मालूम पड़ती है। जैसे कोई मायावी पुरुष एक बाजार फैला दे। उसमें दुकान, घर, औरत, मर्द हों। चारों ओर व्यवहार फैला हुआ हो! गन्धर्वनगर दिखायी पड़ रहा है। क्या मजा! पर है सब जादूका खेल! अच्छा देखो, शामको समुद्रकी ओर मुँह करके बैठ जाओ, वर्षा-ऋतु होवे और बादल उठें तो बोले कि शिवजीकी बारात जा रही है! देखो, वह हाथी, परिन्दे चले जा रहे हैं! वह गरूड़ पर नारायण चढ़े जा रहे हैं और वह भूत-प्रेत नाच रहे हैं। बादलमें वह सब दिखायी पड़े! उसके लिए बच्चे रोते हैं कि हमारा वह बैल कहाँ? हमारा वह हाथी कहाँ गया? अज्ञानी लोग उसके लिए रोते हैं। लेकिन वह तो एकाएक दिखायी पड़ता है। जैसे स्वप्नमें दृश्य आकस्मिक उदय होता है, वैसे ही जाग्रत-अवस्थामें भी दृश्य आकस्मिक उदय होते हैं और वे फिर चले जाते हैं और जानेकी बाद फिर लौटते नहीं हैं।

तो बोले कि यह बात भला कहाँ देखी है और किसने देखी है? तो बताते हैं,

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।

जैसे गन्धर्वनगर होता है, माया, जादूका खेल होता है, जैसे स्वप्न होता है, मनोराज्य होता है, वैसे सृष्टि दिखायी पड़ती है। बचपनके हमारे मित्र, जो हमारे साथ बचपनमें खेलते थे, जो 'अलिफ' 'बे' हमारे साथ पढ़ते थे, जो मेरे साथ लघुकौमुदी पढ़ते थे, मुहूर्त-चिन्तामणि पढ़ते थे, अब वे कहाँ हैं? वे हमारे रिश्तेदार, नातेदार, वे सम्बन्धी कहाँ हैं? यह सृष्टि बदलती है। इस बदलनेको जो स्वीकार करता है वह सुखी रहता है और इस बदलनेको स्वीकार करनेमें जो आनाकानी करता है, वही दुःखी रहता है। देखो, यह सुख-दुःखका आपको गुर बता दिया। जैसी परिस्थिति हो जाय उसको 'ओम्' माने स्वीकृति दो। सुखी रहोगे! और कहोगे कि नहीं-नहीं हम इसको छोड़ेंगे नहीं! पकड़कर बैठ जाओ तो

परिस्थिति तो बदलेगी और तुमको रुलाकर बदलेगी। रोनेका सबसे बड़ा उपाय यही है कि किसी चीजको पकड़कर बैठ जाओ कि हमको तो यह ऐसा ही चाहिए! बच्चे इसीलिए रोते हैं क्योंकि, उनका खिलौना टूट गया। बोले कि हमको तो वही चाहिए। अरे भाई, हम ऐसा ही दूसरा खिलौना बाजारसे खरीद कर दे देंगे! नहीं, हमको तो वही चाहिए।

जो होता जाता है, उसको 'ॐ'—यह मन्त्र है। 'ओम्' माने स्वीकार। ओमिति स्वीकारे। 'दधि आनाय'—दही ले आओ। बोले कि 'ओम्'। ईश्वर बोलता है कि इसके साथ तुम्हारा ब्याह हो गया! बोले कि 'ओम्'। अरे, इसने छोड़ दिया। बोले कि 'ओम्'। वह मर गयी। बोले कि 'ओम्'। अब श्मशान पहुँचा दो। बोले कि 'ओम्'। जैसे-जैसे ईश्वर करे, जी-हजूर बन जाओ! ईश्वरकी हाँ-में हाँ मिलाओ! ओम्-ओम्-ओम्!

यह बात भला कहाँ देखी गयी? 'क्वदृष्टं'? 'वेदान्तेषु'—यह बात वेदान्तोंमें देखी गयी। 'कैर्दृष्टं?' बोले कि 'विचक्षणैर्दृष्टम्'। वेदान्तमें भी सब लोगोंको यह बात देखनेको नहीं मिलती। बहुत लोग बरसोंसे वेदान्त पढ़नेमें लग जाते हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती इसका कारण यह है कि वे वेदान्तका जो सत्य है उसको कोई बौद्धिक-सत्य समझना चाहते हैं। आपको कल सुनाया था। फिर एक बार ध्यानमें ले लो! सृष्टि पहले नहीं थी, ब्रह्म था-यह बात गलत है। सृष्टि बादमें नहीं रहेगी, ब्रह्म रहेगा—यह बात भी गलत है। देखो, यह हमारी आँखोंके साथ, कानके साथ, जीभके साथ, हाथ-पाँवके साथ, अन्तःकरणके साथ जैसी सृष्टि इस समय दिख रही है, ऐसी सृष्टिमें देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्म ज्यों-का-त्यों है। अन्तःकरणके भेद नहीं है। कुछ भी दुनियामें हेरफेर करके ब्रह्म है—यह कल्पना आप अपने चित्तसे निकाल दो!

एक बार मैं एक सन्तके पास गया तो मैंने पूछा कि महाराज, यह दुनिया कितनी बदल जाय, कैसी-कैसी हो जाय तो आप इसको पसन्द करेंगे? वे बोले कि कैसी भी बदल जाय, हम तो कुछ-न-कुछ गलती इसमें निकाल देंगे। क्योंकि, बदलकर यह तो हमारे सामने ही पैदा होगी! तब तो यह हमारे सामने खेलनेवाली बच्ची हो गयी। हम इस दुनियाको ऐसी-ऐसी बन जाने पर पसन्द कर लेंगे—कोई मरे नहीं, तब पसन्द कर लेंगे अथवा किसीको रोग न हो, तब पसन्द करेंगे; हमारे मनके खिलाफ कुछ न हो तो पसन्द करेंगे! अरे, हमारे मनके खिलाफ कुछ नहीं होगा तो हम तो रोने लग जायेंगे बिना कुछ-न-कुछ मनके

खिलाफ किये दुनियाका मजा नहीं आता। अगर सृष्टिमें एक ही मन हो, दो मन न हों तो मजा कहाँसे आवेगा? दो मन होनेका ही तो मजा है। फूल पहले कलीके रूपमें निकलता है, फिर खिलता है—यही तो उसका मजा है। अत वह बना रहे तो उसका रहना मजा नहीं है। टूट कर गिर जाना भी उसका मजा है और मुरझा जाना भी मजा है। सृष्टिका यही खेल है।

वे महात्मा बोले कि देखो भाई, सृष्टिको तो हम किसी रूपमें पसन्द नहीं करेंगे! लेकिन यह सब अपना आत्मा है, इसलिए सब रूपमें पसन्द करते हैं। यह आपको एक प्रेमकी बात हमने सुनायी। सबसे प्रेम वही कर सकता है जो किसी एकसे प्रेम नहीं करता। जो किसी एकसे प्रेम करने लग जायेगा, वह सबका दुश्मन हो जायेगा। सबसे प्रेम करना माने किसी एकके रागमें नहीं फँसना। यह सर्वात्मका, प्रेमका व्यावहारिक रूप है। सबसे प्रेम करना माने कहीं भी प्रेमके व्यामोहमें न फँसना।

'विचक्षणैः वेदान्तेषु दृष्टम्'—विचक्षण महापुरुषोंने वेदान्तमें ऐसा देखा है! वेदान्तमें क्या हैं? तो कहते हैं कि यह जो तुम सुख-दुःख, पाप-पुण्य, अच्छे-बुरेकी कल्पना करते हो, यह छोटी नजरसे करते हो! जब बहुत छोटी चीजं पर तुम्हारी आँख बँध जाती है, तब उसको अच्छा या बुरा समझ कर स्वयं उद्विग्न होने लगते हो! तुम्हारी नजर कहाँ है? देखो, बड़ी चीजपर है कि छोटी चीज पर है?

'नेह नानास्ति किंचन'।

इस सृष्टिमें नानात्व कुछ नहीं है। दुश्मनके घरमें जो गाली दुःखका कारण बनती है, ससुरालमें वही गाली हँसी, मजाकका कारण बन जाती है। कई जगह तो मैंने देखा कि ये मित्रलोक आपसमें भले-मानुसकी तरह बात नहीं करते हैं। हमने बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगोंको भी देखा! विद्यार्थियोंमें भी देखा और प्रोफेसरोंमें भी देखा कि आपसमें गाली दे कर बोलना बड़ा प्रेम समझते हैं। तो कहीं गाली भी आत्मीयताका सूचक होती है और कहीं तारीफ करनेपर यह होता है कि यह हमको ठगना चाहता है। यह सृष्टि ऐसी ही है। कहीं आँख टेढ़ी करके देखो तो दुश्मनी समझेंगी और कहीं एक-आध चपत लगा दो तो मैत्री समझते हैं।

एक हमारे मित्र हैं। वे बताते थे कि मैं पहले-पहल लंदन गया तो हमको वहाँके यातायातके नियम मालूम नहीं थे। मैं एक दिन पैदल चल रहा था। एक मोटर पीछेसे आयी। मैं तो बस उसके नीचे आ ही जाता! इतनेमें एक स्त्रीने

झपटकर हमारा हाथ पकड़ा और दूर सड़क पर जाकर ढकेल दिया। बड़ा बुरा लगा कि इसने बड़ी असभ्यताका व्यवहार किया! इतनेमें फर्र-से मोटर निकल गयी! तब लगा कि अरे, इसने तो बचा दिया।

दुनियामें जिस चीजको हम अपनी नासमझी नादानीसे बुरा समझते हैं, उसमें भी बहुत अच्छाई होती है और जिसमें बहुत अच्छाई समझते हैं, उसमेंसे बुराई निकल जाती है, असलमें सब जगह सद्-वस्तु है। जो भी क्रिया होती है, उसमें सत्ता है, उसमें ज्ञान है, उसमें आनन्द है। एक महात्माका वचन है, 'सबमें सब है'। तो इसीलिए हमारे वेदान्तियोंने जो यह कहा कि अच्छाई-बुराईका ज्ञान केवल शास्त्रसे ही होता है, उसका अर्थ है कि अच्छाई-बुराई वस्तु-निष्ठ नहीं है। किसी वस्तु, क्रियामें अच्छाई-बुराई नहीं है। जिस सम्प्रदायमें, जिस समाजमें जिस परिस्थितिमें, जिस कालमें आचार्योंने जैसी अच्छाई-बुराईकी कल्पना कर दी है, वैसी है। यह वेदान्त तो दिमाग परसे सारे बोझको उठाकर समुद्रमें फेंक देनेके लिए है।

नेहा नानास्ति किञ्चन।

इस सृष्टिमें कुछ भी नाना नहीं है। अरे, काहेको दो पीढ़ी ऊपर जाते हो कि नाना है हमारा! अरे, तुम्हीं हो तुम्हीं! तब नाना कहाँ गया? वैसे किसीके नाना तुम भी हो! तुम्हारी बेटीके बेटा होगा तो उसके तुम कौन होगे? नाना ही होओगे न! अपने नानाके मर जाने पर तो रोते हो कि हमारे नाना मर गये या नानाके आने पर डर जाते हो कि उनके साथ जरा सभ्यताका बर्ताव करना चाहिए। लेकिन तुम भी तो किसीके नाना हो रहे हो!

तो यहाँ नाना—अनाना कुछ नहीं है।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'।

एक तो इन इन्द्रियोंके पीछे बैठा हुआ है 'इन्द्र'। 'इन्द्रिय' शब्द कैसे बना? जो इन्द्रका होवे, सो 'इन्द्रिय'। *इन्द्रसृष्टम् इन्द्रियम्, इन्द्रजुष्टम् इन्द्रियम्, इन्द्रदत्तम् इन्द्रियम्।* 'इन्द्रिय' माने जिसको इन्द्रने बनाया, जिसके साथ इन्द्र मिला रहता है, जिसको इन्द्रने दिया। और, माया माने इन्द्रिय। तो इन्द्रियोंके पीछे बैठा हुआ जो इन्द्र है, वह इन इन्द्रियोंकी मायासे अनेक रूप मालूम पड़ता है। कभी पाँव गलत रास्ते पर चला गया तो बोले कि हम पापी! कहीं हाथसे गलत काम हो गया तो बोले कि हम पापी! कहीं किसीको पाँच रुपया दे दिया तो कहे कि हम पुण्यात्मा! तो यह जो इन्द्रियोंकी माया है, इसीसे यह इन्द्र जो है आत्मा—*इदं द्रष्टा इति इदन्द्रः*

इदन्द्रम् संतन्द्रम् इति चक्षते—जो विषयोंका द्रष्टा है, अन्तःकरणका द्रष्टा है, इन्द्रियोंका द्रष्टा है—उसको 'इन्द्र' बोलते हैं।

अच्छा, 'इन्द्रिय' को इन्द्रिय क्यों बोलते हैं? इस सम्बन्धमें एक दूसरी बात आपको सुनाते हैं। हाथका देवता है 'इन्द्र'। आपलोग रोज पढ़ते हैं न '*स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः*'! इसका मतलब है कि जबतक कथामें बैठें, तबतक हाथको चंचल न करें। '*स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः*'—आँखका जो देवता है, चारों ओर देखनेवाला पूषा, वह हमारा कल्याण करे। माने कथामें बैठकर अपनी आँखको चंचल न करें। '*स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः*'—शब्द सीधे कानमें आवें, इधर-उधर रास्ता छोड़कर न जावें 'अरिष्टनेमि'। 'ताक्ष्र्य' माने शब्दात्मक गरूड़, जिसपर भगवान् चढ़कर आते हैं। शब्द है गरूड़ और उसमें अर्थ हैं 'विष्णु' और वे सीधे कानमें आते हैं। तो जब '*स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमि*' बोलते हैं, तो उसका अर्थ है कि हमारे कानके रास्तेसे शब्द सीधे हृदयमें पहुँच जायें। शब्दके गरूड़ पर चढ़कर विष्णु भगवान् हमारे हृदयमें आवें। माने हमारे कान इधर-उधर गड़बड़ाये नहीं।

हाथका देवता है 'इन्द्र'। अब कोई कथा सुन रहे हैं और हाथसे कापी पर लिख रहे हैं अथवा बत्ती बना रहे हैं! तब क्या हुआ कि उनका इन्द्र तो बत्ती बनानेमें लग गया, कथा समझमें कहाँसे आवेगी? तो '*स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः*' उनका झूठा हो गया।

हाथका देवता इन्द्र। माने हाथसे हम जो कर्म करते हैं, उस कर्मके जो संस्कार होते हैं, उन संस्कारोंके अनुसार इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। देखनेकी वासना जिसके मनमें बड़ी प्रबल है, उसके आँख बनती है। सुननेकी वासनासे कान बनता है। बोलनेकी वासनासे मुँह बनता है। खानेकी वासनासे जीभ बनती है। चलनेकी वासनासे पाँव बनते हैं। तो कर्मादि देवता जो इन्द्र है, उस इन्द्रने हमारी इन्द्रियोंकी सृष्टिकी है। कैसे? बोले कि 'मायाभिः'। यह नहीं समझना कि परमाणुसे बनाया है, प्रकृतिसे बनाया है। इन्द्रके पास एक जादू है, एक माया है-उसीसे यह बना है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। आत्मैवेदमग्र आसीत्।

जब तुम सोते रहते हो, तब कौन था? बिलकुल आत्मा, आत्मा। देखो नींद टूटनेके बाद यहाँ तक पता नहीं चलता कि मैं कौन हूँ और किस जगह सो रहा था। कभी-कभी हम बम्बईमें जगते हैं और मालूम पड़ता है कि वृन्दावनमें हैं। जब इधर-उधर देखते हैं तो पता चलता है कि नहीं, यह तो बम्बईका दृश्य है। तो मैं

कौन हूँ, मेरा क्या नाम है और मैं किस आश्रममें हूँ, मुझे क्या काम करना है? यह सब कुछ नहीं फुरता। यह इन्द्र, जादूके खेलसे अपनेको कहीं बम्बईमें मानता है, कहीं झूठ बोलता है, कहीं सच बोलता है।

देखो, प्रत्येक विकारके पहले आत्मदेव ही रहते हैं। जब आपका नाम रखा गया मोहन, सोहन; तो यह नाम रखनेके पहले तुम थे कि नहीं थे? जब तुमको यह शरीर मिला, तो उसके पहले तुम थे कि नहीं थे? अन्नमें तुम पहलेसे थे कि नहीं थे? तो सबके पहले कौन रहता है? अपना आत्मदेव और उसका जब ठीक-ठीक विचार करते हैं, तो क्या मजा है? देखो! लोग कहते हैं कि कल्पना है कि यह हमारी माँ है, यह हमारा बाप है और यह हमारा दुश्मन है, यह दोस्त है और यह हमारा सुख है, यह दुःख है। अच्छा, यह पाप है, पुण्य है, नरक है, स्वर्ग है—सब कल्पना है। अपना जीवन देखो। यह सब काहेसे चल रहा है? यह क्या हड्डी, मांससे चल रहा है? हड्डी, मांससे कुछ नहीं चल रहा है। एक हड्डी, मांसको सुख नहीं होता, दुःख भी नहीं होता। नहीं तो क्लोरोफॉर्म सुँघानेके बाद भी होता, इन्जेक्सन लगानेके बाद भी होता।

आप देखो, जिनको घाटा-वाटा होनेवाला होता है, वे शराब पीने लगते हैं कि हम गम गलत कर रहे हैं। क्या अभिप्राय है इसका? मनको इधरसे उधर लिये बिना सुख शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती जिसपर तुम हाथ रख दोगे वह सुख हो जायेगा, जिसको तुम प्रेमकी आँखसे देख लोगे, वह सुख हो जायेगा। जिसको द्वेषकी आँखसे देखोगे, वह दुश्मन हो जायेगा। जिसको प्रतिकूल समझकर देखोगे, वही तुम्हारे लिए दुःख हो जायेगा। जिसको अनुकूल समझकर देखोगे, वही तुम्हारे लिए सुख हो जायेगा। और, अगर तुम्हारा मन ठीक नहीं है तो दुनियामें कभी सुख नहीं मिल सकता। जो भी मिलेगा, वह प्रतिकूल ही मिलेगा और, यदि अपना मन ठीक हो तो जो भी मिले, उससे अनुकूलता आ जायेगी। यह अनुकूलता-प्रतिकूलता वस्तुसे नहीं बनती, क्रियासे नहीं बनती। वह मनसे बनती है। *'द्वितीयाद्वैभयं भवति'*। जिसको तुम अपनेसे पराया समझोगे, उससे तुमको डर लगेगा। अपनेसे डर नहीं लगता। पर, सेठ लोगोंको तो अपनेसे भी डर लगता है कि कहीं हम धोखेमें आकर किसीको कुछ दे न बैठें। ये बड़ी बुद्धिमानी दिखाते हैं। ये पैसा तो बेईमानीसे कमाते हैं, और जब देना होता है तो कहते हैं कि साक्षात् भगवान् आकर हमारे हाथसे लें और भगवान् न मिलें तो कम-से-कम वसिष्ठजी तो आवें, व्यासजी तो आवें। हम तो शुकदेवजीके हाथमें देंगे। अरे भाई,

शुकदेवजीने तो राजा परीक्षितसे कुछ नहीं लिया। बोले कि उनसे नहीं लिया तो क्या हुआ? हमारा तो लेंगे।

मनुष्यका दिमाग बड़ा ऊँचा हो जाता है। दिमाग ऊँचा होना तो आप समझते हैं न? कान ऊँचा हो जाता है तो कैसा होता है? कानपर हाथ लगाकर सुनना पड़ता है कि क्या कह रहे हैं? तो जब दिमाग ऊँचा हो जाता है तो बात जल्दी समझमें नहीं आती है। तो, *'द्वितीयाद्वैभयं भवति'*—जिसको तुम पराया मानोगे, उससे डरना पड़ेगा। जिसको अपना मानोगे, उसके साथ मिल जाओगे, एक हो जाओगे। 'न तु तद् द्वितीयमस्ति'। सत्य बात तो यह है कि अपने आत्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। प्रलयमें नहीं, समाधिमें नहीं, इसी व्यवहारमें दूसरा कोई नहीं है। बोलते, सुनते हुए दूसरा नहीं है। सड़क पर हजार आदमी चलते हुए दूसरे नहीं हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे, खगोल, भूगोल आदि सारी क्रिया हो रही है और समुद्र उमड़ रहे हैं, फूल खिल रहे हैं, अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, सूर्य, चन्द्रमा आकाशमें दिखायी पड़ रहे हैं, हवा चल रही है, आँधी-तूफान आ रहे हैं, आकाश सबको धारण किये हुए है और द्वैत नामकी वस्तु नहीं है। कैसे? अपने अखण्ड अद्वय आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो देखो, अपने आपके सिवाय और कुछ नहीं है।

'यत्र तस्य सर्वमात्मैवाभूत्'।

मूल बात यही है। कार्य-कारणका भाव नहीं है। देखो, कभी जंगलमें बैठे हों। और यदि आदमी आ रहा हो। तो सोचेंगे अरे, यह आदमी यहाँ क्यों आ रहा है? अब देखो, पापी आदमीके मनमें आवेगा कि हम अकेले यहाँ जंगलमें बैठे हैं तो हमारे दुश्मनको पता लग गया होगा कि ये जंगलमें अकेले बैठे हैं। सो यह आदमी उसने भेजा है कि जाकर मारो। यह कल्पना क्यों होगी? अपने हृदयमें जो द्वेष है, उसके कारण यह कल्पना होगी। यह पापी आदमीका लक्षण है। पुण्यात्मा पुरुष होगा तो उसके मनमें आयेगा कि देखो, जैसे मैं विरक्त होकर भजन करनेके लिए जंगममें आया हूँ वैसे ही यह भी कोई विरक्त, कोई ईश्वरका कृपापात्र, कोई सद्गुरुका कृपापात्र यहाँ भजन करनेके लिए आया है। ओ-हो, बहुत बढ़िया हुआ!

एक बार मैं स्वामी रामतीर्थकी तपस्या स्थली ब्रह्म गुफामें जाकर बैठा। दो-तीन घण्टे तो मन बहुत बढ़िया रहा और उसके बाद कोई आदमी आता हुआ दिखे तो यह मालूम पड़े कि आकर पूछेगा कि स्वामीजी, भोजन करोगे? क्योंकि, तब

तक हमको भूख लग गयी थी। देखो, खानेकी याद आती थी। तब मैंने सोचा कि ऐसे बैठना तो ठीक नहीं है। फिर व्रहाँसे उठकर गया। फिर ईश्वरने भोजन कराया। एक महात्मा मिले। बोले कि हमारे साथ बद्रीनाथ चलो। मैंने कहा कि हमको तो भूख लगी है। पहले खायेंगे। चलना बादमें। वे बोले कि ओ, आ जा। मैंने देखा कि एक आदमी दौड़ता हुआ आया कि भोजन करो। वे बोले कि हम फलाहार करेंगे। वह आदमी बोला कि आज एकादशी है, फलाहार ही है। चलिए आप।

अपने मनमें जो प्रतिकूलताकी कल्पना है, वही दुःख देती है। मन अगर ठीक हो गया तो सब ठीक हो गया। क्योंकि, दुनियामें दूसरी चीज नहीं है और, जब अपना आपा ही है, तो अपने आपेमें अपनेको दुःख क्यों? अपने आपेसे अपने आपको पाप क्यों? अपने आपमें अपने आपको नरक क्या? यह तो परायेकी कल्पना करके ही हम दुःखी हो रहे हैं।

यह बात किसने देखी? कहाँ देखी गयी? बोले कि 'वेदान्तेषु'। जैसे युक्तिसे सिद्ध हुई, वैसी वेदान्तमें लिखी है। वेदान्तका सिद्धान्त ही ऐसा है। 'वेद' माने ज्ञान। वेदके अन्तिम सिद्धान्तको वेदान्त कहते हैं। वेदका वह सिद्धान्त जहाँ वेदकी भी जरूरत नहीं रहती। वेद किंकरत्व वहाँ नहीं रहता। वह सिद्धान्त है, वेदान्त। देखो, यह बात कोई पोथीमें ढूँढनेकी नहीं है। घट, पट, स्त्री, पुरुष आदिका ज्ञान लौकिक वेद है। देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादिका ज्ञान आध्यात्मिक वेद है। सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्रादिका ज्ञान भौतिक है। ब्रह्मलोक, गोलोक आदिका ज्ञान आधिदैविक है। लेकिन सब ज्ञानोंका अन्त कहाँ है? आत्मज्ञान है। अपनेको नहीं जाना तो शाखा-पल्लव तो जान लिया , परन्तु जड़ नहीं जाना। सबकी जड़ आत्मज्ञान है। इसीसे श्रुति भगवती कहती है—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

एक आत्मदेवको जान लो, फिर कुछ जाननेको बाकी नहीं रहेगा। यह जानना परमसुख है, परम सत्य है, सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति है। यह ज्ञान हो जाय तो आपको मालूम हो जाय कि दुनियामें कोई मरता ही नहीं। ऐसा मालूम पड़े कि दुनियामें सब ज्ञान स्वरूप हैं। जड़ता कुछ है ही नहीं। सब सुख-ही-सुख है, दुःख कुछ है ही नहीं। यह ज्ञान हो जाये तो मालूम पड़े कि सब आत्मा-ही-आत्मा है, ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

तो यह किसने देखा? बोले कि 'विचक्षणैः'। अब देखो, 'विचक्षण' शब्द का अर्थ बताते हैं। वेदमें एक मन्त्र आया, उसका अर्थ है कि अगर दो आदमी

आपके सामने झगड़ा करते हुए आवें और एक कहे कि हमने अमुक बात सुनी है और एक कहे कि हमने देखी है, तो दोनोंमें से किसको सच्चा मानना? बोले कि सुने हुएकी बातको सच्ची नहीं मानना, देखे हुएकी बातको सच्ची मानना। इसीको बोलते हैं 'चक्ष'। ईशावास्योपनिषद्‌में पढ़ते हैं, 'येन तद् विचचक्षिरे' चक्षु, आचक्षे इससे 'चक्षण' शब्द बनता है। चक्षुको गाँवकी भाषामें लोगोंने 'चख' भी बना लिया। 'चख' माने आँख। तो 'विचक्षणैः' *माने विशिष्टं चक्षणं येषाम् ते विचक्षणः तैः विचक्षणैः*—जिनको विशिष्ट-दृष्टि प्राप्त है। जो अपनी खुली आँखसे देखते हैं—

'खुली आँख परमारथ देखूँ'

जो जेवर नहीं देखते, सोना पहचानते हैं। जो खिलौना नहीं देखते खाँड पहचानते हैं जो औजार नहीं देखते, लोहा पहचानते हैं। जो हीरेकी सिर्फ कटिंग देखकर उसपर मोहित नहीं हो जाते, हीरेकी किस्म पहचानते हैं। कई-कई लोगोंका ऐसा अभ्यास होता है कि नजर पड़ी हीरेपर और कीमत बता दें। यह जो विश्व दिखायी पड़ता है, यह तो उसकी डिजाइन है। यह स्त्री, पुरुष, स्थावर, जंगम, आकाश, वायु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी—सब डिजाइन हैं। तुमको मनुष्यकी डिजाइन पसन्द आयी, इसमें 'मैं' कर बैठे कि यही मैं हूँ, यही मेरा है। यह बात दूसरी है। लेकिन जो हीरेको पहचानते हैं वे डिजाइनके चक्करमें नहीं पड़ते। अन्जान आदमी हो और उसमें जरा पीलापन देखे तो समझ लेता है कि यह तो बहुत कीमती है। नहीं, उसमें कोई रंग आ गया तो कीमती कैसा? यह जो अपना आत्मा है, यह हीरा है और ये स्त्री, पुरुष सब डिजाइन हैं। इनकी कोई कीमत नहीं है।

'विचक्षणैः' माने जो एक नजरमें अपने आत्माको देख लेते हैं, पहचान लेते हैं और, नहीं तो यह दुनिया कैसी है?

तमः स्वभ्रनिमभं दृष्टं वर्षबुद्‌बुदसन्निभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्॥

व्यास भगवान् कहते हैं कि जैसे अन्धकारमें कोई रस्सी पड़ी हो और मालूम पड़े कि यह तो दरार है, साँप है। पानीमें बुलबुले उठ रहे हों, कोई समझे कि देखनेकें लिए सुन्दर, सुन्दर फूल खिल रहे हैं। अरे भई, यह सृष्टि तो नष्ट होती है। इसमेंसे जो सुख खींचने जायेगा, तो फँसेगा।

देखो, अपनेको पहले दुःखी मानोगे, तब तो दूसरेसे सुख उधार लेने जाओगे। जो लोग सुखके लिए चाटकी दुकान पर जाते हैं, वे यह जानते हैं कि

चाटमें जो सुख है, वह हमारे अन्दर नहीं है। अपनेमें अभावका अनुभव न हो तो सुख लेनेके लिए दूसरेके पास कोई भिखारी बनकर क्यों जाय? अपने आप ठन-ठनपाल है। तो, *'सुखाद् हीनं'*।

अच्छा, दूसरेका सुख कब मिलेगा? एक आदमीको बच्चेका सुख मिल रहा था। गोदमें लेकर खिला रहा था। नींद आ गयी। तो बच्चेका सुख कहाँ गया? एक आदमीको पत्नीका सुख मिल रहा था, नींद आ गयी। अब वह नींदमें कहाँ सुख आता है? नींदमें तो एक-दूसरेको भूल गये, याद भी नहीं आती, पहचान भी नहीं रहती।

एक दिन क्या हुआ कि दो प्रेमी एक साथ सोये। एकको नींद आ गयी और एक जागता रहा। अब जब वह नींदवाला उठा तो जागनेवालेने वो लड़ाई उसके साथ ठानी कि मैं जागता रहा और तुम सो गये? हमारी याद छूट गयी। तुमको हमारा ध्यान-ही नहीं रहा? हमने देखा कि तुम्हारे हाथ ढीले पड़ गये, तुम्हारा मुँह उधरको घूम गया, तुम्हारी घर्र-घर्र नाक चलने लग गयी। तुम्हारे हृदयमें हमसे प्रेम होता तो हमारे रहते तुम सो जाते? अब घरमें वह मारपीट हुई महाराज? नींद आती है तो ऐसा होता ही है। इसके लिए दुःख बढ़ानेकी क्या जरूरत है।

तो संसारमें जितने भी सुख हैं, वे नींद आनेपर छूट जाते हैं, समाधिमें छूट जाते हैं। तत्त्वदृष्टि होनेसे सबमें एक ही परमात्मा, एक ही आनन्दका अनुभव होने लगता है। संसारमें तो सब वस्तुओंके अन्तमें उनका नाश लगा हुआ है। वे अन्तमें अपने अभावमें जाती है एक अपना आत्मा ही ऐसा है, जो अखण्ड सत्य है, अखण्ड ज्ञान है, अखण्ड आनन्द है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

इसलिए, परमार्थ क्या है, असलियत क्या है, सच्ची बात क्या है? अगले श्लोकमें यह बात बताते हैं और वह आपको कल सुनावेंगे।



परमार्थ क्या है? (१)

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ३२॥

जो वेदान्तके तत्त्वज्ञानमें अत्यन्त निपुण हैं, उनलोगोंने यह देखा है कि आत्मवस्तु अकाट्य है, अबाधित है, अखण्ड है और आत्मवस्तुके सिवाय जो मालूम पड़ता है, वह एक ऐसे अधिष्ठान चेतनमें भास रहा है, जिसमें उसका अभाव भी भासता है। वेदान्तियोंने परिभाषा यह बनायी है कि,

'स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्' ।

अपने अभावके अधिकरणमें किसी भी वस्तुका भासना मिथ्या होना है। जैसे सर्प अपने अभावके अधिकरण रज्जुमें भास रहा है, जैसे नीलिमा रूपरहित, रंगरहित आकाशमें भास रही है। आकाश कैसा है? न लाल न पीला, न काला न नीला। 'आकाशमें तो कोई रंग होता नहीं। तो नीलिमा अपने अभावके अधिकरण आकाशमें भास रही है, इसलिए नीलिमा मिथ्या है। इसी प्रकार, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें भासमान होनेके कारण देश-काल-वस्तुका परिच्छेद मिथ्या है। इसी प्रकार दृश्यसे विलक्षण द्रष्टा चेतनमें भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है।

देखो, यह दुनियाकी परिभाषासे विलक्षण है। जो लोग अपनी परिभाषाको नहीं समझते हैं, वे वस्तुको नहीं समझते हैं। न दीखना और न होना एक है? नहीं। जो चीज नहीं दिखती, वह भी होती है। अच्छा, दीखना और होना एक है? नहीं, यह भी नहीं। दीखे तो सही, परन्तु ऐसी जगह दिखे जहाँ उसका न होना भी दीखता है। तो देखो, अपने आत्मामें जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंका अभाव दिखता है। दुःखीपनका अभाव दिखता है, सुखीपनेका अभाव दिखता है, पापीपनेका अभाव दिखता है, पुण्यात्मा-पनेका अभाव दिखता है। सुषुप्ति, समाधिमें तो कुछ नहीं रहता। इसलिए, आत्मसत्यके साथ इन वस्तुओंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब एक, दो बात वेदान्तकी सुनाकर फिर आगे बढ़ते हैं।

एक तो अन्यवस्तुके ज्ञान और स्ववस्तुके ज्ञानमें क्या फर्क होता है, इस

बातको आप समझ लो। जैसे, 'यह आम मीठा है'—यह ज्ञान अगर किसीको होवे तो यह ज्ञान होनेके बाद, यह आम हमको मिल जाये, यह इच्छा हो सकती है और उसको हाथसे उठा सकते हैं। माने प्रयत्न भी होगा और उसको खा सकते हैं माने भोग भी हो सकता है। तो, अन्य वस्तुका जो ज्ञान है, वह यदि अनुकूल पड़ा तो उसकी प्राप्तिकी इच्छा, प्राप्तिके लिए प्रयत्न और भोग—तीनों हो सकता है। लेकिन, अपने आपका यदि ज्ञान होवे तो क्या होगा? अपने आपको जानोगे तो क्या पानेकी इच्छा होगी? वह तो मिला मिलाया है। तो क्या अपनेको प्राप्त करनेके लिए कोई प्रयत्न होगा? नहीं होगा। अच्छा, क्या अपने आपको भोगेंगे? नहीं। यह आत्मज्ञानकी महिमा है।

तो, आमके ज्ञानसे आमको पाना बाकी रहता है। पर, अपने ज्ञानसे अपनेको पाना बाकी नहीं रहता। आमके ज्ञानसे अगर खटासका ज्ञान हुआ और गन्देपनका ज्ञान हुआ तो त्यागकी इच्छा भी हो सकती है और मीठे-पनका ज्ञान हुआ तो खानेकी इच्छा हो सकती है। लेकिन, अपने आपको खाओगे कि छोड़ोगे? तो आत्माके अतिरिक्त विश्वमें और जितनी भी वस्तुओंका ज्ञान होता है, उसका संस्कार संचित होता है और उसके बाद कोई काम करना पड़ता है। लेकिन, अपने आत्माका जो ज्ञान होता है, उससे न तो संस्कारका संचय होता है और न तो वह जाननेके बाद अप्राप्त रह जाता है, न उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है, न प्रयत्न होता है, न भोग होता है। इसलिए आत्मज्ञानका फल आत्मज्ञान ही है और संसारके ज्ञानका फल संसारकी प्राप्ति अथवा संसारका त्याग है। जैसे सुख हो, वैसे संसारका भोग है।

तो यह नहीं समझना कि जैसे आमको समझते हैं, वैसे आत्माको समझते हैं। आत्माको समझना दूसरी चीज है और आमको समझना दूसरी चीज है। आमका वजन मालूम पड़ता है। आँख बताती है कि इसका क्या रंग है। जीभ बतावेगी कि इसमें क्या स्वाद है। त्वचा बतावेगी कि छूनेमें कड़ा लगता है कि नरम लगता है। नाक बतावेगी कि इसकी गंध कैसी है। आम तो एक ही है। खूब सूक्ष्मतासे देखें तो जो इसमें क्रिया हो रही है, क्षण-क्षण पक रहा है—उसमें आवाज भी होती है। वैद्य बतावेगा कि तुम्हारे शरीरके लिए हितकारी है कि नहीं है। मन बतावेगा कि तुम्हारी आम खानेमें रुचि है कि नहीं है। धर्म बतावेगा कि कहीं जगन्नाथजीमें जाकर आम छोड़ तो नहीं आये हो। छोड़ आये हो तो मत खाना। पर, यह सब ज्ञान आमके बारेमें हुआ। अब जरा आप अपने बारेमें देखो। क्या नाकसे आपको अपने आत्माकी गन्ध मिलेगी? क्या जीभसे स्वाद मिलेगा?

क्या आँखसे रंग, रूप मिलेगा? क्या त्वचासे स्पर्श मिलेगा? क्या कानसे शब्द मिलेगा? '*अशब्द अस्पर्श अरूप अव्ययं*'। क्या वैद्य कहेगा कि यह तुम्हारा आत्मा तुम्हारे लिए हितकारी नहीं है, सो तुम छोड़ दो? क्या धर्मकी दृष्टिसे जाकर कहीं आत्माका त्यागकर सकते हो? आलेमें रखकर आ सकते हो? तो, न इसमें वैद्यकी एक चलेगी, न धर्मकी चलेगी, न इन्द्रियोंकी चलेगी और न मनकी एक चलेगी। क्योंकि, यह तो अपना आपा ही है।

एक महात्माके पास एक जिज्ञासु गया। बोला कि महाराज, हम आत्माके ज्ञानके लिए आये हैं। महात्मा बोले कि क्या, आत्मा-आत्मा बकता है तू? तू अपने बारेमें जानना चाहता है कि दूसरेके बारेमें जानना चाहता है, यह बोला कभी-कभी किताबमें पढ़ते-पढ़ते ऐसा लग जाता है कि आत्मा नामकी कोई चीज होगी। अरे भाई, हमारा ही नाम आत्मा है, अपना ही नाम आत्मा है। हिन्दीमें जिसको 'आपा' बोलते हैं, संस्कृतमें उसका 'आत्मा' बोलते हैं।

अच्छा, अब दूसरी बात देखो।

यह जो आत्माका ज्ञान है, बड़ा अद्भुत है। इसको न जाननेसे ही आदमी बँधा हुआ है। तो देखो, अज्ञानसे जो वस्तु प्राप्त होती है, वह क्या ज्ञान होनेपर छूट जाती है?

एक दिन एक पतिने अपनी पत्नीको नकली नोट लाकर दे दिया। वह बेचारी भोली भाली थी, सो बड़ी खुश हुई कि आज तो हमारे पतिने पहली बार हमको रुपये दिये हैं। अब जब कोई काम पड़ा तो उसने किसीको नोट दिया तो वह बोला कि यह तो नकली है बिलकुल। यह तो बच्चोंके खेलनेके लिए है जो अज्ञानसे उसको रुपये मिले, तो क्या सचमुच मिले? नहीं मिले और, ज्ञान होने पर वह रुपये खो गये क्या? खो नहीं गये।

तो नारायण, अज्ञानसे कोई भी स्थिति बदलती नहीं है और ज्ञानसे कोई नवीन स्थिति उत्पन्न होती नहीं है। यथास्थितिका बोधक ज्ञान होता है। 'ज्ञान' उसको कहते हैं, जो चीजके यथार्थ स्वरूपको बता दे।

अब थोड़ा आगे बढ़ते हैं।

यह जो वेदान्तमें सुननेमें आता है कि आत्माके अज्ञानसे बन्धन है और आत्माके ज्ञानसे मुक्ति है। तो अज्ञानसे क्या हम सचमुच बद्ध हो गये? अगर किसीको नशेमें मालूम पड़े कि हम जेलखानेमें बन्द हैं। तो क्या वह जेलखानेमें बंद है? वह तो बाहर है। उसको नशेमें मालूम पड़ता है। तो यह अज्ञानसे जो बन्धन मालूम पड़ता है,

यह झूठा है। अच्छा, ज्ञानसे मुक्ति मिल गयी! तो ज्ञानसे क्या मुक्ति मिल गयी? ज्ञानसे मिली इसका मतलब है कि पहलेसे थी। ज्ञानसे तो अज्ञान मिटा, मुक्ति तो पहलेसे ही थी। श्रीमद्‌भागवतमें बहुत बढ़िया इसको समझाया है,

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ' (१०.१४.२६)

संसारमें मैं बद्ध हूँ, यह अज्ञानका एक नाम है। और अब मैं संसारसे मुक्त हो गया, यह अज्ञानका दूसरा नाम है। न तुम कभी बद्ध हो और न कभी मुक्त हो। बन्धन और मुक्ति, अज्ञानकी अपेक्षासे तुम्हारे अन्दर कल्पित है। जीवकी भावनासे अलग न बन्धन है, न मोक्ष है। बद्धाभिमानी बद्ध है और मुक्ताभिमानी मुक्त है। अष्टावक्र गीतामें श्लोक है,

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीहसत्येयंयामतिःसागतिर्भवेत् // १.११

जैसी मति, वैसी गति। जो अपनेको बद्ध मान ले, सो बद्ध और जो अपनेको मुक्त मान ले सो मुक्त। ऐसा है कि मान लो नहीं, जान लो। माननेसे नहीं बनता है। जानना पड़ता है।

अब देखो कि अज्ञानसे बन्धन है। अज्ञानसे किसी राजकुमारने अपनेको गरीब मान लिया। तो क्या वह गरीब हो गया? वह तो राजकुमार ही है। और, ज्ञानसे वह राजकुमार हो गया। तो ज्ञानसे वह राजकुमार बना? नहीं, वह तो पहलेसे ही राजकुमार था। तो ज्ञान किसी चीजको न बनाता है और न बिगाड़ता है। इसीलिए ज्ञानसे जो वस्तु मिलती है, वह नष्ट नहीं होती। कर्मसे जो वस्तु मिलती है, वह नष्ट हो जाती है। क्योंकि, कर्ममें शक्ति सीमित होती है। एक ढेला कितने जोरसे भी फेंके, तो कहीं-न-कहीं गिरेगा। भावनासे किसी चीजको पकड़ेंगे तो कहीं-न-कहीं छूटेगी। कितनी देर पकड़ कर रखोगे? और नहीं तो, सोते समय छूट जाएगी। लेकिन ज्ञानसे वह वस्तु प्राप्त होती है, जिसमें शक्ति और क्रियाका कोई प्रश्न नहीं है। क्योंकि अखण्डज्ञानका नाम आत्मा है। केवल चैतन्यका नाम आत्मा है। अद्वयचैतन्यका नाम आत्मा है। इसमें न बंधन और न मुक्ति।

अजस्त्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्य माणे तरणाविवाहनी।

(भागवत १०.१४.२६)

विचार करके देखो कि धरती पर तो दिन और रातका भेद होता है, लेकिन सूर्य पर कभी दिन और रातका भेद होता है कि नहीं होता है? अगर सूर्यपर दिन, रात होवे तो? देखो, हमको कितना प्रत्यक्ष है। अगर कोई हमसे कहे कि दिन, रात

नहीं होता है तो कहेंगे कि पागल है। अच्छा, आपको यह बतावें कि हर अमावस्याको सूर्यग्रहण होता है और पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होता है, तो मामूली आदमी तो कहेगा कि पागल है। वह तो कभी-कभी होता है। नहीं भाई, कभी-कभी नहीं। हर अमावस्या और हर पूर्णिमाको कहीं-न-कहीं सूर्य और चन्द्रमामें ऐसा कोण रहता है कि ग्रहण लग जाय। अरे, अमावस्या, पूर्णिमाको नहीं, रोज कहीं-न-कहीं पूर्णिमा रहती है और रोज कहीं-न-कहीं अमावस्या रहती है और रोज कहीं-न-कहीं ग्रहण लगता है। कितने चन्द्रमा हैं, कितने सूर्य हैं, कितनी पृथिवी हैं और उनका किन-किन कोणोंपर मिलन होता है—इसकी क्या कोई गिनती करके देखता है? सूर्यमें न दिन है न रात। क्योंकि, वहाँ किसीकी छाया ही नहीं पड़ती है। अब सूर्यपर सूर्यको आड़में कौन करे? सो वहाँ न दिन, न रात। इसी प्रकार, अपना जो अखण्ड आत्मस्वरूप है, इसमें न बन्धन, न मोक्ष। अरे, यह इतना सीधा रास्ता है भाई कि आँखकी पलक झपकनेमें तकलीफ है, परन्तु अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त जाननेमें कोई तकलीफ नहीं है। घोड़ेकी रक़ाबमें पाँव और तत्त्वज्ञान। फूल मसलनेमें तकलीफ है, परन्तु तत्त्वज्ञान होनेमें कोई तकलीफ नहीं है। यह तो असलियतकी बात है, सच्ची बात है। इसको परमार्थ बोलते हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ३२॥

अध्यारोपमें ज्यादा नहीं डोलना चाहिए। ये संसारी लोग अध्यारोपमें ज्यादा रहते हैं और साधक लोग अपवादमें ज्यादा रहते हैं और सिद्ध-पुरुषके लिए न अध्यारोप है, न अपवाद है। बन्धन जो है, वह बुद्धिको जगानेके लिए अध्यारोप है और भ्रान्तिको काटनेके लिए मुक्ति भी अध्यारोप है। इसीलिए बताया कि, न निरोधो न चोत्पत्तिः -न प्रलय होता और न तो सृष्टि होती। 'निरोध' माने प्रलय। परमार्थमें सृष्टि और प्रलय नहीं होते।

आपको यह बात सुनावें कि दुनियामें अब तक किसीने सृष्टि होते नहीं देखी। क्योंकि, किसीकी इन्द्रियके द्वारा या मनके द्वारा या बुद्धिके द्वारा यदि सृष्टि होती दिखे, तो इन्द्रिय, मन और बुद्धि पहलेसे होंगे। तो क्या इन्द्रिय, मन, बुद्धि सृष्टि नहीं हैं? बोले कि अच्छा, सृष्टि साक्षीभास्य है। साक्षी जो है, वह बिना किसी करणके सृष्टिको कैसे देखेगा? विषयको देखनेके लिए तो औजार चाहिए। अच्छा भाई, प्रलय किसीने देखा है? तो वेदान्तमें जगतकी सृष्टि और प्रलयको वास्तविक

नहीं मानते हैं। '*जन्माद्यस्य यतः*' की व्याख्या करेंगे हजार। लेकिन सृष्टि और प्रलयको वास्तविक नहीं मानेंगे। इसका बड़ा विलक्षण कारण है।

देखो, जो लोग जगत्को नित्य समझते हैं—समझते हैं कि हमारा बेटा हमेशा साथ रहेगा, हमारी पत्नी और हमारे पति हमेशा हमारे साथ रहेंगे, भाई-भाई साथ रहेंगे, मां-बाप साथ रहेंगे, यह हमारी धन-दौलत, मकान साथ रहेंगे! तो जो लोग संसारको नित्य मानकर उसमें फँसे हुए हैं, उनके मनको वहाँसे हटानेके लिए, वैराग्य करानेके लिए सृष्टि और प्रलयकी कल्पना की गयी है। हमको वैराग्य होवे कि दुनिया बदलनेवाली है! यह भी नहीं रहेगा, यह भी नहीं रहेगा! तो कहीं फँसो मत। अतः सृष्टिमें वैराग्य करानेके लिए ही सृष्टि और प्रलयकी कल्पना की गयी है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा सत्य है, यह ज्ञान करानेके लिए यह सृष्टि-प्रलयकी कल्पना है। देखो, यह अन्तरंग है। क्या अन्तरंग है? कि जो चीज कभी मालूम पड़ती है और कभी नहीं मालूम पड़ती, कभी होती है और कभी नहीं होती है—वह तो आने-जानेवाली है और अपना जो आत्मतत्त्व है, वह अबाधित है। अपने मिथ्यात्वका निश्चय कभी किसीको नहीं हो सकता! अन्यके मिथ्यात्वका निश्चय हो सकता है। दूसरी चीज है कि नहीं, यह सन्देह हो सकता है और दूसरी चीज नहीं है, यह निर्णय भी हो सकता है। पर, मैं हूँ कि नहीं—यह संदेह भी नहीं हो सकता और मैं नहीं हूँ—ऐसा निर्णय भी नहीं हो सकता। तो असली सत्य जो है, वह आत्मा है और आत्मसत्यका बोध करानेके लिए त्वं-पदार्थ तथा तत्-पदार्थके शोधनके लिए सृष्टि और प्रलयकी कल्पना है।

तो त्वं-पदार्थका और तत्-पदार्थका शोधन श्रवण, मननसे होता है। इसलिए, अन्तरंग साधन है। यह विचार करना चाहिए कि ये दृश्य तो बदलते रहते हैं और आत्मदेव एकरस, सबके साक्षी हैं।

सृष्टि और प्रलयके वर्णनका दो प्रयोजन हुआ। शास्त्रमें दो तरहसे वर्णन होता है—एक प्रयोजनानुसारी वर्णन होता है। वह क्या? कि इस वर्णनसे हमारे अन्तःकरणपर क्या असर पड़ता है? ऐसा वर्णन किया कि यह भी नहीं रहेगा, यह भी नहीं रहेगा। यह बचपन नहीं रहेगा, यह जवानी नहीं रहेगी, यह बुढ़ापा नहीं रहेगा, यह मकान नहीं रहेगा, यह धन-दौलत नहीं रहेगी, यह कुर्सी नहीं रहेगी। नारायण, इनको बहुत बड़ी चीज मानकर इसमें फँसो मत! तो प्रयोजन हुआ न! फँसावसे बचानेके लिए सृष्टि, प्रलयका वर्णन है। और दूसरे, यह जिस अधिष्ठानमें सृष्टि और प्रलय दिखायी पड़ रहा है, वह अधिष्ठान तो सच्चा है और सृष्टि प्रलय

झूठे हैं और जिस प्रकाशकको ये सृष्टि, प्रलय मालूम पड़ रहे हैं, वह प्रकाशक सच्चा है और सृष्टि, प्रलय झूठे हैं।

तो कभी सृष्टि हुई और कभी प्रलय हुआ। इनकी अनित्यता और आत्माकी नित्यता—चार प्रकारसे इसपर विचार करना है। एक तो यह देखो कि अपनेसे अलग जो कुछ है, वह विषय है। जिसको मैं जानता हूँ, उसको जाननेवाला मैं हूँ। तो एक विभाग हुआ विषय और एक विषयी। विषय कौन? जो मालूम पड़ता है। 'विषयी कौन? जिसको मालूम पड़ता है। ये मालूम पड़नेवाले सब समाप्त हो जाते हैं।

एकबार मैं भगवान्‌का ध्यान करने लगा। तो भगवान्‌से मैंने कहा कि तुम सामने खड़े हो जाओ, और हम तुम्हारी ओर मुँह करके तुमको देखते हैं। अब महाराज, हमारी और भगवान्‌की लड़ाई हो गयी। क्या लड़ाई हो गयी? वे कहें कि देखो, अगर हमारा मुँह तुम्हारी ओर और तुम्हारा मुँह हमारी ओर रहेगा तो हम दोनों आपसमें लड़ जायेंगे। हमारी नाक, मुँह, सिर, छाती परस्पर लड़जाएगी। ऐसे नहीं बनेगा। तो भगवान्‌ने जबरदस्ती की। बोले कि हम, तुमसे एक होकर बैठेंगे और तुम्हारी नाक हमारी नाक रहेगी, तुम्हारी जीभ हमारी रहेगी, तुम्हारा सिर हमारा सिर रहेगा। हम आमने-सामने नहीं रह सकते। जिधर तुम्हारी पीठ है, उधर हमारी पीठ रहेगी! अब मैं भगवान्‌से बहुत कहूँ कि नहीं आप सामने बैठो! आपकी पीठ रहेगी दक्षिणको और हमारी पीठ उत्तरको! आओ हृदयसे लगें! भगवान् बोले कि नहीं, ऐसे नहीं होगा। हमारी-तुम्हारी छाती एक रहेगी, हमारी-तुम्हारी पीठ एक रहेगी, हमारा-तुम्हारा मुँह एक रहेगा। जो लोग आमने-सामने भगवान्‌को बैठाते हैं, भगवान् कहते हैं कि ए, हम तुमसे अलग नहीं बैठेंगे! यह देखो, यह भी एक मैत्रीका नमूना है। आप कभी ध्यान करके देख लेना। बिलकुल आपसे एक होकर भगवान् बैठ सकते हैं!

हमारे पितामहकी मृत्यु हो गयी थी, तबकी बात है। हमलोगोंके यहाँ रिवाज है कि जो दाह-कर्म करता है, वह अलग बैठता है और जितने दिनोंतक उसका कर्म-काण्ड रहता है, दाल, भातमें हल्दी नहीं पड़ती है और कई चीजें खानेको नहीं बनती हैं और अमुक-अमुक लोग घरमें नहीं खाते हैं। इसीबीचमें हमारा एक मित्र था, उसको पता लग गया कि हमारे पितामहकी मृत्यु हो गयी है। वह दूसरे ही दिन आगया। तो हमारे यहाँ जो ब्राह्मण गरूड़-पुराणकी कथा करते थे, उनके साथ उनको कर दिया कि वे रोटी बनावेंगे और वे भी उनके यहाँ ठीक भोजन कर

लेंगे! अब हमारा मित्र बोला कि नहीं-नहीं, हमारे बाबा मर गये होते तो क्या हम अपने घरमें नहीं खाते? हम तो घरमें ही खायेंगे।

तो नारायण, ये ईश्वर और जीव सखा हैं भला! इनको जब तक तुम अन्य मानोगे, तब तक तुम्हें रोना पड़ेगा। ईश्वरको अन्य मानना, यह रोनेकी भूमिका है। या तो कहो कि हे ईश्वर, तुम भी हमारे लिए रोओ और या तो कहो कि हे ईश्वर, हम तुम्हारे लिए रोते हैं! तो ईश्वरको अन्य मानना रोनेकी भूमिका है।

'प्रियं त्वां रोत्स्यति।

'रोत्स्यति' शब्दका तीन अर्थ किया है—एक तो अगर तुम अपने बाहर वालेसे प्रेम करोगे, तो वह तुमको मार डालेगा। दिनभरमें दस, बीसबार तो प्रेमी लोग मरते ही हैं! अच्छा, बाहर वालेसे प्रेम करोगे तो वह तुमको बाँधेगा! बद्ध बनावेगा। रोत्स्यति, अवरोत्स्यति और रोदयिस्यति—रूलावेगा। अगर तुम बाहरवाली वस्तु और व्यक्तिसे प्रेम करोगे, अपने भगवान्को अपने आत्मासे बाहर बैठाओगे तो वह तुम्हें मारेगा, तुम्हें बाँधेगा, तुम्हें रूलावेगा! जब तक वह तुम्हारी आत्मासे एक नहीं हो जायेगा, तब तक तुम चैनकी नींद नहीं सो सकते।

तो सृष्टि और प्रलयका शास्त्रमें जो वर्णन है, वह प्रयोजनानुसारी वर्णन है। यह कैसा? जैसे बच्चेके लिए 'हाऊ' का वर्णन करते हैं। एक ब्राह्मण देवता था। उनका बालक था नन्हा-सा। वह बारम्बार अन्धेरे घरमें जाय और जाकर कहीं घड़ेमें हाथ डाल दे, कहीं चूहेका बिल हो तो उसमें हाथ डाल दे। तो ब्राह्मणने अपने बेटेको समझाया कि बेटा, वहाँ हाऊ रहता है। तुमको पकड़ लेगा! वह बोला कि हाऊ कैसा होता है? वे बोले कि काला-काला होता है, बड़ी-बड़ी दाढ़े होती हैं! सो अन्धेरे घरमें जाना नहीं। वह तुमको पकड़ लेगा। अब तो बच्चा डर गया और उसने अन्धेरे घरमें जाना बन्द कर दिया। पाँच बरसका हुआ, छ:का हुआ, आठका हुआ। पर, अन्धेरे घरमें न जाये। फिर उसको गुरुकुलमें पढ़नेको भेज दिया। वह वहाँ चार वेद पढ़कर लौटा। घरमें आया तो उसको याद आयी कि अन्धेरे घरमें तो हाऊ रहता है। पिताजीको तो भूल गया था। उन्होंने एक दिन कहा कि बेटा, उस घरमें-से पुस्तक तो ले आओ! बोला कि पिताजी, आपने बताया था कि उसमें हाऊ रहता है। हम जायेंगे तो पकड़ लेगा। बोले कि अरे, तुम वेद पढ़कर आय और तुमको अभी हाऊ लगा है पीछे। देखो, यह जो बच्चोंको डरादेते हैं, उसका यह प्रभाव पड़ता है। उसको तो संस्कार पड़ गया। बोला कि हम नहीं जायेंगे! हमको तो डर लगता है। अब पिताजीने क्या उपाय किया कि एक यन्त्र बनाया, तावीज बनाई और बोले कि बेटा, हमारे पास

ऐसा यन्त्र है कि यह अगर हाथमें बँधा हो तो हाऊ नहीं आता है। वह बोला कि हाँ, अब ठीक है। तो पिताने उसकी बाँहमें यन्त्र बाँध दिया और कहा कि अब चलो उस अँधेरे घरमें, दीया जलाकर दिख दिया। कहीं वहाँ कुछ नहीं था। न भूत, न चूहा, न साँप। मकान भी पहलेसे बढ़िया बन गया था। बोले कि देखो, हाऊ-वाऊ कुछ नहीं है। अब एक दिन गया, दो दिन गया, दस दिन गया। तब उन्होंने बताया कि देखो बेटा, पहले मैंने तुमको इसलिए डराया था कि कहीं तुम बिलमें हाथ न डालो, कहीं साँप न डस ले! तुम जाकर अन्धेरे घरमें चीजोंमें हाथ डालते थे। सो तुमको बचानेके लिए मैंने हाऊका अध्यारोप किया था और अब तुम्हारे अन्दर उस अध्यारोपका संस्कार इतना पक्का हो गया कि उसको तुम सच्चा समझ बैठे! मना करने पर नहीं मानते हो, समझाने पर नहीं समझते हो! असलमें न हाऊ पहले था जो तुमको पकड़ लेगा और न वह तावीजके प्रभावसे भागा! न हाऊकी सृष्टि हुई और न हाऊका प्रलय हुआ। वह तो प्रयोजनवश पहले तुमको वहाँ जानेसे रोकना था, तब हाऊका अध्यारोप किया और अब वहाँ भेजना था, सो हाऊका अपवाद कर दिया। इसीको 'अध्यारोप और अपवाद' बोलते हैं।

जो लोग शास्त्रकी भाषा नहीं समझते हैं, वे घबड़ा जाते हैं। देखो, जगह-जगह ईश्वरका अध्यारोप किया जाता है। आपको कितने ईश्वर बतावे? देखो, आपलोगोंमें कितने तो पति होंगे! तो प्रत्येक पत्नीके लिए उसका पति परमेश्वर होता है। सो, यहाँ ही कितने परमेश्वर होंगे! तो यह पतियों में जो परमेश्वरत्व है, यह अध्यारोपित है। क्यों अध्यारोपित है? जिससे पत्नीका प्रेम बने, श्रद्धा बने, भाव बने, सेवा बने। उसके हृदयका निर्माण होवे, इसके लिए परमेश्वरत्व अध्यारोपित है। अब सब पति अभिमान करने लग जाएँ कि ए, हम परमेश्वर हैं! घर-घरमें मारपीट होने लग जाय! ये सब परमेश्वर डंडा वाले बन जायँ। इसी तरहसे, मनको एकाग्र करनेके लिए कहीं मूर्तिमें, कहीं अवतारमें, कहीं आकार विग्रहमें, कहीं बालकमें, कहीं माँ में, कहीं बापमें-जो देखनेमें साढ़े तीन हाथकी चीज है, उसमें जो ईश्वरत्व होता है, वह अध्यारोपित होता है और आत्मज्ञानके लिए उसका अपवाद करना पड़ता है। तो असलमें परमात्मा न निरोध है न उत्पत्ति, न अध्यारोप है और न अपवाद।

यह उत्पत्ति और प्रलय शब्दका प्रयोग करके ग्रन्थकर्ताने कमाल कर दिया है। वैसे तो समझो कि यह श्लोक उपनिषदोंमें भी आता है और कारिकाकारने इसका उल्लेख किया है। जैसे आजकलके लोग बोलते हैं कि वेदान्ती प्रच्छन्न बौद्ध है, तो हम ऐसा बोलते हैं कि बौद्ध प्रच्छन्न वेदान्ती है। क्यों? यह बात सर्वसम्मत है

कि बुद्धसे पहले हमारा उपनिषद्-साहित्य विद्यमान था। इसमें कोई दुविधा ही नहीं है। क्योंकि, बुद्धने जिस वेद,वेदान्तका खण्डन किया है, वह वेद, वेदान्त अगर विद्यमान न होता तो वे उसका खण्डन कहाँसे करते? तो उपनिषदोंका अस्तित्व पहले विद्यमान है।

'न निरोधो न चोत्पत्तिः'—यह तो उपनिषद्का है। माण्डूक्य-कारिकाका है। रानाडेजी एक बहुत अच्छे वेदान्ती हो गये हैं। वे पहले प्रयाग युनिवर्सिटीमें प्रोफेसर थे। तो उन्होंने अपनी देख-रेखमें वेदान्त-दर्शन और बौद्ध एक ग्रन्थ लिखवाया। मूल ग्रन्थ तो अंग्रेजीमें लिखा गया। पर उसका बादमें हिन्दी अनुवाद भी हुआ। बहुत विलक्षण है। उसमें बौद्धोंसे पूर्व वेदान्तकी क्या स्थिति थी, यह बात बौद्धोंके ग्रन्थोंसे ही सिद्ध की है। अमुक-अमुक बौद्ध-ग्रन्थोंमें वेदान्तके ऐसे-ऐसे उद्धरण प्राप्त होते हैं। तो कहनेका अभिप्राय यह है कि वेदान्तका सिद्धान्त बौद्धोंने ले लिया।

जब तक नजर भीतर नहीं जाती, तब तक बाहर देखना पड़ता है और जब बाहर देखना पड़ता है तो उसको एक सीमामें रखना पड़ता है। तो सीमामें रखनेके लिए शालग्रामकी बटिया सामने रखनी चाहिए और जगहसे नजर हटाओ और शालग्रामकी बटियापर नजर लगाओ, नर्मदेश्वरमें लगाओ। लेकिन, जब चारो ओरसे नजर फिर आवे, इकट्ठी हो जाये तो वहाँसे उसको भीतर कर लो। दोनों आँखमें से खींचकर त्रिपुटीमें ले जाओ। अपने आपको देखो कि हम कौन हैं?

यह उत्पत्ति और निरोध शब्दका अर्थ बताता हूँ। 'उत्पत्ति ऊर्ध्वं पदनं'—जो चीज नीचे बैठी हुई थी, उसका ऊपर निकल आना। जैसे, बीज खेतमें पड़ा था, उसमें से अंकुर निकल आया, तो क्या हुआ? वह उत्पत्ति हुई। ऐसे समझो कि एक आमकी गुठली है। अब आमकी गुठलीमें आमका पेड़ कहाँ समाया? यह तो मालूम नहीं पड़ता। तो उत्पत्तिका अर्थ हुआ कि गुठलीमें से आमका अंकुर निकला। 'उत्पत्ति' माने बाहर निकलना, ऊपर निकलना। छिपी हुई जगहसे निकल जाना, इसका नाम 'उत्पत्ति' है और, निरोध किसको कहते हैं? जैसे हमारी आँख सौ गज तक जाती है, उसको चार हाथ तक कर लेना। यह क्या हुआ? नेत्रका निरोध हुआ। एक आदमीको जेलखानेमें डाल देना, यह उसका निरोध है। एक मनको एक लक्ष्यमें लगा देना, यह उसका निरोध है। संसारमें अपने मनको भटकनेसे रोकना, इसका नाम 'निरोध' है और मनमें जो चीज भरी है, उसका बाहर आ जाना, इसका नाम 'उत्पत्ति' है।

आत्माके सम्मुख मनका होना, यह 'निरोध' है और बाह्य पदार्थोंके सम्मुख होना, इसका नाम 'उत्पत्ति' है। असलमें, उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते। यह तो मनीराम जैसे सपना बनाते हैं, ऐसे जाग्रत् भी बनाते हैं। यह मनमें ही दुनिया पैदा होती है और मनमें ही दुनियाका लय होता है। आप देखो, जब आप जागते हो तो मालूम पड़ता है कि यह बेटा, है, यह पत्नी है, यह पति है, यह भाई है, यह माँ है, यह बाप है। यह सारे सम्बन्ध मनमें से ही तो निकलते हैं न। अच्छा, जब शामको सोने लगते हैं तो ये सारे सम्बन्ध कहाँ लीन हो जाते हैं? मनमें ही तो लीन हो जाते हैं न! तो इसका कम-से-कम इतना मतलब तो है न कि संसारमें जितना सम्बन्ध है, वह सब मानसिक है। अच्छा, सोते समय आम ऐसा होता है और उसका नाम 'आम' है, यह बात कहाँ चली जाती है? नाम कहाँ जाता है? अच्छा, जो अलग-अलग आकृति दिखायी पड़ती है, वह कहाँ चली जाती है? तो नाम-रूपका नाम तो संसार है। कर्तापना, पापीपना, पुण्यात्मापना, सुखीपना, दुःखीपना—इसका नाम संसार है। यह सोते समय कहाँ चला जाता है? तो असलमें सारी सृष्टि मानसिक है और इसी मनके फन्देमें फँसकर आदमी दुनियामें प्यार करने जाता है।

हमारे एक बड़े भाई लगते थे। जरा भांग तो पीते थे। पर, मस्तीमें बैठे रहते थे। तो जब हम श्रीकृष्णकी भक्ति करने लगे तो उनके मनमें हमारे ऊपर बड़ी कृपा जगी और बुलाया। सो बोले कि देखो, यह ईश्वर जो है, वह ब्रह्म ही असलमें ईश्वर है। परिपूर्णका, अविनाशीका नाम 'ईश्वर' होता है, अपने आत्माका नाम 'ईश्वर' होता है। फिर मैंने उनको भागवतके श्लोक सुनाये, जिसमें गोपियोंने कहा है।

'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।' (१०.३१.४)

'आप तो सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके द्रष्टा हो, गोपिकानन्दन नहीं हो। साक्षात् ईश्वर हो।' मैंने कहा कि देखो, गोपियाँ तो कृष्णको ईश्वर कहती हैं। वे बोले कि जिसका जिससे प्रेम होता है न, वह उसे ईश्वर ही कहता है। ये जितने कामी लोग हैं, वेश्याओंके पास जाते हैं तो उनको कहते हैं कि तुम हमारी हृदयेश्वरी हो, प्राणेश्वरी हो। तुमको दुनियाका पता नहीं है। जिसका जिससे प्रेम होता है, उसीको वह ईश्वर कहने लगता है। यह दुनियाकी रीति है। असली ईश्वर वह है, जो नाम, रूपका अधिष्ठान है, प्रकाशक है। जिसको सब नाम, रूप मालूम पड़ते हैं, वह आत्मा असली 'ईश्वर' है भला! माने उनकी मुख्य बात इतनी ही थी कि दुनियामें जिसका जिससे प्रेम हो जाता है और राग-वश होकर जिसको ईश्वर कहते हैं—वह सच्चा ईश्वर नहीं है। जब अन्तःकरण राग-द्वेषसे रहित होकर, विरक्त, शुद्ध होकर अपने आत्माका अनुसन्धान

करता है, तब सच्चे ईश्वरकी प्राप्ति होती है। इस बातपर अगर आपको कुछ वजन मालूम पड़े तब इसपर विचार करना कि आप रागके वशीभूत होकर किसको ईश्वर मानते हो?

हे महाराज! माहात्म्यकी दृष्टिसे देखो तो ऐसे-ऐसे पुराने मन्दिर हैं, उनमें बिजली नहीं, रोशनी नहीं। तो आजकलके लोग उनमें दर्शन करने नहीं जाते हैं। किसमें दर्शन करने जाते हैं? जिसमें खूब बिजलीकी रोशनी लगी हो, सोनेका तो झूला हो और वह चमचम चमकता हुआ पोशाक हो। तो वे अपनी आँखोको तृप्त करने जाते हैं कि ईश्वरका दर्शन करने जाते हैं? माहात्म्यकी दृष्टिसे तो वह काली पिण्डी, जिसकी हजारों वर्षसे पूजा होती आयी है, वह बड़ी है। तो असलमें मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके फन्देमें इतना फँस गया है कि वह ईश्वरके बारेमें कुछ सोचना, समझना पसन्द ही नहीं करता। अगर कोई ऐसा बतावे तो बुरा लगता है। तो ईश्वरकी खोज करो।

यह उत्पत्ति और निरोध, अद्वय वस्तुमें होता ही नहीं है। इसीसे 'न बद्धो न च साधकः'—कोई बद्ध नहीं है।

आपको सुनाया था कि एक तो वस्तु मालूम पड़ती है, वह 'विषय' है और एक जिसे मालूम पड़ती है, वह 'विषयी' है। तो 'विषय' ईश्वर नहीं है, 'विषयी' ईश्वर है। क्यों? विषय अनित्य होता है और विषयी नित्य होता है। जिसके सामने दुनिया आती है, वह हमेशा दुनियाको देखता है और जो दुनिया है, वह आती-जाती है। तो एक विषय है और एक विषयी, दूसरे विषय अनित्य हैं और विषयी नित्य है। अब दूसरी बात देखो कि विषय जड़ है और विषयी चेतन है। दोनोंका सम्बन्ध ही नहीं बनता। विषय दृश्य है और विषयी द्रष्टा है। जो दृश्य है, वह द्रष्टाकी अपेक्षासे ही होता है। दृश्यकी सत्ता द्रष्टाके बिना सिद्ध नहीं होती। इसलिए, परतन्त्र सत्ताक है जड़ और स्वतन्त्र सत्ताक है चेतन। जड़ न अपनेको जानता, न दूसरेको जानता और, चेतन अपनेको भी जानता है और दूसरेको भी जानता है और यह जो चेतन है, यह विषयके देश, कालका भी द्रष्टा है। इसलिए, देश, काल, वस्तु—तीनोंका द्रष्टा है और देश, काल वस्तु—तीनोंके अत्यन्ताभावका अधिकरण होनेके कारण इस द्रष्टामें वे तीनों मिथ्या हैं और यह साक्षात् ब्रह्म है।

तो 'न बद्धो न च साधकः'। असलमें कोई बँधा हुआ नहीं होता।

एक लड़केका किसी लड़कीसे प्रेम हो गया हो। अब उसको खूब समझाओ कि कोई बन्धन नहीं है, तुम्हारे मनकी कल्पना है। पर, वह मानता है?

वह तो कहता है कि उसके बिना हम जी नहीं सकते, हम सुखी नहीं रह सकते। उसके बिना हम मर जाते हैं। ऐसे-ऐसे सैंकड़ोंको मारकर ये प्रेमी लोग जिन्दा रहते हैं और समझते यह हैं कि जिससे हमारा प्रेम हुआ, उसके बिना हम जिन्दा ही नहीं रहेंगे। यह भ्रम आता है दिमागमें कि हम उसके बिना रह ही नहीं सकते।

तो देखो, एक लड़की एक लड़का काहेसे बद्ध होता है? क्या उनके दोनोंके हाथ, पाँवमें लोहेकी जंजीर डाली जाती है? क्या उनको रस्सीसे एकमें बाँधा जाता है? क्या उनकी चुटिया एकमें बाँध दी जाती है? क्या उनके कपड़े एकमें बाँध दिये जाते हैं? यह मनमें एक ख्याल बन जाता है कि हम बद्ध हैं। इसीका नाम बन्धन होता है कि नहीं? कोई किसीके साथ बँधा हुआ नहीं है। तो यह जो हम समझते हैं कि धनके साथ बंधे हैं, यह झूठा है। नोट तो दूकान-दूकान घूमता है। यह एक दिलवाला प्रेम होता है यह। एक दिली प्रेम माने प्रेम करनेवालेके तो दिल है, लेकिन जिससे प्रेम किया गया, वह सोना, नोट, चाँदी, मकान, मोटर—ये सब बे-दिल हैं और, यह प्रेम बड़ा भारी बन्धन है। बन्धन है नहीं, हमारा बनाया हुआ भारी बन्धन है। चाहें तो हम उठाकर फेंक दें। लेकिन बोलते हैं कि अरे राम-राम, इसके बिना हम कैसे रहेंगे?

इससे बड़ा प्रेम क्या होता है? दो-दिली प्रेम होता है। दो-दिली प्रेम कहाँ होता है? जैसे हम कुत्तेसे प्रेम करते हैं और कुत्ता हमसे प्रेम करता है। दोनों दिलवाले हैं। अच्छा, उसमें कहाँ बन्धन है? एकके घरमें हमने देखा, कुत्तका बड़ा प्रेम जगा। तो ऐसी ईश्वरकी इच्छा कि तीन, चार कुत्ते उन्होंने लगातार लिए और मरते गये। जो खरीदे, सो मर जाये। तो जब कुत्तका बच्चा आवे तो आ-हा, गोदमें ले रहे हैं, उसको दूध पिला रहे हैं, प्यार कर रहे हैं, अपने साथ सुला रहे हैं। वह उनके ऊपर मूत रहा है, हग रहा है। यह सब हमने देखा। यह नहीं समझना कि हम कल्पना करके बोल रहे हैं। वे बोलते थे कि हमारा तो यही बेटा है। अब महाराज वे तो मरते गये। एक मरा, दो मरा, तीन मरा, चार मरा।

एक दिन एकके घर भोजन करने गये। नौ कुत्ते उसके घरमें थे। सात बच्चे, एक कुत्ता और एक कुतिया। उन्होंने बताया कि सारी दीवार पर कुत्तेके कीटाणु फैल गये हैं। सो शरीरमें रोग होनेका बड़ा डर है। फ्लैटकी सफाई हो रही है।

तो यह क्या है? यह दो-दिली प्रेम है। कुत्ता उनसे प्रेम करता है और वे कुत्तेसे प्रेम करते हैं। हमने एक बार देखा है किसीने रसगुल्ला खाकर पत्तल बाहर फेंक दिया। उसमें रस था। अब दो-चार कुत्तेके बच्चे वहाँ थे। उन्होंने उसको चाटा। चाटनेके बाद

क्या हुआ कि रस उनके मुँहके बालोंमें लग गया तो अपनी जीभ तो वहाँ तक पहुँचे नहीं। सो वे परस्पर एक-दूसरेका मुँह चाटने लगे। इसका नाम दो-दिली प्रेम है।

संसारमें क्या बन्धन है? जीभसे जीभ बँध गयी है? मुँहसे मुँह बँध गया है? यह मनकी कल्पना है। 'न बद्धः'—दुनियामें कोई बद्ध नहीं है। असलमें शरीरका भी बन्धन नहीं है। बदलता रहता है। इन्द्रियोंका भी बन्धन नहीं है, मनका भी बन्धन नहीं है, अन्तःकरणका भी बन्धन नहीं है। अविद्यासे जो बन्धन होता है, सो तो होता ही नहीं और विद्यासे जिस बन्धनकी निवृत्ति होती है, वह पहलेसे ही नहीं रहता है। तो बन्धन कहाँ है?

स्वामी प्रेमपुरीजी महाराजकी बात आपने सुनी होगी? उन्होंने बताया था कि जब वे हिमालयमें गये तो बड़े ही व्याकुल थे कि हमको ज्ञान हो, हमको मुक्ति मिले। तो एक झरनेके किनारे पहुँचे, वृक्ष था, सो वहाँ बैठ गये। एक माता वहाँ आयी। वह बोली कि बाबाजी, क्यों दुःखी हो रहे हो? वे बोले कि हम मुक्ति चाहते हैं। उसने कहा कि जरा, अपना बन्धन हमको बताओ। तुम बन्धन सिद्ध कर दो। स्त्रीसे बँधे हो? बोले कि वह तो मर गयी। बच्चेसे बँधे हो? बोले कि वे तो छूट गये। मकानसे बँधे हो? बोले कि नहीं। तब फिर किस चीजसे बँधे हो? तुम्हारा बन्धन काहे से है? अरे, मान्यता ही तो बन्धन है न! अपनेको शरीर मानना ही बन्धन है। अपनेको अन्तःकरण मानना ही बन्धन है। हम नहीं है शरीर। हम हैं नहीं अन्तःकरण। कितनी बार अन्तःकरण जागता है और कितनी बार सोता है। तो असलमें, हम बद्ध नहीं हैं। बन्धन अध्याससिद्ध है। तब क्या करें?

यह देखो, '*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा*'। बोले कि आओ ब्रह्मका विचार करें। ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करें। ब्रह्मका ज्ञान क्यों प्राप्त करें? ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेसे मुक्ति मिल जायेगी। अच्छा, ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति मिल जायेगी? हाँ, मिल जायेगी। भला ज्ञान ही से मुक्ति मिल जायेगी? हाँ, ज्ञान ही से मुक्ति मिल जायेगी। अरे बाबा, ज्ञानसे जो चीज मिलती है, वह तो पहले से ही मिली रहती है। इसका अर्थ है, ज्ञानसे मुक्ति होती नहीं है, मुक्ति पहलेसे है। मुक्तिके बारेमें जो अप्राप्तिका भ्रम है, वह ज्ञानसे निवृत्त होता है। तो '*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा*'। 'जिज्ञासा' पदसे ही सिद्ध हुआ कि बन्धन अध्यास सिद्ध है, भ्रान्ति-सिद्ध है, अज्ञानसिद्ध है। 'बन्धन' नामकी कोई चीज नहीं है। इसलिए, दुनियामें कोई बद्ध नहीं है। जो अपनेको कहीं बद्ध मानता है, वही बद्ध है।

☆

परमार्थ क्या है? (२)

यह बात कही गयी कि जो वेदान्तके सिद्धान्तमें विचक्षण हैं माने विशेष दृष्टि सम्पन्न हैं, सूक्ष्मेक्षिका अर्थात् महीन नजर जिन्हें प्राप्त हैं, वे यह बात जानते हैं कि न किसी वस्तुका प्रलय होता और न तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति होती। अधिष्ठानका प्रलय और अधिष्ठानकी उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती। क्योंकि, वह उत्पत्ति और प्रलयसे भी पहले विद्यमान रहता है और बादमें भी विद्यमान रहे और अध्यस्त वस्तु तो वन्ध्या-पुत्रके समान है, सो उसका भी न जन्म, न मृत्यु। तो सत्य जो आत्मा है, उसका भी जन्म-मरण नहीं, उत्पत्ति और प्रलय नहीं और झूठा जो प्रपञ्च है, उसका भी उत्पत्ति और प्रलय नहीं।

तब फिर उत्पत्ति, प्रलय है क्या? इसीको अनिर्वचनीय कहते हैं कि जो सत्यमें भी सिद्ध न हो और मिथ्यामें भी सिद्ध न हो और मालूम पड़े। परब्रह्म परमात्मा अद्वय होनेके कारण ही उत्पत्ति, प्रलयसे मुक्त है। क्योंकि, अद्वय भी होवे और जरा, जन्म, मृत्युवाला भी होवे—यह बात तो बन नहीं सकती। कल शामको मैंने यह बात सुनायी थी कि कुम्हार जब घड़ा बनाता है तो माटी पहलेसे होती है और अवकाश भी पहलेसे रहता है, जिसमें घड़ेका पेट बने, घड़ेका बाहर बने। बाहर-भीतर न बनें तो घड़ा क्या बने? तो बाहर-भीतर पहलेसे ही रहता है। तो घड़ा बननेसे बाहर-भीतरकी कल्पना ही होती है, अवकाश तो पहलेसे रहता है और घड़ा बननेका जो समय है, उसके पहले और उसका बनाना, उसका होना और उसका फूटना—यह काल भी होता है। अच्छा, उसको बनानेके लिए जो क्रिया होती है, जो चाक चलता है—उसको चलानेवालेका शरीर भी पहलेसे चाहिए! लेकिन, यह जो सृष्टि बनती है, इसकी विलक्षण महिमा है। न तो परमात्माके सिवाय मैटरकी तरह दूसरा द्रव्य है और न तो घड़ेके बाहर-भीतर की तरह सृष्टिके लिए कोई बाहर-भीतरका देश है और न तो घड़ेके पहले-पीछेकी तरह सृष्टिका कोई काल है। एक चिन्मात्र जो अद्वय वस्तु है, उसमें एक साथ युगपत् देश, काल, द्रव्यकी कल्पना और कल्पनामें आकृति होती है। तो जो कल्पित वस्तु होती है, वह कल्पककी दृष्टिसे जुदा नहीं होती। अतः चिन्मात्र परमात्मा जो है, यह सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान और प्रकाशक एक है। ऐसी स्थितिमें न तो प्रपञ्चकी उत्पत्ति हुई, न स्थिति है और न तो प्रलय है।

ऐसे भी सोचो कि यह जो देह है, इसके साथ देश भी है। साढ़े तीन हाथका जो नाप है,. यह देशमें है और इसकी जो ५०-६० वर्षकी उम्र है—यह इसके साथ काल जुड़ा हुआ है। एक काले बालका काल होता है और एक सफेद बालका काल होता है। तो दो काल हो जाते हैं। तो अब इसी शरीरमें डेढ़मन, दो मन वजनसे अवच्छिन्न, साढ़े तीन हाथ देशसे अवच्छिन्न, पचास-साठ वर्षकालसे अवच्छिन्न जो कूटस्थ चैतन्य है, वह देश-काल-वस्तु तो उसमें केवल प्रतीतिमें तैर रहे हैं। वह स्वयं तो अखण्ड अधिष्ठान रूप है और स्वयं प्रकाश है। सो उसमें न तो किसी वस्तुका प्रलय है और न तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति है। इसीसे 'न बद्धो न च साधकः'—उसमें कोई बद्ध नहीं है।

'बन्धन' क्या है? देखो, चैतन्यका अपने सिवाय किसी दूसरी वस्तुका अस्तित्व मानना और उसके साथ फिर अपना सम्बन्ध मानना, इसीका नाम 'बन्धन' है। तो चिन्मात्र वस्तुके अज्ञानसे ही हम दूसरेका अस्तित्व मानते हैं। यदि चिन्मात्र वस्तुका स्वरूपबोध होवे तो अज्ञान ही निवृत्त हो जाये। द्वैतका अस्तित्व ही न रहे। तो यह देखो, डबल अज्ञान कहाँ होता है? अपनेको न जानना, यह प्रथम अज्ञान है और अपनेसे अतिरिक्तकी सत्ताको स्वीकृति देना, यह डबल अज्ञान हुआ और उसके साथ अपना सम्बन्ध मान बैठना—यह तो ट्रिपल हुआ। तो अज्ञान जो है, वह बली हो गया। कैसे हुआ? अपने आपको जाना नहीं, दूसरेको झूठमूठ माना और उसके साथ अपना सम्बन्ध माना। तो चेतन और जड़का सम्बन्ध स्वीकृतिके सिवाय और कुछ नहीं होता। जैसे यह कहें कि यह चित्र हमारा है, यह घड़ी हमारी है, यह किताब हमारी है। तो यह मनकी स्वीकृतिके सिवाय जड़के साथ हमारा और कोई सम्बन्ध नहीं है। एक प्रकारकी मान्यता ही है। तो इस देहमें, अन्तःकरणमें जो मैं, मेरा-पन है, यह मान्यता है, स्वीकृति है। स्वीकृति क्यों हुई? बोले कि अपने अखण्ड, ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानते! तो किसी तरहसे अपने स्वरूपको जानना।

देखो, एक तो बद्ध होवे और उसमें सम्यक्त्वकी कल्पना करे, उसको बोलते हैं 'सम्बद्ध'। बोले कि आ-हा, हमारी कितनी बढ़िया पत्नी, हमारा कितना बढ़िया मकान, हमारा कितना सुन्दर शरीर, हमारा कितना बढ़िया मन! तो एक तो बँध रहे हैं। उसको मैं, मेरा मान रहे हैं, यह तो बद्ध होना हो गया। इसीको 'सम्बन्ध' बोलते हैं। बन्धमें सम्यक्त्वका आरोप हो गया। एक आदमीने किसीको हथकड़ी पहनाई। अब जिसको हथकड़ी पहनाई गयी, वह तो बड़ा खुश हुआ। वह लोगोंको दिखाता

फिरे कि देखो, हमारी सोनेकी हथकड़ी है। आ-हा, कैसी सुन्दर है! अरे भाई, तुम्हारे हाथ तो दोनों बन्धे हुए हैं! सोनेकी हुई तो क्या हुई? तो अब देखो, एक तो हाथसे बँध गये और दूसरे उसकी अच्छाई बताते हैं। तो नारायण, किसी भी वस्तुको 'मेरा' समझना बन्धन है, 'मैं' समझना बन्धन है। तो जहाँ इस बन्धनमें स्वातन्त्र्यकी जाय तो समझना चाहिए कि वैराग्य नहीं है, राग-द्वेष है, अन्तर्दृष्टि नहीं है।

तो असलमें चैतन्य कहीं बद्ध नहीं है। जड़ और चेतन दो है, तब भी बद्ध नहीं है और अकेला ही चेतन-चेतन है तब तो बद्ध होनेकी कोई चर्चा ही नहीं है। अपने आपसे अपना आपा कहीं बन्धता नहीं है और दूसरे बन्धा तो बन्धनेकी केवल स्वीकृति दी। यह मेरा बेटा, बेटेका बाप मैं; यह मेरी पत्नी, पत्नीका पति मैं, यह मेरा मकान, मकानका मालिक मैं-यही बन्धन है। तो इस तरहसे क्या होता है कि यह अन्तःकरण रूपसे रूपान्तरको प्राप्त होता है। जैसे कालमें रात और दिन होते हैं, आकाशमें कभी स्वच्छता और कभी आँधी तूफान होते है, कहीं गन्दा नाला बहता है और कहीं गंगाजीकी पवित्र धारा बहती है, इसी प्रकार यह जो हमारा मन है, इसमें भी धारा है। उसमें कभी फूल बहता है, कभी मुर्दा बहता है और उसके साथ जब सम्बन्ध जोड़ लिया, मैं-मेरा कर लिया तो एक बार कहेंगे कि हम पापी हैं, तो दूसरी बार बोलेंगे कि हम पुण्यात्मा हैं। देखो, जिन्दगी भरमें कितनी बार यह बात बदलती है। तो अगर तुम पापी होते तो पापी हो रहते, कभी अपनेको पुण्यात्मा न समझते और पुण्यात्मा होते तो पुण्यात्मा ही रहते, कभी अपनेको पापी नहीं समझते। लेकिन जब दोनों बात आती-जाती है तो यह निश्चय हुआ कि जैसे कालकी धारामें रात और दिन केवल पृथिवीकी उपाधिकी वजहसे आते जाते हैं और यदि पृथिवीकी उपाधि न हो तो न रात न दिन। इसी प्रकार मैं सुखी हूँ! अच्छा, तुम सुखी हो कि दुःखी? बोले कि दिनभरमें पाँच मिनट सुखी तो पाँच मिनट दुःखी। अगर सुखी होते तो दुःखी न होते और दुःखी होते तो सुखीन होते! तुम सुखी, दुःखी दोनों नहीं हो! तो यह अपने अन्दर केवल स्वीकृति मात्र है। यही बन्धन है। मैं नरकमें जाऊँगा, यह स्वीकृति मात्र है। अरे, मन तो दिन भरमें कई बार नरक हो आता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है, *'अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते'* (३/ ३०/२९)अरे ओ भाई, इसी धरती पर नरक और स्वर्ग है। जब दुःखी होकर रोने लगते हैं, तब नरक है और जब सुखी होकर चित्त प्रसन्न होता है, तब स्वर्ग है। जब तुम दिन भरमें दसबार स्वर्गमें जाते हो और दसबार नरकमें जाते हो, तो यह नरक-स्वर्गमें जाने-आनेका मनीरामका स्वभाव ही है!

इसको तुम अपना क्यों मानते हो? अपने स्वरूपमें इस मनको सच्चा क्यों मानते हो? इनका तो स्वभाव ही है कि थोड़ा रो लें, थोड़ा हँस लें!

अब देखो, तुम अपनेको परिच्छिन्न मानते हो! तो परिच्छिन्नता तो देश बन जानेसे होगी, काल बन जानेसे होगी, वस्तु बन जाने पर होगी। और, अपने स्वरूपको देखो तो उसमें परिच्छिन्नता कभी बनी ही नहीं। तो तुम अपनेको परिच्छिन्न क्यों मानते हो? तो यह अविचार, अविवेक ही बाँध कर रखता है। मूर्खताके सिवाय बन्धनका और कोई हेतु नहीं है। असलमें 'बद्ध' नामकी कोई वस्तु न पहले उत्पन्न हुई, न आज है और न तो आगे होगी!

यह 'नेति' में जो 'इति' पद है, उसका क्या अर्थ है? बोले कि निरोध इति न, उत्पत्ति इति न, बद्ध इति न, साधक इति न। बोले कि हम साधक हैं! बड़ा भारी अभिमान होता है। जो लोग साधक नहीं होते, उनको तो तुच्छ समझते हैं।

एक भगतजी एक दिन आकर रोने लगे कि हमको ईश्वर अब तक नहीं मिला। क्या बात है? भगतजी बोले कि देखो, हमने तो इतनी माला फेरी, और इतनी पूजा की और इतना ध्यान किया और इतना दान किया और इतना सदाचारका पालन किया और हमको आजतक ईश्वर नहीं मिला? और, ये दुनियादार लोग महाराज, जो न कभी माला फेरें, न कभी पूजा करें, न कभी ध्यान करें, ये दुनियाके गिरे हुए लोग ये मजेमें हैं और हम दुःखी हैं? नारायण कहो, ईश्वर क्यों नहीं मिला? अरे भाई, तुम दूसरोको तुच्छ समझते हो और अपनेको बड़ा समझते हो—यह साधक-पनेका अहंकार तो खा रहा है!

तो 'न च साधकः'। साधक कौन होता है? कार्य-कारण भावका अध्यास जिसका बहुत प्रबल होता है। यह तो अद्वैत-वेदान्तका शिरोग्रन्थ है न! तो पाप करनेसे नरकमें जाते हैं, पुण्य करनेसे स्वर्गमें जाते हैं। एक कार्यका एक कारण होता है। बिना कारणके किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती-यह लौकिक नियम है। कार्य-कारणका ज्ञान माने वर्तमान कालका विज्ञान-शिल्प। ऐसी टाँकी मारेंगे तो पत्थरमें ऐसी लकीर उभरेगी और ऐसी-ऐसी लकीरें उभरेंगी तो ऐसी-ऐसी मूर्ति बन जायगी! एक पत्थरमें आँख, कान, सिर, नाक, मुँह, हाथ, पाँव बनानेके लिए टाँकी पर टाँकी लगाना, यह जो शिल्प नैपुण्य है, कारीगरी है-इनके निर्माणका जो विज्ञान है, वह कार्य-कारण विज्ञान है। पूर्व जन्ममें यह पाप किया तो इस जन्ममें यह दुःख मिला, पूर्वजन्ममें यह पुण्य किया तो इस जन्ममें यह सुख मिला और इस जन्ममें यह पाप करेंगे तो आगे यह दुःख मिलेंगे—यह सब कार्य-कारण जो विज्ञान है, इसमें

तत्त्व पर तो बिलकुल दृष्टि ही नहीं है। उत्पाद्य-उत्पादक भाव पर दृष्टि है। यह व्यापार करेंगे तो यह मुनाफा होगा! इसीका नाम साधक-पना है। साधन और साध्य।

वेदान्त कहाँसे शुरू होता है? आपको क्या सुनावें! वेदान्त यहाँसे शुरू होता है कि कर्म, उपासना और योगभ्याससे जो वस्तु प्राप्त होगी, वह साधन-साध्य होगी और जो भी वस्तु साधन-साध्य होती है, वह उत्पन्न होती है और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह अनित्य है इसलिए कर्म, उपासना, योगका फल अनित्य है और अनित्यमें हमारी रुचि नहीं है। तो बोले कि बाबा, तुम्हारा आत्मा तो नित्य है, इसके लिए साधन करनेकी जरूरत क्या है? यही तो हम कहते हैं कि इस बातको ठीक-ठीक समझो! एक प्रमाण विभाग होता है और एक निर्माण विभाग होता है। यह कर्म, उपासना, योग निर्माण विभाग में हैं, और वेदान्त तो जो है, वह 'दशमस्त्वमसि' तुम दशमपुरुष हो-यह प्रमाण-विभाग है। शब्दके द्वारा अपनी ब्रह्मताका साक्षादपरोक्ष कराने वाला यह शास्त्र है!

यहाँ कार्य-कारण भाव नहीं है। कार्य-कारण भाव जड़में होता है। आप देखो, आत्मा, मुक्ति-इनके विषयमें जरा स्पष्टतासे समझो! जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, माटी उपादान है, कुम्हार निमित्तकारण हैं और चाक, सूत्र, दण्डादि सहकारी कारण हैं। तो उपादान, निमित्त और सहकारी कारणसे घटकी उत्पत्ति हुई। तो घड़ाका प्रागभाव था। पहले घड़ा नहीं था। घड़ा अमुक-अमुक कारण-सामग्रीसे पैदा हुआ। तो क्या होगा? बोले कि उसका प्रध्वंसाभाव भी होगा। डंडा मारो, फूटा जाएगा। जो वस्तु उत्पाद्य होती है, किसी भी कारणके द्वारा पैदाकी जाती है, वह स्वत:सिद्ध नहीं होती है। इसलिए, उत्पाद्य-वस्तुका नाम आत्मा नहीं है, ब्रह्म नहीं है, मुक्ति नहीं है। जो वस्तु उत्पाद्य होगी, वह अनित्य होगी। ईशावास्योपनिषद्की भूमिका लिखते समय श्रीशंकराचार्यने यह बात लिखी है।

अब देखो, 'आप्य'-घड़ा अपने घरमें नहीं है। तो क्या करें? दूसरे के घरसे माँगकर ले आवें। जैसे मन्त्र सीख आते हैं, ऐसे आओ हम मुक्ति सीख आवें! तो मुक्ति सिखानेसे नहीं आती है, वह तो तुम्हारा स्वरूप है। दूसरेके घरसे उधार मुक्ति नहीं ला सकते। तब बोले कि आओ, संस्कार कर दें! जैसे पहले अपनेको गृहस्थ मानते थे और पण्डिंत इकट्ठे हुए और विरजाहोम हुआ और संस्कार करके सन्यासी बना दिया। ऐसे आओ, बद्धको संस्कार करके मुक्त बना दे! पहले चावल अशुद्ध था और उस पर मन्त्र पढ़कर जलका छींटा मारा, शुद्ध हो गया। ऐसे संस्कार करनेसे मुक्ति नहीं होती। मुक्ति उत्पन्न नहीं की जाती, किसीके घरसे

उधार नहीं ली जाती, माने आप्य और संस्कार्य नहीं हैं। बोले भाई कि चावल अभी कच्चा है, आओ पकादें! पकानेसे मुक्ति नहीं होती है। कोई कच्ची मुक्ति, पक्की मुक्ति–ऐसे भेद नहीं होता है। तब यह क्या है? बोले कि अच्छा, एक बार मुक्ति होकर याद न रही, भूल गया तो मुक्तिका नाश हो जायेगा! अरे बाबा, मुक्तिका नाश नहीं होता! वह तो अपना स्वरूप है।

तो साधक 'इति न'। देखो, कोई अर्थ–साधक हैं। व्यापारी लोग क्या करते हैं? ये अर्थके साधक हैं। दाता लोग धर्मके साधक हैं। जो विवाह करनेकी तलाशमें घूम रहे हैं ये भोगके साधक हैं। मोक्षके साधकको ऐसे बाजारमें दूकान नहीं करना पड़ता। उसको धर्मकी क्रिया नहीं करनी पड़ती। उसको भोगके लिए इधर–उधर इच्छा, संकल्प, वासना नहीं करनी पड़ती। मोक्षका जो साधक है, वह सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें बैठ गया। तो, 'साधक इति न'।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थतः।

'न मुमुक्षुः'। 'मुमुक्षु' क्या है? जो मोक्ष चाहे। यह चाह जो है, यह चाहे मोक्षकी हो और चाहे भोगकी हो। भोगकी हो तो इसे 'बुभुक्षा' बोलते हैं और अपनी जिन्दगी लम्बी करनेकी हो तो इसको 'जिजीविषा' बोलते हैं। जाननेकी हो तो 'जिज्ञासा' बोलते हैं। तो जो अपनेको सतस्वरूप नहीं समझता, आकारमात्र शरीरधारी समझता है, उसको मरनेका डर होता है। उसके अन्दर 'जिजीविषा' होती है कि मैं जिन्दा रहूँ और, जो जानता है कि मैं सत्स्वरूप हूँ, अविनाशी हूँ चाहे कुर्ता हो कि कोट चाहे पैंट हो कि हैट—पोशाक कोई भी हो, मैं तो अविनाशी हूँ। माने शरीर कैसा भी हो, मैं तो अविनाशी हूँ, अब जिजीविषाकी क्या जरूरत है? बच्चा रोता है कब? उसके कपड़े बदलो तो रोता है उसको साबुन लगाओ तो रोता है, गर्म पानीसे नहलाओ तो रोता है। वह तो बेवकूफ है। सत् स्वरूप आत्मामें मृत्यु है ही नहीं। तो जिन्दा रहनेकी इच्छा कैसे? आकारको जिन्दा रखनेकी इच्छा कि निराकारको जिन्दा रखनेकी इच्छा? तो आकार तो मृत ही है। वह तो क्षण–क्षण बदलता रहता है और निराकारकी मृत्यु है ही नहीं, फिर जीनेकी इच्छा काहेको?

अब देखो, ज्ञानस्वरूप हैं तो जाननेकी इच्छा क्यों? बिना अज्ञान लगे जाननेकी इच्छा कैसे होगी? चित्स्वरूप है तो इसमें जिज्ञासाकी जरूरत ही नहीं है। तो जब अज्ञान लगा, तब जिज्ञासा आयी। अपनेमें ज्ञानकी कमी मालूम पड़ी, तब जिज्ञासा हुई।

अच्छा, हम तो स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। हमको देख–देखकर लोग खुश होते

हैं। तो हम दूसरेसे आनन्द क्यों चाहते हैं? 'बुभुक्षा' क्यों हुई? इसका अर्थ है कि हम अपने आनन्दको नहीं जानते हैं।

तो यह जिजीविषा, जिज्ञासा, बुभुक्षा और मुमुक्षा। अपनेको बद्ध न जानते तो 'मुमुक्षा' कैसे होती? अपनेको मुमुक्षु समझना भी अज्ञान ही है कि हम मुक्त होना चाहते हैं। अपनेमें मुक्तिका अभाव मानते हैं और फिर मुक्ति चाहते हैं।

एक आदमी सैकड़ों रुपये लिए हुए था। उसने उन्हें जेबमें रख दिया और भूल गया। अब कहे कि हमारे पास पैसा ही नहीं रहा। अब क्या करे? किसीसे पैसा उधार लें, तब बसकी टिकट लें और अपने घर पहुँचें। अब वह इधर-उधर व्याकुल होकर देखने लगा कि कोई पहचानवाला मिले तो उससे चार-छः आना पैसा उधार लें। तो चार-छः आनेके लिए व्याकुल। लेकिन जेबमें जो सैकड़ों रुपया रखा हुआ था, सो वह भूला हुआ है।

हमको मोक्ष चाहिए। हे भगवान्! यह क्या तुम स्वयं मुक्त-स्वरूप होकर मोक्ष चाहते हो? अरे, मोक्ष तो तुम्हारा सहज स्वरूप है भला! बोले कि अच्छा, तब आओ हम मुक्त हैं फिर! देखो, मुक्ति तो सहज स्वरूप है, लेकिन तुम मुक्त नहीं हो। यह क्या आश्चर्य है? ज्ञानस्वरूप हो तुम, परन्तु तुम ज्ञानी नहीं हो। जैसे डण्डा हाथमें होनेपर दण्डी हुए। दण्डाभिमानी कब? जब डण्डरूप विषय हाथमें। ऐसे ही ज्ञान यदि तुम्हारे अन्तःकरणकी वृत्ति होवे, तब तुम ज्ञानी हुए और ज्ञान तो अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है, अन्तःकरणका प्रकाशक है। तुम तो ज्ञानस्वरूप हो, परन्तु ज्ञानी नहीं हो। तुम मुक्तिस्वरूप हो, परन्तु मुक्त नहीं हो। तुम सत्-स्वरूप हो, परन्तु देहधारी नहीं हो। तुम आनन्दस्वरूप हो, परन्तु बुभुक्षु नहीं हो।

वेदान्तियोंमें भी कई ऐसे मिलते हैं, जिनको भ्रम हो जाता है कि हमने तो वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन किया साधन सम्पन्न हुए, सो हम तो मुक्त हो गये और बाकी ये बेचारे जो दुनियादार हैं, ये बद्ध हैं। महात्मा लोग ऐसे लोगोंकी हँसी करते हैं। वे कहते हैं कि जो अपनेको मुक्त मानता है और दूसरोंको बद्ध मानता है, वह मुक्त नहीं है। वह क्या है? बोले कि 'वाचा मुक्तः'—केवल जबानी जमा खर्चसे मुक्त है। क्योंकि, आत्मा सबका मुक्त है, बद्ध है ही नहीं।

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥

(भागवत, १०. १४. २४)

श्रीमद्भागवतमें आया कि यह दुनियामें जो अलगाव मालूम पड़ता है कि

हम सरस्वती हैं, हम गंगा हैं—अपना नाम रख लेते हैं, हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं, यह पशु है, यह पक्षी है; बोले कि ठीक है, नाम-रूप तुम्हारे बहुत अच्छे लेकिन, सबका जो आत्मा है, वह एक ही है। '*आत्मात्मतया विचक्षते*'। उसको अपना स्वरूप समझो। अगर तुम मुक्त हो तो सब मुक्त हैं, कोई बद्ध नहीं और तुम बद्ध हो तो तुम्हें बद्ध ही दिखेंगे।

तो जो यह समझता है कि हम तो वेदान्त-श्रवण करके, मनन, निदिध्यासन करके मुक्त हो गये या हो जायेंगे और बाकी लोग रहेगे, वह गलत है। यह तो ऐसा है, जैसे बटलोईमें जब भात पकाते हैं तो जब एक चावलको देखते हैं कि पक गया, तब समझ जाते हैं कि सब पक गये। तो यदि किसीने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, तो उसने यह जाना कि सब ब्रह्म हैं। शरीरके एक बूँद खूनमें जो करोड़ों कीटाणु होते हैं, वे सब भी मुक्त हैं, वे सब भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा ही हैं। ये चींटी, मच्छर, जूयें आदि सब मुक्त हैं। तुम मुक्त हो, सो तुम्हारे कोई सुरखाबके पर नहीं लग गये। मुक्त होनेसे तुम्हारे सिरपर कोई मुकुट नहीं बँध गया। अरे, तुमने यह जाना कि जो सबका 'मैं' है, वही मेरा 'मैं' है।

अच्छा कहो कि, हमने यह बात जान ली। ऐसे नहीं। '*गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा*'—गुरु है सूर्य और उससे उपनिषद् रूप दृष्टिकी प्राप्ति होती है और उससे अपने आत्माको ब्रह्म जाना जाता है। बोले कि इससे होता क्या है? '*ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्*'—नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म, दुःखीपना, सुखीपना, पापीपना, पुण्यात्मापना—यह जो पारतन्त्र्य अपनेको घेरे हुए हैं, पाँव रखते डरते हैं कि कहीं पाप न लग जाये, पुण्य पानेके लिए बेचारे पाँवका पसीना सिरपर पहुँचाते हैं कि हमको पुण्य मिले। हे नारायण, जहाँ गुरु रूप सूर्यसे उपनिषद्-दृष्टि प्राप्त हुई, वहाँ यह संसारका समुद्र झूठा हो जाता है। पार नहीं होते। मालूम पड़ जाता है कि हम पहलेसे पार हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही इसका इतना सुन्दर प्रसंग है,

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥

(भागवत, १०.१४.२५)

जो लोग अपनेको ब्रह्मरूपसे नहीं जानते हैं, उनके अज्ञानसे ही यह समग्र संसार पैदा हुआ है और, जहाँ अपनेको ब्रह्म रूपसे जाना कि मैं ही अपूर्व हूँ, अनपर हूँ, अनन्तर हूँ, अबाह्य हूँ, न मेरे पहले कुछ, न बादमें कुछ; न मेरे भीतर

कुछ न बाहर कुछ। 'तदेतद् ब्रह्म' 'अयमात्माब्रह्म' ऐसा ब्रह्म है और मैं स्वयं ब्रह्म हूँ—यह जान लिया। तो क्या हुआ? 'ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते'—सारा प्रपञ्च अपना स्वरूप हो गया।

जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा, जो-जो करो सोई पूजा।

देखो न, कितना स्वातन्त्र्य है।

सम्पूर्णं जगदेवनन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गंवारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषयः दृष्टे परब्रह्मणि॥

पुण्य करना नहीं है और पापसे डरना नहीं है, सम्पूर्ण जगत् नन्दन वन है, सारे वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सारे जल गंगा जल हैं, सारे कर्म पवित्र हैं। जो कुछ बोलते हैं, किसी भी भाषामें, वह वेदान्त है और सारी धरती काशी है। हाय-हाय कर रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, धरती पर लोट रहे हैं, शरीरकी कोई भी स्थिति है—परब्रह्म परमात्माका दर्शन हो गया तो सोना भी ब्रह्म, जागना भी ब्रह्म, हाय-हाय करना भी ब्रह्म, रोग भी ब्रह्म, मृत्यु भी ब्रह्म।

अनन्त-अनन्त स्वातन्त्र्य, जहाँ कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, ज्ञातव्य शेष नहीं रहता त्यक्तव्य शेष नहीं रहता, प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। और परमानन्द क्या होता है?

बोले कि लड्डू खानेको मिले तो परमानन्द। कुछ पाना बाकी नहीं रहा, इसका आनन्द नहीं है। कुछ छोड़ना बाकी नहीं रहा, इसका आनन्द नहीं है। कुछ करना बाकी नहीं रहा, इसका आनन्द नहीं है। कुछ जानना बाकी नहीं रहा, इसका आनन्द नहीं है। आनन्द काहेका? बोले कि लड्डू खानेको मिले, तो आनन्द! जरा मुँह मीठा रहना चाहिए।

अरे भाई, इसका नाम वेदान्त है, 'न मुमुक्षर्न वै मुक्तः'।

देखो, चार्वाक-पक्षमें शरीरका छूट जाना ही मोक्ष है। उनका मतलब हुआ कि जब तक जिन्दा रहोगे, तब तक कुछ-न-कुछ बन्धन रहेगा। यह द्रव्यप्रधान मुक्ति हुई। जैन लोग मानते हैं कि आलोकाकाशकी नोक पर, सिद्धशिला पर अवस्थिति मुक्ति है। यह देश प्रधान मुक्ति है। बौद्ध लोग मानते हैं कि वासनाओंका क्षयकाल, निर्वाण, महानिर्वाण, परिनिर्वाण, अतिनिर्वाण, वासनाओंकी आत्य-निर्वाण, वासनाओंकी आत्यन्तिक निवृत्ति, इसका नाम मोक्ष है। यह काल प्रधान मुक्ति है।

उपासक लोग मानते हैं कि अपने इष्टके देशमें पहुँच जाना, मुक्ति है। उनके लोकका पार्षद बन जाना, सालोक्य और उनका रूप प्राप्त कर लेना सारुप्य, उनके पास रहना, सामीप्य और उनका अधिकारी बनकर सृष्टि आदि बनाना सार्ष्टि और उनसे एक होकर रहना, सायुज्य—यह पञ्चधा मुक्ति उपासक मानते हैं। बहुत प्रेमी होते हैं तो कहते हैं कि नहीं यह सब कुछ नहीं हमको तो केवल सेवा चाहिए। जैसे सेवा मिले, वैसे हम सेवा करेंगे। तो एक मुक्ति होती है रूपिणी ओर एक होती है, अरूपिणी और एक होती है रूपारूपिणी। वेदान्तियोंमें भी बहुत गड़बड़झाला है। वे भी क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि भेद मानते हैं। बोले कि ये सब मुक्ति कुछ नहीं है। मुक्ति और बन्धनकी कल्पना ही अमंगल है।

इदं त्रयं या विविनक्त्यहंधीः तस्याः प्रणाशः परमार्थमुक्तिः।

अपनेको ब्रह्म जान लेनेसे, सब मुक्तियोंका विवेचन करनेवाली जो अहं-बुद्धि है, जिसने इन सबका अलगाव किया, उस परिच्छिन्न बुद्धिका बाधित हो जाना, यह परमार्थ-मुक्ति है। तब उस मुक्तिके होने पर 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा अभिमान धारण करके कोई नहीं रहता। ब्रह्म है, सो तो ठीक है। पर, मुक्ति नहीं है, बन्धन नहीं है। यह तो अपनी मान्यता है।

देखो, पहले अपनेको ब्रह्मचारी मानते थे, फिर गृहस्थ मानने लगे, फिर वानप्रस्थ मानने लगे, फिर संन्यासी मानने लगे। यह यादृक् संस्कार आने लगा। संस्कारसे ही अपनेको बद्ध मानते हैं और संस्कारसे ही अपनेको मुक्त मानते हैं। अपने स्वरूपमें न वस्तुतः बन्धन है और न मुक्ति है।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थतः।

श्रीशंकराचार्य महाराज कहते हैं कि उत्पत्ति और प्रलय ही जब नहीं है, तब बन्धन और मुक्तिका क्या सवाल? यदि सृष्टि होती और सृष्टिका प्रलय होता है, तो सृष्टिकालमें कोई बद्ध होता और कभी कोई मुक्त होता। जहाँ सृष्टि और प्रलयका ही निषेध है, वहाँ बद्ध और मोक्षका प्रश्न कहाँसे आया? कथमुत्पत्ति प्रलययोर भावः, इत्युच्यते बोले कि 'द्वैतस्यासत्त्वात्'। क्योंकि, द्वैत ही नहीं है। द्वैत नहीं है, यह किस प्रमाणसे कहते हो? अच्छा, जहाँ द्वैत नहीं होगा, द्वैतके अभावका जो अधिष्ठान होगा, वह किस प्रमाणसे मालूम पड़ेगा? वही प्रमाण है। माने द्वैतकी दशामें प्रमाण-प्रमेय भावकी प्रक्रिया दूसरी होती है। घड़ी है, इसमें क्या प्रमाण है? इसमें हमारी आँख प्रमाण है। क्योंकि, यह तो द्वैत-विषयक प्रमाण, प्रमेय भाव है। अब जहाँ द्वैत नहीं है, वहाँ हमारी आँख ही प्रमाण होगी? तो ये मूर्ख लोग होते हैं

भला! जो प्रत्यक्षादि लौकिक व्यवहार विषयक प्रमाणसे परमार्थवस्तु अद्वैतको देखना चाहते हैं, उनको प्रामाण्य-व्यवहारका बिलकुल ज्ञान ही नहीं है कि प्रमाण क्या होता है और क्या नहीं होता है। घड़ी देखनेके लिए हमारी आँख ही प्रमाण होगी? औचित्य-अनौचित्य देखनेके लिए हमारी बुद्धि प्रमाण है। तो क्या औचित्य-अनौचित्यके अभावके अधिष्ठानको देखनेमें भी हमारी बुद्धि प्रमाण होगी? इसीसे बौद्ध प्रतिपत्तिका निषेध करते हैं। बुद्धि तो क्षणिक है। वह कालातीत वस्तुके लखानेमें कैसे प्रमाण हो सकती है? तो यह प्रमाणकी भी युक्ति होती है, किसमें क्या प्रमाण है। रूपमें क्या प्रमाण है, स्पर्शमें क्या प्रमाण है, शब्दमें क्या प्रमाण है, गन्धमें क्या प्रमाण है, स्वादमें क्या प्रमाण है? क्या यही प्रमाण क्या, 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' अशब्द, अरूप, अरस, अगन्ध, अहृस्व, अदीर्घ अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य वस्तुके सम्बन्धमें भी यही इन्द्रियाँ प्रमाण होंगी?

यादृश-वस्तु होती है, तादृश प्रामाण्य व्यवहार होता है। अद्वैत वस्तु हमसे पृथक् नहीं हो सकती। यदि हमसे पृथक् हो तो एक वह और एक हम दो हो गये। तो अद्वैत वस्तुका आत्मत्वेन बोध होगा। कहो कि वही है, मैं नहीं हूँ। मैं नहीं हूँ, यह बोध कभी होगा ही नहीं। सो द्वैत बना रहेगा। इसलिए, अद्वैतका ज्ञान अद्वैतसे पृथक् रहकर नहीं हो सकता। लाइब्रेरीमें बैठकर अद्वैतकी स्टडी नहीं की जा सकती। अन्तःकरणकी वृत्तियोंके द्वारा अद्वैत द्वैतको नहीं जाना जा सकता। यदि अद्वैत हमसे पृथक् है तो वह अद्वैत नहीं है और उससे हम पृथक् अस्तित्व वाले हैं, तो अद्वैत नहीं है। तो आत्मत्वेन जो अद्वैतका ज्ञान है, वही अद्वैतका ज्ञान होगा। अन्य रूपसे जो अद्वैतका ज्ञान होगा, वह कल्पना होगी और वह अद्वैत भी नहीं होगा। हमारे रहते अन्य कैसे अद्वैत होगा? बोले कि बाबा, हम नहीं हैं वही है। हम नहीं हैं—यह किसको मालूम पड़ता है? हमको ही मालूम पड़ता है। तो अपने अभावका तो कभी ज्ञान होगा ही नहीं। तो श्रुति कहती है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तत्र इतर इतरं पश्यति इतर इतरं जिघ्रति इतर इतरं पश्यति इतर इतरं जिघ्रति इतर इतरं रसयति।

देखो, ध्यान प्रधान जो प्रमाण है, वह तो मानस है और लौकिक प्रत्यक्ष प्रधान जो प्रमाण है, वह ऐन्द्रियक है। आजकल जो लोग अपनेको बुद्धिवादी मानते हैं, वे इन्द्रियोंसे तो संसारका अनुभव करते हैं और उसका जो अन्तःकरणमें संस्कार पड़ता है—कोई वस्तु प्रिय लगती है, कोई अप्रिय लगती है—तो उस प्रिय-अप्रियका निर्णय अपनी बुद्धिसे करते हैं इन्द्रियोंको जिससे तृप्ति हुई, उसको

अच्छा और इन्द्रियोंको जिससे तृप्ति नहीं हुई उसको बुरा मानते है। वर्तमान कालके जो बुद्धिजीवी हैं, ये बुद्धिजीवी नहीं, ये तो इन्द्रियजीवी हैं। उनके तो इन्द्रियोंका ही मुख्य प्रामाण्य है।

अच्छा, कहो ध्यानवादी? ध्यान तो ऐसा है कि गणेशका करो तो गणेश, सूर्यका करो तो सूर्य, देवीका करो तो देवी, नारायणका करो तो नारायण, शिवका करो तो शिव—जैसा ध्यान करोगे तुम्हारे मनकी शकल वही बन जायेगी। अब फिर जो चीज दिखेगी, वह उसी शकलमें से दिखेगी। तो आकारोपहित पदार्थका दर्शन होगा। उसीको परमार्थ समझोगे। तो ध्यान, अपनी वासनाको वस्तुमें जोड़ देता है। इन्द्रियाँ, अपनी असमर्थताको जोड़ देती है। क्योंकि आँख, शब्दको नहीं जान सकती और कान, रूपको नहीं जान सकता। तो इन्द्रियाँ अपनी असामर्थ्यको विषयके साथ जोड़ देती है, इसलिए विषयका ठीक ज्ञान नहीं होता और जब ध्यान करते हैं तो मन अपनी वासनाको ध्येयके साथ जोड़ देता है, इसलिए ध्येयका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अच्छा कहो, बुद्धि। तो बुद्धि बेचारी सोती, जागती है। जिस समय सोती है, उस समय बोध्यको छोड़ देती है। यह प्रेमी नहीं है, तलाक देनेवाली है। कोई भी ऐसा विषय संसारमें नहीं है जिसके साथ बुद्धि नित्य संबद्ध होकर रहे, अपना सम्बन्ध जोड़े।

तो देखो, एक तो इन्द्रिय, मन और बुद्धि—यह अद्वैतके सम्बन्धमें प्रमाण हो नहीं सकते और दूसरे, अद्वैत अपनेसे जुदा हो नहीं सकता। अरे भाई, ये सारे व्यवहार इसलिए हैं कि '**यत्र हि द्वैतमिव भवति तत्र इतर इतरं पश्यति इतर इतरं जिघ्रति**'—जब दो चीजें होती हैं, तब एक दूसरेको देखता है, एक–दूसरेको सूँघता है। और, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्—जहाँ सब आत्मा–ही–आत्मा है, '**तत्र केन कं पश्येत् केन कं जिघ्रेत्**'-वहाँ यह दर्शन-व्यापार कैसे होगा? वहाँ यह घ्राण-व्यवहार कैसे होगा?

देखो, जो ऐन्द्रियक है, सो अर्थ है। जो मानसिक है, सो अर्थ है। जो बौद्धिक है, सो अर्थ है। परन्तु जो इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें अनुस्यूत है और जिसके सिवाय इन्द्रिय, मन और बुद्धि कोई चीज नहीं है, उस आत्मतत्त्वको जाननेके लिए आखिर प्रामाण्य क्या? वहाँ प्रमाण–प्रमेयका व्यवहार कैसा? यही बात वेदान्तके द्वारा समझाई जाती है कि वहाँ जो प्रमाण–प्रमेयका व्यवहार है, वह केवल अविद्या निवृत्ति पर्यंत ही है। इसका क्या अभिप्राय है? बोले कि 'दशमस्त्वमसि इति वत्'। माने शब्दके द्वारा अपरोक्ष उत्पन्न करनेकी एक विशेष प्रक्रिया है। वह वेदान्तके सिवाय और किसी भी प्रकारसे जाना नहीं जा सकता। ✮

परमार्थ क्या है? (३)

यह उत्पत्ति और प्रलय नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि, द्वैत ही नहीं है। जब द्वैत होवे, तब उसका उत्पत्ति-प्रलय होवे। जब द्वैत है ही नहीं, तब उत्पत्ति प्रलय कहाँसे होवे तो इसके सम्बन्धमें पहले जो मूलभूत श्रुति है, उसको प्रमाणके रूपमें उद्धृत करते हैं—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति' (वृ० ३०२.४.१४)

जब द्वैत-सा होता है। अब यहाँ 'द्वैतमिव भवति' में 'इव' शब्दका प्रयोग करके श्रुति कहती है कि जब द्वैत मालूम पड़ता है, तब भी वह असली द्वैत नहीं होता है। द्वैत-सा होता है और उसमें एक, दूसरेको देखता है। एक, दूसरेको सूँघता है और एक, दूसरेका स्वाद लेता है। लेकिन वह भी द्वैत नहीं है, द्वैत-सा है।

दूसरी श्रुति कहती है कि, *'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति'* (कठ. ३) जिसकी नजर नानापर लग गयी माने नानात्वपर अनेकता पर लग गयी, वह एक मौत परसे निकलेगा तो दूसरी मौतमें फँसेगा। इसको ऐसे समझो कि एक पुरुषको भ्रम हो गया कि आनन्द तो केवल स्त्रीसे आता है और एक स्त्रीको भ्रम हो गया कि आनन्द तो केवल पुरुषसे आता है। अब इसमें क्या होगा, आप देखो। इसका नतीजा यह होगा कि एक जगह फँसेगा और यदि कदाचित् वहाँसे छूट गया तो फिर दूसरी जगह फँसेगा और दूसरी जगहसे छूट गया तो फिर तीसरी जगह फँसेगा और जहाँ फँसेगा, वहाँ मार ही पड़ेगी—यह बात बिलकुल पक्की है। स्त्री, पुरुषको सुख देगी तो दिन भरमें चार-छः दफे लड़ेगी भी। रूठकर पाँव भी छुआवेगी और अपने मनके अनुसार वस्तु भी मँगवावेगी और अपने हाथके नीचे भी रखेगी। अब पुरुष, स्त्रीको सुख देगा तो बिलकुल नौकरानी बनाकर रखेगा। कहनेका अभिप्राय यह कि जिसने यह निश्चय किया कि हमारा सुख, हमसे जुदा किसी दूसरेमें है, उसका फल

क्या होगा ? बोले कि, *'मृत्योः स मृत्युं गच्छति'*। उसके अहंकार पर बारम्बार चोट पड़ती रहेगी और दिनभरमें चार दफे उसको यह ख्याल होगा कि मर जाते तो अच्छा था। अपने ख्यालमें मर जाना ही तो मरना है। और मरना क्या है ?

अच्छा, तो यह बात तो आनन्दकी हुई। अब ऐसे देखो कि जो यह समझता है कि हमारे सिवाय दृश्य सत्य है वह भी कभी यहाँ फँसेगा, कभी वहाँ फँसेगा। ज्ञान स्वरूप है आत्मा और बोलते हैं कि हम तो अज्ञानी है। अब चलो स्कूलमें मास्टरकी घुड़की सुनो। तो जो अपनेको दुःखी समझेगा, अपनेको अज्ञानी-स्थितिमें रखेगा, जो अपनेको मरनेवाली स्थितिमें रखेगा, उसको एक बार नहीं बारम्बार मरना पड़ेगा। तो अपने सुख, ज्ञान और सत्ताको पराधीन करके नहीं रखना। य इह नानेव पश्यति—जो इस सृष्टिमें अनेकता देखेगा, उसको मृत्युके बाद मृत्यु, प्राप्त होती रहेगी। इसलिए, मृत्युसे छुटकारा प्राप्त करनेका एक ही उपाय है कि जो सुषुप्तिमें है, वही जाग्रत्‌में है, जो जाग्रत्‌में है, वही सुषुप्तिमें है, और जो समाधिमें है, वही विक्षेपमें है, जो दुःखमें है वही सुखमें है और जो सुखमें है वही दुःखमें है, जो सातवें पातालमें है वही सातवें स्वर्गमें है, जो हममें है, सोही तुममें है। यह सोचना कि तुममें सुख है और हममें दुःख है, बिलकुल गलत है और हममें सुख है और तुममें दुःख है, यह भी गलत है। एक ही अखण्ड सत्ता परिपूर्ण हो रही है। तो *'मृत्योःस मृत्युं गच्छति यः इह नानेव पश्यति'*।

इसीसे श्रुतिने ऐसे निरूपण किया, *'आत्मैवेदं सर्वम्'* अर्थात् यह जो कुछ दीख रह है, 'इदं सर्वम्' अर्थात् *'सर्वत्वेन प्रती यमानं इदंतास्पदम्'*—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पक्षी है, यह मकान है, यह मोटर है—जो कुछ यह, यह बोला जाता है, वह सब-का-सब अपने आत्माका ही विलास है, अपने आत्माका ही स्वरूप है। जो तुम चाहते हो कि यह हमको प्राप्त नहीं है, यह हम चाहें, बस हुए गरीब! चाह वाला गरीब है।

चाह चमारी चुहरी सब नीचन नीच को नीच।
हम शाहों के शाह थे चाह न होती बीच॥

चाह, नीचसे नीच है। वह चमारी है। तुम तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे! भिखारी कौन है ? जो दूसरेसे पैसा माँगने जाता है, सुख माँगने जाता है। आध्यात्मिक दृष्टिसे भिखारी वही है, जो अपने आत्माको छोड़कर दूसरेसे सुखकी आशा करके जाता है। तुम्हारे आत्मामें सुख नहीं है, और दूसरे आत्मामें सुख है ? तुम्हारा दिल, दिल नहीं है और दूसरेका दिल है तुम्हारे दिलमें नहीं है और दूसरेके दिलमें

परमात्मा है ? तो यह सब बात तर्क युक्तिसे विरुद्ध है ! *'आत्मैवेदं सर्वम्'*। ऐसी कोई चीज नहीं है, जो तुम्हारे पास न हो और दूसरेके पास हो ! ऐसी कोई चीज नहीं है, जो तुमको तुमसे न मिले, दूसरेसे मिले। क्योंकि, तुम्हीं तो दूसरेके रूपमें मालूम पड़ रहे हो ! *'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'*। *'तदनन्यत्वं आरम्भणशब्दादिभ्यः'*- वेदान्त-दर्शनमें सूत्र आया कि परमात्मासे अन्य कुछ नहीं है। सब परमात्मासे अनन्य है। क्यों ? क्योंकि **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**-मिट्टी सच्ची है। सत्य ही है, वह मसाला है, उपादान है। ये नामरूप सच्चे नहीं हैं। ये सब मटियामेट होने वाले हैं। इनमें जो फँसेगा, उसको रोना पड़ेगा ! तुम्हारा रोना मिटानेके लिए ऐसा बोलते हैं। यह दुःखीपनेका जो भाव है, वह मिट जाय।

दूसरा सूत्र है, *'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'*। जिसको सृष्टिमें प्रकृति कहते हैं, यह भी ब्रह्म ही है। क्यों ? क्योंकि, प्रतिज्ञा है कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यदि एक ही सब न होता, तो एकके जाननेसे सबको कैसे जान लेते ? और, दृष्टान्त दिया सुवर्णका, लोहेका, माटीका। एक सब न होता तो ऐसा दृष्टान्त कैसे देते ?

योगदर्शनमें आया है कि अगर दूसरेके मनकी बात जाननी होतो क्या करना चाहिए ? साधन बताते हैं। *'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'*—प्रत्ययस्यसंमयात् परचिन्तज्ञानं भवति। अपने हृदयमें जो वृत्तियाँ उठती हैं, उन पर यदि संयम करो कि क्या देखकर तुम्हारे मनमें क्या आता है, क्या सुनकर तुम्हारे मनमें क्या आता है और क्या छूकर तुम्हारे मनमें क्या आता है। दूसरेकी मत सोचो, अपनी सोचो ! तो तुम्हें पता चल जायेगा दूसरेके चित्तमें कैसे-कैसे वृत्तियाँ उठती हैं। तुम जब एकान्तमें रहते हो तो तुम्हारे मनमें क्या आता है ? जब तुमको कोई गाली देता है तो तुम्हारे मनमें क्या आता है ? जब तुम्हारी कोई तारीफ करता है तो तुम्हारे मनमें क्या आता है ? हे पुरुष, जब तुम सुन्दर स्त्री, जब तुम सुन्दर पुरुष देखती हो, तब तुम्हारे मनमें क्या आता है ? तो जैसे अपने मनमें आता है, वैसे ही सबके मनमें आता है। यह मनीरामका जो मसाला है, वह बिलकुल एक है। कोई साधन करके दबा लेते हैं और कोई उसके जाहिर रहने देते हैं। हम एक आदमीको जानते हैं। जब वह कहता कि हमको कुछ नहीं चाहिए ! तो उस समय उसके मनमें सब कुछ चाहिए होता है ! 'ऐ, हमसे बात नहीं करना' ! तो उसके मनमें होता है कि हमसे ज्यादा-से-ज्यादा बात करें। 'बस, अब आजसे हमारा तुम्हारा मिलना बन्द'। इसका मतलब है कि हम बहुत ज्यादा मिलना चाहते हैं। उतना मौका नहीं मिलता है ! तो

यह मनुष्य जब अपने मनको समझने लगता है, तब दूसरेके मनको भी समझने लगता है। दूसरेके मनकी बात समझनेके लिए योगदर्शनमें यह युक्ति बतायी है!

तो यह तो मैंने दृष्टान्तरूपसे कहा। असलमें आप अपनेको समझ जाओ तो सबको समझ जाओगे! दृष्टान्त यह है।

तो समझनेकी चेष्टा किसको करना? ***'एकमेवाद्वितीयम्'***। देखो, 'एक' भी कहा, 'ही' भी कहा और 'अद्वितीय' भी कहा। खाली 'एकम्' बोल देते! बोले कि नहीं, एकम् एव-सिर्फ एक और वह भी अद्वितीय। यह तीन बात कहनेसे क्या हुआ? 'एक' माने एक है, उसका कोई विजातीय नहीं है। जब कोई आदमी कहे कि यह आदमी अकेला है। तो मतलब? उसके पास स्त्री नहीं है। घरमें पत्नी नहीं है। 'एव'-अकेला ही है। इसका मतलब है कि, माँ-बाप, बच्चे, भाई, बहन कोई नहीं है। अरे भई, अद्वितीय है,माने ब्याह ही नहीं हुआ। कभी सद्वितीय हुआ ही नहीं। तो जैसे मनुष्य, मनुष्यका सजातीय है और पशु विजातीय है। तो दूसरा मनुष्य घरमें नहीं है, यह तो सजातीयका निषेध हुआ और घरमें कुत्ता भी नहीं है, यह विजातीयका निषेध हुआ और यह हाथ-पाँव आदिका भेद स्वगत भेद है। तो नारायण, परब्रह्मपरमात्मा *'एकमेवाद्वितीयम्'* है—इसका अर्थ है कि उसमें प्रकृति, परमाणु आदि जड़-पदार्थ नहीं हैं और सजातीय, जीव, ईश्वर आदि भिन्न-भिन्न चेतन नहीं हैं और *'अद्वितीयम्'* अर्थात् वह परिणाम आदिको कभी प्राप्त नहीं होता है। ज्यों-का-त्यों है। ऐसा यह परमात्मा है!

'इदं सर्वं यदयमात्मा'। अरे बाबा, यह सब जो कुछ दिखायी पड़ रहा है, सो आत्मा है।

तो इन सब श्रुतियोंसे द्वैतका असत्त्व सिद्ध होता है।

अब जरा युक्तियोंकी चर्चा करते हैं! क्योंकि, गौड़ पादाचार्यका यह जो श्लोक है, यदि उपनिषद्का न मानें तो तर्क संगत नहीं। श्रीमद्भागवतमें इस अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए अनेक प्रसंग हैं।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वात् न मे मोक्षो न बन्धनम्॥

(भागवत, १२.११.१)

भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं कि यह जो व्याख्या है कि यह बद्ध है, वह गुणोंके कारण है! बद्ध कहाँ हैं? अरे, अपने हाथसे ही तो चोटी बाँधते हैं! गाँठ लगाई और कर्त्तव्यका बन्धन आया! यह गांठ लगाना माने कर्त्तव्यका बन्धन। तो यह संसारमें जो

बन्धन है, वह गुणतः माने अन्तःकारणतः है अर्थात् जब इस अन्तःकरणको हम 'मैं' 'मेरा' समझते हैं इन्द्रियोंको 'मैं' 'मेरा' समझते हैं, विषयोंको 'मैं' 'मेरा' समझते हैं, तब बन्धन होता है। और, जब 'मैं' 'मेरा' छूट गया, तो बन्धन किसका?

देखो, जेलमें आदमीको दुःख कब होता है! बन्धन है जेल! क्यों जेल बन्धन है? वह समझता है कि हमारा बनाया हुआ घर छूट गया। अच्छा, जिसके घर न होए, सो? पत्नी न होए, सो? बोले कि बाहर हमारी स्वच्छन्दतासे जो प्यार था, वह छूट गया। अब दुःख होगा। एकने कहा कि अब न कहीं जाना है न आना है, न किसीसे मिलना है! सो जेल ही घर हो गया।

तो 'बन्धन' कब है? बन्धन तो इच्छावालेको है। अन्तःकरणमें जब चाह है कि यह ऐसा हो, ऐसा न हो, तभी बन्धन है। जब चोरी-चोरीसे किसीकी छातीसे लगनेकी इच्छा है, तब बन्धन है। अरे, हमको मौका ही नहीं मिलता। घरसे निकल ही नहीं पाते हैं। यही बन्धन है।

तो यह 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतः'—इन्द्रियों और अन्तःकरणको 'मैं' 'मेरा' स्वीकार करनेसे बन्धन है और इनको जब 'मैं' 'मेरा' स्वीकार नहीं किया, तब मुक्ति है। वस्तुतः आत्मामें न बन्धन है, न मुक्ति है।

बोले कि ये इन्द्रिय, अन्तःकरण, विषय आदि जो गुण हैं, यह क्या हैं? भगवान् कहते हैं कि, '*गुणस्य मायामूलत्वात् नमे मोक्षो न बन्धनम्*' जैसे जादूगरके हाथ मारनेपर वस्तुएँ पैदा होती हैं, ऐसे ही अद्वैत ब्रह्ममें ये गुण सब माया मूलक हैं। 'गुण' माने सात्त्विक, राजस, तामस; द्रव्य, क्रिया, और वृत्ति ज्ञान। जब तुम यह मानते हो कि मैं गोरा, मैं काला—तब बन्धन। मैं मोटा, मैं दुबला—तब बन्धन।

एक लड़की है। उसका अभी ब्याह नहीं हुआ है। वह जरा मोटी है। तो घरसे बेचारी निकलती नहीं है। क्यों? मोटी होनेके कारण उसको निकलनेमें शर्म आती है। यह क्या है? यह मोटेपनका बन्धन है। देहको 'मैं' समझा न! बीकानेरमें एक स्त्री मैंने देखी। उसकी पलकें हर समय हिलती रहती हैं। अब वह शर्मके मारे बाहर नहीं जाती कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? किसीका मन बहुत चंचल है। एक आदमी शराब पीता है। वह हमारे सामने नहीं आता। क्यों नहीं आता? उसको शर्म आती है कि शराब पीकर कैसे जायँ? एक आदमी बीड़ी, सिगरेट पीता है। तो वह बीड़ी, सिगरेट पीनेके आधे घण्टे बाद तक हमारे पास नहीं आवेगा। क्यों? वह समझता है कि हमारे अन्दर जो धुआं भरा है, उसकी गन्धसे स्वामी समझ जायेंगे कि यह बीड़ी, सिगरेट पीकर आया है।

आपको यह बात बताते हैं कि बन्धन क्या है? बोले कि समाधिस्थ हो गये। यह बन्धन हुआ। कैसे बन्धन हुआ? हमारी वृत्ति तो बिलकुल शान्त रहनी चाहिए। अब हम शान्त हो गये, समाधिस्थ हो गये। अब हम निकलकर किसीके पास जायँ कैसे? ये साधु लोग गुफामें से निकलकर दूसरेके पास नहीं जाते। किसीसे मिलते-जुलते नहीं। ये जहाँ गद्दी-नशीन हुए कि फिर किसीसे मिलने नहीं जायेंगे। देखो, जो पण्डित परसाल तक हमारे पास आकर नीचे बैठता था और हाथ जोड़कर हमसे प्रश्न करता था और सत्संग करता था, इस साल वह शंकराचार्य हो गया। अब हम उसके पास जायें तो जायें, हाथ जोड़ें, नीचे बैठें। वह हमारे पास आनेवाला नहीं है। गद्दी-नशीन हो गया। जो आदमी सन् ४५-४६ में शौचसे लौटनेपर हमारा कमण्डलु धोता था और हमारा पाँव दबाता था, हमको रोटी बनाकर खिलाता था, हमारे कपड़े धोता था, वह अब शंकराचार्य हो गया। अब हमलोग मिलते हैं तो क्या मजा होता है कि लोगोंके सामने तो वे सिंहासन, छत्र लगाकर ऊँचे बैठते हैं और हम नीचे बैठते हैं और जब कोई नहीं हो तो अब भी वे हमारे लिए कभी पर्दे लगा रहे हैं, तो कभी कील ठोंक रहे हैं, कभी बिस्तर लगवा रहे हैं, कभी पासमें आकर बैठ रहे हैं। उनका हमसे प्रेम है।

अब बताओ, यह बन्धन कहाँ है? तो यह समाधि 'मैं' और मेरी—यह बन्धन हैं। सद्गुण 'मैं' और 'मेरे' बन्धन है। दुर्गुण 'मैं' और 'मेरे'—यह बन्धन है। देह 'मैं' और 'मेरी'—यह बन्धन है। गुण और दोषमें मैं और मेरा बनकरके संसारमें लोग बँध जाते हैं। शान्तिका बन्धन सात्त्विक बन्धन है। क्रियाका बन्धन—अरे भाई, मैं मामूली थोड़े ही हूँ, मैंने एक यूनिवर्सिटी बना दी, अब मेरे सामने और कौन है? हमारे सामने जो छोटे-छोटे बच्चे थे और जिनको हम समझते थे कि कपड़ा पहननेका भी सहूर नहीं है, बोलनेका भी सहूर नहीं है, वे गांजाकी दूकानपर धरना देकर पुलिससे पिटे और जेलमें चले गये और लौटकर आये महाराज, तो वे अपने सामने किसीको कुछ समझें ही नहीं।

तो यह बन्धन और मुक्ति, अन्तःकरणके गुणके साथ सम्बन्ध रखते हैं और ये मायामूलक हैं, जादूका खेल हैं।

एक स्त्री थी। वह किसी महात्माके पास गयी। तो महात्माजीने कहा कि अरे, तू तो साक्षात् देवी है, जगत्जननी जगदम्बा। बोली कि न महाराज, मैं तो एक मामूली स्त्री हूँ। वे बोले कि न-न, तेरे अन्दर एक चिह्न है। क्या चिह्न है? 'जरा आँख उलट तो। देख, शीशेमें तेरी आँखमें तिल है कि नहीं? बोली कि है। अरे,

यही तो जगत्जननी जगदम्बाका चिह्न है। अब वह बेचारी अपनेको जजगत्जननी जगदम्बा मानकर गेरूआ कपड़ा पहनकर सिंहासन पर बैठ गयी और पूजा होने लगी। अब वह कहीं जाना चाहे तो जा नहीं सकती।

तो नारायण, ये जितने गुण हैं, ये सब माया मूलक हैं। 'न मे मोक्षो न बन्धनम्'—न मेरा मोक्ष है और न बन्धन है।

देखो, भागवतमें से दो बात और सुनाऊँगा।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि, *'सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः'*—तुम जो उत्पत्ति, जन्म मानते हो, वह किससे? सत्से कि असत्से? सत्यसे सत्यकी उत्पत्ति हुई, ऐसा मानते हो। विचित्र है। श्रीमद्भागवतमें इसके सम्बन्धमें बहुत विलक्षण तर्क दिया हुआ है। दुनियादार लोग जानते हैं कि श्रीमद्भागवतमें कृष्ण और गोपियोंके प्रेमकी कथाके सिवाय और कुछ नहीं है। अरे, वह तो श्रीमद्भागवतके एक हिस्सेमें है। तो भागवतमें आया है,

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती न उरूवृत्तिभिरूक्थजडान्॥

(१०.८७.३६)

क्या बोलते हैं कि सत्यसे उत्पन्न हुआ जगत् सत्य है। यह तर्क देते हो? तो हम यह पूछते हैं कि कारण सत् और कार्य सत्—सत्में तुमने दो विभाग किया। एकसे उत्पन्न हुआ और एक उत्पन्न हुआ। तो सत्तामें तुम दो खण्ड बना रहे हो—उत्पादक सत् और उत्पन्न सत्। हम पूछते हैं कि दोनोंमें भेद है कि नहीं? तो पहले सत्से भिन्न होने पर दूसरा सत् मिथ्या हो जायेगा, असत् हो जायेगा और यदि पहले सत्से दूसरा सत् अलग नहीं हुआ, तो हुआ क्या? यदि तुम यह कहते हो कि परमात्मा भी सत्य और उससे पैदा होनेवाला जगत् भी सत्य। तो यह तर्क-विरुद्ध है। क्यों? जिस सत्से उत्पन्न हुआ, वह सत् पहले था और जो सत् उत्पन्न हुआ वह सत् बादमें हुआ। तो दूसरा सत् काल परिच्छिन्न हुआ और जब उसका जन्म हुआ तो उसकी मृत्यु भी होगी। वह अबाधित सत् कभी हो नहीं सकता। इसलिए, सत्यसे उत्पन्न होकर दूसरा सत्य कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

बोले भाई कि जो जिससे पैदा होता है, वह उसका स्वरूप ही होता है। यह बात देखनेमें आती है कि जिन्दा मनुष्यसे मुर्दा नाखून बाल पैदा होता है। ये नाखून,

बाल जिन्दा नहीं होते। ये मुर्दा ही पैदा होते हैं। ये बताते हैं कि तुम्हारे शरीरमें क्या है। कहीं रस्सीमें साँप पैदा होते दीखता है। वह तो बिलकुल मिथ्या है। बोले कि वहाँ तो अज्ञान और रस्सी—दो चीज है। यहाँ भी अज्ञान और ब्रह्म, दो चीज है। दो चीज मिलकर भी जो पैदा हुआ, वह सत्य नहीं है। यह आपको एक तर्क बताया। इसी बातको एक दूसरी जगह भागवतमें बताया—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

यह चीज पहले नहीं थी। यह नाम, रूप पहले नहीं था और बादमें नहीं रहेगा। इसलिए, यह जो बीचमें भास रहा है, यह बिलकुल मिथ्या है। एक रस अखण्ड चेतनमें यह मिथ्या ही भास रहा है। इसीसे पंचदशीमें यह तर्क किया गया है—

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः॥
इदं द्रव्यक्रियाजाति गुण सम्बन्धवस्तुषु।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम्॥

वे कहते हैं कि अच्छा, यह साकार दुनिया निराकारसे पैदा हुई कि साकारसे पैदा हुई? बोले कि निराकारसे पैदा हुई। तो निराकार तो उसे कहते हैं, जिसमें आकार होवे ही नहीं। तो निराकारसे साकार कैसे पैदा होगा? और, कहो कि साकारसे साकार पैदा हुआ, तो जो साकार पैदा हुआ और जिस साकारसे पैदा हुआ वे दोनों एक हैं कि अलग-अलग? एक हैं तो आत्माश्रय दोष हो गया। जो कारण, वही कार्य; जो बाप वही बेटा—ऐसा कैसे होगा? अच्छा, कहो कि वह नहीं है, दूसरा साकार पैदा हुआ। तो वह साकार कहाँसे पैदा हुआ? कहो कि इससे वह पैदा हुआ और उससे यह पैदा हुआ। तो अन्योन्याश्रय दोष है और कोई तीसरा साकार होवे तो वह चक्रकापत्ति दोष है और कोई चौथा साकार होवे तो अनवस्थादोष है। और, यह विजातीयसे सजातीय हुआ कि सजातीयसे सजातीय हुआ? असम्बन्धसे सम्बन्ध हुआ कि सम्बन्धसे सम्बन्ध हुआ? बोले कि यह सब बात बन नहीं सकती। उत्पत्ति किसी तरहसे हो नहीं सकती। कोई भी नयी वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है। ज्यों-का-त्यों अखण्ड परमात्मा है। क्योंकि, जड़से उत्पन्न होनेमें और चेतनसे उत्पन्न होनेमें फर्क होता है। जड़से जड़ उत्पन्न होता है तो परिणाम होता है। मिट्टीसे घड़ा पैदा हुआ। पंचभूतमें एक घड़ेके आकारकी, एक

मनुष्यके आकारकी कल्पना हुई। परन्तु, चेतनसे जब उत्पत्ति होती है, तो चेतनमें उत्पन्न और उत्पादक, कार्य और कारणका भेद नहीं होता। चेतन हमेशा साक्षी रहता है। तो कार्यत्वेन जो प्रतीत होगा, वह भी प्रतीतिमात्र साक्ष्य, दृश्य और कारणत्वेन जो प्रतीत होगा, वह भी साक्ष्य, दृश्य। इसका मतलब यह है कि चेतनसे सृष्टि नहीं हो सकती। चेतनमें केवल सृष्टि प्रतीत हो सकती है और वह भी चेतनसे भिन्न नहीं। जगत्के कारणको चेतन मानकर उसको परिणामी मानना, यह किसी भी प्रकार शक्य नहीं है।

अब एक दूसरी बात श्रीमद्भागवतकी इस प्रसंगमें बताता हूँ। शंकराचार्य भगवान् उद्धृत करते हैं। भाव बिलकुल वही है। वे कहते हैं कि, *'न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतंगृह्यते'*—यह बात भी भागवतकी है। क्योंकि, यह जो अद्वैतवादियोंका सम्प्रदाय है, उसमें शुकदेवजी गुरु हैं और गौड़ पादाचार्य शिष्य हैं। गौड़ देशसे पाँव-पाँव चलकर मलय देशमें पहुँचे तो उन्हें शुकदेवजीका दर्शन हुआ, वहाँ उन्होंने तत्त्वज्ञान सीखा। उनका नाम हुआ गौड़पादाचार्य। तो शुकदेवजी गुरु और जिनकी यह कारिका है, वे उनके शिष्य। सो जगह-जगह, वे भागवतके भावसे कारिकाएँ देखो, लिखते हैं। जैसा तत्त्वज्ञानका निरूपण श्रीमद्भागवतमें है, वैसा ही माण्डूक्य-कारिकामें है।

तो देखो, यह बात कही जाय कि एक अद्वैत वस्तु है, उसीका जन्म होता है और उसीकी मृत्यु होती है तो अद्वैत वस्तुका जन्म और प्रलय नहीं होता—*'अद्वयं च उत्पत्ति-प्रलयवत् च इति विप्रतिषिद्धम्'*—कोई वस्तु अद्वय भी है और उसका जन्म, मरण भी होता है, यह बात बिलकुल विरुद्ध है। यह जितना व्यवहार होता है, सारा-का-सारा कल्पनामें होता है। जैसे रस्सीमें दीखने वाला साँप न रस्सीसे पैदा होता है, न मनसे पैदा होता है और न दोनोंसे मिलकर पैदा होता है। यह भ्रमसे जो चीज दिखती है, वह किसीसे पैदा नहीं होती। न अधिष्ठानसे पैदा होती है, न द्रष्टासे पैदा होती है, न तो अधिष्ठान और द्रष्टा—दोनोंके मिलानसे पैदा होती है। भ्रमका स्वरूप ही है।

तो इस जगह, *'न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते'*। क्या अद्भुत माया है? जैसे आप देखो कि बाप होवे, तब बेटा होवे और बाप न होवे तो! बेटा पैदा हो सकता है? नहीं हो सकता। इसका अर्थ हुआ कि बाप और बेटेका जो कार्य कारण सम्बन्ध है वह बिलकुल निश्चित है। अब अन्वय-व्यतिरेक आप देखो। क्योंकि, उत्पत्ति और प्रलयके क्रमसे नहीं, प्रतीतिके क्रमसे सृष्टिको समझना

पड़ता है। बात कुछ मुश्किल पड़े, तब भी सुन लेना।

देखो, सूर्यकी रोशनी होवे, तब रंग दिखे और रोशनी न होवे, तो रंग नहीं दिखे। यह बात आप जानते हैं न! अरे, रोशनी चाहे सूर्यकी हो, बिजलीकी हो, दीपककी हो या आँखकी हो। आपको काला, पीला, नीला रंग तब दिखेगा, जब रोशनी हो। इसका मतलब यह होता है कि रंग रोशनीसे जुदा नहीं है। जब रोशनी है, तब रंग है और जब रोशनी नहीं है, तब रंग नहीं है। भले आँख बनी रहे। आँखसे रंग नहीं दिखता। आँखके सामने जब रोशनी हो, तब रंग दिखता है। तो आप देखो, प्रकाश और रंगका अन्वय-व्यतिरेक है। जहाँ-जहाँ प्रकाश है, वहाँ-वहाँ रंगका दर्शन है और जहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ रंगका दर्शन नहीं है। इसलिए, प्रकाशके बिना रंग-दर्शन नहीं है। यह नियम बनता है।

इसी प्रकार, जब मन चंचल है, तभी दुनिया मालूम पड़ती है और जब मन अचंचल है, तब दुनिया मालूम नहीं पड़ती। हमारे दार्शनिक लोग कहते हैं कि सुषुप्तिकालमें यह भेद रहता है? अच्छा, तो क्या भेद ही नहीं रहता है? सो जानेपर भेद-दर्शन क्यों नहीं होता? अच्छा, समाधि लग जाने पर भेद ही नहीं रहता है? सो जानेपर भेद-दर्शन क्यों नहीं होता? अच्छा, समाधि लग जाने पर, ध्यान लग जानेपर भेद-दर्शन क्यों नहीं होता? भागवतमें कथा आयी है कि एक लुहार था, वह अपनी दूकानपर बैठकर बाण बना रहा था। वह उसमें ऐसा तन्मय हो गया कि सड़कपर से राजाकी सवारी मय बाजे-गाजेके निकल गयी। अब किसीने आकर पूछा कि क्यों मिस्त्रीजी, इधरसे राजाकी सवारी निकल गयी? उसने कहा कि मेरा मन बाण बनानेमें लगा था। मैंने देखा नहीं कि सड़कपर क्या हो रहा है?

'इषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे' (११.९.१३)

तो यह मन लगने की बड़ी महिमा है। श्रुतिमें आया है कि,

अश्रृणुवम् अन्यत्रमना अभूवम्। अन्यत्रमना अभूवम् नापश्यम्।

'मेरा मन दूसरी जगह लगा था, मैंने नहीं सुना। मेरा मन दूसरी जगह था, मैंने नहीं देखा।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब मन इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके विषयोंमें चंचल रहता है, तब सृष्टि मालूम पड़ती है और जब मन एकाग्र हो जाता है, निरुद्ध हो जाता है अथवा सुषुप्त हो जाता है मूर्च्छित हो जाता है, तो भेदका ग्रहण ही नहीं होता। अतः जैसे रोशनीके बिना रंगका दर्शन नहीं है, वैसे मनके बिना विश्वका दर्शन नहीं है। जब मन है, तब विश्व है, विश्व-दर्शन है। जब मन एकाग्र है, सुषुप्त

है, समाधिस्थ है, मूर्च्छित है, तब भेद-दर्शन नहीं है। सो मनके साथ भेद-दर्शनका अन्वय-व्यतिरेक है।

तब क्या हुआ? बोले कि,

'धिया सहोदेति धिया समेति'।

बुद्धिके साथ प्रपञ्चका उदय होता है और बुद्धिके साथ प्रपञ्चका अस्त होता है। तो यदि तुम सत्यको ढूँढना चाहते हो तो प्रपञ्चको मत ढूँढो। बाहर नहीं मिलेगा ईश्वर। कोटि उपाय करो, बाहर नहीं मिलेगा। तो फिर बोले कि कहाँ ढूँढे? बोले कि,

'तस्माद् धियो मार्ग जन्म देशम्'

बुद्धिका जन्म जहाँ होता है, जहाँ बुद्धि पैदा होती है, जहाँ बुद्धि रहती है, जहाँ बुद्धि लीन होती है, जरा उस जगह पर ढूँढो कि तुम कैसे उसको देख रहे हो? हृदयमें ढूँढोगे तब परमात्मा मिलेगा।

यह देखो, शब्दादिसत्ता कैसे मालूम पड़ती है?

शब्दादिरूपं भुवनं समस्तं शब्दादि सत्येन्द्रियवृत्तिभास्यम्।
सत्येन्द्रियाणां मनसो वशेस्यात् मनोमयंतद् भुवनं भणामः॥

यह संसार क्या है? यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका पुञ्ज है। यह कहाँसे मालूम पड़ता है? इन्द्रियोंसे मालूम पड़ता है। इन्द्रियाँ कैसे मालूम पड़ती हैं? मनसे। मनके बिना न इन्द्रियाँ और न शब्दादिसत्ता, न जगत्। इसलिए हम यह कहते हैं कि यह जो जगत् दिखायी पड़ता है, यह बिलकुल मनोमय है। यह मानसिक सृष्टि है।

तो श्रीमद्भागवतमें इस बातको ऐसे बताया कि,

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमःस गुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥

राजा निमिने पूछा था कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है?

तो इसके उत्तरमें महात्मा बोलते हैं कि, 'अयुक्तस्य पुंसः नानार्थो भवति'— जब मनुष्य योग युक्त नहीं होता, एकाग्र नहीं होता, ध्यानस्थ नहीं होता, समाधिस्थ नहीं होता, परमेश्वरमें लीन नहीं होता, तब उसको ये बहुत-सी दुनियाकी चीजें दिखायी पड़ती हैं। मरे हुएकी याद कब आवेगी? यह चंचल मनका लक्षण है कि शान्त मनका लक्षण है? आगे हमारे ऊपर क्या तकलीफ आपने वाली है, यह मनमें कब आवेगा? फिसल गये हो! जैसे आदमी रास्तामें चलते-चलते पाँव उसका पीछे फिसल जाय, तो गिरेगा कि नहीं? ऐसे मरे हुएकी याद आना माने मनका फिसल जाना। जो छूट गया है, उसको याद कर रहा है। और, आगेकी

सोचने लगा है कि हाय-हाय, यह मर जायेगा, तब क्या होगा? यह क्या हुआ? यह आगे फिसल गया। बोले कि बस, अब इसीको पकड़े रखो। छातीसे लगाओ! बस, छूटने न पावे! यह क्या हुआ? वर्तमानमें गड़ गया। मोहग्रस्त हो गया।

पांव पीछे जायेगा, तो भी आगे नहीं बढ़ोगे। पाँव आगे फिसल जायेगा, तो भी आगे नहीं बढ़ोगे और मोहग्रस्त हो जाओगे, तब भी आगे नहीं बढ़ोगे। सत्यका साक्षात्कार होनेके लिए आवश्यक है कि पीछेका शोक न हो आगेका भय न हो और वर्तमानमें मोह न हो!

तो,'पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो: '—जब हमारा मन चंचल होता है, तब बहुत-सी वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं। और महाराज, एक-एक मिनटमें दस-दस, बीस-बीस मालूम पड़ें! मिनटकी बात छोड़ो! एक सेकेण्डमें कई-कई मालूम पड़ती हैं। एक बारमें हाथकी पाँच अंगुली नहीं दिखती। यह भ्रम होता है कि पाँचों अंगुली एक साथ दिख रही हैं। इतनी तेज गति मनकी है कि मालूम पड़ता है कि एक साथ दिख रही हैं।

जो नानार्थ दिखता है, उसको सच्चा मानना भ्रम है। है एक ही, पर मन चंचल हुआ तो अनेक दीखने लगा और अनेक दीखने लगा तो उसको सच्चा मान लिया और सच्चा मानने पर यह गुण है और यह दोष है, यह मान लिया। 'भ्रमः स गुणदोषभाक्। जब गुण-दोषकी कल्पना हो गयी, तो गुणके अनुसार कर्त्तव्य और दोषके अनुसार अकर्त्तव्य-इसकी प्राप्ति हुई।

यह आपको इसलिए बताते हैं कि जैसे ऐतिहासिक वस्तुओंकी सरकार रक्षा करती है, वैसे यह हमारे पुराने महात्माओंकी जो युक्ति है, अनुभव है, जो छोटी-छोटी बातोंपर आँख न जमाकर एक महान् बृहद् ब्रह्मसत्य—जिसमें सबमें एक है—न किसीसे राग करो न द्वेष, न कहीं शोक करो न मोह! भूतमें भी वही सत्य, वर्तमानमें भी वही सत्य और भविष्यमें भी वही सत्य। यूरोपमें भी वही सत्य, एशियामें भी वही सत्य। देवतामें भी वही सत्य और दैत्यमें भी वही सत्य। वह जो अखण्ड सत्य है, उसपर दृष्टि जानी चाहिए। राग-द्वेषको मिटाकर बिलकुल जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देनेवाला यह अनुभव है। संसारके साथ जो राग-द्वेषका सम्बन्ध है, गुण-दोषका जो सम्बन्ध है, यह सुखी-दुःख करके मनुष्यको बड़ा कष्ट देता है! हमारे पुराने महात्माओंने वर्षों तपस्या करके इस सत्यका साक्षात्कार किया कि दुनियामें जो भेदभाव है, वह झूठा है। एक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही सत्य है।

☆

परमार्थ क्या है? (४)

प्रश्न उठाया कि भ्रान्तिसे जो वस्तु दीखती है, वह जिसमें दीखती है, उस अधिष्ठानमें वह क्या पैदा या लीन होती है? जैसे रस्सीमें साँप दिखे, तो क्या रस्सीमें साँप पैदा हुआ और लीन हुआ? तो यदि रस्सीमें साँप पैदा होता और लीन होता, तो जितने भी देखनेवाले हैं, सबको साँप ही दिखता। किसीको फूलकी माला, किसीको डंडा, किसीको भू-छिद्र—यह जो पृथक्-पृथक् देखनेवालोंको पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है, वह न होती। इसलिए, रस्सीमें साँप पैदा होता है और लीन होता है, भ्रान्ति-सिद्ध वस्तुके लिए यह कहना गलत है। भ्रान्ति-सिद्ध वस्तु जिसमें दिखती है, उस अधिष्ठानमें न पैदा होती है, न लीन होती है। क्योंकि, वह तो सबको अलग-अलग दिखती है। तो यह कहो कि मनमें पैदा होती है और मनमें लीन होती है। तो मनमें पैदा होवे और लीन होवे तो जो बाह्य-उपलब्धि है, उसका बिलकुल विरोध हो जायेगा। मालूम तो यह पड़ता है कि हम सामने साँप देख रहे हैं और मनमें ही अगर साँप पैदा होता हो और लीन होता हो, तो वहाँ जो बाह्य उपलब्धि है, इसके बिलकुल विरुद्ध होगी!

अच्छा, यह कहो कि साँप मनमें भी है और रस्सीमें भी है। तो एक ही वस्तु एक साथ ही दो जगह पैदा हो और दो जगह लीन होवे, यह बात नहीं बनती है। तो इन तीनों पक्षोंका भाष्यकारने खण्डन किया। न तो वह सर्प रस्सीमें पैदा हुआ, न मनमें पैदा हुआ और न दोनोंमें एक साथ पैदा हुआ। तब, बात क्या हुई? बात यह हुई कि यह बिलकुल मानस है। द्वैत वस्तु उत्पत्ति-प्रलयवाली नहीं है। स्वप्नवत् मानस कल्पनारूप है। अब यह कोई कहे कि भाई, यह रज्जु-सर्पका ही दृष्टान्त जगत्के बारेमें क्यों देते हो? कई हमारे महात्मा तो साँपका ही नाम सुनकर डर जाते हैं।

वृन्दावनमें मैंने एक स्त्री देखी थी। उसके सामने अगर चूहेका नाम ले दो वह डर जाती थी। तो ऐसे लोगोंको समझानेके लिए तो रज्जु-सर्पका दृष्टान्त है नहीं।

उसमें जो तत्त्व है, वह देखना चाहिए। रज्जु जो है, वह सर्पाभावका अधिष्ठान है। असलमें रस्सीमें. साँप नहीं है। तो जो चीज अपने अभाववाले अधिकरणमें दिखायी पड़ती हैं, उसको हम मिथ्या बोलते हैं। देखो, इसका सीधा मतलब क्या हुआ कि जो चीज दरअसल जहाँ न हो, वहाँ अगर वह चीज मालूम पड़े, तो उसको मिथ्या कहते हैं। जैसे आकाशमें रंग नहीं है। रंगके अभावका अधिष्ठान है आकाश और आकाशमें रंग मालूम पड़ता है तो मिथ्या है। हम मिथ्याकी परिभाषा बनाते हैं। अब इसी परिभाषाके अनुसार अपरिच्छिन्न जो तत्त्व है ब्रह्म, जो देश, काल, वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान है, उस पर विचार करेंगे! ईश्वरने सृष्टि बनायी तो केवल वस्तु नहीं बनायी। देश, काल भी तो बनाया न! तो जिस अधिष्ठानमें देश, काल सहित यह वस्तु-भेद दिखायी पड़ रहा है, उस अपरिच्छिन्न, अविनाशी, परिपूर्ण अधिष्ठानमें यह सृष्टि कल्पित होनेसे मिथ्या है।

देखो, अनादि और अनन्त कालमें हिस्सा न होनेके कारण, जो संसारकी उम्र मालूम होती है, वह झूठी है। यह जो बताते हैं न कि सृष्टि अबसे आठ करोड़ वर्ष पहले पैदा हुई, अभी इसकी उम्र आठ करोड़ वर्ष और है। अब कालमें वह सोलह करोड़ कितना होता है? कालके किस अंशमें, किस भागके द्वारा सोलह करोड़ निकाला जायेगा? अच्छा, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, जिसका ओर-छोर नहीं, ऐसे देशमें पचास करोड़ घनमीलकी यह पृथिवी देशके किस हिस्सेमें है। लम्बाई, चौड़ाई, गहराई—सब मिलाकर घनमील होता है। सन्मात्र जो निराकार वस्तु है, उस निराकार वस्तुमें धरतीका कितना वजन है?

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि जो देश, काल, वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान है, वह अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय, एकरस चैतन्य प्रपञ्चके अभावका अधिष्ठान है और उसी अधिष्ठानमें यदि यह दृश्य-प्रपञ्च दिख रहा है, तो यह ठीक उसी परिभाषाके अनुसार, जिस परिभाषाके अनुसार नीलिमाके अधिष्ठानमें नीलिमा झूठी है और सर्पके अधिष्ठानमें सर्प झूठा है, उसी तरह अपने अभावके अधिष्ठानमें यह प्रपञ्च मिथ्या है।

यह मिथ्या-सिद्ध करना क्या है? इसका प्रयोजन देखो! परमात्माको शुद्ध-सिद्ध करना है। नहीं तो परमात्मा ही मिक्सचर हो जायेगा। उसमें थोड़ा जड़ और थोड़ा चेतन, थोड़ा अविनाशी और थोड़ा विनाशी, थोड़ा पूर्ण और थोड़ा परिच्छिन्न, थोड़ा मैं और थोड़ा तू—टुकड़े-टुकड़े-टुकड़े होंगे! अखण्ड-सिद्ध हुए बिना परमात्मा भी सिद्ध नहीं होगा और मुझसे अभिन्न हुए बिना-चेतन भी सिद्ध नहीं

होगा। यह दो बात आप ध्यानमें रखना कि मुझसे अलग रहकर परमात्मा चेतन नहीं हो सकता। क्योंकि, जो दृश्य होगा, जिसको जाननेके लिए मेरी जरूरत पड़ेगी, वह तो दृश्य होगा, जड़ होगा, चैतन्य नहीं होगा। तो मुझसे अभिन्न हुए बिना परमात्मा चैतन्य नहीं हो सकता और अद्वितीय हुए बिना परमात्मा, अविनाशी, अखण्ड नहीं हो सकता और मुझसे एक हुए बिना अद्वितीय भी नहीं हो सकता।

तो परमात्माको अनादि, अनन्त सिद्ध करनेके लिए, अविनाशी सिद्ध करनेके लिए, पूर्ण चैतन्य सिद्ध करनेके लिए यह अद्वैत वेदान्तियोंकी युक्ति है।

अब यह बात आयी कि द्वैतका निषेध कर देनेपर अद्वैतकी सिद्धि सुगम हो जाती है।

अच्छा भाई, एक दूसरा प्रश्न उठाते हैं कि माना कि प्रपञ्च भ्रमसे दीखता है। परन्तु, केवल दीखने अंशमें ही भ्रम है! तो भ्रमसे उलटा दीखता होवे, तो इसका कोई सुलटा स्वरूप होवे? बोले कि नहीं, भ्रमसिद्ध जो वस्तु होती है, उसकी अज्ञात सत्ता नहीं होती है। यह वेदान्तियोंकी परिभाषा है। वह जो लोग समझते हैं, उनके लिए यह बात सुना रहा हूँ। जैसे भ्रम-सिद्ध जो सर्प है, वह जितनी देरतक मालूम पड़ता है, उतनी देरतक ही होता है। जब मालूम नहीं पड़ता , तब नहीं होता। तो भ्रमसिद्धका स्वभाव है कि उसकी ज्ञातसत्ता ही होती है, अज्ञातसत्ता नहीं होती। तो यह जो प्रपञ्च है, यह अपने अद्वय, अधिष्ठानमें जितनी देर तक मालूम पड़ता है, उतनी देर तक ही है।

अब एक तीसरी परिभाषा सुनाते हैं। माने यह नहीं कि हमको नहीं मालूम पड़ता है, तब यह सृष्टि है! जैसे घड़ा हमको मालूम पड़े, तब भी घड़ा है और न मालूम पड़े, तब भी घड़ा है। यह तो सत्य पदार्थका स्वभाव हुआ। और, रज्जु-सर्पका स्वभाव हुआ कि मालूम पड़े तो है और न मालूम पड़े तो नहीं है। जिस अधिष्ठानमें यह प्रपञ्च भ्रम-सिद्ध है, इसका स्वभाव है कि यह परोक्षसत्तावाला नहीं है। यह तो ज्ञात-सत्तावाला है। मालूम पड़े तब यह है और नहीं मालूम पड़े, तब नहीं है।

अब तीसरा प्रश्न लेते हैं कि रज्जु भी तो आखिर कल्पित ही है? कल्पित रज्जुमें सर्प कल्पित है। बोले कि नहीं, ज्ञात रज्जुमें सर्प कहाँ कल्पित है? यदि रस्सीको रस्सी जानते तो उसमें सर्पकी कल्पना कहाँ होती? वह तो वहाँ जो सन्मात्र वस्तु है, 'इदं' जिसको बोलते हैं, उसमें रज्जुत्व ज्ञात नहीं है। इदमंशमें सर्पका अध्यारोप होता है, रज्जु-अंशमें सर्पका अध्यारोप नहीं होता। माने वह तो

जो जाननेवाला है, उसके लिए रज्जु शब्दका व्यवहार होता है। यदि जाननेवाला न होये, तो हम रज्जुमें सर्पका अध्यास कर रहे हैं—यह थोड़े ही उसको मालूम पड़ेगा! वह तो समझता है कि यह चीज हमको सर्प मालूम पड़ रही है। अब यह चीज क्या है? वह अनिर्वचनीय सत्ता है। वह सन्मात्र है। तो नारायण, जैसे सर्प कल्पित हुआ है, उसी प्रकार रज्जु भी कल्पित हुई है। असलमें सर्पका अधिष्ठान रज्जु नहीं है और रज्जुका अधिष्ठान कोई पंचभूत नहीं है। सर्प, रज्जु, पंचभूत सर्वका अधिष्ठान सन्मात्र वस्तु ही है। तो उस सन्मात्र वस्तुकी दृष्टिसे न प्रपञ्च है और न रज्जु है, न सर्प है।

अब देखो, एक चौथी बात लेते हैं। जो लोग वेदान्तका स्वाध्याय करते हैं, उनके लिए इन बातोंका जानना आवश्यक है। नहीं तो वे वेदान्तकी बात नहीं समझ सकेंगे। यह चौथी बात बड़ी विलक्षण है। इन्द्रियोंसे आपको यह अनुभव होता है कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह लाउडस्पीकर है, यह पुस्तक है। अगर शास्त्रमें बिलकुल यही बात लिखी होवे, जैसा आपकी इन्द्रियोंसे अनुभव हो रहा है, तो शास्त्र-शास्त्र नहीं रहेगा, अनुवाद हो जायेगा। ऐन्द्रियक अनुभवका अनुवाद। जैसे एक डॉक्टर किसी रोगपर नयी दवाका प्रयोग करता है! लाभ हुआ कि हानि हुई—यह अपने रजिस्टरमें लिख लेता है। इसी प्रकार कई रोगियोंका नुकसान होनेके बाद और कई रोगियोंको फायदा पहुँचनेके बाद वह इस निश्चयपर पहुँचता है कि इस रोगमें इस दवाका प्रयोग करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए! वह जो डॉक्टरका रजिस्ट्रर है वह उसके लौकिक अनुभवका अनुवादक है। दूरवीन, खुर्दवीनसे जाँच करके, इन्द्रियोंसे अनुभव करके वैज्ञानिक लोग जो विज्ञान सम्बन्धी तत्त्वका आविष्कार करते हैं, वह तो ऐन्द्रियक अनुभूतिका अनुवाद है। जैसा अनुभव हुआ, वैसा लिख दिया। क्या शास्त्र ऐसा ही होता है?

देखो, आजकलके लोग कहेंगे कि बाबा, जो दूरबीन खुर्दबीनसे मालूम नहीं पड़ा, आँख, कान, नाक, जीभसे जिसका अनुभव नहीं हुआ, ऐसी बात अगर शास्त्र कहे तो अप्रमाण है। अरे, प्रत्यक्षवादी, जड़वादी तो यही कहेगा न कि जो बात हमारे अनुभवमें नहीं आयी, अगर वह बात शास्त्र कहता है, तो अनुनुभूत पदार्थका निरूपण करनेके कारण शास्त्र अप्रमाण है। और, शास्त्रवादी क्या कहते हैं? जरा उनकी बात सुनो!

वे कहते हैं कि यदि केवल यांत्रिक ज्ञान, ऐन्द्रियक अथवा वैज्ञानिक अथवा

गणितसिद्ध अनुभूतियोंका ही शास्त्र अनुवाद करे, तो शास्त्रकी जरूरत क्या है? वह तो बिलकुल परतःप्रमाण है। दूसरे प्रमाणसे सिद्ध वस्तुका केवल उल्लेखमात्र है। शास्त्र तो तब होता है, जब दूसरे किसी प्रमाणसे न मालूम पड़नेवाली वस्तुका प्रतिपादन करता है। जो किसी यंत्रसे अनुभवमें न आवे, दूरबीन, खुर्दबीनसे अनुभवमें न आवे, इन्द्रियोंसे अनुभवमें न आवे, गणितसे जो सिद्ध न होवे, वैज्ञानिक प्रयोगसे भी जो मालूम न पड़े–ऐसी अज्ञात वस्तुका जब प्रतिपादन करे, तब शास्त्र, शास्त्र होवे।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं वदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदका वेदत्व क्या है? प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा जिस पदार्थकी सिद्धि न होती हो, उस वस्तुको हम वेदके द्वारा जान लें, तब तो वेदकी यथार्थता है, प्रामाणिकता है।

देखो, प्रमाणका लक्षण क्या है? जो बात कानसे मालूम नहीं पड़ती, वह बात आँखसे मालूम पड़ती है। कानसे केवल शब्द मालूम पड़ता है, रूप नहीं। और, आँख रूप बताती है और आँखको शब्द नहीं मालूम पड़ता, कान शब्द बताता है। तो क्या हुआ? दोनों स्वतन्त्र प्रमाण हैं। रूपके बारेमें आँख प्रमाण है और शब्दके बारेमें कान प्रमाण है। तो, प्रमाणानन्तराधिगत और प्रमाणान्तराबाधित जो हो, वह अपने विषयका प्रमाण है। माने प्रमाण तब होता है, जब किसी दूसरे प्रमाणसे वह बात मालूम न पड़ती हो। नाकसे मालूम पड़ जाये, तो जीभकी जरूरत नहीं है और जीभसे मालूम पड़ जाये तो नाककी जरूरत नहीं है। स्वाद नाक नहीं बता सकती और गंध जीभ नहीं बता सकती। इसलिए, नाक भी प्रमाण है और जीभ भी प्रमाण है। पाँच विषयोंके बारेमें पाँच इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। चाहे वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशालामें यह सिद्ध कर दें कि दो गैसके मिलनेसे पानी नामकी चीज पैदा हुई! उनके आक्सीजन और हाइड्रोजनके मेलसे पानी बन जाय, यह बिलकुल ठीक है। परन्तु, जीभ जिस स्वादको बताती है, वह स्वाद किसी यन्त्रके द्वारा आता हो तो हमें बताओ? इसलिए, रसके अस्तित्वमें जिह्वा प्रमाण है, गन्धके अस्तित्वमें नाक प्रमाण है। इसी प्रकार जो इन एक-एक इन्द्रियोंके द्वारा और सब इन्द्रियोंसे मिलकर जिस अपरिच्छिन्न वस्तुका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, उसका निरूपण करनेके लिए तत्त्व शंसनात्मक शास्त्रकी ज़रूरत है। शास्त्रमें अपूर्व प्रमाणता होनी चाहिए। माने जो किसी इन्द्रिय, अनुमान, गणित, प्रयोगसे न जाना जा सके, उसको शास्त्र बतावे!

तो देखो, इतना तो पता चलता है कि मैं हूँ। मैं जानता हूँ। मैं हूँ—यह किसका प्रमाण है। अपने सत् होनेका। मैं जानता हूँ—यह किसका प्रमाण है? मैं चित् हूँ, इसका। मैं अपनेसे प्यार भी करता हूँ—यह किसका प्रमाण है? अपने आनन्द होनेका। जिससे मजा आता है, उसीको लोग प्यार करते हैं। अब इतनी बात तो बिना किसी वेदके मालूम पड़ जाती है। जो अन्तर्मुख होवे, उसको मालूम पड़ता है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ। यहाँसे तो वेदान्तशास्त्र प्रारम्भ होता है। भामतीकारने यहींसे अपना वेदान्त प्रारम्भ किया है। वे कहते हैं कि जब मैं हूँ, यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम पड़ती है, तो आत्म-तत्वका निरूपण करनेके लिए शास्त्रकी कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि यह तो हमें प्रत्यक्ष अनुभवसे, अपनी अन्तर्दृष्टिसे ज्ञात होता है कि मैं हूँ, मैं जानता हूँ और मैं अपनेसे प्यार करता हूँ अर्थात् मैं सत्, चित्, आनन्द हूँ। यह बात बिलकुल स्पष्ट है, 'स्फीतालोक मध्यवर्ती घट इव'—जैसे बिलकुल प्रकाशमें रखा हुआ घड़ा मालूम पड़े, ऐसे यह बात बिलकुल स्पष्ट रखी हुई है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ। तो फिर, वेदान्तकी क्या जरूरत है?

उन्होंने कहा कि बाबा, जानते तो हो कि मैं हूँ। परन्तु, यह नहीं जानते कि मैं अपरिच्छिन्न हूँ। मैं अविनाशी हूँ, कालकी दाल हमारे ऊपर नहीं गलती, कालके विकराल गालमें हम नहीं आते—यह बात तुम नहीं जानते। तुम समझते हो कि मैं इस समय हूँ। पहले भी था और आगे भी रहूँगा—यह अपना कालसे अपरिच्छिन्नत्व तुम कहाँ जानते हो?

अच्छा, बोले कि मैं जानता हूँ। क्या-क्या जानते हो? यह हमको नहीं मालूम है। अरे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जो कुछ होगा, सब कुछ तुम जानते हो। मैं मोहनको नहीं जानता हूँ—यह बात भी तो तुम्हीं जानते हो। तो दिक् तत्त्वसे अपरिच्छिन्न तत्त्व हूँ, परिपूर्ण-चैतन्य हूँ—यह तुम कहाँ जानते हो?

अच्छा देखो, मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, मैं ही अद्वय-ब्रह्म हूँ—यह तुम कहाँ जानते हो? बोले कि नहीं जानते हैं तो जान लेंगे। काहेसे जानोगे बाबू? आँखसे जानोगे कि मैं अद्वय, अपरिच्छिन्न ब्रह्म हूँ? नाक, जीभ, त्वचासे जानोगे क्या? ये जो तुम्हारे पास विषयोंको जाननेवाले औजार है, उन औजारोंसे जान सकते हो क्या? अच्छा, तो गणित लगा कर जानोगे कि मैं अपरिच्छिन्न हूँ? किसी यन्त्रसे परीक्षा करके जानोगे? दूरबीनसे अपनी अनन्तता देखोगे? खुर्दबीनसे अपनी अद्वितीयता देखोगे? तब इसके लिए वेदकी जरूरत

है। बात यह है कि एक बार वेदके बताये जान लो, फिर तो हजार युक्ति सूझेगी कि यही बात बिलकुल ठीक है। 'न वेदविन् मनुते तं बृहन्तम्'। जो वेदान्तका स्वाध्याय नहीं करता, वह परमात्माको नहीं जान सकता। *'आचार्यवान् पुरुषो वेद'*—जिसके गुरु हैं, वही जानता है। *'न नरेवावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेय अणुरेष धर्मा:'*—दूसरेके कहनेसे बात नहीं बनेगी, इसके लिए गुरु चाहिए। छोटे आदमीसे नहीं चलेगा।

तो यह हुआ कि अच्छा भाई, शास्त्र भी अगर अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको समझावे, तो कैसे समझावेगा? समझानेकी कोई युक्ति तो चाहिए न! तुम्हारे शास्त्रका अभिप्राय क्या है? क्या अद्वैत वस्तुका वर्णन करना? बोले कि, नहीं। शास्त्रका अभिप्राय अद्वैत-वस्तुका वर्णन करना नहीं है। शास्त्रका तात्पर्य है कि जो तुम छोटी-छोटी वस्तुओंमें फँस गये हो, तुम्हारी दृष्टि जो नन्ही-मुन्नीमें लग गयी है—कहीं कागजका एक टुकड़ा, बोले कि नोट; पत्थरका एक टुकड़ा, बोले कि हीरा; गर्मीका एक प्रकाश, बोले कि सुवर्ण! हमको एक आदमीने एक फिल्म लाकर दिखायी थी कि विदेशमें हीरे कैसे निकलते हैं। पहाड़के पहाड़ खोद लिए जाते हैं और उसमेंसे हजारों टन पत्थर लेते हैं और जहाँ खूब ज्वालामुखी होती है, वहाँ डाल देते हैं तो वहाँ माटीके टुकड़े ही हीरे हो जाते हैं। तो, माटीके टुकड़ेका नाम 'हीरा' और खून, माँसका बना हुआ जो पिण्ड है, उसका नाम बोले 'प्यारी, प्यारा'। अब फँसे तो गुरुदेव इसमें और, कहते हैं कि वेदान्त समझमें नहीं आता। तो जब इतनी नन्ही-मुन्नी चीजमें तुम फँसे हो तो पूर्ण वस्तुका साक्षात्कार होवे तो कहाँसे होवे?

बोले कि फिर वेद-शास्त्र कैसे अद्वैत तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं? निषेधके द्वारा करते हैं। द्वैतके व्यापाराभावमें शास्त्रकी प्रवृत्ति है। देखो, क्या बढ़िया है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

आपने गीताका वह श्लोक कितनी बार पढ़ा होगा, ***'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यतेसतः'***। यह अद्वैतके निरूपणकी युक्ति है। जो 'असत्' है माने बिलकुल है ही नहीं उसका 'भाव' माने उत्पत्ति और उत्पत्तिसे उपलक्षित प्रलय—भावाभाव दोनों नहीं हैं। वन्ध्यापुत्रका न जन्म है, न मरण है और, 'नाभावः विद्यते सतः'—सत् जो आत्मा है, ब्रह्म है—उसका भाव और भावसे

उपलक्षित अभाव माने जन्म, मरण नहीं है। तो सत्यका भी जन्म और मृत्यु नहीं और असत्यका भी जन्म और मृत्यु नहीं। प्रतिपादनकी शैली यह है। माने सत्य, सत्य ही है और असत्य, असत्य ही है। तो जब दोनोंमें जन्म, मरण नहीं है तो यह जन्म, मरण है क्या? बोले कि देखो, किसीमें नहीं है और मालूम पड़ता है। इसको कौन मना कर सकता है कि मालूम नहीं पड़ता है। जो वस्तु तत्त्वदृष्टिसे, विचार-दृष्टिसे सिद्ध न हो और इन्द्रियोंसे मालूम पड़े, उसको 'अनिर्वचनीय' बोलते हैं और उसीको हम 'मिथ्या' बोलते हैं। तो ऐन्द्रियक दृष्टिसे यह प्रपञ्च मालूम पड़ते-पड़ते इन्द्रियाँ भी सच्ची लगती हैं और प्रपञ्च भी सच्चा लगता है। तो शास्त्र काम क्या करता है? शास्त्र यही काम करता है कि इन झूठी इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणों और बहिःकरणोंसे जो झूठी चीजें मालूम पड़ती हैं, उनकी पहचान करा देता है कि ये झूठीं, ये झूठीं, ये झूठीं।

बोले कि सबको झूठी बता देता है। जो देख रहा है, उसको भी झूठा बताता है क्या? अरे, उसको झूठा बतावेगा तो खुद झूठा हो जायेगा। यह बड़ी मजेदार बात है। सबको झूठा बताते, बताते, बताते जब सच्चेकी नजरके सामने आकर शास्त्र खड़ा होता है, तब वह सच्चा पूछता है कि क्यों शास्त्रजी महाराज, आपने सबको तो झूठा कर दिया। अब एक बताओ कि तुम झूठे कि सच्चे? तो शास्त्रजी कहते हैं कि तुमने सबको झूठा समझ लिया। हाँ, समझ लिया। अच्छा तो अब हमको भी झूठा समझ लो। तब सच्चा क्या रहा? बोले कि तुम। लेकिन, अगर तुमने सबको मिथ्या नहीं समझा है और हमको मिथ्या समझ लिया, तब फँसे ही रहोगे बाबू। छूट नहीं सकते।

तो द्वैतके व्यापारको मिथ्या बतानेमें शास्त्रका प्रयत्न है और *'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः'*। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया कि श्रुति परमात्माका प्रतिपादन कैसे करती है? बोले कि, *'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः'*—'तत्' परमात्मासे जुदा जो मालूम पड़ता है, उसका निरसन करके फिर शास्त्र खुद मर जाता है। कहता है कि बस-बस, हमारा काम पूरा हो गया। अब शास्त्र हाथ जोड़कर बोलता है—

तू प्रभु सच्चा, मैं अति झूठा। तू प्रभु जीवे, मैं मर जाऊँ।

यह प्रेम है। यह गोपी है। इसीसे श्रुतिको गोपी बोलते हैं। प्रेम यह कहता है कि प्यारा तू रहे, मैं भले न रहूँ। श्रुति कहती है कि हे आत्मदेव, हे हमारे द्रष्टा, ये तुम्हारे सामने जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, ये जादूके खेलकी तरह झूठी हैं। तुम्हीं केवल सत्य हो। बोले कि तब तुम? मैं भी इन्हीं झूठोंमें ही हूँ। देखो, द्वैत नहीं रहा।

श्रुति अपनेको बाधित क़रके भी द्वैतका बाध करवा देती है और उसके बाद केवल आत्मा रहता है।

जब द्वैतका बाध हो जाता है, तब दो आत्मा नहीं हैं। आत्मा, ईश्वर—दो नहीं हैं। आत्मा, जगत्—दो नहीं हैं। जगत्, जगत्—दो नहीं है। जगत् ईश्वर—दो नहीं है। ब्रह्मज्ञान होने पर ये पाँचों प्रकारके द्वैत मिट जाते हैं। देखो भाई, जो तत्त्वका अनुसन्धान करता है, वह जितने भी अतीतमें मतवाद पैदा होने सम्भव थे और भविष्यमें जितने मतवाद पैदा होने सम्भव होते हैं और इस समय सृष्टिमें जितने मतवाद होते हैं, उन सबका वर्गीकरण करके, विश्लेषण क़रके, विभाजन करके, तब वह तत्त्वका निर्णय करता है। यह नहीं समझो कि आगे कोई ऐसा वैज्ञानिक, बुद्धिमान निकलेगा, जो वर्तमान कालकी इस अद्वैतकी अनुभूतिको काट सकेगा। क्यों? उसमें तो भूत, भविष्य सबका समावेश हो जाता है।

अच्छा, अगर आपके पास दो चीज होवें तो कैसे-कैसे उसका प्रस्तार करोगे? देखो, एक अद्वैत और एक द्वैत। अब जरा प्रस्तारकी प्रक्रिया देखो। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि अद्वैत। मध्वाचार्य कहते हैं, द्वैत। ये दोनों परस्पर विरोधी हुए। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं, द्वैतविशिष्ट अद्वैत। माने द्वैत गौण और अद्वैत मुख्य। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि अद्वैत गौण और द्वैत मुख्य। निम्बार्काचार्य कहते हैं कि द्वैत, अद्वैत दोनों सम। अब इनके अवान्तर भेद भी हैं। अचिन्त्य द्वैताद्वैत, चैतन्य महाप्रभु मानते हैं। स्वाभाविक द्वैताद्वैत, निम्बार्काचार्य और औपाधिक द्वैताद्वैत, भास्कराचार्य मानते हैं।

ऐसा नहीं समझना कि आजकल जो विज्ञान उन्नति कर रहा है, वह भौतिक तत्त्वोंके बारेमें है और वही परमार्थ सत्य है। विज्ञान नयी दवा निकाल लेगा, नये रोगका पता लगावेगा, नयी चिकित्सा निकालेगा, नया यन्त्र निकालेगा, खान-पानकी नवीन पद्धति निकालेगा। लेकिन जो जगत्‌के मूल तत्त्वका दर्शन है जिससे अन्तःकरणके राग-द्वेषका नाश होता है, जिससे जीवन्मुक्तिकी विलक्षण अवस्था प्राप्त होती है, उस वस्तुका जो मौलिक ज्ञान है, उसको विज्ञान कभी बदल नहीं सकता। विज्ञानका विषय दृश्य है और दर्शनाशास्त्रका विषय दृश्य नहीं है। दृश्य और द्रष्टाके रूपमें, विषय और विषयीके रूपमें प्रतीत होने वाला अद्वैत, जो जगत्‌का मूलतत्त्व है, वह अखण्ड, चैतन्य अधिष्ठान वेदान्त-दर्शनका विषय है।

यह बात ध्यानमें रखना कि शास्त्र, द्वैतको मिटाता है। क्योंकि द्वैत, अपनेमें अविद्यासे अध्यस्त है। आप देखो, सीधी बात कि आप सुखी हो कि दुःखी? एक

जवाब दे सकते हो? बोले कि भाई, दिनभरमें कभी सुखी हो जाते हैं और कभी दुःखी हो जाते हैं। सो दोनों हैं। लेकिन, आपकी अकल कहाँ गयी है? आपसे पूछते हैं कि आप दो कैसे हो सकते हैं? अरे, आप तो एक हैं, अकेले हैं। आप दो कैसे हो सकते हैं? यह बौद्धिक असंगति है। आप कहते हैं कि हम थोड़ी देर सुखी और थोड़ी देर दुःखी रहते हैं। इसका मतलब हुआ कि थोड़ी देर गाय रहते हैं और थोड़ी देर भैंस रहते हैं। आप दो कैसे हो सकते हैं? आप तो एक हैं।

बोले भाई कि जब अपने मनमें यह ख्याल होता है कि मैं दुःखी! तब दुःखी होते हैं और जब अपने मनमें यह ख्याल होता है कि मैं सुखी, तब सुखी! तो देखो, सुखीपना, दुःखीपना ख्याल दोनों है और आपका जो 'मैं' है, वह एक है। वह तो न सुखी हुआ, न दुःखी हुआ।। तो आपने अपनेमें सुखीपने, दुःखीपनेका अध्यारोप किया। यह 'अध्यास' हुआ।

अच्छा भाई, आपसे यह पूछते हैं कि आप मूर्ख हैं कि बुद्धिमान् हैं? बोले भाई कि जब घाटा होता है, तो मालूम पड़ता है कि मैंने बड़ी बेवकूफी की और जब फायदा होता, तब मालूम पड़ता है कि मैंने बुद्धिमानी की। बनियेका लड़का पैसा कमाये, तब बुद्धिमान! खो दिया तो मूर्ख।

अच्छा, तुम जागते हो कि सोते हो? बोले कि एक बार जागते हैं और एक बार सोते हैं। तुम दो कैसे हो सकते हो भाई! जो जागने और सोनेमें एक है, वह तुम हो। जो बुद्धिमान् और मूर्खमें एक है, सो तुम हो।

अच्छा, तुम पापी हो कि पुण्यात्मा? तुम किसीसे संयुक्त हो कि वियुक्त? यह मेरा, यह तेरा—यह सब क्या है? बोले कि भाई मेरे, तुम सब अवस्थाओंमें जिन्दा रहते हो। ठण्डा पानी शरीरपर डाला, तब भी तुम और गर्म पानी शरीरपर डाला, तब भी तुम! एक दिन रोटी खाई, तो भी तुम और एक दिन भूखे रहे, तो भी तुम! तुम जब सो गये, तब भी तुम और जब जाग गये, तब भी तुम! तो यह जो तुम्हारा 'तुम' है, यह सोनेवालेसे, जागनेवाले जुदा हैं। यह सुखीसे, दुःखीसे जुदा है। जैसे दस कल्पनामें रस्सी एक है, इसी प्रकार अपने बारेमें दसियों कल्पना करके तुम उनमें एक रहते हो!

अब यह जो तुम्हारी एकता है, यह है तो प्रत्यक्ष! लेकिन, गुणता जो तुम्हारी है, यह बड़ी विलक्षण बात है। देखो, कर्मेन्द्रियोंको जब हम 'मैं' 'मेरा' समझते हैं, तब अपनेको कर्ता समझते हैं। सात्त्विक कर्म करो, तो सात्त्विक, राजस-कर्म करो तो राजस और तामस-कर्म करो तो तामस। तो इन कर्मेन्द्रियोंकी स्थितिको जब

मानते हैं 'मैं' 'मेरी' तब होते हैं कर्ता। अच्छा, काम होवे तो पुण्यात्मा और बुरा काम होवे तो पापी। अरे, यह तो चोला है भाई!

अच्छा, जब ज्ञानेन्द्रियों से देखा, सुना, जाना—तब ज्ञाता हो जाते हैं। देखो, सदंशमें कर्तृत्वका अध्यारोप है और चिदंशमें ज्ञातृत्वका अध्यारोप है और कर्मेन्द्रियोंसे 'मैं' 'मेरा' किया पापी पुण्यात्मा और ज्ञानेन्द्रियोंसे 'मैं' 'मेरा' तो ज्ञाता। मन, बुद्धिसे भोक्तापन हमेशा अंत:करणमें होता है। इस रहस्यको जो जान लेता है, वह कभी दु:खी नहीं होता है।

देखो, एक दिन किसी दूसरे ध्यानमें थे। एकने आकर जोरसे चाँटा मार दिया। बड़ा गुस्सा आया। कौन है भाई? अब दिखे नहीं। जब ढूँढ़ा तो वह तो हमारा दोस्त था। हँसी आ गयी। अरे भाई, ऐसे खेल खेलते हो! एक बारकी सच्ची बात आपको सुनाता हूँ। हम काशीमें पढ़ते थे। उस समय सोलह वर्षकी आयु थी। एक दिन किसी बातपर हँसी आयी। अब हँसते-हँसते लोट्-पोट होवें। अब वह साधुका आश्रम! तो ऐसी हँसी आयी कि वह तो बिलकुल हमारे काबूसे बाहर! बंद ही न हो! हमारे एक मित्र वहाँ थे। वे बैठे-बैठे देख रहे थे। जब उन्होंने देखा कि हमारी आँखमें पानी भी गिर रहा है और मैं हँसता जा रहा हूँ। तो उन्होंने कस कर एक चाँटा लगाया। वह जो चाँटा लगा कि तुरन्त हँसी बन्द हो गयी। हमने पूछा कि यह क्या किया? वे बोले कि तुम तो मर जाते! हमने देखा कि अब जिन्दा रहनेका कोई उपाय नहीं है, हँसते-हँसते-हँसते मर जाओगे! तब मैंने चाँटा लगाया! अब वह उनका मारना भी सुख हो गया।

आपको सृष्टिकी एक-एक बात बता सकता हूँ, जिसको दुनियामें बहुत खराब समझते हैं, वह भी कभी अच्छी हो जाती है और जिसको बहुत अच्छी समझते हैं, वह भी कभी खराब हो जाती है। तो यह क्या? यह सब अध्यारोप है। आप विशेषणको मत पकड़ो। किसी रंगका घड़ा है, यह उतनी चीज नहीं है। घड़ा फूटा नहीं होना चाहिए और पका हुआ ठीक होना चाहिए। घड़ेका पक्का होना जरूरी है और फूटा हुआ न होना जरूरी है! रंगकी उतनी कीमत नहीं है। स्त्रियाँ सोनेका जेवर बनवाती हैं। वे तो डिजाइन देखती हैं। उनको असली सोनेकी तो पहचान होती नहीं। सुनार तो बड़े विलक्षण होते हैं। वे तो गुरुजीको नहीं छोड़ें! हमारे बाप, दादाके सुनार शिष्य थे। तो कभी ब्याह आदिमें जेवर बनवाते तो गुरुजीकी भी चोरी करते थे! मतलब क्या हुआ कि तुम डिजाइनको देखकर उसीको सच्चा, कीमती, महत्त्वपूर्ण समझ रहे हो! उसमें जो मूल धातु है, उसकी पहचान नहीं करते!

यह जो वेदान्तशास्त्र है, यह कहता कि तुम पापी नहीं हो। क्योंकि, तुम थोड़ी देरमें पुण्यात्मा हो जाते हो। तुम पुण्यात्मा नहीं है! क्योंकि तुम थोड़ी देरमें पापी हो जाते हो। तुम दोनोंमें जो एक है, सो हो। तुम सुखी नहीं हो, दुःखी भी नहीं हो। तुम सुखी-दुःखी दोनोंमें एक हो! तुम गोरे, काले दोनोंमें एक हो। तुम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंमें एक हो। तुम नरक, स्वर्ग, गोलोक, बैकुण्ठमें भी एक हो। तुम जन्म और मृत्युमें एक हो! तो शास्त्र, उन सब अपनेमें माने हुये जो धर्माधर्म हैं, उनका निषेध करके यह बात बताता है कि आत्मानिर्विशेष वस्तु है।

देखो, निराकार होना दूसरी चीज है, निर्गुण होना भी दूसरी चीज है। आपको निर्गुण और निर्विशेषमें भी फर्क बताता हूँ! भाव-पदार्थ सगुण होता है और अभाव पदार्थमें निर्गुण होता है। परन्तु भावकी अपेक्षा विशेष है अभाव और अभावकी अपेक्षा विशेष है भाव। 'निर्विशेष' उसको कहते हैं, जो इससे भी जुदा नहीं है और जुदासे भी जुदा नहीं है। जो 'मैं' से भी जुदा नहीं है 'तुम' से भी जुदा नहीं है और इस शरीरसे भी जुदा है और उस शरीरसे भी जुदा है। देखो, सगुण पृथिवी भी है और सगुण जल भी है। पृथिवीमें गंध गुण है और जलमें रसगुण है। और, पृथिव्याभाव और जलाभाव, दोनों निर्गुण हैं। परन्तु, जो पृथिवी है वह पृथिव्याभाव नहीं है और जो पृथिव्याभाव है, वह पृथिवी नहीं है। निर्गुण होनेपर भी दोनोंमें विशेषता है। अनुयोगी प्रतियोगी भाव है। 'निर्विशेष' उसे कहते हैं जिसमें अनुयोगी-प्रतियोगी भाव होता ही नहीं है। यह भी है और यह नहीं भी है। यह नहीं भी है और यह भी है। क्या अद्भुत निर्विशेष होता है! किसीकी अपेक्षा विशेष नहीं है। मुर्देसे भी चैतन्यमें विशेष नहीं है और जिंदासे भी विशेष नहीं है। मुर्देमें भी वैसा ही चैतन्य है, जैसा कि जिंदामें और उसमें जिन्दा और मुर्दाका भेद नहीं है और उसमें जिन्दा और मुर्दाका अभेद भी नहीं है। माने अभाव भी नहीं है। ऐसा निर्विशेष तत्त्व होता है! अब यह कहो कि अपने घरमें बैठकर हम विचार-चन्द्रोदय पढ़ लेंगे, तो तत्त्वज्ञानी हो जायेंगे! सो बात नहीं है भला! यह किताबमें नहीं है।

तो शास्त्र कैसे परमात्माका स्वरूप लखाते हैं, यह बात आपको फिर कल सुनावेंगे!

☆

परमार्थ क्या है? (५)

सृष्टि, प्रलय, बन्धन और साधक, मुमुक्षु और मुक्त—इनकी निषेधावधिसे उपलक्षित माने इनके भावाभाव, दोनोंका निषेध कर देनेपर जो एक रह जाता है और वह शेष भी '**एष**' होता है, '**एषा परमार्थता**'-साक्षात्-अपरोक्ष, उसको परमार्थ बोलते हैं।

माने मुख्य प्रश्न यह है कि आप किसीके मिथ्या होनेका निश्चय कर सकते हैं कि नहीं? तो जब आप किसीके मिथ्या होनेका निश्चय करेंगे तो उस मिथ्यात्वका, मिथ्याके निश्चयके उदय और शान्तिका, निश्चयके शाबल्यका जो साक्षी है, उसको आप कभी मिथ्या नहीं समझ सकते! ईश्वरके अस्तित्वमें अकाट्य क्या है? ईश्वरके अस्तित्वमें अकाट्य प्रमाण आत्माका अस्तित्व है। जैसे शरीरमें माटीका होना, पृथिवीके अस्तित्वका अपरोक्ष है, इसमें खूनका होना जलके अस्तित्वका अपरोक्ष है, इसमें तेजका होना अग्निके अस्तित्वका होना बिलकुल अपरोक्ष है, इसमें साँसका चलना वायुके अस्तित्वका अपरोक्ष रूप है। इसी प्रकार, व्यष्टिमें आत्माका होना, समष्टिके आत्माका अपरोक्ष प्रमाण है, अकाट्य प्रमाण है।

वेदान्तमें एक सत्तावादी, द्विसत्तावादी और त्रिसत्तावादी तीन भेद हैं। जब वेदान्तियोंने यह कहा कि आत्माका न गमनागमन है, न स्वर्ग, न नरक और यहाँतक कि वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत—यह सब-का-सब कल्पित ही है—परमार्थमें नहीं, एक मत। दृष्टिमात्र ही है, प्रातिभासिक सत्ता है इनकी—यह दूसरा मत। तो दूसरे-दूसरे जो मतवादी हैं, उन्होंने वेदान्तियोंपर यह आक्षेप किया कि यह तो नास्तिकता है! क्या? बोले कि न तो ये उपास्यरूपसे ईश्वरको मानें, न तो लोक-परलोकको मानें, न तो पुनर्जन्मको मानें, न नरक-स्वर्गको मानें! ये तो बिलकुल-ही नास्तिक हैं। वेदान्तीके नामसे नास्तिकावतार हुआ है! तो वेदान्तीमें इसका समाधान करनेके लिए एक मत निकला। कैसा समाधान? देखो, समाधान दो तरहका हुआ। एक समाधान तो साधरण जनताके चित्तमें होना चाहिए कि वेदान्ती ईश्वरवादी है कि नहीं! वैकुण्ठ, गोलोकवादी है कि नहीं! पुनर्जन्मवादी है कि

नहीं! नरक, स्वर्ग-वादी है कि नहीं! अब उसके पास कितने प्रश्न जुड़ गये! श्राद्धवादी है कि नहीं। वेदपर श्रद्धा रखनेवाला है कि नहीं! ये सारे प्रश्न वेदान्तीके सामने उठकर खड़े हो गये और जनतामें इसका प्रचार किया जाने लगा कि यह तो कट्टर नास्तिक है! इतिहासकी एक स्थिति ऐसी आयी।

इसपर वेदान्तियोंने कहा कि बाबा, हम तीन प्रकारकी सत्ता मानते हैं। एक व्यावहारिक सत्ता, एक प्रातिभासिक सत्ता और एक पारमार्थिक सत्ता। बोले कि व्यावहारिक सत्तामें हम श्राद्ध मानते हैं, मूर्तिपूजा मानते हैं, अवतार मानते हैं, वर्ण मानते हैं, आश्रम मानते हैं, वेद, शास्त्र सब मानते हैं और नरक, स्वर्ग, वैकुण्ठ गोलोक, मरणोत्तर विविध गतियाँ-इन सबको हम प्रातिभासिक सत्तामें मानते हैं। और, पारमार्थिक सत्ता केवल अपने आत्मासे अभिन्न ब्रह्मकी मानते हैं। तो इससे क्या हुआ? व्यवहारमें अपने धर्मका यथावत् पालन करो और उसका जो फल तुम चाहते हो उसको भी प्राप्त करो। हम तो केवल परमार्थ-सत्तामें सबका निषेध करते हैं, व्यवहार-सत्तामें निषेध नहीं करते। हम गोलोक, वैकुण्ठ, नरक, स्वर्ग, श्राद्ध, मूर्तिपूजा, अवतार आदि सब मानते हैं। अच्छा, कबतक मानते हैं? बोले कि जबतक आत्मा और ब्रह्मके अभेदका ज्ञान नहीं हो जाता।

देखो, अब शास्त्र व्यर्थ नहीं हुए। शास्त्र सब-के-सब चरितार्थ हैं। कबतक चरितार्थ हैं? जबतक आत्मा और ब्रह्मके अभेदका ज्ञान नहीं होता। ये कहते हैं कि हमें केवल परमात्माका ज्ञान नहीं चाहिए। परमात्माको तो अनुमानसे भी निश्चय कर सकते हैं। ये जो हमारे रहस्यवादी, अज्ञेयवादी महात्मा लोग हैं, प्रायः जो ईसाई-धर्मसे प्रभावित परोक्षवादी दार्शनिक हुए हैं, वे कहते हैं कि जहाँतक जगत्के तत्त्वका नियम हमको मालूम है, वहाँतक तो हम नियमको विज्ञानसे जान सकते हैं। लेकिन इन नियमोंसे परे रहकर जो इनका संचालन कर रहा है, उस ईश्वरको हम विज्ञानानुमोदित अनुमानके द्वारा स्वीकार करते हैं और उसके सामने हाथ जोड़ते हैं। अनुमित ईश्वरकी सत्ता वे मानते हैं।

हमारे जो वेदान्ती हैं, वे रहस्यवादी नहीं हैं। वे यह नहीं कहते कि ईश्वर कोई अज्ञेय तत्त्व है। केवल श्रद्धासे सिर झुकानेके लिए है या केवल अनुमानसे सिद्ध करनेके लिए है। वे तो ईश्वरको जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानकर इस शरीरमें ही स्थित मानते हैं और शरीरमें जो आत्मा है, वह सही अखण्ड वस्तु है। इसलिए, जिस प्रणालीसे आत्माका साक्षात्कार होता है, उस प्रणालीसे ईश्वरका भी साक्षात्कार होता है। ईश्वरको वेदान्तमें अज्ञेय अथवा रहस्य

नहीं माना जाता। बल्कि, राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ जो हैं, उनको तो अपरोक्ष मानते हैं। स्वर्गकी तरह नहीं हैं और घटकी तरह भी नहीं हैं। सुषुप्तिको भी अपरोक्ष मानते हैं। स्वप्नको भी अपरोक्ष मानते हैं। बोले कि इनसे भी ज्यादा अपरोक्ष, साक्षाद् अपरोक्ष जो आत्मवस्तु है, वह आत्मवस्तु ही जगत्का मूलभूत परमार्थ तत्त्व है। इसके साथ एक बात और जोड़ दो कि चैतन्यके साथ जहाँ कारणता होती है, वहाँ परिणामिनी नहीं होती, विवर्तिनी ही होती है। क्योंकि, चैतन्य यदि परिणामको प्राप्त हो तो चैतन्य ही नहीं रहता।

तो जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माने कुम्हार भी वही और माटी भी वही है और चैतन्य है। इसलिए, न बननेवाला, न बनानेवाला। बनने और बनानेवालेके रूपमें भासनेवाला, ऐसा जो परमार्थ तत्त्व है, उसके बारेमें आपको और थोड़ी-सी बात सुनाते हैं।

तत्त्वज्ञान होनेके पूर्व व्यवहारमें धर्माधर्म, सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग, उपास्य-उपासक, उपासना-यह सब-का-सब सिद्ध है।

अब प्रातिभासिक क्या है? आप देखो, रज्जुकी सत्ता व्यावहारिक है और उसमें जो सर्प, दण्ड, भू-छिद्र, पुष्पमाल्यकी सत्ता प्रातिभासिक है। तो जिस वस्तुमें सर्प, दण्ड, धारा, छिद्र भास रहे हैं, उसका ज्ञान होनेपर वे सब वस्तुएँ नहीं रहेंगी। देखो, रज्जु पहले भी है, बादमें भी है। रज्जु ज्यों-की-त्यों रह गयी और उसमें जो प्रातिभासिक विकल्प थे, वे रज्जुके ज्ञानसे नष्ट हो गये। तो रज्जु व्यावहारिक और उसमें जो दण्ड, सर्प, भू-छिद्र, पुष्पमाला आदि हैं, वे प्रातिभासिक हैं। प्रातिभासिककी निवृत्ति हो जानेपर व्यावहारिक वस्तु ज्यों-की-त्यों रहती है।

अब पारमार्थिक वस्तु देखो! एक तो अर्थ होता है और एक परमार्थ होता है। हाथ में जो कंकण, पहनते हैं, जो पाँवमें नूपुर पहनते हैं, कानमें कुंडल पहनते हैं, ये सब स्वर्णसे बने हैं। अब प्रश्न यह हुआ कि कंकण भी अर्थ है, नूपुर भी अर्थ है, कुंडल भी अर्थ है। लेकिन, उनमें परमार्थ कौन-सी चीज है। तो जो स्वर्ण है, वह परमार्थ है। इन्द्रियोंके द्वारा भासमान जो नाम, रूप है, उसका जो परम अर्थात् अबाधित रूप है, जिसके मिथ्यात्वका निश्चय न किया जा सके, वह परमार्थ है। जाग्रत्-अवस्था व्यावहारिक है और स्वप्न प्रातिभासिक है और आत्मा पारमार्थिक है। लेकिन, परमार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेपर केवल दो ही अवस्था हो सकती है। या तो परमार्थ आत्माके सिवाय सब प्रातिभासिक है और

या तो सब-का-सब परमार्थ ही है। परमार्थके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

'इदं सर्वम् यदय-मात्मा'।

आजतक कोई ऐसा माईका लाल पैदा नहीं हुआ जो यह अनुभव कर सके कि मैं मिथ्या हूँ! अपने मिथ्यात्वका निश्चय कोई कर सकेगा क्या? अरे, जो निश्चय करेगा, वही तो सत्य है, अबाधित है। इसलिए अबाधित सत्ता आत्माकी है। और, आत्मासे जो भी अन्य होगा, उसके बारेमें 'है' कि 'नहीं है'-यह संशय भी होगा और कदाचित् नहीं है—ऐसा निश्चय भी हो सकेगा। कहनेका अभिप्राय क्या हुआ? कि आत्मा परमार्थ है और बाकी सब प्रातिभासिक अस्तित्ववाली वस्तुएँ हैं।

एक बार एक महात्मा बड़े घटाटोपसे यह सिद्ध कर रहे थे कि सत्ता तीन होती हैं—व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक। तो मैंने उनसे पूछा कि यह सत्तामें जो तीन पना है, यह कौन-सी सत्ता है? वे बहुत हँसे। बड़े समझदार थे। बोले कि यह त्रित्व भी व्यावहारिक है। तीनपना पारमार्थिक नहीं है। मतलब क्या हुआ? तीनपना कल्पित है। अगर तीनपना पारमार्थिक होवे तो अद्वैततत्त्वका बंटाधार हो जाये। इसलिए, जैसा ऋजु बुद्धिका जिज्ञासु है, उसको वैसा समझानेके लिए यह कल्पना करते हैं। असलमें कोई दृष्टान्त परमात्माका नहीं होता। रज्जु-सर्प भी दृष्टान्त नहीं, स्वप्न भी दृष्टान्त नहीं है। मिट्टीमें घड़ा, यह वेदान्त समझानेका दृष्टान्त नहीं है। जलमें तरंग, बुलबुला, अग्निमें चिन्गारी, आकाशमें घटाकाश, मंठाकाश, मनमें सपने, बुद्धिमें भ्रम, अहंकार आप देखते ही हो—ब्राह्मणपनेका, हिन्दूपनेका, मनुष्यपनेका—ये परस्पर बाधित हैं!

आप बताओ, एक ब्राह्मणको हिन्दू होनेमें कितनी देर लगेगी? भाई, तुम ब्राह्मण हो न! तुम हिन्दू तो नहीं हो? हिन्दूमें तो चाण्डाल भी होता है, शुद्र भी होता है, वैश्य भी होता है! बोले कि न-न, हम हिन्दू हैं। अरे भलेमानुस, तब यह ब्राह्मण और हिन्दू दो क्या? भाई! एक हिन्दू विशेषको ब्राह्मण कहते हैं तो ब्राह्मणत्वका विशेषण जुदाकर दिया तो हिन्दू हो गये। वह विशेषण क्या जनेऊ तोड़कर, चुटिया काटकर हटाना पड़ा? नहीं-नहीं, सब विशेषण शरीरमें! लांगवाली धोती भी पहनो, चुटिया भी रखो, जनेऊ भी रखो! लेकिन विशेषणका अभिमान छोड़ो तो हिन्दू हो गये!

अच्छा, एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें कितनी देर लगेगी? क्या बिना कुर्ता निकाले वह हिन्दू मनुष्य नहीं हो सकता! क्या बिना बाल मुँड़वाये, हिन्दू मनुष्य

नहीं हो सकता? हिन्दुत्वका जो अभिमान है, उसका परित्याग करके मनुष्य है। एक विशेषण युक्त मनुष्यका ही नाम तो मनुष्य है न! तो हिन्दुत्वका विशेषण जहाँ छोड़ा, अभिमान छूटा और तुम मनुष्य हो।

इसी प्रकार एक जीवको ब्रह्म होनेमें कितनी देर लगती है? इस बातको मुश्किल नहीं समझना। वह तो तर्क-वितर्क करनेमें मुश्किल लगता है। एक ब्राह्मणके हिन्दू होनेमें और एक हिन्दूके मनुष्य होनेमें जैसे केवल अभिमानका परित्याग मात्र ही हेतु है, इसी प्रकार एक जीवके ब्रह्म होनेमें एक विशेष प्रकारका जो देहाभिमान है, उसका परित्याग करो तो तुम जीवसे ईश्वर हो गये। ईश्वर मनुष्यकी तरह है और ब्रह्म, पंचभूतकी तरह है। जीवपना, हिंन्दुत्व, ब्राह्मणत्वकी तरह है। पर यह 'तरह' मैं बताता हूँ। असलमें ब्रह्म जो है, वह तो **'हेतुदृष्टान्तवर्जितं'**—उसमें कोई दृष्टान्त लागू नहीं पड़ता है। सब दृष्टान्तोंसे न्यारा है।

तो देखो, जैसे ब्राह्मण, ब्राह्मण रहते हुए ही हिन्दू है, हिन्दू रहते हुए ही मनुष्य, मनुष्य रहते हुए ही पंचभूत है। वैसे ही पंचभूतमें आकार विशेष रहते हुए ही मनुष्यत्व, हिन्दुत्व, ब्राह्मणत्वकी फुरणा होते हुए भी-क्योंकि ये सब-के-सब प्रातिभासिक हैं—इनके त्रित्वसे विलक्षण जो अपना स्वरूप है, उसका नाम ब्रह्म है।

तो वैदिक व्यवहारकी प्रधानतासे व्यावहारिक सत्ता और युक्तिकी प्रधानतासे प्रातिभासिकसत्ता। प्रातिभासिकमें भानात्मक और अभानात्मक, प्राज्ञ और तैजस दोनोंकी अवस्था और प्राज्ञ, तैजस, विश्व तो ब्रह्म ही हैं और परमार्थ, ब्रह्म।

तो **'इत्येषा परमार्थता'**-जो बात कही गयी, उसको आप देखो!

जब अब घड़ा और मिट्टीका दृष्टान्त देकर ब्रह्मको समझानेकी कोशिश करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि आप भावात्मक एकताका विचार मत करो, तात्विक एकताका विचार करो। पति और पत्नी, मित्र और मित्र—उनमें तात्विक एकता नहीं है, भावात्मक एकता है। मित्र और मित्रका भाव मिल गया तो एकता भावात्मक और पति-पत्नी दोनों एक राय हो गये तो एकता भावात्मक। और, कहीं महाराज मतभेद हुआ तो रसोईघर बंद। औफिससे होटल। तो इस भावात्मक एकताका रूप दूसरा होता है। आज जो हमारे प्रान्तकी सीमा कहाँतक रहे, इसके लिए विवाद होता है और 'हमारी भाषा' के लिए विवाद होता है, 'हमारी जाति' के लिए विवाद होता है—इसका नाम भावावेश है। तत्त्वके साथ

इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक ही धरती हिन्दुस्तान, पाकिस्तान सबकी है। एक धरतीमें ही अफ्रीका, एशिया, अमेरिका सब बसते हैं। एक आकाशमें रहते हैं। एक सूर्य, चन्द्रमा सबके हैं। एक पानी पीते हैं, एक हवामें साँस लेते हैं, मनुष्य जातिमें सब-के-सब पैदा हुए हैं। यह बात दूसरी है कि कोई दाढ़ी रखता है और कोई नहीं रखता है; कोई चोटी रखता है, कोई नहीं रखता है और कोई जनेऊ पहनता है, कोई नहीं पहनता है। पर विवाद सारा-का-सारा भावात्मक है। केवल दिलकी भावनाओंको प्रधानता देकर यह विवाद है।

वेदान्त कहता है कि बाबू, भावनाओंमें मत बहो! जरा घड़े, मिट्टीके दृष्टान्तको देखो! जितने घड़े बनते हैं, सब मिट्टीमें बनते हैं। बने हुए घड़ोंसे मिट्टी जुदा होती है। घड़ा नहीं बना था, तब भी मिट्टी थी और घड़ा फूट जायेगा, तब भी मिट्टी रहेगी। मिट्टी तत्त्व है और घड़ा एक कल्पित भाव है। कल्पित माने घटित। घटितको ही तो घट बोलते हैं। घटित माने गढ़ा हुआ। तो गढ़नेवालेकी उतनी कीमत नहीं है और जो गढ़ा गया, उसकी भी उतनी कीमत नहीं है,गढ़नेकी क्रियाकी भी उतनी कीमती नहीं है, किसमें गढ़ा गया-उस उपादानकी कीमत है। घड़ा मिट्टीका है कि ताँबेका है, कि सुवर्णका है—इसमें फर्क पड़ जायेगा। तो तत्त्वकी कीमत होती है।

वेदान्त यह कहता है कि भावके चक्करमें आकर राग-द्वेषमें मत फँसो। हम एक ओर तो देखते हैं कि ठोस तत्त्वोंके बारे में अनुसन्धान तो बढ़ता जा रहा है। दूसरी ओर भावात्मक-वैषम्यकी वृद्धि होती जा रही है। यह बिलकुल असंगत है। वैज्ञानिक-युगकी उन्नतिमें भावात्मक-वैषम्यका कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए था। भावात्मक-विसंगतिके कारण राग-द्वेष नहीं होना चाहिए, युद्ध नहीं होना चाहिए। परन्तु, वेदान्त तो केवल विज्ञानसे उपलब्ध पदार्थोंमें जो तात्विकता है, उसीका नहीं; वह तो आत्मविज्ञानके द्वारा जो भावके पीछे बैठकर भावको देखने-वाला है, जिसके सामने हजारों भाव आये और हजारों भाव हट गये, उसका निरूपण करता है।

आपको क्या सुनावें! जो हमारे बाबाके शत्रु थे, वे हमारे पिताके मित्र हो गये और जो हमारे पिताके मित्र थे, वे हमारे शत्रु हो गये। जो हमारे शत्रु हो गये, वे हमारे पुत्रके मित्र हो गये। यह भावमें क्या है? जब स्वार्थआता है तो मित्र हो जाते हैं और जब स्वार्थमें विरोध होता है तो लोग शत्रु हो जाते हैं। भावोंकी कीमत कहाँ है? जब गुस्सा आता है तो मनमें आता है कि इसको मार डालें। जब राग आता है तो मनमें आता है कि इसको दिलसे लगा लें! काम आता है तो मनमें होता है कि इसको

भोगें और क्रोध आता है तो मनमें आता है तोड़ दें। जब काम, क्रोध आता है तो हम उसके वाहन बन जाते हैं। वह नचाने लगता है। वह मदारी हो जाता है, हम बन्दर हो जाते हैं! भावोंकी कोई कीमत है? यथार्थके अनुसार, निश्चयके अनुसार मनुष्यको चलना चाहिए। यह भावोंके द्वारा जिनका जीवन संचालित होता है, सो उचित नहीं।

वृन्दावनमें एक बार मैंने देखा कि कीर्तन हो रहा था। एक ठाकुर साहब हाथमें झाँझ लेकर खूब मग्न होकर कीर्तन कर रहे थे और झर-झर आँखोंसे आँसू गिर रहे और बिलकुल चेहरा लाल, भावमग्न! रावटीमें ठहरे थे और रावटी वहीं थी, जहाँ हम रहते थे। कीर्तनमें-से लौटकर आये तो देखा कि तश्तरी फूटी हुई है। बिलकुल टूट गयी थी। नौकरको बुलाया, पूछा कि किसने तोड़ी? अब वह तो बेचारा थर-थर काँपने लगा। अब उन्होंने वे उसको मारना शुरू किया कि क्रोधमें लाल। देखो, जो पहले प्रेममें लाल थे, अब क्रोधमें लाल हो गये।

हमारे वेदान्तका कहना यह है कि यह जो मानसिक भाव हैं, यह तो स्वप्नवत् आते हैं, जाते हैं। कीमत तत्त्वकी होती है,भावकी नहीं होती। इसलिए, हम कहते हैं कि घड़ेमें जैसे माटी है, वैसे प्रपञ्चमें ब्रह्म है। तो तुम तत्त्व-दृष्टिको महत्त्व दो, कल्पना-दृष्टिको महत्त्व मत दो।

बोले कि देखो, घड़ेसे मिट्टीका अन्वय-व्यतिरेक है। मिट्टी हो तो घड़ा बने और घड़ा न हो, तब भी मिट्टी रहे। इसी प्रकार, जगत्‌का जो मूल कारण है, वह हो तो जगत् और जगत् न रहे, तब भी वह रहेगा। 'अन्वय-व्यतिरेक' शब्द हम कई बार सुनते हैं, पर वह समझमें नहीं आता। **'तत् सत्त्वे तत् सत्त्वं अन्वयः'**- जिसके रहनेपर जो चीज रहे, जैसे मिट्टीके रहने पर घड़ा रहे,तो मिट्टीका अन्वय घड़ेमें है। परन्तु, घड़ेके न रहनेपर भी, घड़ा फूट जाने पर भी घड़ेमें जो सेर भर वजनवाली मिट्टी थी, वह रहेगी। तो इसलिए, घड़ेसे व्यतिरिक्त है मिट्टी! तब मिट्टी-घड़ेका अन्वय-व्यतिरेक है। इसी प्रकार जगत्‌का जो मूल तत्त्व है, उस मूल तत्त्वसे ही सारी सृष्टि बनी। तो सृष्टिमें उस मूल तत्त्वका अन्वय है। लेकिन, सारी सृष्टिके न रहनेपर भी, कोई नाम, रूप न रहे, कोई पृथक्ता न रहे, तब भी वह तत्त्व रहता है। इसलिए, सृष्टिसे उसका व्यतिरेक है।

तो ईश्वरसे सृष्टि है, यह सृष्टिमें ईश्वरका अन्वय है और सृष्टिका नाश हो जानेपर भी ईश्वरका नाश नहीं होता, यह ईश्वरका व्यतिरेक है। हम तो तात्त्विक-दृष्टिसे ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं। आप बुरा नहीं मानना। हम किसी

सम्प्रदायकी निन्दा नहीं करते हैं। किन्तु, मुसलमान-सम्प्रदायमें या ईसाई सम्प्रदायमें जिस ईश्वरकी स्वीकृति है, वह भावात्मक ईश्वर है। तत्त्व-रूपसे ईश्वरका अनुसन्धान नहीं है। आप वैष्णव-लोगोंसे पूछिये। वह कहते हैं कि यदि तत्त्वरूपसे ईश्वरका अनुसन्धान करोगे तो तुम्हारी भक्ति मारी जायेगी, तुम्हारी भक्तिमें विघ्न पड़ जायेगा। गौड़ेश्वर सम्प्रदायके वैष्णव इस बातकी घोषणा करते हैं कि ईश्वरका अनुसन्धान तत्त्वरूपसे कभी मत करना। आकृति विशिष्टको ईश्वर मानना। राधा-कृष्ण ईश्वर हैं। राधा-कृष्णमें कौन-सा तत्त्व है, उसका अगर अनुसन्धान करोगे तो मसाला तो जो तुम्हारी आत्माका है, वही राधा-कृष्णका भी है। सो मामला बिगड़ जायेगा। तो उन्होंने जो भक्तिमें बहुतसे विघ्न माने हैं, उसमें तत्त्वरूपसें ईश्वरके अनुसन्धानको भी विघ्न माना है। इसीलिए, मैं आपको कहता हूँ कि यह भावात्मक एकता है। यह जातीयता, राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता, अंन्तर्राष्ट्रीयता भाव है और अन्तर्ब्रह्माण्डीयता भाव है और समष्टि-ईश्वर भी भाव है। तो भावात्मक अनुसन्धानका नाम परमार्थका अनुसन्धान नहीं है। अर्थके परमरूपका जो अनुसन्धान है, वह परमार्थ है।

'परम' माने सच्चा। 'सच्चा' माने जिसके मिथ्यात्वका किसी भी प्रकारसे निश्चय न हो सके। *'परमत्वं नाम अबाधितत्वं।'* जो कभी बाधित न हो, उसको परमत्व कहते हैं। *'बाधितत्वं नाम मिथ्यात्व निश्चयः'*। *नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः*। किन्तु *मिथ्यात्व निश्चयः*—अप्रतीतिका नाम 'बाध' नहीं है। जो चीज मालूम न पड़े, सो बाधित हो गयी। नहीं-नहीं, मालूम पड़ते हुए भी जैसे एक नट, स्त्री बनकर नाटकमें आया है, तो वह स्त्रीरूपसे प्रतीत होते रहनेपर भी, उसका स्त्रीत्व बाधित है। क्यों? क्योंकि, वह दरअसल पुरुष है। इसी प्रकार, ये जो सृष्टिके नाम, रूप दिखायी पड़ते हैं, ये प्रतीतिकालमें नामात्मक, रूपात्मक दिखायी पड़नेपर भी वस्तुतः ये नाम, रूप नहीं हैं। यह परब्रह्म परमात्मा ही है। इसलिए इनक नाम रूप बाधित है और अबाधित तत्त्व, सच्चातत्त्व परब्रह्म परमात्मा है।

अच्छा, बोले कि अब तो परमार्थका निरूपण हो गया? नहीं, परमार्थ-निरूपणकी भूमिका बन गयी। क्यों? 'इत्येषा परमार्थता'। परमार्थको बोलना होगा तो 'एषा' बोलना पड़ेगा। अरे, 'यह तो हाथ कंगनको आरसी क्या?'—जैसे बोलते हैं, ऐसा है। स्वामी रामतीर्थसे किसीने पूछा कि तुम ब्रह्म हो, इसमें क्या प्रमाण है? तो बोले कि इसमें मैं ही प्रमाण हूँ। मैं दूसरेकी गवाहीसे ब्रह्म हूँ। जैसे किसीने हमसे पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है? तो हमने कहा कि अखण्डानन्द। बोले कि

इसमें क्या प्रमाण है कि तुम अखण्डानन्द हो? हमने कहा कि शर्माजी से पूछ लो। हमारा नाम अखण्डानन्द है। माने शर्माजीके कहनेसे मेरा नाम अखण्डानन्द है? अरे भाई, मैं अखण्डानन्द हूँ, इसमें मैं स्वयं प्रमाण हूँ। मेरा ही नाम और मेरी ही बात सच्ची नहीं तो दूसरेकी कहाँ सच्ची होगी? तो, प्रमाण मुझसे सिद्ध होता है, 'मैं' प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता।

आप देखो, आँखसे 'मैं' सिद्ध नहीं होता। मुझसे आँख सिद्ध होती है। बुद्धिसे 'मैं' सिद्ध नहीं होता। मुझसे बुद्धि सिद्ध होती है। तो प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार मुझसे सिद्ध होता है। 'मैं' प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारसे सिद्ध नहीं होता।

तो परमार्थ क्या है? पहले बताया गया था कि मिट्टीसे घड़ा बनता है और घड़ेके फूट जाने पर मिट्टी रहती है। इसलिए, घड़ा तो अर्थ हुआ और मिट्टी परमार्थ हुई। तो जिसका अपने कार्यमें अन्वय होवे और जो स्वयं अपने कार्यसे व्यतिरिक्त होवे माने कार्यका नाश होनेपर भी जिसका नाश न हो, उसका नाम परमार्थ। बोले कि नारायण, नारायण, अभी तो परमार्थकी छाया ही नहीं आयी। क्यों, क्या हुआ? बोले कि यह तो कार्य-कारणभाव बन गया ना एक बाप, एक बेटा। एक पूर्ववर्ती, एक उत्तरवर्त्ती। एक पहले था, एक बादमें हुआ। कारण तत्त्व पहले था और कार्य-तत्त्व बादमें पैदा हुआ और कार्य-तत्त्व मर गया तो कारण-तत्त्व बाकी रह गया। यह परमार्थ नहीं है।

आपको एक दूसरा उदाहरण देता हूँ। एक सत्तासामान्य होता है। वह क्या है? जैसे हजार गाय हों। तो कोई काली है, कोई लाल है, कोई धौरी है। उनकी बहुत जाति होती है। कपिला गाय, श्यामा गाय, रक्तगाय, बड़ी गाय, छोटी गाय। लेकिन, गोत्वरूप जो सामान्य है माने अनेक गायोंमें हमेशा रहनेवाला एक जो गोत्व है, गायपना है उसको 'सामान्य' बोलते हैं। वह सामान्य-सत्ता परमार्थ है? स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध, पशु-पक्षी—इन सबमें जो एक सत्ता है, है, है, वह परमार्थ है क्या? नहीं, उसको भी परमार्थ नहीं बोलते हैं। क्योंकि, वह तो अनेक सापेक्ष है। व्यक्तिसापेक्ष जाति होती है। हजार व्यक्तियोंको मिलाकर एक जाति बनती है और एक जातिमें हजार व्यक्ति होते हैं। व्यक्ति न हो तो जाति कहाँसे बनेगी? तब क्या परमार्थ जो है, वह भी व्यक्ति-सापेक्ष है, जाति-सापेक्ष है? तो सत्ता-सामान्य भी परमार्थ नहीं।

श्रीगौड़पादाचार्य महाराज और उनके पौत्र-शिष्य श्रीशंकराचार्य महाराज और श्रीशंकराचार्यके शिष्य सुरेश्वराचार्य—ये जो परमार्थके स्वरूपका निश्चय करते

हैं, वे कहते हैं कि अनुगत और व्यावृत्त अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक—यह सत्यमें नहीं होता। मिट्टी घड़ेमें आयी और घड़ा फूट जानेपर मिट्टी रही, ऐसी जो दो अवस्था—कार्यावस्था और कारणावस्था, यह जो व्यक्ति और व्यक्तियोंका समूह है—ये परमार्थमें नहीं होते। 'अव्यावृत्ताननुगतम्'—ब्रह्मतत्त्व किसीमें अनुगत नहीं है। क्योंकि, कार्य ही नहीं है। श्रुति कहती है, 'व्याप्यव्यापकता मिथ्या'। एक लोहेका गोला आगमें डाल दिया, आग उसमें व्याप्त हो गयी। अब उस लोहेको छूओ तो जल जाओगे न! तो लोहेके गोलमें अग्नि व्यापक हुई और लोहेका गोला व्याप्य हुआ। इस प्रकार यह जगत् व्याप्य है और परमात्मा इसमें व्यापक है, जगत् कार्य है और परमात्मा कारण है,—यह भेद परमार्थमें नहीं है। क्योंकि, असलमें विचार करनेवाले मनुष्यके मनमें देश, कालका संस्कार नहीं छूटता, भेदका संस्कार नहीं छूटता। इसलिए, जब वह परमार्थका चिन्तन करने लगता है तो परमात्माको व्यापक नित्य कहता है। यह व्यापकता, देशका चिन्तन है, ब्रह्मका चिन्तन नहीं है। इसी तरह काल नित्य होता है और वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और इनके संस्कारसे संस्कृत बुद्धि जब परमार्थका चिन्तन करने लगती है, तब वह शुद्ध बुद्धि नहीं होती है। यह जो लोगोंका कहना है कि ऐन्द्रियक अनुभवसे ही बुद्धि बनती है, उसमें बुद्धिकी निर्मलता कहाँ है? ऐन्द्रियक अनुभूतिको जब पृथक् करके, उसका अपवाद करके जब बुद्धिमात्र शेष रह जाती है, तब उस निर्मल, सात्विक बुद्धिमें, उस प्रतीतिमात्र बुद्धिमें, उस कर्तृत्व, भोक्तृत्व उल्लेखशून्य बुद्धिमें जिस साक्षी, एकरस आत्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन होता है—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

बोले कि यही परमार्थ है। न-न, जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है, जहाँ अवच्छेद-अवच्छेदक भाव है, जहाँ आभास-कूटस्थ भाव है, जहाँ दृष्टि-सृष्टिभाव है, वहाँ परमार्थ कहाँ? तब तो सबको न-न करते जाओगे? आखिर परमार्थ क्या?

यह बात आपको कल सुनावेंगे।



परमार्थ क्या है? उपसंहार

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा॥ ३३॥

आपको सुना रहा था कि यह जो वेदान्तका विचार है, यह कोई आचार-मीमांसा नहीं है। किसको कैसे रहना चाहिए, क्या खाना चाहिए—यह बतानेके लिए तो धर्मशास्त्र है। भक्ति कैसे करनी चाहिए—यह बतानेके लिए भक्ति-शास्त्र है। चित्त एकाग्र कैसे करना चाहिए—इसके लिए योग-शास्त्र है। यह तो वस्तुके अनुसन्धानके लिए है कि मूलवस्तुका स्वरूप क्या है? तो जो लोग अनजान हैं, जिनको इसका संस्कार नहीं है, उनको यह बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। लेकिन इसके जो गुर हैं, वे इतने सीधे-सादे हैं कि यदि थोड़ा भी मनुष्य ध्यान देवे, तो उसको संसारमें जो दिनभरमें पचासों, सैंकड़ों बार दुःखी होना पड़ता है उससे छुटकारा मिल जाये।

आपको बहुत सीधी बात सुनाता हूँ। जैसे आँखसे हम तस्वीर देखते हैं, तो उसमें कई रंग हैं। पर जो तस्वीरके उपादानकी दृष्टिसे देखें तो सब माटी है। यह जो तस्वीरमें अनेक रंग दिखते हैं, वे सब आँखसे ही दिखते हैं और सब रोशनीमें ही दिखते हैं। तो इतने रंग और इतनी आकृति होनेपर भी इसका मूल उपादान एक है। इसके लिए, प्रकाश एक है और इसके लिए आँख एक है। गणेशजीका चित्र हो तो उसे नेत्र देखते हैं और रामजीका चित्र हो तो भी नेत्र ही देखेंगे। अच्छा, यह चित्र बिलकुल न रहे तो उसका अभाव कौन देखेगा? आँख ही तो देखेगी और, रोशनीमें ही देखेगी। तो इसका मतलब यह हुआ कि चित्रका रंग-बिरंगा होना, चित्रका एक-दो-तीन होना, चित्रका भला-बुरा होना, चित्रका न होना—यह सब आँखसे मालूम पड़ता है। चित्रके भले, बुरे होनेसे हमारी आँखपर कोई असर नहीं पड़ता। आँख तो केवल सबको देखती है। यह बढ़िया तस्वीर देखकर जो आसक्ति हो जाती है, वह आँखमें नहीं होती। आँख तो ज्ञान है।

अब देखो, सूर्यकी रोशनीमें कोई असर नहीं पड़ता। चाहे लाल तस्वीर हो, नीली तस्वीर हो, गणेशकी तस्वीर हो, कि विष्णुकी तस्वीर हो। युवतीकी तस्वीर हो, कि चोरकी तस्वीर हो कि जुआरीकी तस्वीर हो। तस्वीर हो कि न हो। सूर्यकी रोशनीमें कोई असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार, यह जो अपना आत्मा है, यह

ज्ञानस्वरूप है। इसके सामने कभी घड़ा आता है तो कभी कपड़ा आता है। कभी लाल घड़ा, कभी पीला घड़ा। कभी लाल साड़ी, कभी हरी साड़ी। तो, यह विषयमें भेद हुआ। रंगमें भेद होनेसे जैसे आँखमें भेद नहीं हुआ, ऐसे जीभसे स्वाद लेनेपर भी, कानसे सुननेपर भी, नाकसे सूँघनेपर भी, त्वचासे स्पर्श करनेपर भी, आँखसे देखनेपर भी 'मैं' में भेद नहीं है। सबको जाननेवाला एक है।

अच्छा, धर्मके अनुकूल होवे कि धर्मके प्रतिकूल होवे—इससे भी ज्ञानमें भेद नहीं हुआ। पंखा चल रहा है कि पंखा स्थिर है—इसका असर पंखेपर पड़ता है। हमारे ज्ञानपर तो नहीं पड़ता है। ज्ञान तो यही बतावेगा कि पंखा चल रहा है कि स्थिर है। इसी प्रकार, मनके सामने घट, पट आदि विषय हैं अथवा कोई अन्य विषय हैं। ज्ञान एक है। भोग कोई भी हो, ज्ञान एक है। इन्द्रिय कोई भी हो, ज्ञान एक है। चाहे राग हो कि द्वेष हो, ज्ञान एक है। चाहे विक्षेप हो कि समाधि हो, ज्ञान एक है। अच्छा, रस्सीमें साँप चाहे झूठा हो और चाहे रस्सी न हो, सच्चा साँप ही हो, वह झूठा-सच्चा साँप होता है, ज्ञान झूठा-सच्चा नहीं होता । यही विषयसे अलग करके ज्ञान को समझनेकी जरूरत है। विक्षेप, समाधि मनमें होती है, ज्ञानमें नहीं होती। यथार्थ, अयथार्थ वस्तुमें होता है, ज्ञानमें नहीं होता। इस देशमें और दूसरे देशमें भेद होता है। पर वह देशमें भेद है, ज्ञानमें नहीं है। एक ही ज्ञान दोनोंको प्रकाशित करता है। कालभेदसे ज्ञान-भेद नहीं होता। क्या दिन, क्या रात, क्या सुषुप्तिकाल, क्या जाग्रत्-काल।

तो, काल-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, देश-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, वस्तु-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, भोग-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, विक्षेप-समाधिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं। यहाँ तक कि झूठा, सच्चा विषय होगा, ज्ञान नहीं होगा।

तो यह ज्ञान कौन है? यह ज्ञान अपना स्वरूप है। अब इस बातको यदि हम सत्ताकी दृष्टिसे देखें तो भी इसी नतीजेपर पहुँचेंगे और सूर्यकी रोशनीकी दृष्टिसे देखें, तो भी इसी नतीजेपर पहुँचेंगे और अपनी आँखकी नजरकी दृष्टिसे देखें, तो भी इसी नतीजेपर पहुँचेंगे, इसका अभिप्राय यह है कि जो आकृतियाँ हमारे सामने चमक जाती हैं, वे तो कभी चमकेंगी और कभी नहीं चमकेंगी और ज्ञान, एकरस रहता है। स्मृति-विस्मृतिका ज्ञानपर रत्तीभर भी असर नहीं पड़ता है। देखो, जैसे हम मधुका नाम लेते हैं तो आपको मधुकी याद आ गयी। अच्छा, तो इतनी देर आप क्या मधुकी बात सोच रहे थे? नहीं सोच रहे थे। विस्मृति हो गयी। मधुको आप भूल गये थे। लेकिन, इससे आपका जो मधु-सम्बन्धी ज्ञान था, वह नष्ट हो

गया था? नहीं 'मधु' शब्दका उच्चारण करते ही आ गया। तो विस्मरणसे भी ज्ञानका नाश नहीं होता। अगर विस्मरणसे ज्ञानका नाश होता होवे, तो रोज सोते समय यह मानना पड़ेगा कि ज्ञानका नाश हो जाता है। पहले दिनका पढ़ा दूसरे दिन कैसे याद आता है?

कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि, एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ सत्ता और ज्ञान एक हो जाता है, जहाँ अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म तीनों एक हो जाता है। एक ऐसी दशा आती है, जहाँ केवल ज्ञान-ही-ज्ञान रहता है और सचमुच वह ज्ञान तत्त्व है और इस स्थितिमें भी ज्यों-का-त्यों है। इसको कोई गड़बड़ा नहीं सकता। इसको ब्रह्मा, विष्णु, महेश जब मिटावेंगे, तो उनकी मिटायी हुई चीज साफ इस ज्ञानमें दिखायी पड़ेगी कि उन्होंने इसको मिटा दिया और जब वे मिट जायेंगे तो? तो उनका मिटना भी इस ज्ञानमें दिखेगा। यह ऐसा अखण्ड ज्ञान है।

इसमें धर्म-अधर्मका भेद नहीं। कल्पित विषयक शास्त्रमें धर्म-अधर्म होता है। कल्पित विषयक शास्त्रमें उपास्य, उपासना होती है। कल्पित विषयक शास्त्रमें समाधि विक्षेप होता है। कल्पित विषयक शास्त्रमें ब्राह्मण, शूद्र होता है, संन्यासी, गृहस्थ होता है और कल्पित विषयक शास्त्रमें जीव, ईश्वरका भेद होता है। अकल्पित विषयक जो शास्त्र है, उसमें ज्ञान सत्ता और अधिदैव ईश्वर, इनका भेद नहीं है।

बात यह है कि हम दूसरेके बारेमें विचार करते हैं। अपने बारेमें विचार नहीं करते। इसलिए, यह वस्तु प्रतिबद्ध हो जाती है। बिलकुल सामने होनेपर भी मालूम नहीं होती। देखो, शीशेमें जब आदमी अपनी तस्वीर देखने लगता है, तो शीशेकी याद नहीं रहती। अपनी तस्वीर ही दिखायी पड़ती है। तो इसी तरहसे, जो लोग तस्वीरोंको देखनेमें लग गये हैं, किसकी रोशनीमें ये तस्वीरें दीख रही हैं, उसपर उनका ध्यान नहीं जाता। इतनी सीधी बात है और प्रयोजनीय है।

यहाँ तो तत्त्वका इतना बड़ा अनुसन्धान है, जहाँ धर्माधर्मका अन्त हो जाता है। जहाँ धर्माधर्मका प्रारम्भ ही नहीं है, ऐसी जो वस्तु है उसमें धर्माधर्म कैसे बनता है? बोले कि तत्-तत् सम्प्रदायके जो शास्त्र हैं, अरे भाई! ऐसे कहो कि जो वेदशास्त्र हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित ही धर्माधर्म होगा। कितनी बड़ी क्रांतिकारी दृष्टि है। यह नहीं है कि सन्ध्या-वन्दन ही धर्म है। बिलकुल नहीं है। अनधिकारी पुरुष सन्ध्या-वन्दन करता है तो वह पतित हो जाता है। शास्त्रमें इसका बिलकुल स्पष्ट वर्णन है। गायका दूध ही पवित्र नहीं है। अनधिकारी पुरुष गायका दूध पीता है तो पतित हो जाता है।

जो चीज केवल विधि-निषेधैकगम्य होती है वह तात्विक नहीं होती। आप अपने इष्टदेवको भगवान् मानते हैं। नारायणवादी कहेगा कि नारायण ही ईश्वर है, कृष्णवादी कहेगा कृष्ण और रामवादी कहेगा राम, शंकरवादी कहेगा शंकर ईश्वर है। अब इनमेंसे किसीसे पूछो कि ईश्वर कौन है? तो अपने इष्टमें ही अभिनिवेश रखनेवाला चिल्ला पड़ेगा कि हमारा ही इष्टदेव ईश्वर है। अच्छाजी, तब दूसरेका इष्टदेव क्या है? तो यह अपने इष्टदेवमें जो निष्ठा है, वह अन्तःकरणको पवित्र करनेके लिए है, वह मनको एकाग्र करनेके लिए है, वह एक ओर उन्मुख करनेके लिए है। यह सारा प्रयोजन उसमें होनेपर भी तत्त्व वह होगा, जो कृष्णकी कालिमामें, शिवकी श्वेतिमामें और गणेशकी रक्तिमामें एक होगा!

तो, अपनी-अपनी जिद्दमें तत्त्व नहीं होता। हाँ, अपनी-अपनी जिद्द तत्त्वको समझनेमें मददगार होतीं है।

देखो, परमार्थ क्या है? जैसे मिट्टीमें एक चाण्डालकी मूर्ति बनाओ और एक ब्राह्मणकी बनाओ और एक विष्णुकी बनाओ। तो तीनों मिट्टी है कि नहीं? इसको तत्त्व-दृष्टि बोलते हैं। आप मिट्टीके देवताकी पूजा कर लो, ब्राह्मणको प्रणाम कर लो।

आपको शायद मालूम नहीं होगा कि श्राद्धमें एक दिन ब्राह्मणकी जरूरत पड़ती है, दसवें दिन एक ऐसे ब्राह्मणकी जरूरत पड़ती है, जो श्राद्धमें प्रयुक्त होनेवाले आमिषको खाये। यह बिलकुल कट्टरधर्मी श्राद्धकी बात मैं बोलता हूँ। अब उस दिन खास करके महाब्राह्मण आते हैं। अब लोग कहेंगे कि हाय-हाय ऐसी चर्चा क्यों करते हो? तो उस दिन ब्राह्मण लोग कुशोका प्रतिनिधि ब्राह्मण बनाते हैं और उसके आगे मांस नहीं, भैंसका दूध रखते हैं। 'आमिषं महिषीक्षीरं'—कर्मकाण्डके ग्रन्थमें लिखा है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि मिट्टीमें जो चाण्डाल होगा, जो ब्राह्मणका पुतला होगा, कुशामें जो ब्राह्मणका पुतला बना, जो सुपारीमें देवता बना, वह केवल शास्त्रकी दृष्टिसे तो बनेगा। लेकिन अगर वहाँ माटीमें ढूँढ़ने लगे कि देवतावाली माटीमें कुछ फर्क है और ब्राह्मण- वाली माटीमें कुछ फर्क है या चाण्डालवाली माटीमें कुछ फर्क है तो माटीमें फर्क नहीं मिलेगा! बोले कि अच्छा, माटीमें फर्क नहीं है, तो कुछ हमारी आँखमें फर्क होगा? नहीं, तुम्हारी आँखमें भी फर्क नहीं है। अच्छा, सूर्यकी रोशनीमें फर्क है? नहीं, सूर्यकी रोशनीमें भी फर्क नहीं है। इस एकत्वको, तत्त्वको, इस अद्वैतको, जहाँ वह

दीखनेवाली तस्वीर, सूर्यकी रोशनी और आँख—ये तीनों जिस आत्मामें बाधितके रूपमें रहते हैं। माने जिस अखण्डमें इसकी सत्ता ही नहीं है, उस तत्त्वकी दृष्टिसे देखो। इसमें हिन्दू-मुसलमानकी लड़ाई नहीं है। इसमें हिन्दू और ईसाईकी लड़ाई नहीं है। इसमें पारसी, जैन, बौद्ध, सिख—इनकी लड़ाई नहीं है। इसमें महाराष्ट्र और गुजरातकी लड़ाई नहीं है। इसमें पूँजीवाद और साम्यवादकी लड़ाई नहीं है। इसमें एक द्वीपका दूसरे द्वीपसे, एक ब्रह्माण्डका दूसरे ब्रह्माण्डसे, एक सौरमण्डलका दूसरे सौरमण्डलसे कहीं भी भेद नहीं है। तो वैमनस्यकी सारी सम्भावनाओंको ध्यानमें रखकर, सबमें जो एकत्व है उसका निरूपण, यह परमार्थ है। यह कोई भावनात्मक एकता नहीं है। तात्विक एकताको ध्यान में रखकर यह बात कही गयी है और इससे प्रयोजनकी सिद्धि यह होती है कि दूसरेके सम्प्रदाय, धर्म, मत, मान्यता, विश्वास, भावनापर आक्षेप करनेका कोई कारण ही नहीं रहता। दूसरेपर आक्षेप वह करता है, जो अपने मतका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। जो अपने वंशकी पोलको जानता है, वह दूसरेके वंशको कैसे कहेगा कि खराब है। जो अपने वंशकी मौलिक पवित्रताको जानता है कि वह ब्रह्मरूप है, वह सबके वंशकी ब्रह्मरूपताको क्यों नहीं जानेगा?

कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि यह परमार्थ-विचार इतना उदार, इतना सार्वकालिक, इतना सार्वभौम और प्राणीमात्रके लिए नहीं, वस्तुमात्रके लिए भी उपयोगी है।

एकबार हमलोग एक महात्माके पास बैठे थे। हमारा एक साथी था, वह घास नोचने लगा। लोगोंकी आदत होती है कि बैठे-बैठे तिनका ही तोड़ते हैं, कागज ही फाड़ते हैं। वह बैठे-बैठे घास तोड़ने लगा। वे महात्मा बोले कि अरे, यह क्या करते हो? राम-राम-राम! यह हरी-हरी घास अगर गायके पेटमें जायेगी, दूध बन जायेगी, आदमी पीयेगा तो यह घास मनुष्य बन जायेगी। लेकिन तुम यदि इसको ऐसे ही तोड़ दोगे तो यह माटी हो जायेगी और फिर कभी जब इसका बीजसे सम्बन्ध होगा तो पौधा होगी।

अब देखो न, परमार्थवादीका यह दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण शाश्वत है। यह नहीं है कि एकने चोरी की और उसको तुमने जेलमें डाल दिया। हो गयी चिकित्सा! तुम्हारी दवा तो पूरी हो गयी न! हमारी दवा यह है कि उसने चोरी क्यों की? तो कम्युनिस्ट कहेंगे कि गरीबीके कारण इसने चोरी की। सो इसको धन दे

दो! लेकिन, क्या जिसके पास धन होता है, वह चोरी नहीं करता है? उसके पास चोरी करनेके और बहुतसे साधन और बहुत से आदमी हो जाते हैं और बहुत-सी अकल हो जाती है, बहुतसे पढ़े-लिखे हो जाते हैं।

हमारे पढ़े-लिखे लोग कहेंगे कि इसने मूर्खताके कारण चोरी की है। अगर यह पढ़ा-लिखा होता तो चोरी नहीं करता। तो शिक्षा-मन्त्री कहेंगे कि लो शिक्षा-योजना! हम अभी चोरी मिटाते हैं। अच्छा, शिक्षित लोग तो चोरी नहीं करते होंगे? वे तो व्यभिचार नहीं करते होंगे? वे तो अनाचार नहीं करते होंगे? मामला ही गायब है। और महाराज, अगर अपनी पार्टीका हो, तब क्या कहेंगे? बोले कि देखो भाई, अपना आदमी है। इसको कोई ऊँचा पद दे दो। ऊँचे पद पर जायेगा तो अपनी इज्जत सँभालेगा, चोरी नहीं करेगा। अरे, ऊँचे पदवाले क्या चोरी नहीं करते हैं? वे तो रोज पकड़े जाते हैं। अखबारोंमें उन्हींका ज्यादा आता है। गरीब लोग चोरी करते हैं तो उनका अखबारोंमें नहीं छपता।

तो यह बात क्या है असलमें? हमारे महात्मा लोग कहते हैं कि दिलमें एक लोभकी वृत्ति होती है और वह सबके होती है। जन्मसे ही होती है। बच्चेके मनमें होती है। वह अपनी तश्तरीकी चीज लेनेपर दूसरे बच्चेको मारता है, हाथ-पाँव पीटता है। हमारी चीज हमारे पास बनी रहे, यह लोभकी वृत्ति जन्मसे होती है। तो पैसा देकर यह नहीं मिटाई जा सकती। यह ज्यादा पढ़ानेसे भी मिटाई नहीं जा सकती। यह ऊँची कुर्सीपर जानेसे भी नहीं मिट सकती। इसके लिए, जब वह लोभवाला व्यक्ति स्वयं प्रयास करेगा कि हमारी लोभकी वृत्ति शिथिल होवे, तभी होगी। यह कानूनसे भी नहीं होगी। असेम्बलीमें कानून बनेगा तो लोभ कैसे जायेगा? वह तो जहाँ लोभ है, वहाँ उससे छूटनेकी वृत्ति चाहिए न! फौज, पुलिस इसको बन्द नहीं कर सकती। कोई राज्य, शासन इसको शान्त नहीं कर सकता। तब जहाँ लोभ है, वहाँ इसकी चिकित्सा करनी पड़ेगी।

लोभके बादमें है, चोरीकी क्रिया और लोभके साथ-साथ एक बुद्धि है, जो उसका समर्थन करती है। तो एक बुद्धि बने कि लोभ पाप है, लोभवश दूसरेके हककी वस्तु लेना पाप है। एक तो व्रत हो कि चोरी-बेईमानी नहीं करेंगे और दूसरे, बुद्धि कहती हो कि चोरी-बेईमानी करना पाप है। तो एक ओर बुद्धि और एक ओर लोभके अनुसार कर्म न करनेकी प्रतीज्ञा—दोनोंके बीचमें लोभ-वृत्ति पिसेगी। यह हुई धर्मकी दृष्टि!

आपको यह भी बतावें कि जो ईश्वरकी मान्यता है, यह भी मनुष्यके जीवनको

बिलकुल प्रशस्त बनानेमें उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी उपयोगी होनी चाहिए! हम बिलकुल वेदकी बात आपको सुनाते हैं भला! यदि तुम ईश्वरको यहाँतक मानोगे कि हमारे धर्म-अधर्मको देखता है और अधर्म करनेपर दण्ड देता है और धर्म करनेपर पुरस्कार देता है। अगर ईश्वरके बारेमें इतनी दृष्टि रहेगी, तब तो पाप से बचोगे और यदि यह मान बैठोगे कि ईश्वर सब कुछ करता है। तो महाराज, हमने बहुतसे शरणागत-वत्सलोंसे बात की है! वे तो ईश्वरका नाम लेकर अपनी बुराईका समर्थन करते हैं। कहते हैं कि ईश्वर जो कराता है, सो करते हैं। बोले कि यह प्रकृति करवा रही है। ये अपने दोषको दूसरेके सिरपर डालते हैं। यह प्रकृति और ईश्वर व्यक्ति-व्यक्तिके काममें हस्तक्षेप नहीं करते! बोले कि हे ईश्वर, हम आज सोच रहे हैं कि हमारे घरमें गुड़की एक ढेली भेज दे। माने ईश्वरको और कोई काम नहीं है। वह तुम्हारे बारेमें ही सोच रहा है। बोले भाई, कि ईश्वरने जो कराया, सो किया।

इसीसे देखते हैं कि ईश्वरवादी लोग भी धर्मके बारेमें बहुत कट्टर नहीं होते। इसीसे हमारे धर्माचार्य कहते हैं कि वेदको मानो धर्मको मानो और ईश्वरको मानो ऐसा मानो कि जब हम वेदके अनुकूल आचरण करते हैं, धर्म करते हैं तब उससे प्रसन्न होकर ईश्वर हमको शुभ फल देता है। यह मत कहो कि ईश्वर हमसे पाप करा रहा है, ईश्वर हमको लोभ दे रहा है। यह तो समाजविरोधी विचार है।

मैं बम्बईमें एकबार आया तो एक सज्जन मेरे साथ थे। उन दिनों बम्बईमें खूब दंगा हो रहा था। तो जितने लोग घरमें थे। सब एलिफेंटा गुफा देखने चले गये और वे सज्जन और हम दोनों ही रह गये। क्योंकि, हमको मन ठीक रहे, यह ज्यादा अच्छा लगता है। अब ज्यादा परिश्रम करें और अमुक चीज देख आवें, अमुक चीज देख आवें—उसमें ज्यादा तकलीफ होती है। तो हुआ क्या कि सब लोग तो चले गये और वे सज्जन हमारे साथ रह गये। तो वे लड़ने लगे। वैसे उनको लड़ाई करनेकी आदत थी। जब दूसरे लोग रहते थे तो उनसे लड़ते। अब कोई नहीं था तो हमसे लड़ाई शुरू की। तो मैंने कहा कि क्यों लड़ते हो? बोले कि बिना भगवान्‌की इच्छाके एक पत्ता भी नहीं हिलता है। आज भगवान् हमारे हृदयमें बैठकर अगर आपसे लड़ाई करवा रहे हैं तो हम क्या करें?

देखो, भगवान् सबको लड़ाई करनेका भाव क्यों नहीं देते? इसका अर्थ हुआ कि जिसके अन्तःकरणमें लड़ाईका भाव होता है, उसीका जगता है। ठीक है, रोशनीमें ही विष्ठा भी दिखता है और रोशनीमें ही फूल भी दिखता है। लेकिन, उसमें ईश्वरका प्रकाश है। परन्तु, अन्तःकरणमें जैसी वासना होती है, गुस्सेकी

वासना है तो गुस्सा आवेगा, कामकी वासना है तो काम जागेगा, लोभकी वासना है तो लोभ जगेगा। तो इससे काम नहीं चलता है कि ईश्वरका नाम ले लिया जाये! उस वासनाके निवारणके लिए जान-बूझकर, प्रयत्नपूर्वक शास्त्रानुसार आचरण करना पड़ता है।

एक बहुत भ्रष्ट पुरुष था। उसके बारेमें गाँवमें यह अफवाह थी कि यह बहुत ही बुरा आदमी है। लेकिन, उसको बारहों ग्रंथ गोस्वामी तुलसीदासजीके याद थे और कोई भी बात उससे करो तो बस तुरन्त चौपाई बोलने लग जाय कि,

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहीं नचावत राम गोसाईं॥

ऐसे बात नहीं बनती है। अपने धर्मानुष्ठानमें निष्ठा होनी चाहिए और शास्त्रकी रीतिसे होनी चाहिए! यह कहो कि हम पृथिवी, जल या अग्नि, वायुका विचार करके धर्मनिष्ठा बनावेंगे अथवा प्रकृति, ईश्वरका विचार करके बनावेंगे। सो, ऐसे धर्मनिष्ठा नहीं बनती। जैसे कानूनको माननेमें प्रजा बाध्य होती है, वैसे शास्त्रीय अनुशासनसे धर्माधर्म आदि बनता है। तात्त्विक दृष्टिसे नहीं बनता। हमारा यह बिलकुल उद्घोष है कि तत्त्वदृष्टिसे ब्रह्मदृष्टिसे, आत्मदृष्टिसे न समाधि-विक्षेपकी कोई कीमत है और न लोक-लोकान्तरकी कोई कीमत है और न उसमें चतुर्भुज आकार और द्विभुज आकारकी कोई कीमत है। यह शास्त्रीय दृष्टिसे तुम जो उपासना करते हो, उसमें धर्म-बुद्धि करके उससे उसमें कीमत आती है। वह भी यदि शास्त्रके विपरीत हो तो फलप्रद नहीं होती।

तो कहनेका मतलब यह है कि इस बातको तत्त्वदृष्टि ईश्वरपर भी नहीं छोड़ती, अज्ञान पर नहीं छोड़ती। अच्छा, ज्ञानके साथ भी इसको नहीं जोड़ती। यह जो तत्त्व है, यहाँ सूर्यकी रोशनी और घट, पट आदि पदार्थ और अपनी आँख, कान, नाक आदि अर्थात् अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म, दृश्य, दर्शन और द्रष्टा—इन तीनोंकी भिन्नता मिट जाती है। यहाँ ईश्वर, जगत् और जीवका भेद मिट जाता है और वह असलियत है। इसलिये, भेद-व्यवहारकी दशामें भी वह ज्यों-का-त्यों रहता है। चाहे तुम उसको जानो, चाहे मत जानो और मानो, चाहे मत मानो। उसपर भाव करो, चाहे मत करो। उसकी याद आवे, चाहे नहीं आवे! वह चीज ज्यों-की-त्यों है। स्मृतिसे वह बनी रहे और विस्मृतिसे खो जाये, तो सुषुप्तिमें सब लोग निरीश्वर हो जायें! तब सब लोग 'नैरात्म्यवादी' हो जायें। अतः विस्मृतिसे भी उसका नाश नहीं होता है! ऐसी एक ठोस वस्तु है यह परमार्थ तत्त्व!

★

नानात्व है ही नहीं

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ्नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ ३४॥

पीछे वर्णन किया कि कोई तो कहते हैं कि सब-का-सब प्राण ही है। कोई कहते हैं कि नहीं, सब-का-सब काल है। कोई-कोई कहते हैं कि सब-का-सब देश है। कोई कहते हैं कि सब-का-सब धर्माधर्म है। कोई कहते हैं कि सब लोक-लोकान्तर है। कोई कहते हैं कि देवता है, कोई कहते हैं कि वेद है और कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, लय है।

बोले कि, **'नात्मभावेन नानेदं'**—ब्रह्म अपने स्वरूपसे नाना नहीं है। तो बोले कि ये चीजें आपसमें अलग-अलग होंगी? बोले कि, **'न स्वेनापि कथञ्चन'**—ये आपसमें भी अलग-अलग नहीं हैं।

देखो, घरमें एक रेशमी कपड़ा और एक सूती कपड़ा है। आजकल तो न जाने क्या-क्या बनता है? कपड़ेका नाम ही नहीं। स्त्रियाँ भी जो नाम नहीं जानती हैं, वे ऐसे कहती हैं कि ऐ देखो, हमने सुना है कि एक ऐसा कपड़ा निकला है, जिसमें सिलवट नहीं पड़ती है! तो हमारे लिए वह बाजारसे खरीद दो। लेकिन, यह तत्त्वका विचार नहीं है कि कौन-सा कपड़ा! तत्त्वका विचार यह है कि जलानेपर सब-के-सब राख हैं और बननेके पहले भी सब-के-सब राख हैं।

कानपुरमें एक रेयनका बड़ी भारी मिल है। वे दिखानेके लिए गये कि चलें महाराज पाँव रखो! अब वहाँ देखा तो कागजके बड़े-बड़े गत्ते रखे हुये थे। मैंने पूछा कि यह क्या है? बोले कि इसीमें-से तो रेशमके धागे निकलते हैं! यह अमेरिकासे आता है। बोले कि एक दिन अगर घंटे भर यह मशीन बंद हो जाय तो जम जाती है। बड़ा खर्च पड़ता है। चौबीसों घंटे मशीन चलती रहनी चाहिए! लेकिन उस माटीके गत्तेमें-से कपड़ा तो बड़ा कीमती निकलता है। तो तत्त्वके निरूपणमें 'रेयन' की कीमत नहीं है और सूती धागेकी भी कीमत नहीं है। तत्त्वके निरूपणमें तो यह जाँच करना है कि यह पीतल है कि सोना है! यह विलायतका नकली सोना है कि असली सोना है!

तो 'मैं' क्या, 'तुम' क्या, 'यह' क्या, 'वह' क्या? बोले कि देखो, इसमें न-न, बिलकुल नहीं है। अपने आपमें भी वस्तुएँ अलग नहीं हैं और आत्मभावसे भी अलग नहीं हैं।

'न पृथङ्नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः'-कोई चीज न तो अलग है और न तो एक है। यह भी बड़ी विलक्षण बात है। क्या? अभाव किसीसे एक थोड़े ही होता है। देखो, रस्सीसे साँप क्या पृथक् है? नहीं। अच्छा, रस्सीसे एक है क्या साँप? नहीं है। क्योंकि, वह तो है ही नहीं। तो क्या अलग होगा और क्या एक होगा! इसी प्रकार, ठसाठस भरे हुए ठोस तत्त्वमें यह सृष्टि नहीं बनती है! तो तत्त्ववेत्तालोग सृष्टिको देखते हुए यह जानते हैं कि यह सृष्टि ऐसी है। वे व्यक्तिके रूपमें रहते हुए अव्यक्तको जानते हैं और वे सृष्टिको देखते हुए भी ब्रह्मको देखते हैं। सब कर्म होते हुए अकर्म देखते हैं। सब भोग होते हुए भी उनको योग दिखता है। सब विक्षेप रहते हुए भी समाधि दिखती है और चींटी, मुर्गा दिखते हुए भी ब्रह्म दिखता है उनको। दृश्यके रूपमें यह सम्पूर्ण प्रपंच दिखता हुआ भी, 'यह दृङ्मात्र तत्त्व ही है'-ऐसा उनको दिखता है।

यह आसक्ति कान, आँखमें नहीं होती! यदि इनमें होती तो ये निकल कर उसके पास चले जायें, जिससे आसक्ति हो, जिसकी आवाज अच्छी लगती है, कान निकलकर उसके पास क्यों नहीं चला जाता? जिसका रूप अच्छा लगता है, आँख निकलकर उसके पास क्यों नहीं चली जाती? अरे भाई, इनका काम प्रकाशन है। जैसे सूर्य केवल विद्यमान-वस्तुको प्रकाशित करता है, वैसे नेत्रादि इन्द्रियाँ ज्ञानात्मक हैं। तो आसक्ति इनमें नहीं होती। आसक्ति मनमें भी नहीं होती। आसक्ति तो बुद्धिमें भी नहीं होती और आसक्ति, आत्मामें भी नहीं होती। तब फिर यह आसक्ति क्या है? यह 'मैं आसक्त हूँ'—ऐसा भ्रम है। इसीका नाम आसक्ति है।

आपको तो मैंने एक सैकेंडमें यह बात बता दी, सुना दी। हमको यह समझनेमें बरसों लगे हैं! जब हम मानते हैं कि हम आसक्त हैं, तब आसक्ति है। नहीं तो आसक्ति कहीं नहीं होती! किसी चीजके खाये बिना हमारी जीभ सूखती नहीं है। किसी चीजको सूँघे बिना नाक हमारी कटती नहीं है। किसी चीजको देखे बिना आँख हमारी फूटती नहीं है। किसी चीजके सुने बिना कान हमारे बहरे होते नहीं हैं! कोई चीज हमारी यादमें नहीं आवे तो उससे हमारा दिल फटता नहीं है! केवल 'मैं आसक्त हूँ'—यह भ्रम है।

यह दुनियामें आसक्तिका कितना भ्रम होता है, इसका एक किस्सा आपको सुनाता हूँ! एक पत्रिकामें मैंने पढ़ा कि एक सज्जनको किसी लड़कीसे प्रेम हो गया। तो तय हो गया कि तुम्हारे साथ हमारा विवाह होगा। तीन-चार दिन साथ-साथ रहे। फिर वह चली गयी और उसकी बड़ी बहन आयी तो उससे आसक्ति हो गयी। बोले कि अब तेरे साथ विवाह करेंगे! तो छोटी लड़कीने अपनी माँको शिकायत की कि हमारी बड़ी बहनने तो मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। तो माँने उनको बुलाया अब वह उनकी माँको देखकर बोले कि हम आपकी किसी भी लड़कीसे नहीं, आपहीसे शादी करेंगे! देखो, यह अजब निराली दुनिया है! यह तो हम लोगोंको तत्काल मालूम पड़ता है कि इनसे आसक्ति हो गयी, इनसे आसक्ति हो गयी—इसके चक्करमें नहीं पड़ना!

आसक्तिके अनुसार अपने जीवनको नहीं चलाना चाहिए। धर्मके अनुसार अपने जीवनको चलाना चाहिए। यह विवाहका बन्धन आसक्तिकी पूर्ति करनेके लिए नहीं है! अपने जीवनको नियन्त्रणमें लानेके लिए है। उच्छृंखल भोग-विलास करके हम अपनेको नष्ट कर लें—इसके लिए एक स्त्री, एक पुरुष और उसके लिए एक समय, अमुक स्थिति—यह बाँधना पड़ता है। इसका नाम धर्म है। और, यह बात तात्त्विक दृष्टिसे नहीं, व्यवस्थाकी दृष्टिसे होना अनिवार्य है।

तो '**नात्मभावेन नानेदं**' आत्मभावसे अर्थात् सबके प्रकाशक स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो यह नानात्व बिलकुल नहीं है। अखण्ड एक रस अद्वितीय ब्रह्म-ही है।

'**न स्वेनापि कथंचन**'—यदि सब वस्तुओंको अलग-अलग दृष्टिसे विचार किया जाय, तब भी ये नाना सिद्ध नहीं होते।

देखो, दो तरहसे वस्तुकी सिद्धि होती है—एक तो उसकी परिभाषा ठीक-ठीक बन जानी चाहिए और दूसरे उसके बारेमें साक्षात्कार करनेका करण, प्रमाण अपने पास होना चाहिए।

लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

यह हमारे प्राचीन महापुरुषोंका सूत्र है कि किसी भी वस्तुको सिद्ध करना हो तो उसके लक्षण अर्थात् उसकी परिभाषाका ज्ञान होना चाहिए और उसके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि-कोई-न-कोई प्रमाण होना चाहिए। और, जिसके सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं और कोई लक्षण नहीं, उस वस्तुको कैसे सिद्ध किया जाय?

तीन, चार बात ध्यानमें रखनी चाहिए। जैसे, किसीने पूछा कि सोना क्या है? तो बच्चेने कहा कि हमने एक सिल्ली देखी है, या एक पट्टी देखी है—उसका नाम सोना है। तो उस सिल्ली या पट्टीमें जो लम्बाई-चौड़ाई है, वह देखी और उसका रंग देखा! बहुत होगा तो उसका वजन बता देगा! लेकिन, इससे तो असली सोनेका पता नहीं लगेगा। उसको तो कसौटीपर कसना पड़ता है। वह आगमें न जले। क्योंकि आग, आगसे नहीं जलती। इसीलिए, हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें चाँदीको पार्थिव माना है। चाँदी मिट्टीका विकार है और सोनेको तैजस माना है। तो सोनेकी परिभाषा कि सोना किसको कहते है और सोनेका प्रमाण होना चाहिए!

आपको अन्धपरम्पराकी बात नहीं कहते! मिट्टी, आँखसे नहीं देखी जाती, यह शायद आपको मालूम हो कि नहीं! पृथिवीकी पहचान गन्ध है, जलकी पहचान स्वाद है, अग्निकी पहचान रूप है। तो गुणकी पहचान है और उससे द्रव्यका निश्चय करते हैं। तो सोना क्या है? वह लम्बाई, चौड़ाई, रंग, वजन—उसका नाम सोना है? नारायण कहो!

अच्छा, एक दूसरी बात सुनाते हैं। हमारे शास्त्रोंमें गायका लक्षण बताया, सास्नावत्व होना। 'सास्ना' माने गायको गलेमें एक ललरी लटकती है, उसको 'गलक्रम्बल' बोलते हैं। हमारे गाँवमें 'ललरी' बोलते हैं। संस्कृतमें 'सास्ना' बोलते हैं। वह होना गायका लक्षण है। जिस-जिस चतुष्पाद प्राणीके गलेमें वह ललरी लटक रही हो, उसको गाय समझना। 'सास्नावत्वंगोत्वम्'। बोले कि यह तुमने निश्चय कैसे किया कि सिर्फ गायके गलेमें ही ललरी होती है! तो गायसे भिन्न सम्पर्ण चतुष्पाद प्राणियोंका जब तुमको ज्ञान होवे कि गायसे इतर किसी भी प्राणीको ललरी नहीं होती, तब गायका लक्षण बनेगा 'सास्नावत्वं गोत्वं'। माने गायको समझनेके लिए, गायसे भिन्न सारे पदार्थोका ज्ञान आवश्यक हो गया। माने एक चीजको समझनेके लिए सब चीजका ज्ञान आवश्यक होता है। जब हम यह कहेंगे कि यही अमुक व्यक्ति हैं, तो यह मालूम पड़ना चाहिए कि इनके सिवाय जो लोग यहाँ बैठे हैं, उनमेंसे यह, कोई नहीं है। यही हैं।

अच्छा, देखो, और सुनाते हैं। गन्ध किसको कहते हैं? जो नाकसे मालूम पड़े। नाक किसको कहते हैं? जिसको गन्ध मालूम पड़े! अच्छा तो पहले नाक कि पहले गन्ध? अनिर्वचनीय हो जायेगा!

तो इस तरह संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, वे अनिर्वचनीय होती हैं।

और देखो! कई वृक्ष इकट्ठे हों तो सायंकाल उनकी परछाईं पूर्वमें बहुत

लम्बी जायेगी और प्रात:काल पश्चिममें लम्बी जायेगी और दोपहरके समय वह पेड़ोंके नीचे बैठ जायेगी। तो वह परछाईं क्या है? वह क्या परमाणुओंके संयोगसे बनी है? आरब्ध है? क्या परछाईंमें परमाणु होते हैं? नहीं होंगे। अच्छा तो, परछाईं वृक्षको संघात है, संघात माने कई परछाईं मिलकर एक परछाईं बनी। अच्छा, तो उसमेंसे एक परछाईंको अलग कर सकते हो? सीता राम! संघात भी नहीं है। अच्छा, तो वह क्या पेड़ोंका विकार है? पेड़ोंके परिपाकसे वह बनी है? तो क्या वह पेड़ोंका परिणाम है? क्या पेड़ उसमें अन्वित हैं? अच्छा, क्या पेड़ोंसे अलग परछाईं ले जायी जा सकती है? सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर है,'नहीं'।

इसी प्रकार हमारा यह जो शरीर है, यह पञ्चभूतोंमें ही है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीसे बाहर नहीं है। तो यह पंचभूतोंका क्या है? पंचभूतोंसे आरब्ध है कि पंचभूतोंका संघात है कि विकार है? अन्तिम विकार तो पंचभूत ही हैं। उनके बाद विकार नहीं होता! अच्छा, क्या यह पंचभूतोंका परिणाम है कि उनसे अन्वित है कि उनसे पृथक् है? विचार करनेपर यह निश्चय होता है कि यह पंचभूतोंकी समष्टिमें केवल मनकी, कारीगरी है, कल्पना है। 'कल्पना नाम मनसो रचना'। तो यह शरीर बिलकुल कल्पित है।

तो, **'इति तत्त्वविदो विदुः'**—तत्त्ववेत्ता लोग जानते हैं कि इस शरीरको 'मैं' 'मेरा' बोलना, इसके सम्बन्धियोंको बहुत महत्त्व देना—यह विचार सिद्ध नहीं है। यह 'मेषी प्रपातान्ध परम्परा' है। हमलोगोंके गाँवमें बोलते हैं, 'भेड़ियाधसान' भेड़ोंके बारेमें यह ख्याल है कि अगर सबसे अगली भेड़ कुएँमें गिर पड़े तो पीछेकी सब कुएँमें कूद पड़ती हैं। एक बार बक्सर स्टेशनके पास भेड़ें चर रही थीं। एक ट्रेन आती हुई दिखी। तो अगली भेड़ उछलकर ट्रेनके सामने आ गयी और फिर तो एक-के पीछे एक कई भेड़ें कूद गयीं और कट गयीं।

बिना सोचे-समझे देह और देहके सम्बन्धियोंमें 'मैं' मेरा जोड़नेकी पद्धति, यह अन्धपरम्परा है, विचार पूर्वक नहीं है। विचार करनेसे तो मालूम पड़ता है कि एक ही तत्त्व है, उसमें *'माया माया कथं तात, छाया छाया न विद्यते'*—माया माया क्या करते हो? छाया छाया भी नहीं हैं। तब फिर उसमें यह प्रान्त, यह जिला, यह राष्ट्र, यह परराष्ट्र, यह सम्प्रदाय, यह जाति—इनको लेकर जो मार-पीट है, झगड़ा है—वह गलत है और जो जिस सम्प्रदायमें है, उसके दूसरे सम्प्रदायके बराबर ही समझे न! निष्ठाके लिए ऐसा समझनेमें कोई हर्ज नहीं है कि जिसमें मैं हूँ, इससे बड़ा दूसरा सम्प्रदाय नहीं है। लेकिन, इससे छोटा दूसरा सम्प्रदाय है, ऐसा

समझनेका कोई कारण नहीं है। बड़प्पन निष्ठाके लिए होता है। अतः **'कल्पिततत्वेन सामान्येन'**—सब सम हैं, सब कल्पित हैं। सबमें आचार्य कल्पित है, इष्ट कल्पित है, मन्त्र कल्पित है, साधनाकी पद्धति कल्पित है, साध्य कल्पित है। और, परमार्थ जो है, वह एक है।

इस दृष्टिसे कि वे भी कल्पितमें रह रहे हैं और हम भी एक कल्पितमें रह रहे हैं, तो कल्पित छोड़कर कल्पितमें ही जाना है, तो इसको छोड़कर उसमें क्यों जायें? इस दृष्टिसे निष्ठा होनी चाहिए कि इससे श्रेष्ठ वह नहीं है। यह ठीक है। परन्तु, इससे वह छोटा है, यह बात भी तो नहीं है। देखो, यह बात हम लोगोंसे सीखने लायक है! यह नेता लोगोंको मालूम नहीं है। वे धर्म-निरपेक्ष, धर्म-निरपेक्ष बोलते हैं। परन्तु, यह बात जो मैं सुना रहा हूँ, यह उनको नहीं मालूम है। वे सर्व धर्म समत्वका नारा ही लगा सकते हैं। उसके पीछे जो दर्शन है, जो समझ है, जो विवेक है—उसको वे थोड़े ही जानते हैं!

यह बुनियादी बात है कि अकल्पित-वस्तु सबमें सम है। लेकिन, वह अनेक नहीं है। और, कल्पित वस्तु भी सम है, परन्तु अनेक भी है। तो न तो परमात्मासे कुछ पृथक् है, और न अपृथक् है। न तो आपसमें पृथक्-पृथक् है और न ही परमात्मामें पृथक् है। इस बातको किसने जाना? बोले कि, **'इति तत्त्वविदो विदुः'**—तत्त्वं जाननेवाले जानते हैं।

'तत्त्व' क्या? देखो, 'त्वं' और 'तल्ल'-दोनों प्रत्यय संस्कृत भाषामें भावके अर्थमें होते हैं। *तस्य भावस्य तत्त्वं, तस्य भावस्तत्ता*। तो 'तत्त्व' क्या है? सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, सम्प्रदायोंमें विद्वानोंके द्वारा निरूपित जो तत्-पदार्थ है, अनारोपिताकारं-अर्थात् किसी आकारका उसमें आरोप मत करो! और, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषयको ग्रहण करती है और मन प्रिय-अप्रिय आकार बनाता है, बुद्धि यथार्थ-अयथार्थका आकार बनाती है। लेकिन, तत्त्व वह है जिसमें बुद्धि यथार्थ-अयथार्थका आकार न बना सके और बुद्धिका अधिष्ठान होवे, बुद्धिका प्रकाशक होवे। मन जिसमें प्रिय-अप्रिय आकार न बना सके। कान जिसमें भैरवी और घनाक्षरीकाभेद न कर सके, गाली और तारीफका भेद न कर सके! त्वचा जिसमें कठिन और मृदुका भेद न कर सके! नेत्र जिसमें लाल-पीलेका भेद न कर सकें, रेखाएँ न खींच सकें! जीभ जिसमें कड़वे-मीठेका भेद न कर सके! तो सम्पूर्ण अन्तःकरण और बहिःकरणोंके द्वारा अपनी-अपनी

वासना और विशेषताओंको लेकर तत्त्वमें जो चीज बाहरसे थोपी जाती है, उसका अपवाद कर दो।

'अध्यारोप' माने एकचीज़पर अन्तःकरणकी विशेषतासे आरोपित जो नाम, रूप हैं, उसका निषेधकर देनेपर जो शेष रह जाता है, उसको 'तत्त्व' बोलते हैं और वह तत्त्व कहो कि किसी विशेष परिस्थितिमें है! सो बात नहीं। तत्त्व, परिस्थितिमें नहीं होता। पूर्ण परिस्थितियोंका प्रकाशक होता है। तत्त्व, देशमें नहीं होता। देशका प्रकाशक होता है। तत्त्व, वस्तुके आकारमें नहीं होता। वस्तुके आकारका प्रकाशक होता है। चैतन्य होता है। 'चैतन्य' माने आपना आपा होता है और अपरिणामी होता है, बदलता नहीं है। बदलनेका साक्षी होता है।

'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः'—(गीता)

सद्भाव, असद्भाव, जन्म और मृत्यु दोनोंका अन्त जिसने देख लिया है, जन्म-और मृत्यु दोनोंके अत्यन्ताभावका जो साक्षी है, असत् और सत्—दोनोंका जो साक्षी है, भाव और अभाव-दोनोंका जो साक्षी है, वह चैतन्य, अपरिणामी, अखण्ड एकरस तत्त्व है, उसको तत्त्ववेत्ता लोग जानते हैं। और, ३३वें श्लोकमें बताया कि, **'तस्माद द्वयता शिवा'**—इसलिए, अद्वयता जो है, यह निर्भय-पद है। इसमें किसीका त्रास नहीं है। **'द्वितीयाद्वैभयं भवति'**—दूसरा होगा तो उससे डर होगा!

देखो, पार्टी बनती है तो डर लगा रहता है कि कोई दूसरा हमारे मुकाबलेमें न आ जाये। दो भाई होते हैं तो यह प्रश्न होता है कि राजा कौन बने? आपसमें लड़ाई हो जाती है। जबतक अखण्ड अद्वय-तत्त्वका बोध नहीं है, सर्वआत्मा है, यह अनुभव नहीं है, तबतक भय बना रहेगा। अद्वयता शिव तत्त्व है और तत्त्ववेत्ता लोग उसीको आत्मरूपसे जानते हैं और उसमें भेद नहीं है।



अद्वयत्तत्त्वद्रष्टा कौन? (१)

वीतरागभयक्रोधै-र्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५॥

ये कहते हैं कि अद्वय-वस्तुको तत्त्वदर्शी लोगोंने देखा। 'दृष्टः' माने 'उपलब्धः'।

देखो, एक दिन एक माँने एक बच्चेसे कहा कि बेटा, उस तिजोरीमें स्वर्ण रखा है, जरा उठाकर तो ले आओ! बच्चेने जाकर तिजोरीमें ढूँढ़ा और आकर बोला कि स्वर्ण तो नहीं मिला। वह बोली कि नहीं, है वहाँ। वह बोला कि नहीं, नहीं है। अब माँ गयी और उसने जाकर कंगन उठा लिया और बोली कि यह सोना है। वह बोला कि नहीं, यह तो कंगन है। अब सोनेके बारेमें उस बच्चेकी धारणा यह थी कि सोना सिल्ली जैसा होता है। सोनेकी ईंटे होती हैं। यह तो कंगन है। तो देखो, बच्चेकी बुद्धिमें नाम और रूप व्याप्त हो गया। परन्तु, माँकी बुद्धिमें सोना व्याप्त है।

यह सोचना कि व्यावहारिक दशामें आत्माका दर्शन नहीं होता है, यह गलत है। जो बच्चा कंगन देख रहा था, वह सोना देख रहा था कि नहीं? देख रहा था। उसकी आँखके सामने सोना ही था। पर, नाम-रूपमें बुद्धि फँस जानेके कारण वह सोनेको पहचानता नहीं था। सोनेको देख रहा था, पर पहचान नहीं थी। देखनेमें और पहचाननेमें फर्क होता है।

एक आदमी हमारे दरवाजेके सामनेसे रोज निकलते। हम देखते थे। एक दिन एकने बताया कि ये तो मिनिस्टर हैं। रोज टहलने जाते हैं। देखो, हम आदमी तो देखते थे परन्तु, ये मिनिस्टर हैं, यह पहचानते नहीं थे। तो यह जो हम देख रहे हैं, यह क्या है? बोले कि स्त्री है, पुरुष है। एक दिन एक बाप अपने बेटेपर खुश हुआ। बोला कि यह काम कर दो बेटा तो हम तुमको मिठाई खिलावेंगे! बच्चेने काम कर दिया। ले आये पेड़ा किलो! बच्चा बोला कि नहीं पिताजी, आपने तो

मिठाई देनेको कहा था। यह तो पेड़ा है! तो बर्फी लाये! बोला कि न, हमको तो मिठाई चाहिए! रसगुल्ला, चमचम सबको उसने मना कर दिया। अब बोलो, बाप मिठाई कहाँसे लावें!

यह तो परमेश्वर नहीं दिखता है, उसका क्या कारण है? तुम पेड़ा देखते हो, बर्फी देखते हो, रसगुल्ला देखते हो! परन्तु, मिठाई नहीं देखते हो! कहो कि भाई, यह तो बड़ा भारी आक्षेप हुआ! हमको नन्हा-बच्चा बना दिय! तो असलमें दुनियामें जो बहुत बुद्धिमान् होते हैं, वे भी परमार्थके दर्शनमें बच्चे ही होते हैं। तब फिर परमार्थके दर्शनमें बच्चे ही होते हैं। तब फिर परमार्थका दर्शन किसको होता है?

'वीत रागभय क्रोधैः'। 'राग' माने दुनियामें जिस चीजसे सुख मिलता है, बार-बार मनका उसीकी ओर जाना। यह रागका लक्षण बताया। *'सुखानुशयी राग:' 'सुखं अनु शेते इति सुखानुशायी'*। वृत्ति कहाँ जाती है। बोले कि आ-हा, उस जगहपर क्या मजा आया था! एक बार हम एक जगह गये थे। खूब हरा-भरा जंगल था। थोड़ी देर जाकर बैठे। बड़ा मजा आया। अब वहाँसे चले आये। तो बारम्बार याद आवे कि कितनी बढ़िया जगह थी! क्या शान्ति थी! लेकिन, चार-पाँच वर्ष तक वहाँ जा ही न सके। फिर गये तो वहाँ जंगल बिलकुल कट गया था और बिलकुल उजाड़-ही-उजाड़। अब मनमें तो वही हरियाली बसी हुई थी।

एक मित्र मिला। बड़े प्रेमसे बात की। लगा कि अरे भाई, यह तो बहुत प्रेम करता है। कुछ वर्ष बाद उससे मिलने गये तो उसने पहचाना ही नहीं। तो यह अपने मनमें किसीसे सुख मिला और उसका रंग ऐसा चढ़ गया अपने मनपर कि बार-बार वही याद आती है। वही चीज याद आती है, वही स्त्री, पुरुष याद आते हैं। इसीको 'राग' बोलते हैं। इसमें सचाई नहीं दिखती। रागमें सचाईको ढँकनेका सामर्थ्य है। जैसे हरा चश्मा लगा लें तो वह दीखनेवाली चीजपर भी हरा रंग डाल देता है। तो चश्मा लगाकर हम अगर यह समझना चाहें कि यह चीज कितनी सफेद है, तो यह समझना मुश्किल हो जायेगा। यह बात श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ रहकर, उनका सत्संग करके स्फुट हुई। वे कहते थे कि देखो, संसार या तो ब्रह्म है या तो माया है, प्रकृति है, पंचभूत है, प्राणी हैं, मनुष्य हैं। इसमें कोई फर्क नहीं है। लेकिन, यह जो मालूम पड़ता है कि इसमें गुण है, इसमें दोष है—यह न ब्रह्ममें है, न मायामें है,न प्रकृतिमें है, न पंचभूतमें है, न मनुष्यमें है, न पशुमें हैं, न पक्षीमें है। यह गुण-दोष तो कहीं है ही नहीं। जिससे राग होता है,

उसमें गुण मालूम पड़ता है, उसके दोष मालूम नहीं पड़ते। और, जिससे द्वेष होता है, उसके दोष मालूम पड़ते हैं, उसके गुण नहीं मालूम पड़ते। द्वेषमें गुणको ढँकनेका सामर्थ्य है और रागमें दोषको ढँकनेका सामर्थ्य है। इसलिए, जिसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष होते हैं, वह अपने रागास्पदके दोषको नहीं पहचान सकता और द्वेषास्पदके दोषको नहीं पहचान सकता है। अगर रागास्पदमें दोष दिखते हैं, तो वह रागकी कमी है और द्वेषास्पदमें यदि गुण दिखते हैं, तो द्वेषकी कमी है। तो दोनों सच्ची चीज नहीं दीखने देते!

अब देखो, मैं बात क्या कर रहा हूँ कि वेदान्ती लोग जो वैराग्यका प्रतिपादन करते हैं, वह करते क्यों है? जीवनमें सचाईको जाननेके लिए वैराग्यकी जरूरत है, इसकी यह भूमिका आपको सुनायी।

देखो, 'वैराग्य' उसका नाम नहीं है कि स्त्रीकी निन्दा करके उससे घृणा करा दी जाय। घृणाका नाम वैराग्य नहीं है। द्वेषका नाम भी वैराग्य नहीं है। असूयाका नाम भी वैराग्य नहीं है। इनसे पृथक् करके वैराग्यको समझना पड़ेगा।

आपको रागकी बात सुनाऊँ। जिससे राग होता है, उसकी सब वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। हमने एक घरमें देखा कि एक जगह कटोरी रखी हुई थी। हमने पूछा कि काहेके लिए रखी हुई है? बताया गया कि इसमें हमारे प्रियतम दूध पीया करते थे। एक जगह देखा कि खड़ाऊँ रखा हुआ था। पाँच सौ वर्ष पुराना खड़ाऊँ था। बोले कि इन खड़ाऊँको पहनकर हमारे आराध्यदेव चला करते थे। तो खड़ाऊँ तो पाँच अंगुलकी थी। मैंने कहा कि भलेमानुस क्या उनके पाँव चार-पाँच अंगुलके ही थे? वे इसको पहनकर कैसे चलते होंगे? बोला कि बस-बस महाराज, अब आगे कुछ नहीं बोलना। हमको यह बताया गया है कि वे इसको पहनते थे। हमारे मनमें यह कभी विचार नहीं आया कि इसपर उनका पाँव आवेगा कि नहीं आवेगा? हम तो इसको देखते हैं तो यह याद आती है कि वे इसको पहनकर चला करते थे। हमको तो कभी याद ही नहीं आया कि उनका पाँव एक बित्तेका होगा। वे इतनी छोटी खड़ाऊँ कैसे पहनते होंगे। यह आपने क्या कर दिया? हमारी श्रद्धापर तर्क कर दिया।

आपको यह प्रसंग मालूम ही होगा कि हनुमानजीने समर्थ रामदासजीसे कहा कि तुमने वर्णन किया है कि अशोक वनमें श्वेत कमल थे। लेकिन, हमने देखा, लाल थे। समर्थजीने कहा कि श्रीजानकीसे पूछ लिया जाय। जानकीजीने कहा कि कमल श्वेत थे, लाल नहीं थे। हनुमानजीने कहा कि मैंने देखा था माता

कि वे लाल थे। जानकीजी बोलीं कि तुम्हारी आँख उस समय क्रोधसे लाल-लाल हो रही थी। इसलिए तुम्हें लाल दिखे।

जबतक हम अपनी स्थितिको ठीक नहीं करेंगे, तबतक सच्ची वस्तुका ज्ञान कैसे होगा? देखो, जैसे कैमरेसे फोटो लेते हैं तो यदि नीचेसे लो तो वस्तु एकदम लम्बी हो जाये। ठीक फोटो लेनेके लिए कोण बनाना पड़ता है। ऊपरसे लो तो छोटा हो जाये। केवल एक तरफका आ जाये। ऐसे ढंगसे लेते हैं कि पेट बड़ा आ जाये। माने कैमरा अगर शुद्ध नहीं है और उसका कोण अगर बिलकुल ठीक नहीं है तो उसपर जो फोटो आवेगी, वह बिलकुल गलत आवेगी। तो अपरिच्छिन्न वस्तुका ज्ञान, परमात्म-वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अगर पहले अपने विवेकका, बुद्धिका कोण ठीक नहीं करेंगे तो फोटो गलत आ जायेगा। इसीसे बताया कि यह दुनियामें फँसानेवाली चीज राग-द्वेष है।

अब इसमें थोड़ा और विवेक करते हैं।

द्वेष कम फँसाता है और राग ज्यादा फँसाता है। बोले कि दोनों भाई-भाई हैं, मुधकैटभ। 'मधु' राग है और 'कैटभ' द्वेष है और ये कहाँसे पैदा हुए? आपको मालूम है न! '*विष्णुकर्णमलोद्भूतौ*'—ये कानकी मैलसे पैदा होते हैं। आँखकी मैलसे राग-द्वेष पैदा नहीं होते। अगर किसीसे तुम्हारी दुश्मनी होने लगे तो समझना कि अब तुम्हारे कानमें मैल ज्यादा आ गयी है। दुर्गासप्तशतीमें कथा आती है कि विष्णु भगवान्‌ने मधु-कैटभसे लड़ाई शुरू की। पाँच हजार वर्षतक अकेले विष्णु राग-द्वेषसे लड़ते रहे और मधु-कैटभ नहीं मरे। तब महामायाकी आराधना हुई कि हे शक्ति, कृपा करो! तो महामाया आकर मधु-कैटभके हृदयमें बैठ गयीं। उन्होंने कहा कि अरे ओ विष्णु, तुम अकेले और हम दो और पाँच हजार वर्षसे लड़ रहे हो। तुम बड़े बहादुर मालूम पड़ते हो। हम तुम्हारी बहादुरीसे खुश हैं। वरदान माँग लो। तो विष्णु भगवान् बोले कि अच्छा बेटा, तुम लोग वरदान देना चाहते हो तो तुम दोनों मेरे हाथसे मर जाओ—यह वरदान माँगता हूँ। तो मधु-कैटभने कहा कि आप हमको मारिये तो सही, परन्तु जहाँ रसाप्लुत धरती न हो, वहाँ मारिये।

आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता।

जहाँ धरतीपर पानी न हो, वहाँ हमको मारिये। जहाँ स्वाद आता है, वहाँ राग-द्वेष नहीं मरेगा। एकसे राग हो, दूसरेसे द्वेष हो जायेगा। तो जहाँ रसभावना है, वहाँ राग-द्वेष नष्ट नहीं हो सकता और दूसरे, यदि राग-द्वेष स्वयं न चाहें कि हम

नष्ट हो जायें, तो उनको कोई नष्ट नहीं कर सकता। जब स्वयं अपनी वृत्ति ही चाहती है कि हमारा नाश हो, तब होगा। दूसरेके चाहनेसे कैसे नाश होगा? तो विष्णु भगवान्‌ने उनको मार दिया।

कहनेका अभिप्राय यह है कि राग और द्वेष—ये दोनों परमात्माके साक्षात्कारमें बाधक हैं। अब रागसे दो शाखा निकलती है—यदि राग पूरा होवे तो उससे लोभ और काम निकलता है और, यदि राग पूरा न होवे तो उससे क्रोध निकलता है। यह सब उसकी शाखा हैं। व्यक्ति-विषयक कामना और वस्तु-विषयक लोभ होता है। जैसे सोना, चाँदी, रुपया—इनके लिए लोभ और स्त्री,पुरुष—इनके लिए काम होता है। काम दो दिला होता है और लोभ एक दिला होता है। लोभीके पास ही दिल होता है। जिस चीजका लोभ होता है, उसका दिल नहीं होता और, काम जिसके मनमें होता है, उसके भी दिल है और जिसके प्रति होता है, उसके भी दिल है काम द्विगुणित होता है और लोभ एक गुणित होता है। लेकिन लोभमें हिंसाकी सम्भावना ज्यादा है, काममें कम है।

अब लोभके भी दो पक्ष हैं—पहला पक्ष यह कि, जो हमारे पास है, वह छूटे नहीं और जो दूसरेके पास है, वह हमारे पास आ जाये, यह कि दूसरा पक्ष। तो स्तेय और परिग्रह—इन्हींको कहते हैं।

अब आप लोग तो सुनते हो वेदान्त! हमको संकोच होता है कि हम काम, क्रोध, लोभकी बात सुनाने लगेंगे तो आपलोग कहोगे कि यह तो छोटी-छोटी बात है। कहाँ ब्रह्मका विचार और कहाँ यह मनमें आनेवाली नन्हीं-मुन्नी वृत्तियाँ? बहुत महात्मा लोग चित्त ही की बात ज्यादा करते हैं और लोग चित भी इसीसे ज्यादा होते हैं। चिताये जाते हैं। चितकी बातसे लोगोंको चित किया जाता है। क्योंकि, चित्तमें यह गलती, यह गलती, यह गलती! अब चलो इनको सुधारनेके लिए। तब फँस गये। इसका भी बहुत माहात्म्य है। आपको यह सुनावें कि अगर कोई कहे कि अभी हमारे मनसे राग निकला नहीं, हमको परमात्माका दर्शन कैसे होगा? अरे बाबा, राग छोड़कर तो तुम यहाँ आये हो और यहाँ नीचे टाटपर बैठे हो। इस समय किस भोगमें राग है तुम्हारा? छोड़ो भ्रान्तिको! तुम्हारे अन्दर इस समय राग नहीं है। वस्तुको ग्रहण करो। राग जिससे होता है, वह तत्त्व नहीं है। राग, जिसमें होता है, वह तत्त्व है। रागका आश्रय विषय नहीं, रागका आश्रय तत्त्व है।

रागके आश्रयमें भी दो बात होती हैं। जो लोग शुद्ध ब्रह्मको आश्रयरूपसे नहीं पहचान पाते हैं, उनको रागाश्रयके रूपमें ईश्वरको पहचानना पड़ता है जो

न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ है और हमारे हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे बैठा हुआ है। रागके विषयको छोड़ो। रागास्पद ईश्वरको पहचानो और, राग और रागके अभाव—दोनोंको छोड़ो और रागके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अपने स्वरूपको पहचानो। यह वीतराग होना है।

'वीत' माने विगत, बीता हुआ। 'वि' माने विशेष रूपसे, 'गत' माने गया हुआ। तो 'वीतराग' का क्या अर्थ हुआ? 'विशेषेण इतः गतः वीतः'। 'वीतराग' माने जिसके लिए राग इतिहासकी वस्तु हो गयी। ऐसा नहीं समझना कि कभी राग होगा ही नहीं। था राग, पर वह गया।

अरे बाबा, जब रंग चढ़ता है तब देखो मजा! ईश्वर न करे कि किसीके मनमें दुनियाके प्रति राग आवे। माँ भूल जाती है, बाप भूल जाता है, गुरु भूल जाता है, अपना कर्त्तव्य भूल जाता है, अपना आपा भूल जाता है। ऐसा रंग चढ़ता है दिलपर कि वही-वही दिखे, जिससे राग है।

'वैराग्य' शब्दका अर्थ किसीसे घृणा करना नहीं है। घृणामें तो निकृष्ट-बुद्धि होती है तो निकृष्टताकी वृत्ति बनती है। 'वैराग्य' माने द्वेष करना नहीं। द्वेषमें तो शत्रु मनमें रहता है। अब इस बातको और स्पष्ट करके सुनाते हैं। वैराग्य माने किसीके गुणमें दोष निकालना अर्थात् असूया नहीं। 'वैराग्य' माने जो विषयमें राग-द्वेष है, उसका शैथिल्य। आत्यन्तिक अभाव भी नहीं। राग-द्वेषका आत्यन्तिक अभाव चित्तके रहते नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञान होनेपर भी रहेगा। परन्तु बाधित रूपसे रहेगा, यह बात दूसरी है। मिथ्यात्व निश्चयपूर्वक रहेगा। लेकिन चित्तके रहते रागाभास, द्वेषाभास किञ्चित् अन्तःकरणमें रहेगा ही। नहीं तो क्या खायें, क्या न खायें, कहाँ चलें, कहाँ नहीं चलें, क्या देखें, क्या नहीं देखें—इसका विवेक ही नहीं होगा।

'वैराग्य' शब्दका अर्थ हिमालयमें भागना नहीं है। ये जो गाँवके लोग होते हैं वे कहते हैं कि अमुक महाराज, बड़े वैरागी हैं। कैसे? इन्होंने बारह वर्षसे आलू नहीं खाया। अब बताओ, आलू छोड़ देनेसे भला कोई वैरागी हो जाता है? बोले कि दस वर्षसे इन्होंने सिला हुआ कपड़ा ही नहीं पहना। इसका नाम वैराग्य नहीं होता। 'वैराग्य' उसको बोलते हैं, जहाँ मनमें विषयाकार वृत्ति नहीं है। माने विषयाकार वृत्ति है, तो बाधित है, आभासमात्र है। विषयके मिथ्यात्वज्ञानपूर्वक चित्तमें विषयका होना, 'वैराग्य' बिलकुल बना हुआ है। बिना बाधके वैराग्य पक्का नहीं होता।

अच्छा, एक बात और बताता हूँ। निष्कामता और वैराग्यमें क्या अन्तर है? अपनेको कोई भोक्ता माने, वह निष्काम नहीं हो सकता। दिनमें दस बार मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—ऐसी जो अपने बारेमें मान्यता है, इसका नाम भोक्तापन है और जो अपनेको भोक्ता मान रहा है, वह अखबारमें छापनेसे निष्काम हो जायेगा? लोग व्याख्यान सुनते हैं। क्या सुनते हैं? निष्काम कर्मयोग सुनते हैं। व्याख्यान सुननेसे कोई निष्काम नहीं हो जायेगा। जो भोक्ता है, माने दिनमें सुखी-दुःखी होता है वह जब दुःखी होगा तो चाहेगा कि दुःख न होवे और जब सुखी होगा, तो चाहेगा कि सुख बना रहे। माने भोक्ता हमेशा सकाम रहता है। इसलिए, बिना तत्त्वज्ञ हुए, अपनेको ब्रह्म जाने बिना अगर कोई निष्काम होनेका दावा करता है तो या तो वह खुद समझता नहीं है, या फिर दूसरेको धोखेमें डालता है। जब तक भोक्तापनकी निवृत्ति नहीं होगी, तबतक निष्कामता कहाँसे आवेगी? और, बिना अपनेको ब्रह्म जाने भोक्तापनकी निवृत्ति होगी नहीं।

तो 'वैराग्य' किसे कहते हैं?

बोले कि, *'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'*। किसी वस्तुकी तृष्णा न हो। न इस लोककी वस्तु और न परलोककी वस्तु चाहो और मन अपने वशमें हो तो उसका नाम 'वैराग्य' है। यह दो तरहका होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। योगदर्शनमें इसका विचार है। अपर वैराग्यमें वशीकार संज्ञक वैराग्य चार प्रकारका होता है, पर वैराग्य एक प्रकारका होता है, 'सत्त्वान्यथार्ख्याति'—मैं अन्तःकरण नहीं हूँ, अन्तःकरण मेरा नहीं है और, *'परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्'*—अपने स्वरूपको जान लेनेके बाद विषयोंकी इच्छा न रहना।

तो देखो, जब राग होता, तब उसमें अपने प्यारेकी तस्वीर दिलमें रहती है और जब द्वेष होता है, तब अपने दुश्मनकी तस्वीर दिलमें रहती है और मोह जब होता है, तब कुटुम्बकी तस्बीर दिलमें रहती है जब काम होता है, तब कामिनीकी तस्वीर दिलमें रहती है। लोभ जब होता है, तब धनकी तस्वीर दिल में रहती है। यह जो संसारमें दोष-दुर्गुण है, इसमें संसारके किसी-न-किसी पदार्थकी तस्वीर अपने दिलमें खिंचती रहती है।

'वैराग्य' वह है, जिसमें दुनियाकी किसी चीजकी तस्वीर अनुकूल, प्रतिकूल भावसे खिंच कर दिलमें न रहे। देखो, इसका अर्थ हुआ कि मनमें, रागमें विषय है, द्वेषमें विषय है, काममें विषय है, लोभमें विषय है, मोहमें विषय है और

वैराग्य वह है जहाँ मनमें विषय नहीं होता। महत्त्व बुद्धि यह बिलकुल नहीं है कि यह हमारा कुछ बना देगा और यह हमारा कुछ बिगाड़ देगा। यदि आपको इसके बारेमें विशेष जानना हो तो बौद्धोंका एक ग्रन्थ है, 'अभिधम्मत्थसंग्रह' उसका नाम है। उसमें केवल चित्तकी ही अवस्थाओंका वर्णन है। वे विज्ञानवादी हैं। सो विज्ञानवादी होनेसे विज्ञानके कैसे-कैसे आकार होते हैं, ऐसा निरूपण करते हैं। यह मूलग्रन्थ पाली भाषामें है। उसमें चित्तकी विचित्र-विचित्र अवस्थाओंका निरूपण है। कल्पनासे नहीं, गणित लगाकर वर्णन है। जैसे संख्याओंका गणित होता है, वैसे चित्तकी संख्याओंका गणित है।

'वैराग्य' की बात देखो! यदि आप दूसरेके हकका नहीं चाहते, केवल अपने हकका ही चाहते हैं, तो अधर्म आपको नहीं हुआ, धर्म तो हुआ। पर यह वैराग्य नहीं है। वैराग्य तब होगा, जब अपने हकका भी त्याग करनेके लिए आप उत्सुक होंगे! अच्छा देखो, पराई स्त्रीके प्रति काम बिलकुल नहीं होता, यह अधर्मका त्याग हुआ। पर-पुरुषके प्रति बिलकुल काम नहीं होता। ठीक है, अधर्मसे छूट गये। धर्ममें स्थित हुए। लेकिन, इसका नाम 'वैराग्य' नहीं है। वैराग्य कब है? जब अपनी पत्नी, अपने पतिके कामभावमें भी शैथिल्य आवेगा। जहाँ धर्मानुसार भोग भोगनेका स्वातन्त्र्य है, वहाँ भी जब स्वाभाविक अरुचि होगी, तब उसका नाम 'वैराग्य' होगा। यह आप किताबमें पढ़कर समझना चाहें तो नहीं समझ सकेंगे! आप जब स्वयं इस मार्ग पर चलेंगे, तब आपकी बुद्धिमें इसकी स्फुरणा होगी। यह बात किताबमें पढ़कर कोई जान नहीं सकता।

अच्छा, देखो यदि आप दूसरेके बच्चे पर गुस्सा न करें और अपने बच्चेको गलती करने पर कभी एकाध चपत लगा भी दें तो आप धर्मसे च्युतुत नहीं हुए। अपनेपनसे जो उसपर नाराज होते हैं, उस समय वह क्रोध दोष नहीं है। लेकिन वैराग्य कब होगा? जब माँ बच्चेकी तरफ भी ज्यादा ध्यान नहीं देगी। धर्मसे ऊपर है, वैराग्य।

अच्छा, बोले भाई कि जो हमारा कर्त्तव्य है, वही काम करते हैं। कर्त्तव्यसे बाहर कोई काम नहीं करते हैं। बोले कि ठीक है, आप अपने धर्मका पालन करते हैं। तब वैराग्य कब आवेगा? जब कर्त्तव्यके विस्तारमें अरुचि होगी। इसका नाम है, शम, दम, उपरति। अच्छा, आप किताबमें पढ़ लो शम, दम, उपरति, तितिक्षा उसमें धर्मसे उनका क्या फर्क है, यह बात समझायी हुई नहीं मिलेगी क्योंकि, वह तो आपके विवेकपर छोड़ी गयी है कि आप इसको समझो कि धर्म पालनकी

अपेक्षा साधन–सम्पत्तिमें क्या विशेषता है? तो यह जो लोग दुनियाके विस्तार, विवेकमें, लगे रहते हैं,. उनकी बुद्धि तो उसमें नहीं लगती। इसीलिए, जो समनिष्ठ होता है, जो निवृत्ति–परायण होता है, उसकी बुद्धि इसमें प्रवेश करती है।

देखो, धर्ममें जो गुरु, शास्त्र, ईश्वर पर श्रद्धा होती है, वह व्यक्तिके महत्त्वको देखकर होती है। बड़ा सद्गुणी है, बड़ा त्यागी है, हमारा वेद बिलकुल सच्ची बात बोलता है, इसलिये वेंदको मानना चाहिए। तो वेदके महत्त्वको देखकर वेदपर श्रद्धा, महात्माके महत्त्वको देखकर महात्मापर श्रद्धा—यह धर्म है! और हमारा अभिमान कितना निवृत्त हो रहा है? अभिमानके निवर्त्तक रूपसे जो श्रद्धा है, वह षट्–सम्पत्ति है। वह मामूली श्रद्धा नहीं है। किसीके सामने जब सिर झुकाकर उसकी बात सुनते हैं तो हमारे हृदयका अभिमान निवृत्त हो जाता है कि नहीं? अभिमान निवर्त्तक रूपसे श्रद्धाका उपयोग है। यह वैराग्यका विलास है, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान।

देखो, योगका समाधान दूसरा है, धर्मका समाधान दूसरा है और वेदान्तका समाधान दूसरा है। यह साधनोंकी चर्चा इसलिए कर रहा हूँ कि इसको तो लोग छोटी बात समझकर छोड़ देते हैं। कहते हैं कि आओ, कार्योपाधिक, कारणोपाधिक और निरुपाधिक ब्रह्मका चिन्तन करें! इधर ध्यान ही नहीं देते हैं कि इसमें कितना महत्त्व है! नरकका भय जिसको होगा, वह ब्रह्मका विचार नहीं कर सकता। स्वर्गका लोभ जिसको होगा, वह भी ब्रह्मका विचार नहीं कर सकता। **'वीतरागभयक्रोधैः'**। जब स्वर्ग और नरकके भय और लोभसे मुक्त होते हैं, तब ब्रह्मका विचार होता है। यह बड़ी चीज है।



वैराग्यका स्वरूप : विभिन्न मत

पहले यह वर्णन किया कि अद्वैत ही निर्भय-वस्तु है। कोई त्रास अद्वैतमें नहीं है। परम मंगलमयी, परम कल्याणमयी यह अद्वैतकी स्थिति है और तत्त्वदर्शियोंने इसका साक्षात्कार किया है।

अब यह प्रश्न हुआ कि फिर इसकी उपलब्धि सबको क्यों नहीं होती? '*किं इति यथोक्तं अद्वैतं सर्वेषाम् न प्रतीति गोचरताम् आचरति?*' यह सच्ची चीज है और सब देश, काल, वस्तुमें भरपूर है और देश, काल, वस्तु इसमें प्रतीतिमात्र है, तो हर समय सबको इसका अनुभव होना चाहिए। होता क्यों नहीं? तो इसके लिये दर्शनका जो स्वाभाविक नियम है, सहज नियम है, उसीका निरूपण करते हैं। दर्शनका क्या नियम है? आपको नमूनेके तौरपर सुनाते हैं।

रामचन्द्र भगवान् कौशल्याके पेटसे ही क्यों हुए? कैकेयी, सुमित्राके पेटसे क्यों नहीं हुए? उनके बापका नाम दशरथ ही क्यों था? वसुदेव-देवकीसे ही कृष्णका जन्म क्यों हुआ? जब हम इन सब बातोंपर विचार करते हैं, तब हम ऐतिहासिक हो जाते हैं अथवा पौराणिक हो जाते हैं। एक बीती हुई बातका रहस्य समझनेकी कोशिश करते हैं। बात तो बीत चुकी है! क्या देखोगे? क्या दर्शन होगा? बोले कि हम देवकी-वसुदेव बन जायेंगे और कृष्ण हमारे पेटसे पैदा होंगे! अरे, अभी तो तुम पहले चुन्नू-मुन्नूके माँ-बाप बनो! अभी तो डब्लू-बबलूसे तुम्हें छुट्टी नहीं है। कृष्णके माँ-बाप कहाँसे बनोगे?

प्राचीनकाल, इतिहासकी जो व्याख्या है, वह दूसरी चीज है। बोले कि स्वामीजी महाराज, आगे कैसी परिस्थिति आनेवाली है? आगे कांग्रेसका राज्य होगा कि कम्युनिस्ट जीत जायेंगे? अरे भाई, यह तो किसी ज्योतिषसे पूछो न! तो

देखो, भूत, भविष्यके बारेमें मनका जाना—इसको दर्शन नहीं बोलते हैं। भविष्य तो अनुमानित होता है और भूत स्मृतिका विषय होता है। अब जब इन्हीं दोनोंसे बँधकर हम वर्तमानके बारेमें सोचते हैं, तो हमारा चिन्तन ठीक नहीं होगा। देखो, हमारे पास जो पहले धन आया था, सो चला गया। इसी तरह, अब जो आया है, वह भी कहीं चला न जाय! देखो, भूतमें चला गया था, उससे लिया अनुभव और आगे चला न जाय—यह भय है। भूतकी स्मृति और भविष्यका भय मिलाकर वर्तमानमें जो धन है, उसको तिजोरीमें, लॉकरमें, धरतीमें गाड़ने लगे। तहखाने बनवाने लगे। यह क्या हुआ? यह मोह हो गया। यह दर्शन नहीं हुआ। यह भूतके संस्कारसे संस्कृत और भविष्यके भयसे आक्रान्त जो मनोवृत्ति है, उससे जो मनमें मोह हुआ, वह मोहका दर्शन हो रहा है। यह दार्शनिक नहीं है।

दर्शनका सहज स्वभाव क्या है? भूतकी स्मृतिसे वर्तमानको न लपेटें और भविष्यके भयसे वर्तमानको विकल न करें और जो छूटता है, उसको छूटने दें और जो आता है, उसको आने दें। इसी समय हमको यह संसार कैसे दीख रहा है, इस दृष्टिका विश्लेषण करें। सृष्टि, कैसे हुई—यह भी दर्शनका विषय नहीं है। पुराणं है। और, सृष्टिका प्रलय कैसे हुआ—यह भी पुराण है भला! अनुविद्ध-दृष्टिका नाम दर्शन नहीं है। स्मृति अथवा भयसे आक्रान्त-दृष्टिका नाम दर्शन नहीं है। स्वस्थ-दृष्टिका नाम दर्शन है। तो यह सब भूत, भविष्यकी व्याख्या करनेवाले लोग जब अपनेको दार्शनिक कहते हैं, तब हँसी आती है। दर्शन यह है कि हमारी आत्मा कुछ आँखके द्वारा देख रही है, कुछ कानके द्वारा सुन रही है, कुछ जीभके द्वारा बोल रही है, कुछ स्वाद ले रही है।

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च (शु.र. ३.१)

वह कौन है, जो देख रहा है? किसके द्वारा, किसको? वह कौन है, जो सुन रहा है? किसके द्वारा, किसको? वह कौन है, जो सोच रहा है? किसके द्वारा, किसको? वह कौन है, जो बोल रहा है? शब्द क्या है? जिह्वा क्या है?

'दर्शन' माने दृष्टिकी व्याख्या। हमको जो प्रपञ्च दीख रहा है, इसकी व्याख्या। वर्तमानको नहीं पहचानोगे तो अनादिभूत और अनन्त भविष्यको कैसे पहचान लोगे? भूत अनादि होता है। भूतकी आदि किसीकी पकड़में नहीं आ सकती। कोई भी ऐसी बुद्धि सृष्टिमें आजतक नहीं हुई है, जो भूतकी आदि पकड़े और जो भविष्यका अन्त पकड़ ले! यह दार्शनिक नियम है। तो इसका अर्थ हुआ कि जो भी सृष्टि और प्रलयका वर्णन करेगा, वह केवल कल्पनासे वर्णन करेगा।

जैसे आदि चनेका वर्णन करना कठिन है। अरे तुम आजके चनेको पकड़कर उसका विश्लेषण कर सकते हो कि यह चना क्या है? और उससे यह समझ सकते हो कि आदि चना क्या है? या अन्तिम चना क्या होगा, यह भी समझ सकते हो! लेकिन, आजके चनेको समझना पड़ेगा और उससे आदि अन्तके चनेके स्वरूपकी कल्पना करनी पड़ेगी!

'दर्शन' का स्वभाव यह है कि वह भूतानुविद्ध, भविष्यानुविद्ध होकर प्रकाशित नहीं होता। आगे, पीछे नहीं देखता। 'क्यों है'—यह दर्शनका प्रश्न नहीं है। प्रयोजन बतानेके लिये दर्शन नहीं है। 'कैसे है' अर्थात् प्रक्रिया बतानेके लिये भी नहीं है। हम तो सीधी चोट करते हैं कि क्या है? अगर, 'क्या है?' यह बात समझमें आ जाये तो देखना 'कैसे' और 'क्यों' दोनों कल्पना हो जायेंगे! वेदान्त-दर्शन तो बड़ा विलक्षण है न!

देखो, भूत और भविष्यसे वैराग्य करके वर्तमानका विश्लेषण करो और वर्तमानमें-से भूतके संस्कार और भविष्यकी कल्पना—दोनों निकाल दो! क्या रहता है? आपको सीधी बात सुनाते हैं। यह समझना कि हम इस समय सातसे आठके बीचमें बरत रहे हैं। कितनी स्थूल दृष्टि हुई! बोले कि नहीं, अमुक मिनटमें बरत रहे हैं। उससे सूक्ष्म-दृष्टि हुई। और अमुक सेकेण्डमें बरत रहे हैं, यह परम सूक्ष्म-दृष्टि हुई। और, यह सेकेण्ड क्या है? सेकेण्डका एक हिस्सा तो बीत चुका है और एक हिस्सा आगे आनेवाला है। अच्छा, यह बताओ कि सेकेण्ड कब शुरू होता है और कब खतम होता है? हर समय सेकेण्ड शुरू होता है और हर समय सेकेण्डका अन्त होता है। इसका अर्थ हुआ कि न कभी सेकेण्ड शुरू हुआ और न सेकेण्डका कभी अन्त होता है। एक दृष्टि से देखो तो सेकेण्डका आदि हर समय है और अन्त भी हर समय है। और, एक दृष्टिसे सेकेण्डका न आदि है, न अन्त है। हम कहते हैं कि भूत और भविष्यको छोड़कर सेकेण्डका आप दर्शन कर लो, तो सृष्टिका रहस्य आपको मालूम हो जायेगा। सब पूर्व है, सब पश्चिम है। या तो कोई पूर्व नहीं है, कोई पश्चिम नहीं है। यह तो बहुत सीधी-सीधी बात सुना रहे हैं! द्रव्यकी प्रधानतासे चना, कालकी प्रधानतासे सेकेण्ड और देशकी प्रधानतासे पूर्व, पश्चिम—तीनों दृष्टिसे यह बात बतायी।

लोग अपनी कल्पनाको दर्शन बोलते हैं, अपनी स्मृतिको दर्शन बोलते हैं। स्मृति और कल्पनासे व्यावृत्त माने अलग किया हुआ जो ज्ञान है, वह विलक्षण होता है।

अब आप देखो कि वेदान्ती लोग कहते हैं कि ज्ञान होनेके लिये वैराग्य चाहिए। यह दर्शनका सहज नियम प्रतिपादन करते हैं। यह कोई कृत्रिम नहीं है। अब हमारे गृहस्थ वक्ता होवें तो कभी-कभी तो वैराग्यके नामसे खुद डरते हैं और दूसरोंको भी डरा देते हैं। हमको स्मरण है कि एक सज्जनके यहाँ हम कुछ वैराग्यकी कथा सुना रहे थे। वे बोले कि महाराज, हमारे बच्चे छोटे-छोटे हैं। इनको कहीं वैराग्य चढ़ गया और काम-धन्धा इन्होंने छोड़ दिया तो बड़ा उपद्रव हो जायेगा। सचमुच अनर्थ ही हो जायेगा। क्योंकि, वैराग्यका भी अधिकारी होता है।

हम आपको बतावें, जो लोग दूकान करते हैं, उनको भी वैराग्य चाहिए। परन्तु कितना? जो अनुचित पैसा है, उससे वैराग्य चाहिए। बेईमानीके पैसेसे अगर उनको वैराग्य नहीं है तो हम वेदान्ती वैराग्य जो उनको सुनावेंगे, वह बेकार ही जायेगा। अच्छा देखो, कर्त्तव्य पालन जहाँ है, वहाँ कुटुम्बसे वैराग्य होना आवश्यक है। कुटुम्बका पक्षपात न हो। अपने इष्ट, मित्र, कुटुम्बीजनोंका पक्षपात करके दूसरेके साथ क्रूरता न बरतें, अन्याय न बरतें, दूसरेको नुकसान न पहुँचावें—अगर इतना वैराग्य आपके मनमें है, तो हम एक गृहस्थके लिए इतना काफी समझते हैं।

अच्छा, एक धर्मात्मा है। एक पाँच रुपयेका लेन-देन करना है और सूर्योदयका समय है, संध्या-वन्दनका समय है। तो एक धर्मात्मासे हम यह उम्मीद करते हैं कि वह पाँच रुपयेके लेन-देनसे वैराग्य करके, और अपने धर्म संध्या-वन्दनका अनुष्ठान करे। अगर वह कहता है कि संध्या-वन्दन अपने घरका है, बादमें कर लेंगे! जरा पाँच रुपया पहले कमा लें। तो उसमें धर्मनिष्ठा नहीं है। देखो, पाँच रुपयेके वैराग्यकी शक्ति होनी चाहिए और संध्या-वन्दन करना चाहिए। यह धर्मकी बात है।

हमारे एक पण्डित काशीमें थे। नित्य संध्या-वन्दन करते थे। एक दिन कचहरीमें कोई मुकदमा आ गया। रोज तो आधे घंटेकी संध्या करते थे, उस दिन पन्द्रह मिनट की। चले गये। रोज उनका बेटा भी उनके साथ संध्या करने बैठता था। अब हुआ क्या कि दूसरे दिन पन्द्रह मिनटमें उठकर चला गया। तो उन्होंने पूछा कि क्या बात है भाई? बोला कि पिताजी, आज पढ़ना बड़ा जरूरी है! संध्या-वन्दनसे ज्यादा जरूरी आ गया? वह बोला कि कल आप मुकदमेके लिए छोड़कर चले गये थे। सो उससे जरूरी है हमारा पढ़ना! देखो, बच्चे तो नकल

करते हैं। माँ अगर आठ बजे दिन तक सोवे तो बेटा नौ बजे उठे तो क्या आश्चर्य है? अपने बेटेको अगर ज्यादा सोनेकी शिक्षा देनी हो तो माँको कुछ ज्यादा सोना चाहिए।

अब देखो, उपासनामें वैराग्य क्या होना चाहिए कि जिस समय आप एक उँगलीको गौरसे देखेंगे, उस समय आप दूसरी उँगली नहीं देख सकते। यह दर्शनका शाश्वत नियम है। यह तो नेत्र-वृत्तिका चांचल्य है, जो दो उँगली एक साथ दिखायी पड़ती है। घड़ा और कपड़ा दोनों एक साथ नहीं दीख सकता। बड़ी सूक्ष्म गतिसे मन उनको पकड़ता है। धर्मका बन्धन बड़ा पक्का होना चाहिए। मनमें भी जो यह मालूम पड़ता है कि हम एक साथ बहुत-सी चीजें देख रहे हैं। एक भगवान्‌की मूर्ति हृदयमें है। तो हीरेका हार, पन्नेका हार और मोतियोंकी माला भगवान्‌की छातीपर है और ऐसा लगता है कि हम सबको एक साथ देख रहे हैं। सो बात नहीं है। मनकी इनकी तीव्र गति है कि वह सबको एक साथ दिखाता लगता है। जैसे सिनेमाके पर्देपर दिखनेवाले चित्र एक सेकेण्ड तक भी पर्दे पर नहीं टिकता है। नया-नया प्रकाश, नयी-नयी रोशनीके साथ नया-नया चित्र निकलता है। इसी प्रकार, मनमें वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं। अब देखो, उपासनामें वैराग्य यह है कि अपने इष्टदेवके सिवाय प्रियबुद्धिसे दूसरेका स्मरण, दूसरेकी कल्पना, दूसरेका दर्शन न होवे।

तुम्हारी प्रियता कहाँ है? प्रियताका आलम्बन चाहिए। अगर प्रियताको आलम्बन नहीं दोगे तो वह भटक जायेगी। वह तो जैसे ब्याहके पहले लड़के-लड़कीके मनकी दशा होती है कि इससे ब्याह करें कि उससे ब्याह करें! अगर अपने मनको प्रियताका एक आलम्बन नहीं दोगे तो वह चुननेमें ही आज यह, कल यह, परसों वह—इस प्रकार सारी जिन्दगी बीत जायेगी। दुनियामें बहुत प्यारा ढूँढनेके लिए ब्याह नहीं होता है। अपने मनको रोकनेके लिए ब्याह होता है। अपने कर्मको रोकनेके लिए ब्याह होता है। अपने भोगको नियन्त्रित करनेके लिए ब्याह होता है। इसलिए, जो लोग समझते हैं कि सबसे प्यारा हम दुनियाका छाँट लेंगे तो हम अपने जीवनमें बड़े सुखी होंगे। जब सबसे सुन्दर और सबसे योग्य और सबसे छँटा हुआ तुमको मिलेगा तो तुम्हारी कोई परवाह नहीं करेगा! उसके पीछे पाँच-दस और घूमेंगे! यह सृष्टिका नियम है। इसलिए, ब्याह अनेकसे एककी ओर जाने, भोगको नियन्त्रित करने, कर्म-से-कर्मको नियन्त्रित करने, सम्बन्धसे सम्बन्धको नियन्त्रित करनेका मार्ग है।

अब देखो, योगी लोग वैराग्य किसको कहते हैं?

उपासनामें यह विशेषता रही कि हमने अपने रागको निन्यानबेमें-से हटाकर, सौमें-से हटाकर एकमें जोड़ा। तो यह जो सौसे वैराग्य है और एकमें राग है, यह उपासनाका वैराग्य है। उपासनाके वैराग्यकी अपेक्षा योगके वैराग्यमें विशेषता है। योगी तो राग-वृत्तिका ही निरोध मानते हैं। रागकी धाराको बदल देना, यह उपासना है। जो सौ-सौ झरने रागके बहते जा रहे थे, उनको रोककर केवल एक झरना बहे। ये रागी लोगोंसे पूछो कि तुम्हारा किस एक वस्तुसे राग है? खाये बिना रह न सकें, पहने बिना रह न सकें, सोसायटीके बिना रह न सकें, सिनेमा देखे बिना रह न सकें, चौपाटीपर जाये बिना रह न सकें! थोड़ा बच्चेसे, थोड़ा पत्नीसे, थोड़ा पतिसे, थोड़ा मातासे, थोड़ा बापसे—दुनियामें तो रागको बिखेरकर रहना पड़ता है। इस रागकी विकीर्णताको ईश्वरकी ओर उन्मुख कर देना, इसका नाम उपासना है, भक्ति है। उसमें एक तारीफकी बात और है! भक्तिमें जो राग है, वह अनमिले और अनदेखे साजनसे है। आप यह न समझना कि रागको पूर्ण करनेके लिए यह उपाय महात्माओंने बताया है। यह तो अंग-संगकी वासना पूरी होकर थोड़े-ही मिटेगी! अंग-संगकी वासनाका तो सत्यानाश ही होगा न! क्योंकि, जब अनदेखा, अनमिला साजन और अपने रागकी ललितवृत्ति, प्रिय-वृत्ति उसके साथ जोड़ दी! भक्तिके दो पहलू हैं—एक तो अनदेखा, अनमिला साजन है और दूसरा पहलू, संसारके सैकड़ों देखे हुए, मिले हुए पदार्थोंसे वैराग्य है। क्या उस अनमिले, अनदेखे साजनसे अंग-संग होगा? क्या उससे बच्चे पैदा होंगे? क्या वह धन कमाकर लाकर देगा? वैराग्य नहीं होगा तो भक्ति होगी ही नहीं और भक्ति नहीं होगी तो सालम्बन वैराग्य नहीं होगा! यह आपको इसलिए बताया कि यह महात्माओंने भक्तिके रूपमें निर्मली-बूटी ही डाली है। जैसे पानीमें जो गन्दगी होती है, उसको साफ करनेके लिए फिटकरी हाथमें लेकर घुमा देते हैं या निर्मलीबूटीका चूरा डाल देते हैं। अब वह निर्मलीबूटीका चूरा स्वयं चूरा है! लेकिन पानीकी गंदगीको हटाकर वह स्वयं भी बैठ जायेगा। तो यह भगवद्-राग देह-संगकी वासनाका पोषक नहीं है, निवारक है। देहासक्तिको मिटानेवाला है। भोगवासनाको क्षीण करनेवाला है।

जो लोग शास्त्रको सम्प्रदाय परम्परासे और अनुभवकी दृष्टिसे नहीं पढ़ते हैं, उनको शास्त्रका अभिप्राय प्रकट नहीं होता। संस्कृतके एम० ए० होकर जब ब्रह्मसूत्र पढ़ेंगे तो उसमेंसे क्या कोई अर्थ निकलेगा? आप बिलकुल पक्का ही

समझो कि उसके पढ़नेकी प्रणाली बिलकुल दूसरी है। जब विचारकी परम्परा सर्वज्ञ ईश्वरसे आरम्भ होती है तो उसकी पद्धति दूसरी होती है और जब विचारकी परम्परा जड़-तत्त्वसे आरम्भ होती है, तब उसकी परम्परा दूसरी होती है। जड़के विकाससे सृष्टि हुई, जड़के विकारसे सृष्टि हुई, सर्वज्ञ ईश्वरकी रचनासे सृष्टि हुई— इन मौलिक सिद्धान्तोंमें ही भेद है। संस्कृतमें एक पुस्तक छपी 'मति प्रतिक्ष-शास्त्र'। बड़ा अटपटा नाम लगा। जब पुस्तक पढ़ी तो उसके भीतर लिखा था,'मैटा फिजिक्स'। उसमें युरोपीय-दर्शनके इतिहासका निरूपण संस्कृत भाषामें किया हुआ है। अब बात यह है कि दर्शनशास्त्र यहाँका कि वहाँका? रूपान्तर करते समय यदि वहाँके दर्शनके बदले, यहाँके दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग किया जाय, तो भारतीय-दर्शनका विद्यार्थी झट समझ जायेगा। लेकिन, वह तो बड़ा कठिन है! वे तो कहते हैं कि 'मैटर' के लिए संस्कृतमें कोई भी ठीक-ठीक शब्द नहीं है और संस्कृतके उपादान शब्दके लिए उनके यहाँ कोई वैसा ठीक-ठीक शब्द नहीं है। अधिष्ठान, उपाधि, अध्यासके लिए कोई शब्द नहीं है। यहाँतक कि 'धर्म'के लिए कोई शब्द नहीं। तो इन सबका अर्थ हमारी परम्परासे समझना होगा।

भक्तिमें वैराग्य क्या है? राग एक मुखी होकर अपने इष्टदेवकी ओर बह रहा है और वहाँसे फिर देहमें लौटनेकी गुंजाइश नहीं है। बहता हुआ राग, किन्तु अन्तर्मुख भक्तोंमें वैराग्य भी कई तरहका मानते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि भगवान्‌को देखनेके लिए दो आँख हैं—ज्ञान और वैराग्य।

ज्ञान-विराग नयन उरगारी

आँख न हो तो भगवान् नहीं दिखेंगे। इसका अर्थ हुआ कि भक्तिका अंग है, वैराग्य। यदि वैराग्य न हो तो भक्ति अंगहीन हो जायेगी। ज्ञानकी आँखसे तो थोड़ा-थोड़ा भगवान् दिखेंगे और वैराग्यकी आँख दुनियाको देखती रहेगी तो दुनिया और भगवान्-दोनों एक साथ कैसे दिखेंगे?

दूसरे बोलते हैं कि वैराग्य, भक्तिका बेटा है। यह भागवत-मत है कि वैराग्य, भक्तिका परिणाम है, फल है, पुत्र है। भक्ति, वैराग्याकार परिणामको प्राप्त होती है।

तीसरा मत यह है कि वैराग्य, भक्तिका आभूषण है। वैराग्यसे भक्तिकी शोभा बढ़ जाती है। और, चौथा मत यह है कि भक्तिमें वैराग्यकी कोई जरूरत ही नहीं है। वे जो रसिक लोग हैं, जो पान खाते हैं और रेशमी कपड़े पहनते हैं, सखीभावमें रहते है—वे लोग कहते हैं कि भक्ति, स्वयं इतनी सुन्दर है कि उसको

किसी आभूषणकी जरूरत नहीं है।

परन्तु, योगमें जो वैराग्य है, वह इससे भी विलक्षण है। योगमें राग-वृत्तिका ही निरोध है। भक्तिमें एकका आलम्बन लेकर राग-वृत्तिका निरोध है और योगमें आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा—इनके द्वारा रागवृत्तिका निरोध है। योग तो रागको क्लेश मानता है।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।

बोले कि पाँच रुपए चले गये, बड़ा क्लेश हुआ। नहीं-नहीं, पाँच रुपए जानेका नाम क्लेश नहीं है। आपने रिश्तेदारके बिछुड़नेका नाम क्लेश नहीं है। बेवकूफीका नाम क्लेश है। जो तुम असलियतको नहीं समझते, उसका नाम क्लेश हैं। यह जो तुम्हें अपने बड़प्पनका अभिमान है 'अस्मिता'-इसका नाम क्लेश है। यह जो तुम किसीकी मुहब्बतमें फँसे इधर-उधर डोलते हो, यह क्लेश है। यह जो तुम किसीकी दुश्मनीसे जल मरते हो, यह क्लेश है। यह जो मरनेका डर है, 'अभिनिवेश'—इसका नाम क्लेश है।

'राग' क्लेश है। हमारी वृत्तियाँ दो तरहकी होती हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। योग-दर्शनके मतमें क्लेशयुक्त वृत्ति और क्लेश-रहित वृत्ति—दोनों ही निरोध-पात्र हैं और निरोध होनेपर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है। तो योगमें राग और द्वेषके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। लगावे समाधि और करे राग-द्वेष।

दिल्लीमें एक योगी आये। बोले कि इक्कीस दिन समाधि लगावेंगे। गुफा बनी। उसमें उनके बैठनेकी जगह बनायी गयी। कमिश्नरकी इजाजत लेकर उनको बन्द कर दिया गया। तीसरे ही दिन चिल्लाये कि मरे, मरे, मरे। सो बाहर निकाला गया। असलमें बात यह थी कि उनको ऐसा ख्याल था कि हमारे पास चुपके-चुपके कोई चीज पहुँच जायेगी। अपने किसी सम्बन्धीको उन्होंने वहाँ रख छोड़ा था। अब पुलिसके सिपाही वहाँ हर समय खड़े रहे और कोई मौका उनको नहीं मिला। वैसे बिना खाये और बिना हवाके भी २०-२१ दिन तक रहा जा सकता है, पर उसका तरीका होता है।

योगी लोग देहमें अहंको अभिनिवेश बोलते हैं और यह क्लेश है। यह तो अक्लिष्ट-वृत्ति भी नहीं है। माने धर्मानुसार वृत्ति भी नहीं है। तो योगमें वैराग्य मनको एकाग्र करनेका साधन है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

जब वैराग्य होगा तो इधर-उधर मन भटकेगा नहीं। मन एकाग्र करनेमें

सहायता मिलेगी और एकाग्र मन निरोधभूमिमें जानेके योग्य हो जाता है। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध—पाँच भूमिका मनकी होती है। तो एकाग्रमन, निरुद्ध होनेके योग्य होता है। इसलिए, मनको प्राणायामादिके द्वारा एकाग्र करके फिर उसका निरोध करते हैं। सो वैराग्य वहाँ निरोधमें हेतु है।

अब पूछो कि यह सब बात किस किताबमें लिखी है? सो हम आपको किताबका नाम नहीं बता सकते। लेकिन तत्-तत् मतमें वैराग्यकी एक भूमिका होती है। अब हमको ऐसे तो आता नहीं कि अरे, देहमें क्या रखा है? यह देखो, हड्डी, मांस, चाम, खून है! वैराग्य करो! ऐसे तो मन वैराग्यके बदले ग्लानिसे भर जायेगा।

एक महात्माने हमको बताया कि यदि किसीको ब्रह्मचर्यकी बात बतानी हो तो उस पुराने ढंगसे तुम मत बताना। कैसे? आठ प्रकारका मैथुन होता है और उससे विपरीत, ब्रह्मचर्य है—ऐसे नहीं बताना। बोले कि वह आठ प्रकारका मैथुन बतानेमें ही जिसको तुम ब्रह्मचर्य बताना चाहते हो, उसके मनमें कामके संस्कार जाग्रत् हो जायेंगे। इसलिए, वैसे नहीं बताना चाहिए। बच्चेको बताना हो तो ब्रह्मचर्यके गुण बताना चाहिए।

अब वेदान्तियोंका वैराग्य देखो! वेदान्ती लोग एक तो यह कहते हैं कि संसार अनित्य है। आपको इसका गुर बताता हूँ कि बात क्या है? दूसरे, वे बताते हैं कि संसारमें कोई गुण नहीं है और तीसरे वे बताते हैं कि संसारमें सुख नहीं है। संसार जड़ है, दुःखरूप है। ये तीनों क्या बात हुईं? आपको बताते हैं! यह जो संसारको अनित्य बताते हैं, इसका फल अन्तमें यह होता है कि जो नित्य सत् होता है, उसके प्रति जिज्ञासाका उदय होता है। दोष-दर्शनसे मृत्युका भय आवेगा। अनित्यके साथ मृत्युका भय लगा हुआ है।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

रोज सूर्योदय, सूर्यास्त होता है। समय काम-धन्धेमें बीता जा रहा है। कब समय बीत गया पता नहीं चलता। जन्म, जरा, विपत्ति, मरण देखकर त्रास उत्पन्न नहीं होता। अरेभाई, तुम किसी नशेमें चूर हो क्या?

यह अनित्यताका वर्णन, नित्यताकी ओर चलनेके लिए उकसानेकी एक

प्रक्रिया है। जिज्ञासा, मुमुक्षाको जगानेकी एक प्रक्रिया है, प्रपंचके अनित्यत्वका वर्णन। अच्छा, संसारमें कोई गुण नहीं है। यह क्या है? यह रागकी निवृत्तिके पक्षमें एक बात है। गुणसे राग होता है। तो संसारमें दोष देखना। उससे गुणानुसंधानमूलक राग बचेगा। और, तीसरी बात है कि संसार जड़ है। इससे तुम कितना भी प्रेम करो! यह तुमसे प्रेम करनेवाला नहीं है। तो इससे क्या होगा कि चेतन क्या है, यह अनुसन्धान करनेकी वृत्ति उठेगी। जिज्ञासा होगी, मुमुक्षा होगी।

अनित्यताका दर्शन सत्‌की ओर जानेकी प्रेरणा देता है और संसारके प्रति दोष-दर्शन राग-वृत्तिको मिटाता है और इसकी जड़ताका जो निरूपण है, वह चेतनकी ओर जानेके लिए प्रेरणा देता है और इसका दुःखरूप वर्णन, सुखस्वरूप आत्माकी ओर जानेकी प्रेरणा करता है।

तो यह प्रपंच अनित्य है, जड़ है, दोष-पूर्ण है, दुःख पूर्ण है—इस प्रकारका जो विवेक है, वही वैराग्यका हेतु होता है। किस दृष्टिसे वैराग्य किया जाता है, वह आपको बताते हैं।

अच्छा देखो, एक गुर और बताता हूँ! वैसे हमने शास्त्रमें यह पढ़ा है कि किसीसे यह नहीं कहना चाहिए कि मैं तुमको यह बताता हूँ। उससे यह कहना चाहिए कि आप तो जानते ही हैं, आपको याद दिलाते हैं। इसीमें उसका गौरव होता है। और बार-बार समझानेपर भी वह नहीं समझे तो यह नहीं कहना चाहिए कि आपने नहीं समझा। क्या कहना चाहिए? हमारे समझानेकी ही गलती है, जो हम अपनी बात आपके सामने ठीक-ठीक नहीं कह सके। बोलनेका शिष्टाचार तो ऐसा है। रामचन्द्र भगवान् ऐसे बोलते हैं, *'स्मारये त्वां न शिक्षये'*-मैं शिक्षा नहीं देता हूँ, स्मरण कराता हूँ। यह भारतीय शिष्टाचारका स्वरूप है। किसीसे यह कहना कि तुम नहीं समझे—उसके ज्ञानस्वरूपका तिरस्कार हो गया। है तो वह ज्ञानस्वरूप!

वेदान्ती लोग कहते हैं कि ये संसारके विषय जायेंगे, जायेंगे!

अवश्यं यातारह चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः।

दस दिन ज्यादा, दस दिन कम रहें! लेकिन जायेंगे, ये जरूर जायेंगे! चाहे तुम मरकर इनको छोड़ जाओ और चाहे ये दूसरेके हाथमें जायें! तुमको छोड़ जायें! संसारमें इन विषयोंका वियोग निश्चित है।

वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।

वियोगमें क्या भेद है? तुम स्वयं क्यों नहीं छोड़ देते?

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।

यदि ये तुमको छोड़कर जायेंगे, तो तुमको दुःख देकर जायेंगे। और, यदि तुम इनका त्याग कर दोगे तो तुम्हें त्यागका सुख मिलेगा कि मैंने इतनी बड़ी चीज छोड़ दी।

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।

देखो, वृत्ति दो प्रकारकी होती है—एक सगर्भा और एक निर्गर्भ। एक समय ऐसा होता है, जब वृत्तिके पेटमें कुछ रहता है और एक समय ऐसा होता है, जब वृत्तिके पेटमें कुछ नहीं होता। अच्छा, आप कभी इसका अनुभव करें। आप किसीसे कोई सच्ची बात कह दें कि ऐसी है और किसीसे झूठी बात कह दें कि ऐसी है और उसके बाद देखो कि आपके मनकी क्या दशा होती है! सच्ची बात बोलनेके बाद आप हल्के हो जायेंगे। अरे भाई, जो सच-सच था, सो हमने कह दिया। जो होना होय, सो होय। और, अगर बनाकर झूठी बात कहेंगे तो स्वार्थके लिए बोलेंगे। तो देखो, आपका मन कहेगा कि कहीं पता न चल जाये! कहीं हमारा राज खुल न जाये! कहीं पुलिसको मालूम न हो जाये। कहीं पड़ोसियोंमें हमारी बेइज्जती न हो जाये! बड़ी फिक्र होगी आपको!

वैराग्यमें सत्य होगा, असत्य नहीं होगा। क्यों? वैराग्य हल्की चीज है। उसमें भार नहीं रहता। देखो, जब किसीसे राग करोगे तो जिससे राग करोगे, वह संड-मुसंड आकर तुम्हारे सिरमें, नन्हेंसे दिलमें भर जायेगा। कुमारिल भट्टने लिखा है, तुम दुश्मनी करते हो बेटा! बड़े चतुर हो! चाहते हो यह हो कि तुम्हारा दुश्मन गाँवमें न रहे, धरतीपर न रहे! और, तुम उसको लेकर अपने कलेजेमें बैठा रहे हो? यह क्या तुम्हारी बुद्धिमानीका काम है? जिस दुश्मनको तुम गाँवमें नहीं रहने देना चाहते, उससे अगर द्वेष करोगे तो वह तुम्हारे दिलमें आकर बस जायेगा।

आप विवेक कर लो! शोक जब आप करते हो तो पिछली बात आपके दिलपर बोझ बनकर बैठती है और जब भय करते हो तो अगली बात आपके दिलपर बोझ बनकर बैठती है और जब मोह करते हो तो कुटुम्ब बोझ बनकर बैठता है, क्रोध करतें हो तो दुश्मन बोझ बनकर बैठता है। माने संसारी-वृत्ति उसको कहते हैं जिस वृत्तिमें विषयका बोझ होवे! और, 'वैराग्य' उसको कहते हैं, जिस वृत्तिमें विषयका बोझ न होवे।

अब इस परिभाषाको आप विस्तारसे समझो!

हिंसामें मनमें शत्रु है। लेकिन, अहिंसामें आपके मनमें कुछ नहीं है। चोरी बेईमानी, लोभमें आपके मनमें धन है। लेकिन निर्लोभता, सन्तोषमें आपके मनमें कुछ नहीं है! देखो, यह सद्‌गुण हुआ। अच्छा, मनमें व्यभिचार, काम होवे तो कामिनी, कामी मनमें होगा और ब्रह्मचर्य होवे तो कौन-सी कामिनी, कामी आकर मनमें बैठेगा? तो सद्‌गुण उसको कहते हैं, जहाँ हमारी वृत्ति अपने ज्ञानस्वरूप सत्तासे पृथक् किसी चीजको नहीं दिखाती और जहाँ हमारी वृत्ति अपने ज्ञानस्वरूप सत्तासे पृथक् किसीको दिखाती है, वहाँ वैराग्यकी कमी हो गयी। अब इसमें भी दो भेद हैं—वस्तु दिखे और वैराग्य होवे और वस्तु न दिखे और वैराग्य होवे। सांख्यवाले मानते हैं कि शीशेमें जो वस्तुएँ दिखती हैं, उनमें क्या राग होता है? अरे, ज्ञानस्वरूप परमात्मामें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड दिखे, द्रष्टाको सम्पूर्ण दृश्य दिखे। पर, **'रागोपहतिर्ज्ञानम्'**—कहीं राग-द्वेष नहीं हो। मजा है।

वेदान्ती कहते हैं कि दिखे, चाहे नहीं दिखे—इसका प्रश्न वैराग्यमें नहीं है। दिखनेपर भी वैराग्य है और न दिखनेपर भी वैराग्य है। परन्तु, वस्तु बाधित हो जानी चाहिए। रज्जुके ज्ञानसे जैसे सर्प बाधित हो जाता है, माला बाधित हो जाती है, ऐसे ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानसे यह प्रपंच बाधित हो जाये। इसी रास्ते पर वैराग्य ले चलता है।



अद्वयतत्त्वद्रष्टा कौन? (२)

वीतरागभयक्रोधै - र्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥ ३५॥

वीतराग, वीतभय, वीतक्रोध—यह आजकल महात्माओंके लिए बड़ी प्रशंसाका शब्द है 'वीतराग'। 'वीतराग' का अर्थ है कि ये पहले तो रागी थे। पर, अब रागी नहीं हैं। 'वीत' माने व्यतीत। तो जन्म-जन्मसे जो प्राप्त राग था, वह जिनका निवृत्त हो गया है, वे 'वीतराग' हैं और कहो कि अराग अर्थ है। अराग तो पत्थर होता है। 'अराग' कहनेसे काम नहीं चलेगा। राग होवे और छूट गया हो। वासना हो और निवृत्त हो गयी हो, तब उसका माहात्म्य अधिक होता है। तो इसीसे बालक, वीतराग नहीं है। सब रागोंका बीज उसमें है।

'राग' किसको कहते हैं यह आपको पहले सुनाया था। 'राग' माने रंजना, रंग। अपने मनपर किसीका रंग चढ़ जाना। तो संसारमें तीन स्थिति देखनेमें आती है—एक रूप आदि संसारके विषय और एक प्रतिघ, माने विषयोंके सामने आनेपर उनकी प्रतिक्रिया ग्रहण करनेवाले जो इन्द्रिय और मन समुदाय हमारे पास हैं और उससे भी अंतरंग होता है, नानात्व-बीज। तो इन्द्रियोंमें भी नानात्व होता है, मनमें भी वृत्तियोंका नानात्व होता है, विषयोंमें भी नानात्व होता है।

तो 'प्रतिघ' का अर्थ होता है 'प्रतिहन्यते अनेन'। जिससे प्रतिघात होता है। एक बहुत सुन्दर रूप देखा। अब दिलमें जाकर उसने चोट किया और फिर इच्छा

हुई कि यह रूप हमको मिल जाये। एक बड़ा रूप देखा, आँख घबड़ाई, मनमें ग्लानि हुई कि फिर हमारे सामने न आवे। तो ये दोनों प्रतिक्रिया है। चाहनेकी भी प्रतिक्रिया होती है और न चाहनेकी भी प्रतिक्रिया होती है। रेलगाड़ी, हवाई जहाजमें चलते-चलते कभी किसी वस्तु या व्यक्तिको देखते हैं, तो मनको प्यारा लगता है और कोई-कोई वस्तु मनको अप्रिय लगती है। तो प्रियके प्रति इच्छा और अप्रियके प्रति ग्लानि—यह दोनों चित्तमें होती हैं। यह क्या है? यह प्रतिघ है, प्रतिघात है, प्रतिक्रिया है। यह नाना प्रकारका होता है। परन्तु, इनके बीजकी दशा कारण दशा है।

अब देखो, यदि मनुष्यको इससे छुटकारा पाना हो तो आकाशायतन हो जाना चाहिए। अपनेको आकाशसे एक करके रखो। विषय, अन्तःकरण, इन्द्रियों और बीजको मत पकड़ो। इन तीनोंको तो शरीरमें छोड़ दो । और तुम? कहा कि आकाश हो। इसको 'आकाशायतन' बोलते हैं। यह रागसे छूटनेका उपाय है।

असलमें देखो, गेहूँ पंचभूतमें एक कल्पित आकृति है और उसके पोषणसे बना हुआ यह शरीर है। यह भी पंचभूतमें कल्पित एक आकृति है और हे भगवान्, आपलोग छोटी बात न मानना, ये इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि भी पंचभूतमें कल्पित आकृति ही हैं और इनमें जो बीजभाव है, वह भी गेहूँके दाने सरीखा ही है। देखो, बाहरका गेहूँ मैं नहीं हूँ और गेहूँमें रस देनेवाला जो चन्द्रमा है, वह मैं नहीं हूँ और उसी चन्द्रमासे रस लेकर गेहूँसे बना हुआ जो शरीर है, वह मैं नहीं हूँ। आकाशायतन—यह राग छोड़नेका उपाय हो गया।

अच्छा, इससे ऊपर क्या है? विज्ञानायतन है। अरे, आकाश जिसको मालूम पड़ता है, वह वृत्ति तुम हो। बोले कि नहीं, इसके भी ऊपर क्या? आकिञ्चनायतन है। आकाश और विज्ञान, दोनोंका अपने स्वरूपमें अभाव है और उसके बाद नैव संज्ञानासंज्ञायतन है। न प्रज्ञं नाप्रज्ञं—न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ माने बीजभावसे परे, चिदाकाश, ब्रह्म। तो जिसमें बीजभाव प्रतीत होता है, जिसमें अभाव प्रतीत होता है और जिसमें विज्ञान, आकाश प्रतीत होता है, उसमें यह देह और देहमें जो विषयोंका प्रतिघात होता है सो और यह संसारके विषय—ये क्या होते हैं? यह तो आदमीका मन छोटी चीजको पकड़ता है। इसीसे हमारे ज्ञानी महात्मा बोलते हैं,

क्वचिन्नप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादनीयम्।

आप अपने मनको ऐसा बनाइये, जो संसारकी किसी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, भाव, स्थिति, परिच्छिन्नतामें अटके नहीं। अब देखो, किसी-किसीको यह उलटा

मालूम पड़ेगा। लेकिन ध्यानकी बात तो कुछ ऊँची होती है। आप अपने मनको ऐसा बनाओ कि जिसके लिए यह सृष्टि नाटक हो जाये। न-अटक, इसमें मत अटक! और, यदि चित्तको कहीं प्रतिष्ठित कर दोगे, वहीं फँस जायेगा।

'वीतराग' किसको कहते हैं? वही जो संज्ञा और असंज्ञा दोनोंसे परे आत्म-वस्तु है, उसको अपना 'मैं' जान लेनेसे विषय बाधित, प्रतिघ बाधित, नानात्व बीज बाधित आकाशायतन बाधित, विज्ञानायतन बाधित, अकिञ्चनयायतन बाधित और नैव संज्ञा नासंज्ञायतन बाधित। अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों। मजा-ही-मजा है फिर। जीवन्मुक्तिकी श्रेष्ठ भूमिका है। जिसका मैंने वर्णन किया, यह जीवन्मुक्तिकी सातवीं भूमिका नहीं है। यह आठवीं है। और, यह हाय-हाय करते समय भी रहती है। रोते समय भी, गाते समय भी, हँसते समय भी, सोते समय भी, बेहोशीमें भी, पागलपनेमें भी यह ज्ञानीको नहीं छोड़ती है, क्योंकि ज्ञानीका अपना स्वरूप है।

'वीतरागभयक्रोधैः'। कोई चीज आँखसे दिखायी पड़ी या जीभपर आयी या नाकमें आयी या कानमें आयी। तो बार-बार उसकी याद आने लग गयी। तो कहेंगे कि अरे, याद ही तो आयी! क्या अनर्थ हो गया? पहले ऐसे ही बोलते हैं कि अरे, मनमें कोई बात आ गयी तो क्या अनर्थ हो गया? फिर, मन कहेगा कि इसको बारम्बार देख लो न! देखने में क्या लगता है? देखनेमें कोई पाप लगता है? हट, देखनेमें क्या पाप है! फिर, देखने चले गये। फिर मनमें आया कि दूर खड़े होकर दो-दो बात ही कर लो। बात करना कोई पाप है? कोई कहे कि ए, तुम उनसे बात करते हो? बात करने में क्या पाप लगता है? ये बड़े बुर्जुवा लोग हैं। तो बात करनेके बाद क्या मनमें आवेगा कि छू लो! अरे, तुम इनके हाथ लगाते हो? हाथ ही तो लगाते हैं। कोई पाप करते हैं? तो देखो, देखेंगे तो बार-बार देखने का मन होगा, फिर बात करनेका मन होगा, फिर छूनेका मन होगा, फिर हृदयसे लगनेका मन होगा और फिर निग्रह स्थानपर माने जहाँ जाकर आदमी कैद हो जाता है, उसे कैदकी जगहपर पहुँच जाते हैं।

यह राग जो है, वह मनको रंग लेता है। पर एक बात है! रागी पुरुषका जो चरित्र है, वह मधुर हो जाता है! दुनियामें मिठास आ जाती है। जिसका क़िसीसे राग नहीं है, वह बाल न बनवाये और मैला-कुचैला कपड़ा पहने, तो उससे कहो कि ऐसे क्यों रहते हो? तो कहेगा कि अरे, कौन देखनेवाला बैठा है? कोई देखनेवाला होता तो एक बात थी। लेकिन महाराज, किसीसे राग होवे तो रागीका

विचित्र चरित्र होता है। ब्रजवासी बुढ़िया भी काजल लगाती हैं। क्यों? क्योंकि, उनका ठाकुर उनको देखता है। कहती हैं कि कृष्ण देखेगा तो आँखमें काजल नहीं होगा तो उसको बुरा लगेगा।

तो राग, शरीरको स्वच्छता, निर्मलता, सौंदर्य प्रदान करता है। रागमें चलनेमें सौंदर्य, बोलनेमें मिठास होती है। बिस्तर लगावेंगे तो बड़े करीनेसे लगावेंगे और अगर चित्तमें द्वेषभरा हो तो ले जाकर पटक देते हैं! अब यह कहो कि यह बात आप अपने मनसे गढ़कर सुनाते हो! सो गढ़कर नहीं सुनाते हैं। पालीभाषामें इसका नाम 'ईर्ष्या-पथ' है। मनमें मोह होनेसे शराबके नशेमें आदमी कैसा हो जाता है? ऊट-पटांग! और, द्वेष हो तो वह कड़ककर पाँव धरतीपर रखते हैं, जैसे धरती फट जाये और किसीका हाथ पकड़ लिया तो मालूम पड़ेगा कि टूट ही जायेगा! देखेंगे तो मालूम होगा कि चबा जायेंगे। लोभी आदमियोंकी नजर दूसरी होती है, क्रोधीकी नजर दूसरी होती है, रागीकी नजर दूसरी होती है, डरे हुएकी नजर दूसरी होती है!

कई लोग 'नर्वस' हो जाते हैं। माने नाड़ी वश हो जाते हैं। दिमागकी एक नाड़ी होती है, वह जरा कमजोर पड़ जाती है। तो उनके झट आँखों से आँसू गिरने लगते हैं। कमजोर चित्तके जो लोग हैं, या तो नाली वश होंगे माने शराब पीकर नालीमें गिरेंगे या फिर नाड़ी वश होंगे!

'वीतराग' माने किसीका रंग अपने चैतन्य, ज्ञान-स्वरूप पर न पड़े। माने असंगता बनी रहे। आसक्ति नहीं होवे। क्योंकि, आसक्तिमें-से काम निकलता है, लोभ निकलता है। फिर आसक्तिके अनुसार अगर काम न होवे तो क्रोध आ जाता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता, २.६२)

तो, जिससे सुख मिलंता है, उससे राग होता है और जिससे दुःख मिलता है, उससे भय होता है। तो राग और भय, दोनों एक साथ चित्तमें रह सकते हैं। माने वैसे तो एक क्षणमें राग और एक क्षणमें भय हो सकता है। पर दोनों एक अन्तःकरणमें रह सकते हैं। कैसे? जिससे राग है, वह कहीं छूट न जाय—जिसके लिए भय होगा वह कहीं नाराज न हो जाये। राग और भय, दोनों एक चित्तमें रहते हैं। अच्छा, भयके साथ क्रोध भी रह सकता है। जिससे डरते हैं, उसके ऊपर

क्रोध आवेगा। लेकिन, राग और क्रोध, दोनों एक अन्तःकरणमें नहीं रह सकते। राग और क्रोध, परस्पर विरोधी हैं। युगपत् माने एक समय, एक साथ एक ही अन्तःकरणमें राग भी होवे और क्रोध भी होवे—ऐसा नहीं होता। राग और दुःखका विरोध नहीं है। रागी आदमी रोता हुआ हो सकता है और एक रागी आदमी भयभीत, डरा हुआ भी हो सकता है। एक भयभीत आदमी क्रोधी भी हो सकता है। एक क्रोधी आदमी भयभीत भी हो सकता है। परन्तु, एक ही हृदयमें राग भी हो और क्रोध भी हो, सो नहीं हो सकता। क्रोध तो रूखा है और राग गीला है। राग रसात्मक है और क्रोध कटु है।

परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अन्तःकरणमें-से राग, भय और क्रोध निवृत्त होना चाहिए। जिसको स्वर्गका राग है, उसको भी परमात्माका ज्ञान नहीं होगा। जिसको नरकका भय है, उसको भी परमात्माका ज्ञान नहीं होगा। इसलिए, सकाम पुण्यसे भी बचना पड़ेगा और पापसे भी बचना पड़ेगा। क्योंकि सकाम पुण्य करेगा तो राग होगा और यदि पाप करेगा, तो भय होगा। और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए लौकिक पदार्थोंके मोहसे भी बचना पड़ेगा। क्योंकि लौकिक पदार्थोंका मोह होगा तो जो उस मोहके विपरीत आचरण करेगा, उसके ऊपर क्रोध आवेगा।

यह क्रोध क्या है? आपने सुना होगा, *'क्रोध पाप कर मूल'*। पापके बापका नाम है क्रोध। क्योंकि, क्रोधमें-से हिंसा निकलती है। क्रोधी व्यक्ति गाली देने लगेगा, उसके हाथ, पाँव काँपने लगेंगे, उसका चेहरा विकृत हो जायेगा। आपको याद रहे, तो जब कभी आपको क्रोध आवे तो जरा शीशेके सामने जाकर खड़े हो जाना। उस समय देखना कि आपकी भौंह कैसे चलती है? आँखकी लाली उस समय कैसी होती है? मुँह आपका कैसा टेढ़ा हो जाता है? अगर चौबीस घण्टेमें घण्टा-आध घण्टा रोज आदमीको क्रोध आया करे तो फिर ब्यूटी हाऊसमें गये बिना उसका चेहरा ठीक नहीं हो सकता। चेहरा बिलकुल टेढ़ा हो जायेगा। हमने अपने मित्रोंको करके बताया है। अच्छा, पाँच मिनट बाद आकर देखना कि हमारा चेहरा कैसा होता है? बनावटी गुस्सेसे भी हमारा चेहरा बदल जाता था। क्रोधका रक्त, चाम, आँख, होंठ पर प्रभाव पड़ता है। दिलकी धड़कन गुस्सेमें बढ़ जाती है, हाथ-पाँव काँपने लगते हैं। अनाप-शनाप बकने लगते हैं। यह क्रोध कोई मामूली रोग नहीं है?

यह किनको आता है? जो लोग यह चाहते हैं कि हमारे ही मनके मुताबिक

सब काम होवे! हमारे तो मन है। और, दूसरोंके क्या है? बोले कि पत्थर है। तो जो लोग खुदगर्ज होते हैं, स्वार्थी होते हैं और अपनी ही बातपर जिद्द करते हैं और चाहते हैं कि सब लोग उसीको मानें, उनको क्रोध ज्यादा आता है और यह खुदगर्जी कहाँसे आती है? अहंकारसे। और अहंकार कहाँसे होता है? अपने स्वरूपके अज्ञानसे। तो अपने स्वरूपके अज्ञानसे अहंकी ग्रन्थि तीव्र होती है, अहंकी ग्रन्थिसे अपनी कामनापर ज्यादा जोर देते हैं और अपनी कामनाके अनुसार संसारमें व्यवहार न होनेपर क्रोध आता है।

आप देखो, अज्ञानमें भी मजा रहता है। कोई हमसे दुश्मनी करता हो और मालूम न हो तो चित्तमें कोई अशान्ति नहीं होगी। और, अहंकारमें भी एक मजा रहता है कि हमारे बराबर और कौन है? कामनामें भी एक मजा रहता है कि हमारा मनोरथ पूरा हो जायेगा। आशा होवे, प्रतीक्षा होवे, कामना होवे तो उसमें भी एक मजा होता है। लेकिन, जब क्रोध आता है, तब मजा चकनाचूर हो जाता है। यह जीवनमें रसका सबसे पहला शत्रु क्रोध है। इसीसे संस्कृत भाषामें इसको क्रोध कहते हैं! क्रोध कस्मात्? क्रोधको क्रोध क्यों कहते हैं? *कं रुनद्धि इति। कं सुखं रसं वा रुनद्धि इति*। आत्मसुखकी जो धारा बह रही थी, जो अज्ञानमें भी चालू रही, नींदमें चालू रही, जो अहंकारमें भी चालू रही कामनामें भी चालू रही, वह रसकी धारा क्रोध तक आते-आते सूख गयी। इसलिए, क्रोधको क्रोध कहते हैं। उसने रसके झरनेको, रसकी नदीको सुखा दिया बिलकुल। सो क्रोध मिटना चाहिए।

देखो, इसमें भी कई बात होती है। चित्तवृत्ति जब ज्वलनात्मिका होती है माने जब हमारा चित्त आगकी तरह धधकने लगता है, उसको 'द्वेष' बोलते हैं। यह क्रोधकी पूर्वावस्था है। जब वह ज्वलनात्मिका-वृत्ति वाणी या क्रियासे प्रकट होती है, तब 'क्रोध' होता है और वह जब दूसरेको नुकसान पहुँचाती है, तब उसको 'हिंसा' बोलते हैं। और, जब वह सार्वजनिक रूप ग्रहण कर लेती है, तब उसको 'विद्रोह' बोलते हैं। तो द्वेष, क्रोध, हिंसा और विद्रोह—ये सब एक ही परम्परामें होते हैं।

अब देखो, यहाँसे शुरू करो कि ज्ञानी पुरुष देखता है कि सब अपना आत्मा है। जो क्रोध करनेवाला है, वही तो वह है जिसपर हम क्रोध करते हैं! तीन बार बोलते हैं, ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः और उसके बाद क्या करते हैं? आपसमें बातचीत करने लगते हैं। अब वह शान्ति तो बेचारी बाहर चली गयी।

शान्तिका निस्तारण हो गया। तो महात्मा लोग क्या करते हैं कि अपने सिवाय दूसरा और है ही नहीं, तो *'क्रुध्येत कस्मै?'* श्रीमद्भागवतमें आया कि ***'जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत'*** (११.२३.५१) दाँतोंसे अगर अपनी जीभ कट जाये तो गुस्सा करोगे क्या? कई लोग ऐसे होते हैं महाराज, कि दाँतसे जीभ कट जाये तो लेकर लोढ़ा अपना दाँत ही तोड़ दें। ए दाँत! क्यों तुमने हमारी जीभ काट दी? इसीको बेवकूफी बोलते हैं। आत्मीयताका भाव होवे कि सब अपना आत्मा है।

अच्छा, दूसरी बात देखो! सब माया है। तो जादूके खेलमें कोई घटना हो जाये तो किसके ऊपर क्रोध करें? अच्छा, तीसरी बात देखो कि सब ईश्वर है। क्या ईश्वर पर गुस्सा करेंगे? चौथी बात देखो कि सब प्रकृतिका खेल है। तो सब प्रकृतिकी प्रेरणासे हो रहा है। इसमें गुस्सा क्या? सब पंचभूत है, सब मनुष्य हैं, सबके मनमें कमजोरी है। जैसे हम हैं, वैसे सब हैं। हमसे भी गलती होती है। दूसरोंसे भी गलती होती है। अपनी गलती हो तो दबा लें और दूसरेकी गलती हो तो नाराज हों! यह कैसे?

इसका अभिप्राय यह है कि जिसकी दृष्टि तात्त्विक होती है और सर्वव्यापक होती है, उसको क्रोध कम आता है।

अब इसका दूसरा विभाग देखो!

यदि आपके जीवनमें राग, भय और क्रोध है माने भविष्यमें मन गया तो भय है और अनिष्टकारीपर मन गया तो क्रोध और इष्टकारीपर मन गया तो राग। ये देश, काल, वस्तुके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। तो आप रोज प्रातः काल उठते ही भगवान्से प्रार्थना करो कि हे भगवान्, आज संसारमें हम व्यवहार करें तो हमारे मनमें किसीके प्रति क्रोध न आवे! फिर कहो कि मैं भगवान्के चरण छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज मैं चौबीस घण्टेमें क्रोध नहीं करूँगा! चाहे कुछ भी हो जाये! चाहे घीका घड़ा ढुलक जाये! लेकिन हम आज क्रोध नहीं करेंगे। अगर आज किसीसे गलती हो जायेगी तो उससे कहेंगे कि देखो भाई, आज तो हमने क्रोध न करनेका नियम ले रखा है। कल तुम्हारे ऊपर क्रोध करेंगे! देखो, मजा आ जायेगा। चौबीस घंटेमें क्रोध पच जायेगा। और, इसके बारेमें किसी नये डॉक्टरसे सलाह मत लेना। नहीं तो वह कहेगा कि क्रोध रोकोगे तो रोग हो जायेगा। नये मनोविज्ञानकी सलाह इसमें बिलकुल नहीं लेना और बहुत वेग होवे तो कमरा बन्द करके एकान्तमें अपनेको गाली देना शुरू कर देना कि तुम कैसे हो, जो तुमको क्रोध आता है।

सायंकाल जब नींद आने लगे तो देखना कि आज क्रोध आया कि नहीं। फिर भगवान्‌से प्रार्थना करना कि आज तो गलती हो गयी तो हो गयी! अब कल न होने पावे! अब कल गलती नहीं करेंगे। जिसके ऊपर क्रोध आ रहा है, उसको मैं अपना प्यार देता हूँ। मैं क्रोधी नहीं हूँ, मैं प्रेमी हूँ। मैं लाल मिर्च नहीं हूँ, मैं शहद हूँ—ऐसे सोचो! मैं करेला नहीं हूँ, मैं अंगूर हूँ! मैं दूसरेको रस देनेवाला हूँ, प्यार देनानेवाला हूँ, आनन्द देनेवाला हूँ। जिसके ऊपर हमारे मनमें गुस्सा आ रहा है, उसको मैं प्यारसे सराबोर कर दूँगा। यही सोचते-सोचते सो जाओ!

एक बात आपको सुनाता हूँ। थोड़ा मौनका अभ्यास चाहिए! मनमें जो वेग आवे, सो बोल दिया। नहीं, थोड़ा मौन भी चाहिए। थोड़ा प्रायश्चित भी चाहिए। एक वक़ील अदालतमें बहस कर रहे थे। उनको गुस्सा आ गया। सामनेवाले जानबूझकर क्रोध करा देते हैं। क्योंकि, क्रोध होनेपर बुद्धि तो नष्ट हो जाती है। तो वकील जो बहस करना सोचकर आता है, गुस्सा दिलानेपर उसकी बुद्धि दूसरी जगह चली जाती है और सोची हुई युक्ति वह भूल जाती है। खासकर फौजदारीके मुकदमेंमें अगर कोई वकीलको गुस्सा दिला दे, तो बेकार हो जाता है। अच्छा, मोटे आदमीको गुस्सा कम आता है। दुबले आदमीको ज्यादा आता है। मोटे आदमीको गुस्सा कम क्यों आता है? क्योंकि, वह बेचारा किसीको मारकर भाग तो सकता नहीं और किसीसे लड़ाई हो जाय तो उसको पटक नहीं सकता। वह तो बेबस होता है। इसलिए, मोटे लोगोंको गुस्सा जरा कम आता है। दुबले लोग तो गुस्सा आने पर मारकर भाग जायें, दूसरेको गिरा दें, पाँव खींच लें। गुस्सा कमजोरीका लक्षण है, मजबूतीका लक्षण नहीं है। ब्लड-प्रेशर हाई होवे तब भी और कम होवे तब भी—दोनों हालतमें गुस्सा ज्यादा आता है। यह भी एक शरीरका रोग है। इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

एक बात है कि गुस्सा आनेपर जो प्रायश्चित्त करते हैं, तो भूखे रहनेका प्रायश्चित नहीं करना चाहिए। क्योंकि, भूखे रहनेसे गुस्सा और बढ़ता है। भूखमें आदमीको क्रोध जल्दी-जल्दी आता है। जिस दिन क्रोध आवे, उस दिन दही, दूध, घी आदि स्निग्ध-पदार्थ खाना चाहिए। लेकिन पाँच रुपया, दस रुपया किसी गरीबको देना चाहिए। और, एक सप्ताहतक नमक नहीं खायेंगे, शक्कर नहीं खायेंगे! ऐसा कुछ नियम रखना चाहिए। इससे भावान्तर हो जाता है। जब गुस्सा आनेवाला होगा, तब शक्करकी याद आवेगी, नमककी याद आवेगी। जीभपर पानी आ जायेगा! तब सोचेंगे कि चुप ही रहना ठीक है! नमक तो नहीं छूटेगा।

गुस्सेको दूर करनेकी यह बस विधि है।

महात्मा लोग कहते हैं कि संसारी लोग जिन बातोंपर गुस्सा करते हैं, उनपर तो ख़ुश होना चाहिए। जैसे, एकने हमारी निन्दा की। तो महात्मा क्या बोलेगा?

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिनु साबुने, निरमल करे सुभाय॥

एक व्यक्ति किसीकी निन्दा करता था। किसीने आकर कहा कि महात्माजी, वह आदमी तो बहुत बुरा है। वह आपकी निन्दा करता है और निन्दा लेनेमें बड़ा रस लेता है, मजा लेता है। महात्माजी बोले कि ऐसा है! मेरी निन्दा करनेसे उसे मजा आता है, रस आता है? तो भाई मेरे, दूसरेको रस आवे, मजा आवे—इसके लिये तो हम रोटी खिलाते हैं, फलका प्रसाद देते हैं, उसकी लल्लो-चप्पो करते हैं कि खुश हो जाये! अगर वह हमारे दोष देख-देख कर ही खुश होता है, मजा लेता है तो चलो बिना खर्च किये ही हमको तो बड़ी खुशी है। जाकर कह देना कि जैसे उनको रस आवे, वैसा ही करें।

विनोबाजीसे किसीने पूछा कि जब कोई गाली देने लगे, तो क्या करना चाहिए? वे बोले कि उसको कहना चाहिए कि हम तुमको हुक्म देते हैं कि तुम हमको खूब गाली दो। इससे क्या होगा? इससे यह होगा कि अगर वह गाली देता है तो वह हमारा आज्ञाकारी है, सेवक है। उसमें तो बुरा नहीं मानना चाहिए! हमने तो कहा ही है कि गाली दो! और, न दे, चुप हो जाये तो चलो पिण्ड छूटा।

विहारमें एक डुमराँव रियासत है। हमारे गाँवके पासके एक सज्जन वहाँ काम करते थे। वे किस कामके लिए नौकर थे? जब वहाँके राजा साहब खानेको बैठते थे या चलते थे या अकेले होते थे, तो ये उनको गाली दिया करते थे। राजाको जब बोलना हो तब 'अबे साले'-ऐसा करके बोलते थे। तो राजाको हँसी आती थी। क्यों? नौकर थे न! उनको तो अस्सी रुपया महीना इस बातके लिए मिलता था कि वे राजाको गाली देते हुए उनके साथ चलें।

अब देखो, शरीरकी कोई निन्दा करे। बोले कि हड्डी, मांस, चामकी हम तो रोज निन्दा करते हैं। आत्माकी कोई निन्दा करे तो बोले कि जो हम, सो तुम। हमें दी हुई गाली तुम्हें भी मिलती है। बोले भाई कि जिसके पास जो चीज रहती है, वह वही तो देगा। पैसेवाला पैसेका दान करेगा, गालीवाला गालीका दान करेगा।

एक बारकी बात है, महात्मा बुद्ध बैठे हुए थे। एक सज्जन आये और उन्होंने गाली देना शुरू किया कि तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो! खूब गाली दी। बुद्ध चुपचाप

बैठे सुनते रहे। फिर जब वह चुप हो गया, तब उन्होंने पूछा कि क्यों भन्ते, यदि कोई किसीको कुछ दे और लेनेवाला न ले तो उस चीजका क्या होगा? वह बोला कि देनेवालेके पास वापस आ जायेगी!

तो देखो, यह महात्माओंकी युक्ति है।

एक महात्मा अपने शिष्योंमें बैठे हुए थे। एक बुढ़िया गाली देते हुए आयी। तो शिष्योंने कहा कि महाराज, यह आपको गाली दे रही है! बोले कि हमको नहीं दे रही है! तुम लोग सत्संग करो! बुढ़ियाने सुन लिया। नाम लेकर गाली देना शुरू किया। तो शिष्योंने कहा कि महाराज, अपका नाम लेकर गाली दे रही है। वे बोले कि भाई, इस नामके दुनियामें हजारों आदमी हैं। किसीको देती होगी! हमको नहीं दे रही है। तो वह बुढ़िया और पास आ गयी और उनका सिर पकड़ लिया और हिलाने लगी कि मैं तुम्हींको गाली दे रही हूँ। तो वह बोले कि अभी इसकी पहुँच अन्नमयकोश तक है। यह अन्नमयकोशको गाली दे रही है और मैं तो प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय-सबकोशोंसे परे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ। अभी तो हमको इसने देखा ही नहीं है! गाली कहाँसे देगी? यह तो हड्डी, मांस, चामको गाली दे रही है।

यह जो क्रोध है जब यह आवे तो थोड़ा जप करना चाहिए, थोड़ा ईश्वरका दर्शन करना चाहिए, थोड़ा ध्यान करना चाहिए, थोड़ी प्रार्थना करनी चाहिए, थोड़ा दान करना चाहिए। और, यह बात केवल क्रोधके लिए नहीं है। यह सभी दोषोंके लिए। भय, काम, रागके लिए भी है।

अच्छा, बोले कि दोष क्या होता है और क्या नहीं होता है? इसके पचड़ेमें हम नहीं पड़ते। हम कोई धर्म-शास्त्री थोड़े ही है! एक बात बता देते हैं कि तुम्हें अपनी नजरसे जो दोष मालूम पड़ता हो, तुम्हारी ही बुद्धिसे माना हुआ, तुम्हारे ही विवेकके प्रकाशमें दीखता हुआ जो तुम्हारी दृष्टिसे दोष है, अगर वह दोष तुम्हारे अन्दर होवे तो उसकी शान्तिके लिए प्रयास करना चाहिए और जब यह शान्त होता है तो महात्मा हो जाता है। उसमें ब्रह्मके दर्शनकी योग्यता आ जाती है। *'पत्रे पत्रे वासुदेव'* उसको दिखायी पड़ेगा! संसारकी एक-एक वस्तुमें परब्रह्म परमात्मा दिखेगा।

☆

अद्वयतत्त्व-द्रष्टा कौन? (३)

'वीतरागभयक्रोधैः'—राग, भय और क्रोध-ये जिसके लिए विगतकी वस्तु हो गये, पीछे छूट गये और जो मुनि हैं, माने मनन-शील है और वेदपार-गामी है।

तो 'वीतरागभयक्रोधैः' से बहिरंग साधन-चतुष्ट्य और 'मुनिभिः'से मनन, निदिध्यासन और 'वेदपारगैः' से श्रवण। माने, साधन-चतुष्टय सम्पन्न होकर, वेदान्तका श्रवण करके मनन निदिध्यासनके द्वारा जिसने सारे प्रतिबन्ध काट दिये हैं, वह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय अपने आत्माका साक्षात्कार करता है।

गीतामें भी 'वीतरागभयक्रोधः'—इसपर बहुत जोर दिया है। *'स्थितधीर्मुनिरुच्यते'*। माने ऐसा कौन है, जिसकी बुद्धि एक निश्चयपर पहुँच जाती है, मुस्तकिल हो जाती है? जिसकोसत्यका ज्ञान नहीं होता, उसकी बुद्धि तो खोज करती रहती है कि कहीं सच मिल जाये तो उसको हम देखें! जैसे किसीके रहनेके लिए घर न हो तो वह ढूँढ़े कि हमको कहीं रहनेके लिए जगह मिल जाये तो वहाँ जा कर बैठें! ऐसे बुद्धि दुनियामें घूमती रहती है कि आखिर हमारे बैठनेकी जगह कहाँ है? तो यह बुद्धि न तो अपने बच्चोंके घर बैठ सकती है और न तो अपने यारोंके घर बैठ सकती है और न तो यह हमेशा अपने माँ-बापके घर रह सकती। यह बुद्धिका स्वभाव है कि निरन्तर अन्तःकरणमें न रहे, सुषुप्तिमें भी न रहे और निरन्तर स्वप्न, मनोराज्य आदिमें न रहे 'सुषुप्ति' इसके माँ-बापका घर है और शब्दादिविषय इसके यार हैं और स्वप्न, मनोराज्य सिनेमा घर हैं। तो बुद्धि हमेशा इनके घर नहीं रह सकती। सो वह अपने अधिपति, अधिष्ठानके पास

पहुँचती है, तब वह स्थित होती है। इसीको बुद्धिका स्थिर होना, स्थिर होना, मुस्तकिल होना कहते हैं।

तो *'स्थितधीर्मनिरुच्यते'*। कौन? बोले कि, **'वीतराग भयक्रोधः'**।

दूसरी जगह गीतामें कहा कि, *'विगतेच्छाभयक्रोधः'* रागकी जगह 'इच्छा' शब्दका प्रयोग कर दिया। 'इच्छा' माने राग ही है। यह 'इच्छा' मेंसे 'इ' अक्षरका लोप हो गया और 'च्छा' था वह 'चाह' बन गया।

अच्छा, एक जगह बताया कि,

वीतरागभयक्रोधाः मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

ज्ञान कब होता है? जब वीत–राग–भय–क्रोध होते हैं। नहीं तो जिससे राग होगा, उससे मिलेंगे। गोपियोंका राग था कृष्णसे। कंसको भय था कृष्णसे और शिशुपालको कृष्णपर क्रोध था। तो शिशुपाल, कंस, गोपियोंको कृष्णकी प्राप्ति हुई। यह राग, भय, क्रोध वाहन हैं।

तो भगवान्‌का प्यारा कौन?

अब इसको ऐसा देखो! जिसका राग किसी दूसरेसे न हो। अगर भगवान् यह समझ जायें कि यह थोड़ा राग हमसे करता है और थोड़ा दूसरा राग दूसरोंसे करता है, अपना राग मुट्ठीमें लिये–लिये फिरता है कहीं–कहीं बिखेरता है! तो भगवान् कहते हैं कि अच्छा भाई, अभी दुनियामें खेलो! तुम्हारे रागास्पद बहुत हैं! और, राग करने चले भगवान्‌से और किसीसे डर जाये तो? रागमें भयके लिए स्थान नहीं है। और, रागमें क्रोधके लिए भी स्थान नहीं है। ऐसे जने–जनेसे लड़ते फिरो तो तुमको रागका मजा थोड़े–ही आवेगा! वह तो क्रोधकी कड़वाहट, क्रोधकी जलन मालूम पड़ेगी। इसलिए,

तेरे भावे जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके, अपनो भवन बुहार॥

ईश्वरके प्रति जो राग है, वह दूसरोंसे राग छुड़ानेवाला है, दूसरोंका भय छुड़ानेवाला है और दूसरोंके प्रति क्रोध भी छुड़ानेवाला है। और, ईश्वरके प्रति जो राग है, वह तो ऐसा है जैसे एक गिलास पानी किसीके पास हो और उसको ले जाकर राजस्थानके बालूमें डाल दे, तो पानीका क्या होगा? गायब हो जायेगा न! ऐसे–ही यह अपना राग जब अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके निर्माता, कारण, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परमपुरुष परमात्माके प्रति उड़ेला जाता है तो राग नहीं रहता,

परमात्मा ही रहता है। यह परमात्माका इतना बड़प्पन है, इतना बड़प्पन है कि उसमें हमारा राग एक हो जाता है।

तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए साधन-चतुष्टय सम्पन्न होना आवश्यक है। बल्कि गीतामें तो ऐसा इस बातपर जोर दिखता है! देखो १६ वें अध्यायमें आया है कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

नरकके तीन दरवाजे—यह इसका अर्थ नहीं है। दरवाजा तो एक ही है। पर उसके खुलनेके तरीके तीन हैं-*'तिस्रोविधायस्यतत् त्रिविधम्'*। काम, क्रोध, लोभ कोई भी एक ताली लगाओ तो नरकका दरवाजा खुल जायेगा। *'एतैर्विमुक्तः कौन्तेय'*। यह देखो, जोर इस बातपर दिया गया। *'एतैर्विमुच्यमानः'* का प्रयोग नहीं किया गया। 'विमुच्यमानः' और 'विमुक्तः'-दोनोंमें फर्क है। 'विमुक्तः' माने छूटा हुआ पुरुष। इनसे पहले छूट जाओ!

अतः महात्मा कौन? जो वीतराग, वीतभय और वीत-क्रोध हो।

अब देखो, यह बहिरंग साधन है। आप एक बातपर जरा ध्यान दो कि श्रवण, मनन, निदिध्यासनको वेदान्तमें अन्तरंग मानते हैं और विवेक, वैराग्य, शमादि सम्पत्ति और मुमुक्षाको बहिरंग मानते हैं। कोई भी भले मानुस सुने कि शान्त रहना, उपराम होना, समाधान होना—यह बहिरंग है और विवेक, वैराग्य होना बहिरंग है। तो उसको आश्चर्य हो जाये कि अब इससे अन्तरंग और क्या होगा? एक सत्पुरुष कहते थे कि जीवनमें सद्गुणोंका आना ही ईश्वरकी प्राप्ति है। पर यह देखो, वेदान्तियों सीनाजोरी! क्या सीनाजोरी है? वे तो कहते हैं कि काम, क्रोधादिका शान्त होना, इन्द्रियोंका दमन होना, उपराम होना, तितिक्षा होना, श्रद्धा व समाधान होना—यह सब बहिरंग है। विवेक, वैराग्य होना भी बहिरंग है। तो कोई बड़ी दूरकी कौड़ी लाये होंगे, तब न उनकी ऐसी हिम्मत पड़ती है कि शम, दम, उपरति, समाधान, विवेक, वैराग्यको भी बहिरंग बता दें! तो यह बात जल्दी समझमें नहीं आवेगी आप किसकी वेदान्तपर बहुत लेक्चर देनेवालेसे भी अगर पूछोगे कि शान्ति, दान्ति बहिरंग क्यों? श्रवण अन्तरंग क्यों? तो वह वह नहीं बता सकेगा! मनमें काम, क्रोध न आवे, सो तो बहिरंग और चित्तका समाधान रहे, कर्मोंसे उपराम हैं—यह सब बहिरंग। और, अन्तरंग क्या ? बोले कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन! आश्चर्य ही है न! पर ध्यान दोगे तब मालूम पड़ेगा!

जैसे आप देखो कि आपको आँखसे किसी चीजको ठीक-ठीक देखना हो। तो हमारी आँख ठीक काम करती है कि नहीं? या उसकी सफाई करनेके लिए आँखमें दवा डाली और बादमें खुर्दबीन आँखपर लगाकर उस चीजको देखने लगे। तो उस वस्तुके दर्शनमें आँखमें दवा डालना—यह अन्तरंग साधन है कि खुर्दबीन लगाकर उस वस्तुको देखना—यह अन्तरंग साधन है? वस्तुके दर्शनमें खुर्दबीन अन्तरंग साधन है। आँखको दवा डालकर साफ करना—यह बहिरंग साधन है। तो आप मानोगे न कि बन्दूककी नली साफ करना—यह बहिरंग साधन है और निशानेपर ठीक-ठीक उसको बैठा लेना—यह अन्तरंग साधन है।

तो यह जो शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा हैं—यह सब अन्तःकरणकी जो नली है, जो आँख है-उसको स्वच्छ करनेके लिए दवा हैं। और, श्रवण, मनन, निदिध्यासन जो है, वह आँखपर खुर्दबीन लगाने सरीखा है। लक्ष्यपर दृष्टि लगाना है। यह बात ब्राह्मणलोग बोलते हैं 'विदित वेद्य' अर्थात् वेद्य को जान लिया और क्षत्रियकी दृष्टिसे बोलते हैं, 'लक्ष्यभेद'।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः।

वैश्यकी दृष्टिसे 'प्राप्त-प्राप्तव्य' बोलते हैं और शूद्रकी दृष्टिसे 'कृत-कृत्य' बोलते हैं। एक जगह कर्म पूरा करना है, एक जगह कुछ पाना है, एक जगह निशाना लगाना है और एक जगह ठीक-ठीक जान लेना है! इसमें भी वर्ण-धर्मके अनुसार शब्दोंको प्रयोग किया जाता है।

श्रवण वस्तु-विषयक है। ***सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म***। ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है—यह श्रवण हुआ। श्रवण वस्तुको बताता है। आत्मा कैसा है? *'नहि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यते अविनानाशित्वात्' 'चक्षुषु द्रष्टाः मनसोद्रष्टाः'-यह क्या है?* लक्ष्यभेद हुआ। यह तो आत्मवस्तुका निरूपण है। आत्मवस्तुको जो लखावे, सो अन्तरंग। ब्रह्मवस्तुको जो लखावे, सो अन्तरंग और उस लखनेकी योग्यता जो प्रदान करे, सो बहिरंग।

तो अन्तःकरणको जो शुद्ध करनेवाला साधन है, वह बहिरंग और लक्ष्यको लखानेवाला जो साधन है, सो अन्तरंग है।

तो,'**वीतरागभयक्रोधैः मुनिभिः**'। अब 'मुनि' शब्दको देखो! एक 'ऋषि' शब्दका प्रयोग होता है और एक 'मुनि' शब्दका प्रयोग होता है। तो '**ऋषिदर्शनात्**'—परमात्माका दर्शन होनेसे 'ऋषि' शब्द गृहस्थ, संन्यासी सबके लिए प्रयोग होता है। जैसे, राजर्षि ज़नक, देवर्षि नारद, ब्रह्मर्षि वशिष्ट, परमर्षि

सनकादि। ऋषिको ऋषि क्यों कहते हैं? जिसको परमात्माका दर्शन हो जाये, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे वानप्रस्थ हो कि संन्यासी हो, चाहे शूद्र हो, वैश्व हो, क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो। परमात्माका दर्शन हो गया तो वह 'ऋषि' है। और, एक बात है! परमात्माका दर्शन तो हो, परन्तु अपने आत्माके रूपमें न हो तो उसको क्या कहेंगे? उसको कहेंगे कि इसको कल्पित परमात्माका दर्शन हुआ है, सच्चे परमात्माका दर्शन नहीं हुआ है। इसका कारण क्या है? परमात्मा तो पूरा होता है! तो जिससे कम 'मैं' और मुझसे कम परमात्मा, वह तो अधूरा! मुझसे रहित परमात्मा और परमात्मासे रहित मैं –तो दोनों दो हो गये न! दो देशमें दो कालमें, दो वस्तुके रूपमें हो गये। जबतक अभेदेन परमात्माका ज्ञान नहीं होता, तबतक परमात्माका ज्ञान नहीं होता और अभेदसे परमात्माका ज्ञान होनेपर एक बड़ी भारी विशेषता आवेगी कि परमात्मा चैतन्य हो जायेगा। बिना हमसे अभिन्न हुए परमात्मा चैतन्य नहीं हो सकता। परमात्मा सो रहा है। सुषुप्त है परमात्मा। कबतक? जबतक मुझसे अभिन्न नहीं होता और जब मुझसे अभिन्न हो जायेगा, तब चैतन्य हो जायेगा परमात्मा! क्योंकि, मुझसे जो अन्य होगा, उसको मेरी अपेक्षा होगी कि मैं उसको जानूँ! जो खुदको जानता है और दूसरेको जानता है, उसका नाम 'चैतन्य' होता है और जो जाना जाता है, उसका नाम 'जड़' होता है। तो जबतक जाननेवाले आत्मासे परमात्मा अभिन्न नहीं होगा, तबतक वह चैतन्य नहीं होगा। यह देखो, सृष्टिमें किसी भी दार्शनिकने इस दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यह वेदान्तका खास अपना दृष्टिकोष है। जब चैतन्य सिद्ध होगा, तब 'मैं' ही चैतन्य सिद्ध होगा। अगर कोई दूसरा चैतन्य हो तो उसको जाननेवाला भी चैतन्य होगा। दूसरा कोई है, उसको जानने वाला भी 'मैं' होगा। और, एक बड़ी विशेषता यह भी आवेगी कि परमात्मा तो मुझसे मिलकर चैतन्य हो जायेगा और 'मैं' परमात्मासे मिलकर सत्, अविनाशी हो जाऊँगा, अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण हो जाऊँगा।

परमात्माकी जड़ता दूर करनेके लिए जरूरी है कि वह मुझसे मिल जाये और मुझे अद्वय होनेके लिए उससे मिलना जरूरी है! परमात्मा मुझसे अलग रहेगा तो मैं अद्वय कैसे रहूँगा? तो यह श्रुति भगवती दोनोंकी सिद्ध–एकताका निरूपण करती है। एकता करनेको नहीं कहती। पहलेसे मौजूद जो एकता है, उसको लखाती है।

तो 'मुनिभिः'—'मुनिमननात्'। मुनिको मुनि क्यों कहते हैं? जो मनन करे, सो 'मुनि'। *'मुनिः संलीन मानसः,'* *'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः'*। मन्त्रद्रष्टाको 'ऋषि'

बोलते हैं और जिसका मन उसके अर्थमें डूब जाये, उसको 'मुनि' बोलते हैं। धातु 'मन' है, लेकिन उससे एक साथ ही 'इ' और 'उ' दोनों प्रत्यय हो जाते हैं। 'मन' माने ज्ञान है और 'उ' और 'इ' दोनों प्रत्यय होनेसे 'मुनि' बना है। माने ज्ञातृत्व जो है, वह प्रत्ययात्मक है और 'ज्ञान' धात्वात्मक है। ज्ञान वस्तु है और ज्ञाता प्रत्ययसे बना है कि मैंने जाना, मैंने जाना। 'प्रत्यय' माने वृत्ति।

'मुनि मननात्'-जो मनन करे, माने जो संशयको निवृत्त करे। संशयका विरोधी मनन है और विक्षेप, विपर्ययका विरोधी 'निदिध्यासन' है। और अज्ञानका विरोधी श्रवण है। वेदान्तियोंका यह भी विलक्षण ही है। ज्यादातर लोगोंका यही ख्याल होता है कि हम एकान्तमें बैठकर मनन करेंगे तो हमको ज्ञान हो जायेगा। और, निदिध्यासन करेंगे तो ज्ञान हो जायेगा। समझ लेना कि अभी वेदान्तका 'क' नहीं आया। जो अज्ञात-वस्तुका ज्ञान होता है, वह श्रवणसे होता है। जैसे आँखसे अज्ञात जो गन्ध है, नाकसे उसको जानते हैं और जो नाकसे अज्ञात है, उसको आँखसे जानते हैं। तो प्रमाण अज्ञात-ज्ञापक होता है। जो चीज हमको किसी दूसरी तरहसे न मालूम पड़े, वह जिससे जानी जाये, उसको 'प्रमाण' बोलते हैं। वह प्रमाण अज्ञातका निवर्तक होता है। जैसे, अन्धेरेमें घड़ा है कि नहीं है? तो प्रकाशमें आँखसे देख लिया कि 'है'। तो घड़ा होनेमें आँख प्रमाण है। अब यह जो मनन, निदिध्यासन हैं, देखो उनकी शानके खिलाफ हम कुछ नहीं बोलना चाहते हैं! एक वेदान्तका जो मौलिक सिद्धान्त है, वह आपको सुनाना चाहते हैं। मनन, और निदिध्यासन प्रमाण नहीं हैं माने अज्ञात-ज्ञापक नहीं हैं। कोई हजार वर्ष एकान्तमें बैठकर अपनी मानसिक स्थितिको एकाग्र रखे! लेकिन उठनेके बाद उसकी वही भाई, वही दाई, वही घर! जहाँसे समाधि लगायी थी, वहीं फिर! अच्छा, जिस चीजको जानते ही नहीं हो, उसपर मनन क्या करोगे? जिस चीजको जानते ही नहीं हो, उसका मन एकाग्र कैसे होगा?

एक सज्जन हमारे ऊपर बहुत नाराज हुए। कोई साधुकी बात थी। उस साधुके बारेमें यह प्रसिद्ध था कि पहले तो जेलमें रहे तो वहाँ एकान्त सेवन किया तो उनको साकार विग्रहका दर्शन हुआ और फिर जब जेलसे छूटे, तब भी वे एकान्तमें बैठ गये और २०-३० बरस एकान्तमें बैठे रहे। सो बोले कि एकान्तमें बैठनेसे उनकी समाधि लग गयी और उनको ईश्वरसे थोड़ी ऊपरकी चीज मालूम पड़ गयी। तो इसका मतलब हुआ कि ईश्वर नहीं मालूम पड़ा, यही न! उनको 'सुपर' मनो सुष्ठु उपरि जो है, वह तो मालूम पड़ गया। लेकिन जो नीचे, ऊपर

दोनों है, वह छूट गया। अब ऐसे मैंने कह दिया तो एक सज्जन तो बड़े ही नाराज हुए कि बड़े-बड़े लोगों पर कटाक्ष करते हो!

अब देखो भाई, सत्यके विचारमें बड़प्पन और छुटप्पनका ख्याल करके सत्यकी खोज नहीं की जाती। नहीं तो ये बड़े लोग गला पकड़ कर दबा दें और कोई नई खोज न होने दें।

आपको यह बात सुनाते हैं कि जब हम एकान्तमें बैठकर मनसे कोई विचार करेंगे तो जो हमें आँखसे मालूम है, कान, नाक, जीभ आदिसे मालूम है, उसीके बारेमें विचार होगा। जो चीज मालूम नहीं है,उसके बारेमें मनन हो ही नहीं सकता। बिलकुल अज्ञातके सम्बन्धमें बुद्धि क्या खाक विचार करेगी? अज्ञातके सम्बन्धमें बुद्धि विचार कर ही नहीं सकती। वह तो अज्ञातका विचार करते-करते अज्ञानमें लीन हो जायेगी।

अच्छा बोले, कि आओ भाई, निदिध्यासन करेंगे! किसका निदिध्यासन करोगे, मालूम है? तो यह वेदान्तका अकाट्य सिद्धान्त है कि जबतक पदार्थ ज्ञात नहीं हो, तब तक उसका मनन , निदिध्यासन नहीं हो सकता।

मन लागा मेरो यार फकीरी में।
जो सुख पायो राम भजनमें, सो सुख नाही अमीरी में।

यह फकीरीका मजा है। जो बात हम आपको सुना रहे हैं, वह फकीरोंकी बात सुना रहे हैं!

अब देखो, संशय क्या है? ब्रह्म है कि नहीं है? कोई वस्तु परिच्छेद सामान्यके अत्यन्ता भावसे उपलक्षित है कि नहीं है? 'है' तो वह आत्मासे अभिन्न है कि भिन्न है? और यदि अभिन्न भी है तो उसके ज्ञानसे मुक्ति होती है कि नहीं होती है? यह संशयका एक रूप बताया।

'संशय' उसको कहते हैं कि जिससे आदमी परमार्थकी ओरसे बिलकुल ही सो जाये। ***संशेरते अस्मिनिति सम्यक् शयनं शीङ् स्वप्ने***। जिससें आदमी सपनामें फँस जाये, मीठी नींदमें फँस जाये, उसका नाम 'संशय' है। अच्छा, अब देखो निदिध्यासन करना माने अपने चित्तको एक जगह लगाना है तो कहाँ लगाओगे? जो तुमको मालूम है, उसमें लगाओगे कि जो तुमको मालूम नहीं है, उसमें लगाओगे? तो मन लगानेके लिए मालूम चीज चाहिए। जब वस्तु ही अज्ञात है, तब किसका मनन करोगे और किसका निदिध्यासन करोगे?

'निदिध्यासन' माने नि=नितरां, ध्यातुं इच्छा निदिध्यासः।' ध्यान करनेकी

इच्छा है। यह सम् प्रत्यय लगनेसे इच्छा अर्थ प्रकट होता है। यह भी वेदान्तियोंकी बड़ी भारी चतुराई है। लेकिन समझने लायक है। वे ध्यान नहीं कहते, ध्यानकी इच्छा बोलते हैं। क्योंकि, वे तो ध्येयको वस्तु ही नहीं मानते हैं। जो ध्यानमें आ जाये, वह सच्ची वस्तु नहीं मानते हैं। बड़ी विलक्षण स्थिति है वेदान्तकी। निदिध्यासन किसका करोगे? ज्ञातका कि अज्ञातका? तो अज्ञातका निदिध्यासन तो हो ही नहीं सकता। ज्ञातका निदिध्यासन क्या होगा? मनन किसका करोगे? ज्ञातका कि अज्ञातका? अज्ञात-वस्तुका जब चित्तमें संस्कार ही नहीं है, उसका मनन कैसे होगा? और, ज्ञातका मनन करनेकी तो जरूरत ही नहीं। वहाँ तो आवरण भंग ही हो गया। जहाँ देख लिया कि घड़ी है, वहाँ क्या मनन करेंगे कि घड़ी है कि नहीं है? स्फीतालोक मध्यवर्ती घट होवे, प्रकट प्रकाशके अन्तर्गत घड़ा है कि नहीं है? वह तो दिख रहा है। क्या देखेंगे?

ज्ञात आत्माका भी मनन निदिध्यासन नहीं हो सकता और अज्ञात आत्माका भी मनन निदिध्यासन नहीं हो सकता। तो बोले भाई कि इनका शास्त्रमें विधान तो है। श्रुति कहती है कि,

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।

देखोजी, यदि श्रवणके बाद भी संशय रह जाये तो उसके निवारणके लिए मनन करो और बुद्धिमें यदि वैराग्यकी कमीसे विपर्यय आवे, प्रतिबन्ध हो तो उसकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासन करो।



अद्वैतत्त्व-द्रष्टा कौन? (४)

'वीतरागभयक्रोधः'—दुनियामें किसीसे राग न हो। राग मीठा जहर है। यह सुला-सुलाकर मारता है। कोई राग करते हैं, तब ही दिनमें दस बार मरते, जीते हैं और कोई जब उनका रागास्पद बिछुड़ जाता है या मर जाता है, तब रोते हैं। यह नियम है कि जो राग करेगा, उसको रोना पड़ेगा। *'प्रियं त्वांरोत्स्यति'*। तुम्हारा प्यारा तुमको रुलावेगा। एक-न-एक दिन वियोग होगा। चाहे तुम छोड़ो, चाहे वह छोड़े। चाहे तुम मरो, चाहे वह मरे। रागसे सत्यका ज्ञान नहीं होता। यथार्थ बात छूटती है और भय? भयमें तो भविष्यमें चले गये। **भं भविष्यत् याति इति भयं**—जो भविष्यकी ओर जाये, उसका नाम 'भय'। माने यह न हो जाये, यह न हो जाये, यह न हो जाये। सामने क्या है, यह क्या मालूम पड़ेगा? और क्रोध? क्रोध आया तो हमारा क्या होगा इसको नहीं सोचते हैं। सामने वाले की नाक कटनी चाहिए! भले बादमें हमारा सिर कट जाये। 'क्रोध' माने यही होता है। जबतक हम अपने क्रोधका थर्मामीटर रखते हैं दूसरेका नुकसान या दूसरेका फायदा, तबतक हम परमार्थके मार्गपर नहीं चल रहे हैं। जब हम क्रोधका थर्मामीटर अपने हृदयकी गर्मीको देखनेके लिए रखते हैं, तब हम अन्तःकरणकी शुद्धिके पक्षमें आते हैं। तो यह केवल क्रोधकी बात नहीं है। कामकी भी है, लोभ, भय आदिकी भी है।

बोले कि हमको गुस्सा तो है, लेकिन हमने तुमको क्या कहा? कुछ तो नहीं कहा? ठीक है, हमको तो तुमने कुछ नहीं कहा। लेकिन, तुम्हारे दिलमें जो गुस्सा आया, उसकी ओर तो देखो!

यह हुआ बहिरंग साधन!

अब **'मुनिभिः वेद पारगैः'**—'मुनिभिः' माने मनन, निदिध्यासन करनेवाले। 'वेदपारगैः' माने वेदके पारगामी। एक बात आपको इस सम्बन्धमें सुनाते हैं। क्या आप आत्माको ब्रह्म इसलिए मानते हैं कि वह युक्तियुक्त है? क्या आप आत्माको ब्रह्म इसलिए मानते हैं कि वह आजकलके विज्ञानसे सिद्ध है? क्या आप आत्माको ब्रह्म इसलिए मानते हैं कि आपकी बुद्धि वही कबूल करती है? तो हम कहेंगे कि आपने वेदान्तका तिरस्कार करके आत्माको ब्रह्म जाना है। जाना नहीं है, माना है। क्योंकि, आत्माकी ब्रह्मता अथवा किसी भी चीजकी ब्रह्मता अर्थात् 'ब्रह्मता' नामकी जो वस्तु है अपरिच्छिन्न, अखण्ड, एकरस, अद्वय—वह किसी भी हालतमें न तो इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष है, न यन्त्रोंका प्रत्यक्ष है, न युक्तियोंका प्रत्यक्ष है, न बुद्धियोंका प्रत्यक्ष है। बुद्धियाँ सब क्षणिक होती हैं। युक्तियाँ सब हार जानेवाली होती हैं। यन्त्र हमेशा जड़को देखते हैं और इन्द्रियाँ अत्यन्त खण्ड-खण्ड पदार्थको देखती हैं। अखण्ड वस्तुका साक्षात्कार, उसकी प्रामाणिकता न यन्त्रोंसे, न इन्द्रियोंसे, न मनोवृत्तियोंसे, न युक्तियोंसे हो सकता है। बोले कि हम ब्रह्ममें स्थित हो गये, तब हमें पता लगा कि हम ब्रह्म हैं। परन्तु, स्थितियोंसे भी नहीं पता लगता। यह एकमात्र वेदान्तसे ही मालूम पड़ता है। वेदान्तके जबतक अपूर्व प्रामाण्यको माने जिसमें कोई भी दूसरा प्रमाण नहीं, जो किसी भी दूसरे प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, उस अपूर्व वस्तुको वेदान्त बताता है। तब वेदान्तकी प्रामाणिकता रहेगी। नहीं तो जो आँखसे देखा, सो ही वेदान्तमें लिखा है, जो जीभसे चखा, सो ही वेदान्तमें लिखा है, जो दूरबीन, खुर्दबीनसे देखा, सो ही वेदान्तमें लिखा है, जो युक्तियों, बुद्धियोंसे सिद्ध हुआ, सो ही वेदान्तमें लिखा है, तो मानो वेदान्त तो अनुवाद है। किसी डॉक्टरकी प्रयोगशाला है। वेदान्त ऐसी वस्तु बताता है, जो वेदान्तके सिवाय दूसरे किसी उपायसे मालूम ही नहीं पड़ता।

हमारे आजकलके आधुनिकतम लोग कहते हैं कि जो विज्ञान, युक्तिसे सिद्ध है, वही वेदान्त बताता है। माने वे युक्ति, बुद्धि, विज्ञानको बहुत बड़ी चीज मानते हैं। उनके मतमें वेदान्त परतः प्रमाण है। युक्ति-सिद्धका अनुवादक है और, वेदान्तके मतमें वेदान्त स्वतः प्रमाण है। इन्द्रियोंकी देखी हुई चीजको वेदान्त नहीं बताता। वेदान्त उस चीजको बताता है, जिसको इन्द्रियाँ देख नहीं सकती। इसलिए, श्रवण आवश्यक है। यह वेदान्तका बड़ा गम्भीर सिद्धान्त है कि बिना अपौरुषेय वचनके सत्यका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

एक आदमीका किसीसे प्रेम था। तो जिससे प्रेम था, उसका नाम था 'हरि'। सच्ची बात बताता हूँ। तो वह ईश्वरकी प्रार्थना तो करता था। लेकिन वह 'हरि' नामके सिवाय दूसरा नाम 'ईश्वर' का नहीं लेता था। भजन भी गावे तो,

हे हरि, कौन जतन भ्रम भागे।
हे हरि, यह मनकी अधिकाई।
हरिहों, बड़ी बेर सों ठाढौं।

जब किसीसे प्रेम हो जाता है तो ईश्वरके नाममें अपनी वासना जोड़ देता है। इसका फल यह होता है कि संसारका कोई भी मनुष्य अपनी वासना लेकर, वासना सम्पृक्त इन्द्रियसे, अन्तःकरणसे, उसका मन जहाँ फँसा हुआ है, उस वस्तुको वह ईश्वरके सिंहासनपर बैठावेगा। इसीसे बताते हैं कि वासना सम्पृक्त अन्तःकरण नहीं, निर्वासन अन्तःकरण चाहिए। अच्छा, निर्वासन अन्तःकरणमें भी ज्ञानका उदय कैसे हो? बोले कि वह शब्द प्रमाणसे होगा। अपरोक्षमें ही यदि परोक्षताका भ्रम हो गया हो तो '*दशमस्त्वमसि*' वाक्य जैसे अपरोक्षज्ञानका जनक होता है, ऐसे '*तत्त्वमसि*' महावाक्य ज्ञानका जनक होता है।

अच्छाजी, यह वेदान्ती श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके आखिर जानते क्या हैं?

निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः।

निर्विकल्प तत्त्वका दर्शन करते हैं।

बोले कि परोक्षरूपसे जानते होंगे? विश्वास करते होंगे कि सातवें आसमानमें बैठे हुए हैं ईश्वर! बोले कि नहीं, 'अयं'। 'अयमात्मा ब्रह्म'—यह इस उपनिषद्का महावाक्य है। 'अयं' माने अहं, अहं, अहं—यह जो भीतर हो रहा है। अहं अस्मि, अहं जानामि, अहं प्रिये—मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं तृप्त होता हूँ। यही अहं, अहंतया जो स्फुरित हो रहा है, यह आत्मा तुम्हारा 'मैं' देहकी उपाधिसे छोटा नहीं है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी कल्पनाका अधिष्ठान ईश्वर, कल्पनारूप अन्तःकरण और उसका अधिष्ठान यही है।

अच्छा, रस्सीमें जो साँप दिखता है, वह साँपका अधिकरण रज्जु है कि अन्तःकरण है? असलमें साँपका अधिकरण और अधिकृत भाव ही नहीं है। क्योंकि, वह मिथ्या है। मिथ्या वस्तुका क्या अधिकरण होगा? तो रस्सीमें साँप है, सो बात तो है ही नहीं। वह तो रस्सी ही साँपके रूपमें भास रही है, यह बात दूसरी है। रस्सीमें कोई साँप लिपटा हुआ नहीं है। बोले कि अच्छा, अन्तःकरणमें साँप

होगा। अन्तःकरणमें साँप हो तो कलेजेमें डस ले। कलेजेमें साँप नहीं होता, साँपकी कल्पना होती है। एकरस, अद्वय, अनन्त अधिष्ठानमें यह जो प्रपञ्च दिख रहा है, यह कैसा? अनन्त अधिष्ठानमें? बोले कि नहीं, जैसे रज्जुमें सर्प नहीं वैसे अनन्त अधिष्ठानमें यह विश्व प्रपञ्च नहीं। तब फिर अन्तःकरणमें? नहीं, अन्तःकरणमें नहीं तब अपनेमें? अपनेमें भी नहीं। तब कहाँ? केवल कल्पनामें। तो इस कल्पनाका अधिष्ठान कौन है? प्रत्यक्चैतन्य अद्वयतत्त्व अपना आपा।

'निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः'—अयं माने अपरोक्ष-दर्शन। नाट्य प्रमाण, चेष्टा प्रमाणसे यही-यही है। 'भय' का आपको पहले अर्थ बताया कि जो भविष्यमें जाये और 'अयं' का अर्थ है न यति—जो कभी विचलित नहीं होता, छूटता नहीं। कहो कि हम अपने आत्माको जरा भेजते हैं। कहाँ? जरा पेरिस हो आवे। तुम्हारी आत्मा पेरिस नहीं जाती। बोले कि हमने एक आत्मा बुलायी है। नारायण कहो! 'न याति या प्रापणे'—आत्मा कहीं देशमें प्राप्त नहीं होती। वह तो देश-विदेशकी कल्पना दोनों उसमें होती है।

तो यह आत्मा कैसा है? 'निर्विकल्प'। अब देखो, 'निर्विकल्प' शब्दका अर्थ बताते हैं। ये जितने शब्द हैं इन्होंने अपनी शब्दरूपता छोड़ दी है। यह अर्थरूप हो गये हैं। जब तक शब्द और अर्थ, ये अलग-अलग रहते हैं, तबतक शब्द क्या है? खाली प्याला। उसमें चाहे कुछ भर दो। लेकिन, जब शब्द और अर्थका भेद मिट जाता है, तब? असलमें शब्द और अर्थ, दो चीज नहीं है।

अनादि निधनं ब्रह्म शब्द रूपं यदक्षरं,
विवर्तेऽर्थ भावेन प्रवृतिर्जगतो यथाः ।।

देखो, 'निर्विकल्प' 'निः' माने निष्क्रान्त और 'विकल्प' माने विविध कल्पना। तो विविध कल्पना जिसमें नहीं है, वह निर्विकल्प। देखो, जैसे कल्पना होगी कि ईश्वर है कि नहीं है? यह विकल्प हो गया। एक कल्पना हुई कि ईश्वर है और दूसरी कल्पना हुई कि नहीं है। आस्तिक कहेगा कि ईश्वर है और नास्तिक कहेगा कि ईश्वर नहीं है। यह विकल्प हो गया। कल्पनामें वैविध्य हो गया, कल्पनामें वैपरीत्य हो गया, माने परस्पर विपरीत कल्पना हो गयी। एकने कहा कि है, लेकिन जाना नहीं जाता और एकने कहा कि है, लेकिन जाना जाता है। बोले कि है और जाना भी जाता है। लेकिन उसके मिलनेसे कोई मजा नहीं आता है, कोई सुख नहीं होता। तो तीसरेने कहा कि नहीं, सुख होता है। देखो, ईश्वरके बारेमें कितने विकल्प हो गये। ईश्वर है, एक विकल्प और ईश्वर नहीं है,-दूसरा विकल्प।

ईश्वर जानता है, ईश्वर नहीं जानता है, ईश्वर जाना जाता है, ईश्वर नहीं जाना जाता है। ईश्वरको जाननेसे मुक्ति हो जाती है, नहीं होती है—यह सब क्या है? 'विविधकल्प'। 'कल्प' माने कल्पना। विविध पक्ष माने एक यह भी है, एक यह भी है, एक यह भी है। देखो, यह 'कल्प' क्या होता है। ब्रह्माके एक दिनको कल्प-ही बोलते हैं। 'कल्प' माने एक कल्पना।

जैसे देखो, रजिस्ट्रीसे ब्याह हुआ। ब्याह होनेपर एक कल्पना यह आयी कि यह हमारा पति है और यह हमारी पत्नी है। यह एक कल्प हुआ और फिर, तलाक दे दिया तो क्या हुआ? एक कल्प खतम। माने एक कल्पना हुई पति-पत्नी। पति-पत्नी कल्पनाकी आदि भी हुए और पति-पत्नी कल्पनाके अन्त भी हुआ। यही कल्प हुआ।

अब समझो कि ब्रह्माने बाल, बच्चे खिलौने बनाये। कल्पना करी और वह कल्पना टूट गयी। जबतक जागते रहे, तबतक कल्पना करके खेलते रहे और सो गये तो कल्पना टूट गयी। इसीको बोलते हैं 'कल्प'। अब 'विकल्प' माने विविध कल्पना और परस्पर विपरीत कल्पना। एक शत्रु बनाया और एक मित्र बनाया। यह विकल्प हो गया।

अब 'ब्रह्म' किसको बोलते हैं, देखो!

यह 'निर' जो उपसर्ग है, इससे 'विकल्प' शब्दका जब समास हुआ तो उसका अर्थ होता है, *'विकल्पेभ्यो निष्क्रान्त: इति निर्विकल्प:' निरादया निष्क्रान्त: इत्यर्थे पञ्चम्य:*। जब 'निर' आदि उपसर्ग जोड़ते हैं, 'क्रान्त' आदिके अर्थमें तब पंचमी समास होता है। पंचमी समास होनेका अर्थ क्या हुआ? *'विकल्पेभ्यो: निष्क्रान्त: निर्विकल्प:'*।

यह जितना विकल्प पहले बताया कि 'है' कि 'नहीं है', 'जानता है' कि 'नहीं जानता है', 'जाना जाता है' कि 'नहीं जाना जाता है', 'उसके मिलनेसे मुक्ति होती है' कि 'नहीं होती है'—ये सब जितने विकल्प होते हैं, उनसे वह निकला हुआ है, परे है। बोले कि ऐसा कौन है भाई? देखो, अपने आपेके बारेमें सोचो। अपना आपा है कि नहीं है—इसमें विकल्प है क्या? तुम्हारे मनमें कभी यह प्रश्न होता है कि मैं हूँ कि नहीं हूँ? लो, एक विकल्प ऐसे ही समास हो गया। अच्छा, मैं जानता हूँ कि नहीं जानता हूँ—यह विकल्प होता है कभी? अरे बाबा तुम तो बड़े-बड़े गुरुओंको बेवकूफ समझते हो, इतना जानते हो! जबतक चेला अपने गुरुको बेवकूफ न समझे, तबतक पूरा नहीं होता। चेलेका पूरापन

यही है। आपलोग इसे व्यंग्य नहीं समझाना। जब पूर्णता छलकती है, उच्छलित होती है, तो ऐसा मालूम होता है कि हमको जितना स्पष्ट, अनुभव स्वरूप दिखायी पड़ता है, हम जैसे ब्रह्म हैं और जितना स्पष्ट और निर्मल अनुभव है 'अहं ब्रह्मास्मि', ऐसा अनुभव मेरे सिवाय कभी किसीको हुआ ही नहीं। ज्ञानी तो कोई हुआ ही नहीं। मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हूँ। अरे, गुरु-चेला भी कल्पित ही थे। जबतक गुरु-चेला दोनों कल्पित नहीं होंगे, तबतक ज्ञान क्या होगा? तो सारा ही विकल्प शांत हो जाता है।

इसके ज्ञानसे मुक्ति होती है कि नहीं होती है, अरे तुम तो मुक्त ही हो। क्या विकल्प है? मुक्ति तुम्हारे अन्दर अध्यारोपित है। मैं प्रिय हूँ कि नहीं? अरे, इतने प्रिय हो, इतने प्रिय हो तुम कि सबकी प्रियता चूसकर तुम अपनेको रसिक बनाये हुए हो, मजेदार बनाये हुए हो।

'निर्विकल्प' माने कोई विकल्प है ही नहीं। कैसा है यह? बोले कि 'प्रपञ्चोपशमः'। संस्कृतमें जो 'पंच' शब्द है, वह दो अर्थमें है—एक विस्तार अर्थमें है और दीप्ति अर्थ अर्थात् बुद्धि अर्थमें भी है और पाँच गिनतीके अर्थमें भी है। जैसे आपने 'पंचानन' शब्द सुना होगा। तो 'पंचानन' सिंहको बोलते हैं। लेकिन सिंहके पाँच मुख तो होते नहीं। तो 'पंचानन' होनेका अर्थ क्या होता है? फैला हुआ मुखवाला। 'पचि विस्तारे'।

देखो लोकभाषामें 'प्रपञ्च' शब्दका कैसे प्रयोग होता है? बड़ा प्रपञ्ची है माने बड़ा ढोंगी है। अरे, प्रपञ्च रच रखा है भाई!

मुड़ियों ने परपञ्च रचा है, क्या रखा है मेले में?

यह दुनियाका सुख कैसा है, आपको क्या बतावें? जरा घण्टे, दो-घण्टे दौड़ो और उसके बाद बैठ जाओ। देखो, ऐसा मालूम होगा कि क्या शान्ति है? उस समय दिमाग काम करना बन्द कर देगा। क्योंकि, थक जाओगे। सो दिमागी विक्षेप बन्द हो जायेगा तो मालूम पड़ेगा कि बड़ी शान्ति है.। जब हम बद्रीनाथ जाते थे तो चढ़ते-चढ़ते जब साँस फूल जाती थी, धड़कन तेज हो जाती थी, तो कहीं कोनेमें खड़े हो गये और ठण्डी हवाका झोंका आया तो लगा कि आहा, क्या आनन्द है? अरे, वह आनन्द-वानन्द कुछ नहीं था। वह तो जो थकान थी, वह थोड़ी हल्की हुई। छः घण्टे ट्रेनमें चलनेके बाद जब घण्टे भर हीं स्थिर होकर बैठनेको मिल जाये तो मालूम पड़ेगा कि बड़ी शान्ति है। यह संसारका सारा आनन्द ऐसा ही है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है,

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥

(४. २९. ३३)

एक आदमी अपने सिरपर लकड़ीका गट्ठर लिये जा रहा था और सिर दबा जा रहा है, धूप है, पसीनेसे लथपथ हो रहा है। चलते-चलते रास्तेपर एक जगह बरगदका पेड़ पड़ा छाया थी। सो बोझ तो उठाकर कन्धेपर रख लिया और बोला कि आ-हा, बड़ी शान्ति मिली। तो संसारका सुख ऐसे-ही है। जब थोड़ा दुःख हल्का हो जाता है, तो कहते हैं कि बड़ा सुख मिला। रोज बहू सासको अँगूठा दिखाती हो और एक दिन आकर पाँव छूये तो बड़ा मजा आवेगा कि वाह, वाह आज तो बहूका स्वभाव ही बदल गया! माने आज अँगूठा देखनेका जो दुःख है, वह नहीं मिला। बस, इतना ही है।

एक आदमीको फोड़ा हो गया था। बड़ा दर्द था। इतनेमें जरा धक्का लगा तो फोड़ा फूट गया। फूट गया तो पीप निकल गयी। आ-हा, आराम मिल गया। अरे, आराम क्या मिला? वह तो फोड़ेमें जो पीप अटकी हुई थी, वह निकल गयी। दुःख हट गया, सुख नहीं मिला। इसका नाम 'सुख' नहीं है।

इस संसारमें स्त्री-पुरुष अपनेको सुखी मानते हैं! यह बिलकुल फोड़ा फूटनेका सुख है। और, दिलमें किसीके प्रति गुब्ज भरा हो! अब चार गाली सुनाई! बोले कि आज बच्चूसे खूब बदला लिया, बड़ा मजा हुआ। तो यह क्या है? शान्ति क्या है? थोड़ा दुःख घटा और बोले कि बहुत सुख मिला, आनन्द आ गया।

तो देखो, यह प्रपञ्च जो है, इसका उपशम होना चाहिए। बोले कि उसीको यहाँ 'ब्रह्म' बताया है? न-न, यह नहीं समझना। प्रपञ्चका उपशम तो बौद्ध-सिद्धान्तमें भी माना जाता है! पर वेदान्तियोंके प्रपञ्चोपशममें और बौद्धोंके प्रपञ्चोपशममें बड़ा फर्क है। बौद्ध कहते हैं कि दीया बुझ गया, बस। वेदान्ती कहते हैं कि सूर्योदय हो गया। आप दोनोंका फर्क समझो! दीया बुझ गया, यह ठीक है। परन्तु, सूर्योदय हो गया। वे कहते हैं, निर्वाण। बत्ती नहीं रही, तेल नहीं रहा, दीया नहीं रहा। वह जो लौ जल रही थी अहं; वासना नहीं रहनेसे जो विज्ञानकी धारा बह रही थी, उसका उच्छेद हो गया। अहं, अहं शान्त हो गया। वेदान्ती कहते हैं कि ठीक, दीपक तो बुझ गया लेकिन, सूर्योदय हो गया। अधिष्ठान सूर्यका उदय हो गया। आकाशका अभाव नहीं है। चिदाकाश रह गया। स्वयं प्रकाश रह गया। अन्तःकरणकी वर्तिकाके द्वारा जो दीपशिखा प्रकट हो रही थी, वह बुझ गयी।

परन्तु, जो वर्तिकापर आरूढ़ नहीं थी, जो स्नेहारूढ़ नहीं थी, जो परिच्छिन्न शिखाके रूपमें नहीं थी, वह अखण्ड, दिव्य ज्योति स्वयं प्रकाश, ज्यों-की-त्यों रह गयी।

इस बातको यहाँ प्रकट किया गया है, '**प्रपञ्चस्य उपशमो यस्मिन्**'। बहुब्रीहि समास अधिकरणके द्वारा प्रपञ्चका उपशम है जिसमें! दीपक बुझजाने पर जो रहता है। वैसे बौद्धमतमें निर्वाण, महानिर्वाण, परिनिर्वाण और अतिनिर्वाण—ये चार प्रकार हैं। जैसे वैष्णवलोग चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं, वैसे बौद्ध निर्वाणको भी चार प्रकारका मानते हैं और चार प्रकारका होते ही वह शून्य प्रतियोगी हो गया माने शून्य नहीं रहा। शून्यमें कहीं चार प्रकार होगा? वह तो शून्यका दुश्मन हो गया। क्योंकि, उसमें प्रकार चतुष्ट्य हो गया।

अब देखो, निर्वाण शब्दका प्रयोग तो वेदान्ती भी करते हैं। वेदान्तियोंके निर्वाण और बौद्धोंके 'निर्वाण' में क्या अन्तर है? वेदान्ती कहते हैं कि जैसे सूर्योदय होनेसे दीपककी जरूरत नहीं रहती, उसको बुझा देते हैं, ऐसे अपनेको ब्रह्म जाननेसे अपने परिच्छिन्नताका जो ज्ञान है, वह बुझ गया। 'निर्वाण' माने एक तो होता है 'बुझना' और एक जिसमें 'बाण' न हो, सो 'निर्वाण'। तो 'बाण' लगता है आदमीको तो तीन बात होती है। क्या? एक तो बहुत दर्द होगा, दुःख होगा और दूसरे, वह बेहोश हो जायेगा और आगे, मर जायेगा। तो यह 'बाण' माने क्या हुआ? दुःख, बेहोशी माने जड़ता और मृत्यु माने असद्भावापत्ति।

'निर्वाण' शब्दका अर्थ क्या है? जहाँ 'बाण' माने दुःख न हो, जड़ता न हो और मृत्यु न हो! तो यह जो हमारा 'निर्वाण' है, यह सच्चिदानन्द घन है। 'सत्' होनेसे इसमें मृत्यु नहीं है, 'चित्' होनेसे इसमें जड़ता नहीं है और 'आनन्द' होनेसे इसमें दुःख नहीं है और अपरिच्छिन्न होनेसे इसमें क्षणिकता नहीं है, खण्डरूपता नहीं है। इस सच्चिदानन्दको इंच, गजसे नापा नहीं जा सकता। यह मील, दो मीलका नहीं होता। एक घण्टे, दो घण्टेका नहीं होता। यह एक रूप, दो रूपका नहीं होता। तो यह जो 'निर्वाण' है, यह कैसा? बोले कि 'प्रपञ्चोपशम'-प्रपञ्चका जिसमें उपशम हो जाता है।

'प्रपञ्च' माने क्या? देश, काल, वस्तुके रूपमें जो फैला हुआ है, वह प्रपञ्च है। शंकरजीको पञ्चानन इसीलिए बोलते हैं कि वह भवरूप हैं। वे पन्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करते हैं, इसलिए पञ्चानन हैं। तो पन्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण और पञ्चवृत्ति, पञ्चक्लेश—ये सबको 'प्रपञ्च' बोलते हैं और इसकी उपशान्ति जिसमें है माने जिस अधिष्ठान आत्मामें

यह प्रपञ्च बिलकुल है ही नहीं, वह कौन है? बोले कि 'अयं'–यह है। 'अद्वय:'– द्वय नहीं है। हमारे काशी तरफ तो 'वे' शब्दका प्रयोग करते हैं तो उसको अपमान सूचक मानते हैं और इधर गुजरातमें 'बे' माने दो होता है। यह संस्कृतका 'द्वे' शब्द है जो, उसमेंसे 'द' का लोप करके 'बे' बना है। यह तो तिरस्करणीय है 'द्वैत'।

देखो, दुविधा हुई तो प्रेम कहाँ? दुविधामें धर्म भी नहीं होता। इसको हम पाँच रुपया देंगे तो पुण्य होगा कि पाप होगा—अगर यह दुविधा बनी होगी तो दानका फल नहीं होता। अच्छा, कहो कि हमने पाँच रुपया दिया तो बेकार गया? तो धर्म पैसेमें थोड़े ही होता है। धर्म हाथमें नहीं होता है। धर्म, जिसको दिया जाता है, उसमें नहीं होता। धर्मका संस्कार तो दिलमें होता है। श्रम और धर्मका भेद कहाँ समझे? श्रम होता है वस्तुका संस्कार और धर्म होता है हृदयका संस्कार। श्रम होता है सोना, लोहा, लकड़ी आदि साफ करनेके लिए और दिलको साफ करनेके लिए धर्म होता है। दुविधा तो दिलकी गन्दगी है। अगर तुम्हारे दिलमें दुविधा है तो दिल साफ कहाँ हुआ? अच्छा, जहाँ दुविधा है, वहाँ उपासना होगी? थालभर बढ़िया भोजन लिये जा रहे हैं और मनमें है कि कहीं इसमें जहर न हो! कर सकोगे क्या? वह, जिसकी मैं सेवा कर रहा हूँ, यह ईश्वर है कि नहीं है? मनमें दुविधा हो तो उपसना होगी? तो चित्तमें दुविधा, विकल्प, प्रपञ्च रहते न धर्म होता और न उपासना होती।

अच्छाजी, दुविधा हो कि अगर समाधि लग जाये और फिर न टूटे तो क्या होगा? ऐसे आदमीको कभी समाधि लगेगी? चितमें वैपरीत्य होगा तो समाधि थोड़े ही लगेगी। यह द्वैत जो है, एक 'मैं' और एक 'तुम', एक जीव और एक ईश्वर, जहाँ द्वय है वहाँ असलमें द्वन्द्व है। और, द्वन्द्व है तो वेदान्तका ज्ञान कहाँ हुआ?

देखो, जो द्वन्द्व सत् होगा तो सत्में सत्से भेद होगा। अच्छा, भेद सत् है कि असत् है? कहो कि भेद भी सत् है। तो तीन सत् हुए। एक सत्, दूसरा सत् और दोनोंमें भेद करने वाला सत्। अच्छा, तीनों एक हैं कि अलग–अलग? फिर चौथा भेद! बनेगा ही नहीं कभी। सो सत् और सत्में भेद बन ही नहीं सकता। बोले कि अच्छा, सत् और असत्में भेद बने! नहीं जी, असत् तो है ही नहीं, तो भेद क्या करेगा? तो यह जो सत्में भेद मालूम पड़ता है, वह सिवाय भ्रान्तिके और किसी तरह नहीं मालूम पड़ता।

जहाँ द्वैत रहा, 'यह' कि 'मैं', 'मैं' कि 'यह, वहाँ वेदान्तका ज्ञान नहीं हुआ। वेदान्त उस वस्तु को बताता है, जो सम्पूर्ण विकल्पोंसे निष्क्रान्त, प्रपञ्चकी

उपशान्तिका अधिष्ठान, द्वैतकी कल्पनासे बिलकुल रहित ऐसा यह अद्वय-तत्त्व है। क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्ति इस अद्वैत-ज्ञानमें है, अत: इसको जानना बड़ी चीज है।

देखो, दूसरेको जब जानते हैं तो जाननेके साथ उसको पाना बाकी रहता है। आप देखो, दूसरेको जाना। क्या जाना? दूसरेको अच्छा जाना या बुरा जाना! तो जब दूसरे को अच्छा जानेंगे तो पानेकी इच्छा होगी। वह ज्ञान इच्छाका जनक होगा। और, यदि बुरा जानेंगे तो? तो छोड़नेकी इच्छा होगी। वह त्यागकी इच्छाका जनक होगा। अन्य विषयक जो ज्ञान है, वह या तो प्रवर्तक होता है और या तो निवर्तक होता है। तब इसका प्रयत्न भी होगा!

एक ज्ञान वह होता है, जो मजदूर बनाता है। मज्जा दूर, अब तो निर्बल होना पड़ेगा। पाने और छोड़नेकी इच्छा होगी। इच्छा होगी तो प्रयत्न होगा और प्रयत्न जब होगा तो बेगार तो करनी ही पड़गी और, स्व-विषयक जो ज्ञान होता है, उसमें जिसका ज्ञान होता है, वह छोड़ने लायक तो है ही नहीं। क्योंकि अपने आपको छोड़ तो सकते ही नहीं और पाना बाकी है नहीं। इसलिए, अपने बारेमें जो ज्ञान होता है, उसको होनेपर न पानेकी इच्छा होती है और न छोड़नेकी इच्छा होती है। माने इच्छाकी निवृत्ति हो जाती है। इसीसे अपने स्वरूपका ज्ञान कर्मका अंग नहीं है। लोग बोलते हैं न कि अरे भाई, जाना तो सही! पर अब कुछ करो। देखो, दूसरेको जानोगे, तब करना पड़ेगा! यह ज्ञान-ज्ञानका फर्क होता है। तुम कहो कि बाबा, इस ज्ञानसे तो हमने हाथ ही जोड़ा जिसे तुम कुछ करनेको नहीं बता रहे हो! बोले कि ठीक है! यह तुम्हारे लिए है नहीं। यह जो वैराग्योपाधिक अन्त:करण है, निवृत्तिके लिए उन्मुख, उसके लिए है और जो रागोपाधिक अन्त:करण है और कुछ करनेके लिए उन्मुख है, उसके लिए है नहीं। यह रागोपाधिक, कर्त्तव्योन्मुख प्राणीके लिए है नहीं। यह वैराग्योपाधिक, निवृत्ति-उन्मुख अधिकारीके लिए ज्ञान है। क्योंकि, स्वका ज्ञान, इसमें ज्ञानसे वस्तु भिन्न नहीं होता। यहाँ वस्तु और ज्ञानका अभेद है। ज्ञान-ही-ज्ञान है। तो वहाँ पाना क्या और छोड़ना क्या?

यह शिल्पज्ञान नहीं है, यह इंजीनियरिंग नहीं है, यह डॉक्टरी नहीं है। यह तो तत्त्वज्ञान है, असली ज्ञान है। इस ज्ञानको वीतराग, वीतभय, वीतक्रोध वेदपारग मुनियोंने साक्षात् किया है।

☆

'किम् आचरेत्?'

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्॥ ३६॥

यह कहते हैं कि अपनी स्मृतिको अद्वैतके साथ जोड़ो! अद्वैत-ज्ञान प्राप्त करके इसका स्मरण करो, यह इसका अर्थ नहीं है। भाष्यमें स्पष्ट लिखा है कि, '***अद्वैतावगमाय स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः***' प्रातीतिक अर्थको शंकराचार्य भगवान्ने बिलकुल काट दिया। क्योंकि, स्मृतिको तो ज्ञान बोलते ही नहीं हैं। जैसे यहाँ कोई बात सुन लो और घरपर जाकर याद करो और याद आवे तो कहो कि यह ज्ञान है! तो याद की हुई, रटी हुई चीजका नाम ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तो विद्या है। ज्ञान कोई रटन्त थोड़े ही है। एक तो वेदान्तज्ञानसे अतिरिक्त प्रमाणके द्वारा ज्ञात न होवे और वेदान्तसे अतिरिक्त प्रमाणके द्वारा काटी न जा सके और समृतिरूप न होवे।

हमें तो कई लोग ऐसे मिलते हैं, जो पहले सुन लेते हैं। तो सुननेके बाद उसका संस्कार पड़ जाता है और वह संस्कार उनके मनमें कभी जगता है तो आकर सुनाते हैं कि महाराज, आज हमको यह इलहाम हुआ है। अरे भाई, यह बात तो तुमने इधर बीस-बाईस बार यहाँ सुनी है! यह इलहाम कहाँसे हुआ? तो स्मृतिका नाम ज्ञान नहीं है। देखो, घड़ेकी जो विस्मृति है परन्तु, घड़ेका अज्ञान है क्या? अज्ञान और विस्मृति एक नहीं है। विस्मृति होनेपर भी ज्ञान बना रहता है और स्मृति और ज्ञान भी एक नहीं है। क्योंकि, स्मृति तो संस्कारजन्य है और ज्ञान संस्कारजन्य नहीं, प्रमाणजन्य होता है। स्मृति जो है, वह पहलेके देखे, सुनेका जो संस्कार रहता है, उसकी वृत्ति है और ज्ञान जो है, वह जाँच-पड़ताल

करके प्रमाणके द्वारा उत्पन्न होता है। स्मृति संस्कारजन्य और संस्कारजनक होती है और आत्मज्ञान संस्कारजन्य भी नहीं और संस्कारजनक भी नहीं। क्योंकि, उससे यह मालूम पड़ता है कि यह संस्कार नामकी चीज जो है, यह बिलकुल झूठी है। न सत्‌में संस्कार है, न चित्‌में संस्कार है, न आनन्दमें संस्कार है। यह तो बिलकुल स्वतन्त्र त्रिपुटियाँ भासती हैं। पूर्व त्रिपुटीका इसमें कोई संस्कार आया है, सो बात नहीं।

बोले भाई, ऐसा मालूम पड़ता है कि कल हमने प्रेमकुटीरमें प्रवचन किया था और आज फिर कर रहे हैं। स्मृति हो रही है। बोले कि नहीं, इस समय हमारा जो ज्ञान है, जैसे स्वप्न देखता है, वैसे ही कलकी स्मृति कर रहा है। बोले कि भला, ऐसा क्यों? ज्ञानमें आज और कलका भेद कहाँ है? आज और कलकी कल्पनासे युक्त होते ही स्वप्न हो गया। कल जो है, वह स्वप्नवत् भास रहा है। विचित्र है यह!

'स्मृति' और 'ज्ञान' जुदा-जुदा होते हैं। स्मृति जो होती है, वह कल, परसों, दसवर्ष, पचास वर्ष पहले देखे, सुनेका जो संस्कार होता है, उस संस्कारमें-से फुरती है। और, ज्ञान जो है, वह प्रमाणमें-से जाँच-पड़ताल करके निकलता है और स्मृति बाधित हो जाती है। एककी स्मृति हुई, फिर दूसरेकी हुई। तो पहलेवाली बाधित हो जायेगी और, ज्ञान कभी बाधित नहीं होता।

तो क्या करना? अपनी स्मृति-शक्तिको ऐसे लगाओ कि वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो और इस स्मृतिमें जो एक अद्वैत-तत्त्व है, उसको जाननेकी कोशिश करो। स्मृतिको ज्ञानका साधन बना दो। 'अद्वैते योजयेत्स्मृतिम्' का अर्थ है कि स्मृतिको ज्ञानका साधन बना दो।

उपासना और ज्ञानमें भी बड़ा फर्क होता है!

अच्छाजी, यदि अद्वैतज्ञान हो जाये तो कैसे रहना? बोले कि यह रहनेवाला जो सवाल है, यह बड़ा टेढ़ा है। हमको तो ज्ञान हो गया महाराज! अब हम कौन-सी दूकान करें? ठीक है, तुम्हारा ज्ञान तो दूकान करनेके लिए था ही था! 'जडवल्लोकमाचरेत्' का अर्थ है कि जैसे सब रहते हैं वैसे ही रहे। माने यदि अपनेको वह विशेष प्रकट करेगा, तो सर्वसमत्व उसमें कहाँ है?

हमने एक महात्मा देखा। बिलकुल ब्रह्मनिष्ठ था। पर दिनभर घास ही छीलता था। जीवन्मुक्त पुरुष था। उसकी मौज! एक महात्मा देखा, वह झाड़ू-ही लगाता था। जिंदगीभर एक ही स्थान पर रहा। पेड़के नीचे सो जाता। लेकिन

गाँवके लोग जब सोते होते और वह झाड़ू लेकर सारी गली साफ कर देता। वह उसका व्यसन था। कोई जानता थोड़े ही था कि यह ज्ञानी है? एक महात्माको ऐसा देखा जो मछली खाते थे! बात ऐसी थी कि जब हम लोग मोकलपुरके बाबाका दर्शन करने जाते तो तीन-चारमील गंगाजी नावसे पार करते और कभी नाव नहीं मिलती या पैसे नहीं होते तो पैदल जाते। वे महात्मा गंगा किनारे रहते थे। एक बाँसकी बंसी उन्होंने बना रखी थी और उसमें केंचुआ लगा लेते और मछलीं पकड़ते थे। जब कोई मछली फँसती तो खा लेते। पेड़के नीचे रहते थे। लँगोटी कभी लगाते थे और कभी नहीं लगाते थे। बड़े काले-काले थे। लोग कहते कि ये गाँवमें तो कभी जाते ही नहीं हैं। भिक्षा नहीं माँगते थे और बोलते भी नहीं थे। हमलोगोंने जाकर उनको परेशान किया कि बोलना पड़ेगा। मैंने पूछा कि यह क्या करते हो? तुम्हारी रोटीका बन्दोबस्त कर दिया जाये! गाँवमें हम कह देते हैं, रोटी आ जाया करेगी! बोले कि माँगनेकी रुचि नहीं है। जो ब्राह्मण, संन्यासी होते हैं, वे माँगते हैं। न मैं कभी ब्राह्मण रहा, न कभी संन्यासी रहा। तो माँगनेमें तो हमारी रुचि नहीं है। जन्मका मल्लाह हूँ! गंगाजीके पेटमें पैदा हुआ, गंगाजीमें रहा और गंगाजी पहले भी खानेको देती थी और अब भी देती हैं। माँ हैं। अब आप ऐसा नहीं समझना कि वह ब्रह्मनिष्ठ नहीं था। ब्रह्मनिष्ठ था।

यह वेदान्तका सिद्धान्त बड़ा उदार सिद्धान्त है। किसीको बाँधता नहीं है। मुक्त करता है।

योगिनो भोगिनो रागिनो चेतरे

कोई योगीके रूपमें रहता है, कोई भोगी रूपमें रहता है तो कोई रागी रूपमें रहता है। वे एक तरहसे नहीं रहते!

दृश्यन्ते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः।
क्वचित शिष्टः क्वचितभ्रष्टः क्वचित भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरो योगी विचचार महीतले॥

कहीं शिष्टके रूपमें, कहीं भ्रष्टके रूपमें। भरत, निदाघ, ऋभु, शुकदेव, वामदेव, दत्तात्रेय, वसिष्ट, कृष्ण, नाना प्रकारसे ज्ञानियोंकी स्थिति है। आनन्दकी अभिव्यक्ति जो है, वह पूर्ण स्वातन्त्र्यमें है। सबको एक बता दिया, एक दिखा दिया। कितना बड़ा स्वातन्त्र्य है यह!

विज्ञानसे सब कुछ जान लेनेपर भी जो विज्ञानसे परे है, उसको हाथ जोड़ना पड़ता है। आइन्स्टीनने कहा है कि कोई है, जो विज्ञानसे परे है, जो सब नियमोंसे

परे है, हम उसको नहीं जानते। और, वेदान्त कहता है कि परेको और लाओ! अपना आपा कैसा है? उरला भी नहीं और परला भी नहीं! परला, उरला दोनों जिसमें भास रहे हैं, वह है।

सम्पूर्ण अनर्थकी शान्ति, राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति केवल अद्वैत-ज्ञानसे होती है। नहीं तो कुछ-न-कुछ बड़ा और कुछ-न-कुछ छोटा—यह संस्कार रह जायेगा और बड़े-छोटेका संस्कार, अच्छे-बुरेका संस्कार, प्रिय-अप्रियका संस्कार रह जायेगा तो राग-द्वेष भी हुए बिना रहेगा नहीं। इसलिए, अद्वैत-ज्ञानसे भेदका समूलोन्मूलन हो जाता है और समूलोन्मूलन हो जानेसे राग-द्वेष नहीं होता। नहीं तो समाधि अच्छी है, विक्षेप बुरा है। इसलिए, अपनी स्मृतिका सदुपयोग यह है कि अद्वैत-बोधके लिए ही उसका उपयोग करें।

'अद्वैते योजयेत् स्मृतिं'।

देखो, जो वस्तु है, वही ज्ञानसे जानी जाती है। ज्ञान वस्तुका उत्पादन नहीं है, वस्तुका ज्ञापक है। जो चीज जैसी है, उसका वैसा मालूम पड़ना, यह ज्ञान है। वस्तुको बदलना ज्ञानका स्वभाव नहीं है। ज्ञान अपने विषयमें अतिशयकी उत्पत्ति नहीं करता। ज्ञान अपने विषयपर पड़े हुए अन्धकारको दूर कर देता है। तो अन्धकार दूर करनेसे वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती, वस्तुमें कोई विशेषता उत्पन्न नहीं होती। तो, **'सिद्धस्यवृत्तिः'**—जो वस्तु पहलेसे मौजूद होती है, उसका ज्ञान होता है और **'सत् एव सिद्धिः'**—जो सत्-वस्तु है, वही सिद्धि है। नहीं तो ज्ञानके सामने असिद्ध-वस्तुको तो उड़ जाना पड़ेगा, भाग जाना पड़ेगा! असिद्ध-वस्तु ज्ञानके सामने कैसे टिकेगी?

तो सद्-वस्तुसे विलक्षण जो कुछ मालूम पड़ता है, वह स्वप्नवत् मालूम पड़ता है। सिनेमा देखते समय पर्देपर जो तसवीर मालूम पड़ती है, उसका पर्देके साथ बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। वह तो फिल्ममें होकरके रोशनी गुजरती है, इसलिए तसवीर दिखायी पड़ती है। यदि फिल्मके संस्कार रोशनीमें न मिल जायें, तो पर्देपर कोई तसवीर नहीं है। जो सम्पूर्ण जगत्का अनन्त अधिष्ठान है, सन्मात्र, चिन्मात्र, अद्वैत-उसपर यह हमारे फिल्मी अन्तःकरणमें-से गुजरती हुई रोशनी प्रपञ्चकी तस्वीर बना रही है। वेदोंमें एक शब्द आता है, **'बिल्म'**। **'बिल्म'**का अर्थ होता है, जैसे साँपकी केंचुल, सोनेकी चमक, ऐसे-ही हमारे अन्तःकरणमें जो तसवीर खिंची हुई हैं, इस ज्ञानके प्रकाशसे वे मालूम पड़ती हैं। और, यह कहो कि फिल्म तो दूसरी जगह है और पर्दा दूसरी जगह है! ऐसा नहीं है। वह पर्दा जो है,

वह जहाँ अन्तःकरण है, वहीं है। जहाँ प्रकाश है, वहीं है और उसी अद्वैत पर्देपर अद्वैतचेतनसे और अन्तःकरणमें पड़ी हुई जो तस्वीरें हैं, वे दिखायी पड़ रही हैं। हजारों युग हो गये, यह भी मालूम पड़ता है। हजारों मील लम्बी भूमि है, यह भी मालूम पड़ता है। हजारों लोग हैं, यह भी मालूम पड़ता है। यह 'बिल्म' की करामात है, फिल्मकी करामात है। न पर्देकी करामात है न रोशनीकी करामात है। असलमें पर्दा और रोशनी तो एक-ही हैं। जो चेतन है, सो ही अधिष्ठान है और जो अधिष्ठान है, सो ही चेतन है।

'स्मृतिं यांजयेत्'—अपनी स्मृतिको ले चलो। 'स्मृति' को लें चलनेका क्या अभिप्राय है? आपको पहले सुनाया था कि 'स्मृति' और 'ज्ञान' यह दोनों अलग-अलग चीज हैं। 'स्मृति' कभी-कभी एकदम गलत भी होती है। 'स्मृति' में सांकर्य भी हो जाता है। दो स्मृतियाँ आपसमें मिल जाती हैं। एक आदमीकी उम्र पच्चीस वर्ष और एक आदमी बहुत सुन्दर। अब दोनोंको एकमें मिला दिया। सौन्दर्य और पच्चीस वर्षको हमारी स्मृतिने एकमें कर दिया। तो, 'स्मृति' को कैसे जोड़ना? बोले कि, 'तस्य स्मृतिस्तस्य दृढ़ैव निष्ठा'—यह भिन्न-भिन्न, खिन्न-खिन्न दीखनेपर भी असलमें सब अभिन्न और सब अछिन्न है। इस बातको कभी भूलना नहीं । इसको बनाये रखना। इसको बनाये रखनेसे क्या होगा कि यह द्वैत भी तो संस्कार और स्मृतिके रूपमें अन्तःकरणमें संचित है, वह शिथिल हो जायेगा। लेकिन देखो, अद्वैतकी अनुभूतिके लिए स्मृति आवश्यक नहीं है। पहलेकी जो हजारों स्मृतियाँ अन्तःकरणमें बैठी हुई हैं, उनको अभिभूत करनेके लिए इस स्मृतिका उपयोग है। दृढ़तासे बैठ गये। जब बैठ गये, अद्वैतका साक्षात्कार हो गया। माने अद्वैतपर जो अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है, वह फट गया। अंधकार दूर हो गया। अद्वैत तो पहलेसे है ही है। अब प्रश्न है कि रहना कैसे?

बहुत लोग रहनीको ही पकड़कर बैठ जाते हैं। गंगा किनारे एक साधु हैं। वे ऐसे रहनेकी कोशिश करते हैं, जैसे उड़ियाबाबाजी। वे कैसा भी कपड़ा पहन लेते हैं, वे भी कहीं भी बैठ जाते हैं, वे भी 'बेटा' कहकर लोगोंको पुकार लेते हैं, वे भी रोटी बाँटते हैं। पर उनसे पूछो कि बाबाका ज्ञान जो था, वह उनको प्राप्त है? तो उन्होंने वेदान्तका तो सत्संग किया ही नहीं। वे तो कहते हैं कि महात्मा लोग ऐसे रहते हैं, सो हम भी रहते हैं; ऐसे बोलते हैं, सो हम भी बोलते हैं। तो रहनीकी नकल करते हैं।

एक जगह सत्संग होता था। हजारों सत्संगी होते थे। वहाँके वक्ताको रोज

आध घंटा इस काममें लगाना पड़ता था कि यहाँसे कितनी दूरपर जाकर पेशाब करना, कितनी दूर शौचके लिए जाना, दातुन कहाँ फेंकना? गुजरातमें देखा कि सुबहके समय छतपर सब दातुन कर रहे हैं और वहीं फेंक रहे हैं, आपसमें बात करते जा रहे हैं और थूकते जा रहे हैं। केरलमें देखा कि पचास-पचास आदमी एक साथ टट्टी बैठते हैं और आपसमें बात करते रहते हैं। और, उनको पानीकी जरूरत नहीं। हम तो थोड़े दिनके लिए जाते हैं तो देख आते हैं। जैसे यहाँ भोजनके लिए पंगत लगती है, वैसे वहाँपर पंक्ति बनकर बैठते हैं और आपसमें गप्प हाँकते रहते हैं और पानीकी भी जरूत नहीं। अब ऐसा कोई ठण्डा प्रदेश भी नहीं है कि उनको पानी छूनेमें डर लगे। पर, अपना-अपना आचार होता है।

एक बारकी बात आपको सुनावें। एक 'वर्णाश्रम स्वराज्य संध' नामकी संस्था लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़के समयमें बनी। कट्टर सनातन-धर्मी संस्था थी। तो उसका अधिवेशन जगन्नाथपुरीमें हुआ। उसके सभापति दक्षिणके कोई 'व्रियोगी' नामके व्यक्ति जो अंग्रेजोंके समयमें संसदके सदस्य थे, वे बनाये गये। अब वे आये, शौचालयमें गये तो वहाँ उनको लोटेमें पानी दिया गया था। वे वही पानी बचाकर लाये और जरा-सा हाथपर डाला, मिट्टी लगायी नहीं और आकर बैठ गये। एक सज्जनने देखा तो पूछा कि महाराज, आपने हाथपर माटी नहीं लगायी? बोले कि भाई, यह माटी लगानेकी रिवाज हमारे यहाँ नहीं है।

यह हम आपको आक्षेप करनेके लिए नहीं बताते हैं। हमारा अभिप्राय किंचित् भी आक्षेपमें नहीं है।

दुनियाकी जो रीति, नीति है, वह देश भेदसे बदल जाती है, जाति-भेदसे बदल जाती है, सम्प्रदाय-भेदसे बदल जाती है, समय-भेदसे बदल जाती है। जिसको आजकलके लोग बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उसको पच्चीस वर्ष पहले महत्वपूर्ण नहीं समझते थे और उनको पच्चीस वर्ष बाद महत्त्वपूर्ण नहीं समझेंगे।

आपको एक नमूनेकी बात सुनाता हूँ। हम जब अपने गाँवमें थे तो वहाँ जितने चमार थे और दूसरी छोटी जातिके लोग थे, उन सबने भी उन दिनों जनेऊ पहनना शुरू कर दिया और कोई कहे कि हम ब्राह्मण हैं और कोई कहे कि हम क्षत्रिय हैं। बड़ी-बड़ी पंचायतें बन गयीं और आर्य समाजी लोग जाते उनको संस्कार होम करना, सन्ध्या-वन्दन करना सिखाते। यह बात मैंने अपनी आँखसे देखी। अब महाराज संन्यासी होनेके बाद कांग्रेसी राज्यमें जब मैं उत्तर-प्रदेशमें गया, तब मैंने पूछा कि क्या हाल है भाई? मैंने उनसे पूछा कि जनेऊ पहनते हो कि

निकाल दिया? बोले कि निकाल दिया महाराज! क्यों निकाल दिया? बोले कि आजकल बड़ी जात बननेसे सरकार पढ़ाई-लिखाई, नौकरीमें मदद नहीं देती है। उस समय तो आर्यसमाजी कहते थे कि तुम किसीसे कम हो? तुम बड़े हो। तब हमने पहन लिया। अब तो हमको पढ़ाई-लिखाईमें मदद कम मिलती है। अनुसूचित जातियोंमें जब हमारा नाम रहता है, तब मदद मिलती है। सो हमने जनेऊ निकाल दिया।

तो एक बार ब्राह्मण बननेमें मजा था और एक बार अनुसूचित-जाति बननेमें मजा है।

किसी देशमें लड़ाईके कारण प्रजा कम हो जाती है तो सन्तान बढ़ानेमें, नियोग करनेमें मजा आता है और जब जनसंख्या बढ़ जाती है, तब बोले कि सन्तान निरोध करो। घटाओ, घटाओ। मतलब यह है कि दुनियाकी किसी रीति, नीतिको पकड़ोगे तो एक सरीखी तो चलेगी नहीं। वह तो बदलती रहेगी। आप देखो हमलोगोंकी जवानीमें विलायतसे कपड़ा मँगवाना और उसको पहनना पाप मानते थे। हमारे यही नेता कहते थे जो अभी जिन्दा हैं। अब आज कपड़ेकी बात छोड़ो, अब तो गेहूँ, चावल विलायतसे न आवे तो घरमें रोटी न बने। अब अरबों रुपया अनाजमें विलायत जाता है। तो यह जो संसारके जो व्यवहार हैं, वे प्रान्तके भेदसे, देशके भेदसे, समयके भेदसे, जातिके भेदसे, सम्प्रदायके भेदसे अलग-अलग होते हैं। अज्ञानी-पुरुष जो है, वह अपने को जो अभ्यस्त है, उसको तो ठीक मानता है और दूसरेके आचार, व्यवहारको गलत मानता है। यह अज्ञानी-पुरुषका लक्षण है।

अब देखो, हम यहाँ नंगे बैठे हुए हैं, हम समझते हैं कि हम ठीक हैं और हमको जब बिलकुल मई, जूनकी गर्मीमें गर्म कपड़ा पहने हुए लोग मिलने आते हैं तो हमारे मनमें होता है कि इनको तो विलायत जाना चाहिए। यहाँ नहीं रहना चाहिए। क्यों? वैसा कपड़ा तो ठण्डीमें पहनना चाहिए। अब यहाँ तो इतनी गर्मी। यहाँ गर्म पोशाककी क्या जरूरत? तो उन्होंने पोशाक तो पकड़ी, लेकिन देशकी परिस्थितिमें जो फर्क है, उसको नहीं समझा।

तत्त्वज्ञ पुरुष इस बातको जानता है कि सर्व देश, सर्वकाल, सर्वजाति, सर्व सम्प्रदायमें जो भी आचार, विचार, रहनी-सहनी है, वह किसकी है? बोले कि हमारी ही है, हम ही हैं। जैसे अपनी आजीवन अभ्यस्त रहनीमें उसको कल्पिततत्त्वका ज्ञान है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिकी रहनी-सहनीमें उसको

कल्पितत्त्वका ज्ञान है। जैसे ब्रह्मत्वका ज्ञान है। कल्पितत्त्व सामान्यसे भी सब-का-सब समान है और ब्रह्मत्वरूप सत्ताकी दृष्टिसे भी सब-का-सब समान है। तो राग-द्वेष काहे का?

एक बार मैं रतनगढ़ गया। वहाँ हनुमानप्रसादजीने बड़ा भारी उत्सव किया था। हमारा तो बड़ा प्रेम था। मैं गया तो वहाँ वैष्णवलोग बहुत आये और मेरे हाथमें था डण्ड। जो पहलेके हमारे वैष्णव-मित्र थे, उन्होंने कहा कि अब तो आप दण्डी हो गये। आपका सम्प्रदाय अलग हो गया। मैंने कहा कि बिलकुल नहीं। हमारा, सम्प्रदाय अलग नहीं हुआ। 'हम' 'तुम' तो एक ही हैं। अच्छा, एक ही हैं तो हम आपको चन्दन लगाते हैं। तो रामानुज-सम्प्रदायके जो वैष्णव थे, उन्होंने अपना चन्दन लगा दिया। तो हम डण्ड लिये, रामानुज-सम्प्रदायका चन्दन लगाये जाकर सिंहासनपर बैठ गये। वहाँ कुछ लोगोंने पूछा कि स्वामीजी, यह क्या, यह क्या? ऐसा चन्दन कबसे लगाना शुरू किया? अब वहाँ निम्बार्क-सम्प्रदायके हमारे एक मित्र थे नन्दकिशोर शरणजी। उन्होंने कहा कि वाह, आपने रामानुज-सम्प्रदायका कैसे लगाया? आप तो हमारे मित्र हैं। मैंने कहा कि तुम अपना लगा दो। तो उन्होंने दूसरे दिन पहलेवाला धो दिया और अपना लगा दिया। बोले कि आज यही लगाकर सभामें बैठना पड़ेगा। तो वही लगाकर बैठे।

तो देखो, यदि पुण्य-भाव है तो दोनोंमें है और यदि कल्पित-भाव है तो दोनोंमें है। अद्वैतका मतलब यह हुआ कि राग-द्वेषकी जो दृष्टि है, वह नहीं रहती। ज्ञान हुआ अद्वैतका और रहता है अज्ञानीकी तरह—यह इसका मतलब है। अज्ञानीको बार-बार यह दिखाना कि हम तुम्हारी अपेक्षा विशेष हैं, हम तुमसे बिलकुल निराले हैं, जो ज्ञान तुमको नहीं है, वह हमको प्राप्त हो गया। माने तुम जुदा, हम जुदा। माने तुम जीव, हम ब्रह्म। तुम बद्ध, हम मुक्त। ऐसा नहीं होता। ज्ञानी लोग तो अज्ञानियोंमें अज्ञानीकी तरह रहते हैं।

बाले बालो विदुषि विद्वान् गायेके गायकेशः

बच्चा आया तो बच्चेके साथ खेलने लग गये, उसका खिलौना देखने लग गये, उसके खिलौनासे खेलने लग गये। स्कूलकी बात करने लग गये। कोई पण्डित आया, शास्त्र चर्चा चली। तो बोले कि लो यह साध्य हेतु दृष्टान्तके द्वारा पक्षकी सिद्धि लो। यह लो यह विषय, संशय, यह पूर्वपक्ष और यह उत्तरपक्ष, यह सिद्धान्त! अधिकरणकी रचना होने लग गयी।

अब कोई गवैया आया, तो आसावरी 'घनाक्षरीकी चर्चा छिड़ गयी।

स्त्रैणे स्त्रैणो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढ़वाग्मी।

स्त्रियाँ आयीं तो स्त्रियोंकी तरह चर्चा चलने लग गयी। वक्ता आया तो वक्ताकी चर्चा चलने लग गयी। क्यों? बोले कि ***'धन्यः क्कश्चित्'।*** योगी आया तो योगकी चर्चा चली कि योगके क्या अवान्तर भेद हैं, क्या-क्या विघ्न आते हैं? वेदान्ती आया तो अधिष्ठान और अध्यस्तकी चर्चामें अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्त बाधित हो गया।

धन्यः क्कश्चित् त्रिभुवनजयी योऽवधूतेवधूतः।

धन्य है वह ज्ञानी पुरुष, जो अवधूतके साथ अवधूत हो गया। वेशभूषा तिरस्कृत! दुनियाँके लोग जिस वेशभूषाका तिरस्कार करते हैं, वैसी वेशभूषामें है। कभी सम्राट्के साथ सम्राट् है और कभी व्यापारीके साथ व्यापारी है। क्योंकि, संसारके किसी नाम, रूपमें—यही सच्चा है, ऐसा करके पकड़ नहीं है।

देखोजी, जो लोग उपनिषद्का स्वाध्याय सम्प्रदाय-परम्परासे नहीं करते हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती है। तो **'अद्वैतं समनुप्राप्य'**—जब अद्वैतका बोध हो जाये तब? बोले कि **'जड़वल्लोकमाचरेत्'**। दुनियामें कैसे रहे? बोले कि जड़वत्।

स्कन्दपुराणमें एक कथा है। एक जीवन्मुक्त महापुरुष अवधूत-वेशमें विचरण करते थे। एक गाँवमें भिक्षाके लिए गये तो देखा कि कोई स्त्री बड़े जोरसे रो रही थी। बोले कि क्यों रो रही हो? क्या बात है? वह कुम्हार थी। बोली कि महाराज, हमारे पति मर गये। मैं तो विधवा हो गयी। महात्मा बोले कि जन्म-मृत्यु तो है नहीं। तुम्हारे पति मर कैसे गये? आश्चर्य है! कोई वस्तु न पैदा होती है, न मरती है। तो तुम्हारे पति कैसे मर गये? बोली कि महाराज, मर गये। वे बोले कि अच्छा, मर गये तो मर जाने दो। उससे क्या नुकसान है?

वह बोली कि नुकसान यह है कि अब माटी कौन लावेगा, घड़ा कौन बनावेगा, पकावेगा कौन, बेचेगा कौन? बच्चोंकी रोटी कैसे चलेगी? बोले कि हम हैं न! हम सब कर देंगे। बोली कि अच्छा, आप हैं? 'हाँ, हैं'। हम तुम्हारे घरमें बैठे हैं। अब महाराज गधा लेकर माटी ले आये और खूब गूँधा और घड़ा बनाया और बेचने लगे। अब उसीके घरमें रहें और उसीकी रोटी खायें। अब जो उनके भक्त थे, जानते थे कि ये तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, उनको यह खबर मिली तो वे आये। बोले कि महाराज, यह क्या करते हो? 'बहुत बढ़िया करते हैं'। आजकल जरा ब्रह्माका काम कर रहे हैं। कुम्हारको प्रजापति बोलते हैं। अरे बाबा, दिन-रात उपाधि और

उपहित, अध्यस्त और अधिष्ठान, अवच्छेदका अवच्छिन्न करते-करते गला फट रहा था, उससे तो छुट्टी मिली। वह वहीं रह गये।

बोले कि उनकी मुक्तिमें कोई बाधा पड़ेगी? क्या वे जीवन्मुक्त नहीं हैं? क्या उनको विदेह-मुक्ति नहीं मिलेगी? क्या उनकी ज्ञान-दृष्टिमें कोई अन्तर पड़ गया? **'जड़वल्लोकमाचरेत्'**।

दादूदयालजी एक दिन अपनी धूनी पर बैठे थे। जरा ऊँची थी। सो देखा कि दो अच्छे विद्वान् पगड़ी, पहने आ रहे हैं। अब वे इधर-उधर जंगलमें पोथी लिए भटके! लेकिन दादूदयालका स्थान न मालूम पड़े। सो एक छोटे रास्तेसे दादूदयाल खुद नीचे उतर आये। बोले कि पण्डितजी, कहाँ जा रहे हो? वे बोले कि सुना है कि यहाँ एक बड़े ज्ञानी पुरुष महात्मा हैं। उनका दर्शन करने जा रहे हैं। दादू बोले कि यहाँ तो कोई महात्मा नहीं रहता है। वे बोले कि नहीं, यहाँ महात्मा दादूदयालजी रहते हैं। 'अरे, दादूको तुम महात्मा कहते हो? नारायण, न उसको खानेका सहूर, न पीनेका सहूर जातका भी उत्तम नहीं। अरे, वह तो ढोंगी है ढोंगी! तुम उसके पास क्यों जाते हो?' अब दो-चार जो निन्दा करी तो वे तो काशीके पण्डित। वे तो शास्त्रार्थ भी कर लें उनके हाथमें तो शाप और चाप दोनों रहता है। तो महाराज उन्होंने दादूदयालजीको पीटना शुरू किया। जब खूब पीट-पाट लिया तो बोले कि अच्छा जब तुमको उस ढोंगीके पास जाना ही है तो इस रास्ते जाओ। रास्ता बता दिया और खुद छोटे रास्तेसे चढ़कर अपनी जगहपर पहुँच गये। अब वहाँ जाकर धूनी पर बैठ गये। पण्डित लोग आये और देखा कि वही व्यक्ति धूनीपर बैठा है। फिर पूछा कि दादूदयालजी कहाँ हैं? तो लोगोंने बताया कि यही हैं। अब तो सौ घड़ा पानी पड़ गया।

अच्छा, अब दूसरी बात सुनाते हैं। एक बालक उड़ियाबाबाजीके पास आया। उनसे मंत्र पूछ लिया, उन्होंने जो बताया उसका ध्यान करने लगा। सनातन-धर्मी हो गया। एक बार उसने बहुत प्रार्थना की कि महाराज, एक बार आप हमारे घर चलो। तो बाबा बोले कि अच्छा, हम कभी पैदल घूमते हुए उधर आवेंगे तो आ जायेंगे। अब उनके हाथमें कमण्डलु तो रहता ही था। एक दिन घूमते हुए उसके घर पहुँच गये। संयोगवश वह लड़का घरमें नहीं था। उसके बाप थे आर्यसमाजी महाशयजी। उन्होंने लड़केका नाम लेकर पूछा तो बोले कि वह तो नहीं है। तुम क्यों आये हो? तुमको क्या चाहिए? बाबा बोले कि हमको रोटी

चाहिए। वह बोला कि देखनेमें इतने मुश्टण्डे हो और रोटी माँगकर खाते हो, तुमको शर्म नहीं आती? बाबा बोले कि क्या करें बाबूजी, कोई काम नहीं मिलता है। काम मिले तो करके खायें और न मिले तो माँगकर खायें। खाना तो पड़ता ही है। वह बोला कि हम काम बताते हैं। हमारे पशुओंके लिए चारा काटो। अब बाबा गड़ाँस हाथमें लेकर चारा काटने लगे। घण्टे-आध घण्टेमें लड़का आया तो देखा कि पिताजी तो खाटपर बैठे हैं। उसने पूछा कि चारा कौन काट रहा है? बोले कि एक मुश्टण्डा आया था, उसको मैंने चारा काटनेमें लगा दिया है। उसको रोटी दे देना। अब उसने जाकर देखा तो उड़ियाबाबाजी महाराज घरमें चारा काट रहे हैं।

तो देखो, पैसेवालोंका यह ख्याल होता है कि जिसके पास ज्यादा पैसा होता है, वह बड़ा होता है। हमने एक जगह देखा, एक पैसेवाले सज्जन सत्संग करवाते थे। उनके घरमें उस जमानेमें ४०-५० लाख रुपया था। पर व्याख्यान देते थे। करपात्रीजी भी यदि वहाँ आते तो वे उठकर खड़े नहीं होते थे, बैठे रहते थे और व्याख्यान देते रहते थे। एक दिन हम सब लोग बैठे थे। इतनेमें खबर आयी कि जुगलकिशोर बिड़ला आरहे हैं। अब उनके पास तो पचास ही लाख और जुगलकिशोर बिड़ला करोड़पति। तो व्याख्यान बीचमें ही बन्द करके वह दौड़े। आध मील चलकर उनका स्वागत करनेके लिए गये।

पैसे वालोंका ऐसा ख्याल है कि जिसके पास पैसा ज्यादा, सो बड़ा। पण्डितोंका ख्याल है कि जिसके पास विद्या बड़ी है सो बड़ा है। तपस्वियोंका ख्याल है कि जो तपस्या ज्यादा करे, सो बड़ा है। वैरागियोंका ख्याल है कि जो नंगा रह सके, सो बड़ा है। यह सब अपने-अपने ख्यालमें चूर्ण हैं। ये चूर-चूर हो गये हैं अपने ख्यालके नशेमें। खुमारी छायी हुई है।

तो तत्त्वज्ञानी पुरुष जिनके बीचमें रहता है, उन्हींके जैसा व्यवहार करता है।

'जड़वल्लोकमाचरेत्'

मनुजीने तो ऐसे लिखा कि बिना पूछे किसीको उपदेश मत करना—*'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' 'न चान्यायेन पृष्टतः'*—अन्यायसे पूछे, तब भी न बोलना। यदि कायदेसे, *तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।* न पूछे, तो बताना नहीं।

यहाँ गौड़पादाचार्य कहते हैं कि,

जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोकमाचरेत्।

जानते हुए भी, मेधावी होते हुए भी लोगोंके सामने ऐसा व्यवहार करना कि

जैसे जड़ है। अपनी विद्या, अपना वैराग्य, अपने ज्ञानको ख्यातिके हवाले कर देना दम्भकी कोटिमें आ जाता है, मायाकी कोटिमें आ जाता है। ब्रह्ममें कोई ख्याति नहीं है। ब्रह्म अपनेको ख्यात नहीं करता। वह तो ऐसे स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान रूपसे बैठा है। न वृत्तिका विषय बनावें! न नेत्रका विषय बनावें, न शब्दका विषय बनावें! ज्यों-का-त्यों! जैसी अविषयता ब्रह्ममें है, ज्ञानी पुरुषमें वैसी अविषयता है। क्योंकि, वह ब्रह्म है, ज्ञानी नहीं है। वह मुक्त नहीं है। वह बन्धन और मोक्ष दोनोंका अधिष्ठान है, प्रकाशक है। वह अपनेको मुक्त ख्यात करता है—इसकी भी आवश्यकता नहीं और अपनेको बद्ध कहें—यह भी आवश्यकता नहीं। दूसरे लोग उसको मुक्त समझें, बद्ध समझें—इसकी परवाह नहीं।

देखो, भगवान्‌के भक्तको भी ख्याति नहीं चाहिए। अच्छा, योगी अगर ख्यातिमें पड़ेगा तो लोग विक्षेप करेंगे। समाधि लगाने ही नहीं देंगे। भक्त अगर अपनेको ख्याति देगा तो लोगोंको सम्भालनेमें भगवान्‌का भजन ही छूट जायेगा। ज्ञानी अपनेको ख्याति दे तो परिच्छिन्नताका अभिमान प्रकट हो जायेगा। इसलिए जहाँ है, जैसे है ब्राह्मण है तो ब्राह्मणकी तरह रहता है।

श्रीमद्‌भागवतमें वर्णन आया कि,

विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् (७. १४. ५)

यह अमृतवाणी है कि हृदयसे विरक्त होवे और व्यवहारमें रक्तवत् होवे और मनुष्य समाजमें अपनी मनुष्यताको स्थापित कर दे। मनुष्य समाजमें यह नहीं कहता डोले कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ।' मनुष्य समाजमें अपनेको मनुष्यके रूपमें रखे और आत्मलोकमें? वहाँ तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म ही है।

दिल्लीमें एक सज्जन हैं, एम.ए. हैं। जरा पुराने हैं। थोड़े ऊँचे ओहदेपर हैं। तो उन्होंने वेदान्तका खूब सत्संग किया। मैं दिल्लीसे एक बार चलने लगा तो स्टेशनपर पहुँचाने आये। तो बोले कि स्वामीजी, हम ब्रह्म हैं, इसमें तो संदेह नहीं होता। यह तो निश्चय हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। लेकिन अब आप यह बताओ कि मैं करूँ क्या? तो मैंने कहा कि भले मानुस! तुमको अपनी ब्रह्मताका तो ज्ञान हो गया, लेकिन अपने कर्त्तव्यका ज्ञान नहीं हुआ। कर्त्तव्य अज्ञात ही रहा। तो अभी तुमको ब्रह्मका ज्ञान नहीं हुआ ब्रह्मका ज्ञान जब होता है तो कर्त्तव्य कट जाता है। जब कर्त्तापन, भोक्तापन कट गया तो जो कर्त्तव्य सामने आ गया, उसीमें लग गये।

आपको यह सुनाया कि संसारमें ज्ञानीको किसी कर्त्तव्यमें लगा सके—ऐसा

सामर्थ्य किसीमें नहीं है। क्योंकि, सृष्टि कैसे कल्पित हुई है, उसका मूल उसको मालूम है। जिसमें कल्पित हुई है, वह स्वयं है। ईश्वर भी यदि वक्ता बनकर बोलेगा, माने वाणीका प्रयोग करेगा तो वाणीवाला बन जायेगा। तो जब वाक्‌की उपाधिसे ईश्वर बोलेगा तो ज्ञानी तुरन्त बोलेगा कि तुम सोपाधिक हो और मैं निरुपाधिक हूँ। शब्दका उच्चारण वाणीसे होता है और वह श्रोत्रका विषय होता है। अनन्त ब्रह्ममें यह भी कल्पित है, स्वरूपमें यह भी कल्पित है। कर्त्तापन कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे होता है, ज्ञातापन ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे होता है। जब हम अपनेको ज्ञानेन्द्रियोंवाला मानेंगे तो ज्ञाता बनेंगे और जब अपनेको कर्मेन्द्रियोंवाला मानेंगे तो कर्ता बनेंगे और जब मन, बुद्धिवाला मानेंगे, तब अपनेको भोक्ता मानेंगे और जहाँ सम्पूर्णकी सम्पूर्ण उपाधि बाधित हो गयी वहाँ कैसे, क्या करें?

अच्छा भाई, सब ज्ञानियोंका आचरण एक ही तरहका होना चाहिए? यदि कर्म-विषयक ज्ञान होता या धन विषयक ज्ञान होता या भाव विषयक ज्ञान होता या स्थिति विषयक ज्ञान होता तो एक ही स्थिति, एक ही भाव, एक ही कर्म, एक ही द्रव्य जुड़ता परन्तु; वह तो आत्मविषयक ज्ञान है। स्वयं प्रकाश ज्ञानसे विषय ही बाधित हो गये।

एक बार चार पुरुषोंने भाँग पी। जब मस्तीमें आये तो एकने तो गाना शुरु किया और दूसरा गाली देने लग गया और तीसरा ध्यान करने बैठ गया और चौथा तान दुपट्टा सो गया। तो यह सवाल हुआ कि भाँग तो एक ही थी। यह नशा चार तरहका कैसे आया? बोले कि भाई, जिसके शरीरमें जैसा उपादान था, वैसा नशा आया। किसीको गानेकी आदत थी, किसीको गाली देनेकी आदत थी, किसीको भजन करनेकी आदत थी और किसीको सोनेकी आदत थी। जैसी जिसकी आदत थी, अभ्यासके द्वारा जिसने जैसा संस्कार बना लिया था, उसके अनुसार हो गया। उस भाँग बेचारीका भेद नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होने पर, ज्ञानी पुरुष अपने चित्तके पूर्व संस्कारोंके अनुसार व्यवहार करते हैं।

योगिनो भोगिनो रागिनो चेतरे, दृश्यते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः।

ज्ञानीकी एकरूप स्थिति नहीं होती। कोई कैसे, कोई कैसे, कोई कैसे?

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मनिष्ठश्च सर्वे ते ज्ञानिनः समाः॥

कृष्ण सोलह हजार ब्याह करके रहते हैं, शुकदेवजी त्याग करके रहते हैं,

रामचन्द्र और जनक राज्य करते हैं, वसिष्टादि कर्मनिष्ठ हैं। यह कहो कि उनके ज्ञानमें कोई फर्क है? तो ज्ञानमें फर्क होने पर तो अज्ञान होगा। जो ज्ञानसे पृथक् है, वह तो अज्ञान है या ज्ञान-विशेष है। देखो,

क्षणमेकं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयी बिना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्मादयाः सनकादयाः शुकादयाः॥

एक क्षण भी ब्रह्ममयी वृत्तिके बिना नहीं रहते हैं।

अब देखो, एक होती है ब्रह्माकारवृत्ति। तो ये तीन तरहकी होती है। आवर्त्यकार वृत्ति होती है, पहली और अज्ञान-निवर्तक ब्रह्माकारवृत्ति है, दूसरी और सहज ब्रह्माकारवृत्ति होती है, तीसरी।

आवर्त्यमान ब्रह्माकारवृत्ति क्या है? बिजातीय वृत्तिका तिरस्कार करके सजातीय आत्माकारवृत्तिका प्रवाह करना। निदिध्यासन, इसको भी ब्रह्माकारवृत्ति बोलते हैं। 'अहं'का तो उदय होवे नहीं, 'अहं वृत्तिमान'—मैं वृत्तिमान हूँ—यह अहंकार उदय न होने पावे और देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित भेद सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म अपना स्वरूप है और परिच्छिन्नमें अहंकार न होने पावे। बोले कि इससे क्या होगा? इससे विर्पय निवृत्त हो जायेगा।

अब दूसरी है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य, प्रमाणजन्य, अज्ञान-निर्वतक ब्रह्माकारवृत्ति। वह केवल अज्ञानको मिटाती है, वह और कुछ नहीं करती है। वह क्षणभर ही रहती है। जिस क्षणमें अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसी क्षणमें वह अज्ञानके साथ ही निवृत्त हो जाती है। दूसरा क्षण उसके लिए नहीं है। आवर्त्यमानता नहीं है। उसको आवृत्त नहीं किया जाता। आवर्त्य मानता जहाँ है, वहाँ कर्त्तव्य शेष है। कर्तापन थोड़ा बाकी है तो आवृत्तिको चलाते हैं और जहाँ कर्तृत्व निःशेष निवृत्त हो गया, बाधित हो गया, वहाँ आवर्त्यमानता नहीं होती।

अब यह तो सनकादि, शुकादि, ब्रह्मादि हैं, ये क्या करते हैं? बोले कि उनकी ब्रह्माकारवृत्ति नहीं है। तब क्या है? उनकी ब्रह्ममयीवृत्ति है। ब्रह्ममयी वृत्ति और ब्रह्माकारवृत्तिमें फर्क होगा। क्या फर्क होगा? बोले कि घड़ेको बनाया। कैसा? बोले कि हस्त्याकार घट हो गया। हाथीके मुँह सरीखा उसका मुँह बना दिया उसमें-से पानी निकलता है। परन्तु, घट क्या है? मृण्मय है। सच पूछो तो न तो ब्रह्ममें कोई आकार है कि वह आकार वृत्तिमें आवे और न तो ब्रह्ममें कोई अवकाश है कि उसमें वृत्ति घुसे। न पहाड़ रबड़की थैलीमें आवेगा और न तो रबड़की थैली पहाड़में

जायेगी। ब्रह्मकी अज्ञानताके भ्रम मात्रकी निवृत्तिके लिए कल्पित ब्रह्माकार वृत्तिसे कल्पित अज्ञानकी निवृत्ति होती है। सत्य ब्रह्माकारवृत्तिसे किसी सत्य अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है। अज्ञान भी कल्पित और उसका निवर्तक ज्ञान भी कल्पित। ब्रह्मादिके जीवनमें अज्ञान नहीं है कि उसकी निवृत्तिके लिए वह ज्ञानाभ्यास करते हैं। विपर्यय नहीं है उनको और अज्ञान भी नहीं जिसके लिए तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य ब्रह्माकार-वृत्ति उत्पन्न करते हैं। तब क्या होता है कि उनके अन्तःकरणमें सहज ही वेदान्तके जो बाधित संस्कार हैं, उनके कारण यह भी ब्रह्म, यह भी ब्रह्म, यह भी ब्रह्म—यह सहज वृत्ति ब्रह्ममयी वृत्ति है। सहजवृत्तिका अर्थ क्या हुआ?

क्षणमेकं न तिष्ठन्ति वृतिं ब्रह्ममयी बिना।

वे जब जीवको उठाते हैं, तो कोई पूछे यह कौन है? बोले कि ब्रह्म ही है। अच्छा, इसके अन्तःकरणमें क्या-क्या संस्कार हैं? बोले कि ब्रह्म ही है। इसको कौन-सी योनि दें? इसको चींटी बनावें कि साँप बनावें कि गीध बनावें कि व्याघ्र बनावें—ये आकार किस उपादानमें बनेंगे? अरे, उपादान भी ब्रह्म है।

जीव भी ब्रह्म है, अन्तःकरण भी ब्रह्म है, अन्तःकरणमें संस्कार भी ब्रह्म हैं और उनके अनुरूप प्राप्त होनेवाली योनि भी ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्माके मनमें वैषम्य नहीं है। वे जानते हैं कि सबको माटीका ही तो बना रहे हैं। वे जानते हैं कि बनानेवाला एक ही साँप बनाता है, एक ही हाथी बनाता है, एक घोड़ा बनाता है, तो आकारमें वैषम्य होनेपर भी जब माटी एक है, लकड़ी एक है, प्लॉस्टिक एक है, तो उसमें वैषम्य कहाँ है? तो भिन्न-भिन्न आकार, प्रकार, विकार, संस्कार होते हुए भी भिन्न-भिन्न औपाधिक, आधि, व्याधि, समाधि होते रहनेपर भी जो ब्रह्मदृष्टि है, वह ब्रह्माकी बनी रहती है।

अब देखो सनकादि कर्मनिष्ठ नहीं हैं। कोई कर्म वे कायदेसे नहीं करते हैं। बोले कि पाँच की वर्षके रहो! क्यों? बड़ा होनेपर यज्ञोपवीत संस्कार हो जानेपर पर सन्ध्या-वन्दन करना पड़ेगा! कौन रोजका झगड़ा मोल ले! नहीं, त्याज्य-बुद्धिसे नहीं, ग्राह्य-बुद्धिसे नहीं, सहज स्वभावसे 'सनकादयाः तिष्ठन्तिं।' और शुकादि समाधिमें रहते हैं।

अब यह कहो कि ब्रह्माको जो ज्ञान है, वह शुकको नहीं और जो शुकको है, वह सनकादिको नहीं और जो सनकादिको है, वह ब्रह्माको नहीं। ज्ञानमें कोई फर्क है? अरे, ज्ञानमें यदि पारक्य आ जाये तो पारक्यका प्रकाशक कौन होगा? वह तो पारक्यका प्रकाशक एक ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा है।

कहनेका अभिप्राय है कि रहनी तो है व्यवहार-प्राप्त, संस्कार-प्राप्त, परम्परा-प्राप्त, सम्प्रदाय-प्राप्त, जाति-प्राप्त। जैसा जिसके जीवनमें अभ्यास है, उसके अनुसार वह रहेगा। अद्वैतका जो अज्ञान था, उसका जो भ्रम था, वह बिलकुल कट गया। सो रहनी विषयक-शास्त्र बिलकुल दूसरा होता है। आचार-शास्त्र, धर्म-शास्त्र है और प्रमाण-शास्त्र दूसरा होता है। दर्शनोंमें तीन विषयोंकी प्राय: मीमांसा होती है—आचार मीमांसा, प्रमाण मीमांसा और तत्त्व मीमांसा। तो आचार कैसा होवे? वेद, बाइबिल, पुराण, कुरान—इनके अनुसार आचार होवे। प्रमाण क्या होवे? जिस विषयका साक्षात्कार करना हो, उस विषयको साक्षात् करनेकी जिसमें योग्यता होवे! रूप देखना होवे तो आँख प्रमाण है और गन्ध सूँघना होवे तो नाक प्रमाण है। ध्येयवस्तुको देखना हो, तो उसमें अपने मनकी एकाग्रता प्रमाण है। बोले कि सुषुप्ति हुई कि राग हुआ कि द्वेष हुआ, उसमें साक्षी प्रमाण है। बोले कि साक्षीके होनेमें क्या प्रमाण है? अपने होनेमें प्रमाणकी जरूरत नहीं पड़ती। हम है कि नहीं, हम जानते हैं कि नहीं, हम आनन्दमें हैं कि नहीं और देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न हैं कि नहीं? सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय, प्रमृति-वर्गको सिद्ध करनेवाला अपना आपा! उसमें प्रमाणकी क्या जरूरत?

एक सज्जन वृन्दावनमें थीसिस लिख रहे थे 'श्रीशंकराचार्यके मतानुसार आचार'। अब हमारे पास आकर उन्होंने बहुत सारी बातें पूछीं और हमने बतायी। जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें गये तो प्रोफेसरोंने कहा कि बात तो यही ठीक है जो तुमने लिखी है; लेकिन हमें थीसिसके लिए तो वह बात चाहिए जो अमुक-अमुक पुस्तकोंमें लिखी हुई है। अगर उससे बाहर चले जाओगे तो थीसिस मंजूर नहीं होगी।

तो अद्वैत-दृष्टिसे सबमें समत्व चाहिए।



स्वातन्त्र्य-बोध

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥ ३७॥

देखो, जिसकी स्तुति की जाती है, उसमें महत्त्व बुद्धि होती है। जहाँ महत्त्वबुद्धि होती है वहाँ राग होता है। नमस्कार भी जिसको किया जाता है, उसमें उत्कर्ष-स्थापन होता है। परलोकमें रहनेवाले पितरोंके लिए स्वधा, स्वधा और स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके लिए स्वाहा, स्वाहा करना होता है। बोले कि अब इस ज्ञानीके लिए न कहीं किसी गुणकी प्रशंसा करनी है, न किसीमें उत्कर्षका आदान करना है और न मरे हुए पितरोंके लिए स्वधा करनी है, न देवताओंके लिए स्वाहा करनी है। **चलाचल निकेतश्च**—कभी अचल ब्रह्ममें स्थित है और कभी चल देहमें ही रह करके विचरण कर रहा है, व्यवहार कर रहा है। **यतिर्यादृच्छिको भवेत्**—उसकी रहनी कहाँ होती है? उसकी रहनी मौजमें होती है। वह वेद-पशु नहीं है, वह देव-पशु नहीं है, धर्म-पशु नहीं है। यहाँ तक बताते हैं कि जबतक ऐसा मालूम पड़े कि ज्ञान तो हो गया, लेकिन रहनीमें स्वातन्त्र्य तो नहीं है, तबतक समझना कि अज्ञानी है। बोले कि ज्ञान चाहे हो, चाहे न हो, हम तो स्वतन्त्र हैं। तब भी अज्ञानी हैं। स्वातन्त्र्य हीन बोध और बोध हीन स्वातन्त्र्य, यह मल है। अपनेको कर्ता समझना भी मूल है और अपनेको अकर्ता समझना भी मल है। क्योंकि, वह तो कर्तापनको काटनेके लिए अकर्तापन आरोपित है।

परमात्मासे एक महात्माकी कैसे रहनी? बोले कि परमात्मा, महात्मा दोनोंमें-से यदि किसी एकको चुनना हो तो क्या करोगे? बोले कि परमात्मा और महात्मा दोनों जिसमें भासते हैं, वह सत्य है।

ब्रह्मविद् महात्माकी रहनी यहाँ बताते हैं कि वह स्तुति, नमस्कारसे दूर है और स्वधाकारसे भी दूर है। अब प्रश्न है कि स्तुति, नमस्कार और स्वाधकार क्या

है? तो सामान्य रूपसे लोग स्तुति करते हैं और स्तुति करवाते हैं। स्तुति भी कई ढंगकी होती है। जैसे, ईश्वरकी स्तुति करते हैं। तो ईश्वरकी स्तुतिमें ईश्वरकी श्रेष्ठताका निरूपण होता है। श्रेष्ठताका निरूपण करनेसे ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा होती है। जिसके गुणका वर्णन बार-बार करेंगे, उसमें श्रेष्ठताका निश्चय होगा और श्रेष्ठताका निश्चय होनेसे प्राप्तिकी लालसा होगी। माने गुण-वर्णन और लालसा— ये स्तुतिके दो रूप हुए। इसके साथ ही दैन्य और विज्ञापना भी स्तुतिके रूप हैं। कर्म और वस्तुके सम्बन्धसे अपनेमें जो श्रेष्ठताका अभिमान होता है, उसका निवारण विज्ञापनासे और *पापोऽहं पापकर्माऽहं* आदिसे दैन्य प्रकट होता है। तो अपनेमें श्रेष्ठताके अभिमानका निवारण, ईश्वरमें श्रेष्ठताका स्थापन, ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा और अपनेसे कोई गलती हो जाये तो वह ईश्वरके सामने निवेदन करना। चाहे दण्ड दो, चाहे क्षमा करो! हमारी तो स्थिति ऐसी है! इसको भी स्तुति बोलते हैं।

मूक प्रार्थना भी होती है। कुछ न बोले, चुपचाप बैठा ही रहे। उसीकी तरफ देख रहा है। बड़ा धैर्यवान साधक होगा तो कुछ कहे, सुने नहीं, चुपचाप बैठा ही रहे। यह मूक-स्तुति होती है। यह भी बड़प्पनको ही प्रकट करता है।

अब देखो, सबसे बढ़िया स्तुति होती है, तादात्म्य। माने जिसकी स्तुति करे, उससे एक हो जाये। इतना मिल जाये, इतना मिल जाये कि स्तुति करते-करते वही हो जाये। यह सब स्तुति करनेमें भेद हैं। अब जो लोग देवताकी स्तुति, मनुष्यकी स्तुति करते हैं, उनका तो कोई-न-कोई स्वार्थ जरूर रहता है। असल, में स्तुति की जाती है किसीको खुश करनेके लिए और खुश करनेका कुछ-न-कुछ फल होना चाहिए। यदि उससे कुछ लेना-देना है तो वह मिलेगा। पहले राजा लोग अपनी स्तुति करनेवाले भाटोंको बहुत कुछ देते थे।

'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'।

और, लेना अगर न हो तो अन्तःकरणमें अभीष्ट परिणाम होगा। माने अन्तःकरण बदलते, बदलते उस वस्तुके निकट पहुँच जायेगा, जिसको हम चाहते हैं।

अब यह जो ब्रह्मवित् पुरुष है, इसको कोई प्रयोजन नहीं है। न ईश्वरसे कुछ लेना है न देना है। कहीं कहो कि ईश्वरको ही पाना है! तो ईश्वर तो उसको मिल गया उसका आत्मा ही है। फिर स्तुति करनेसे क्या लाभ? कई महात्मा तो किसीकी स्तुति नहीं करते। हमने ऐसे बहुत महात्मा देखे हैं। और, जो लोग

स्तुतिजीवी हैं, वे तो दूसरोंकी स्तुति करते हैं। प्रायः अनपढ़ लोग और जो ब्रह्मविद्यासे रहित होते हैं, जिनका कोई साधन-भजन नहीं होता है, वह अपने पास आनेवालोंकी या जिसके पास जायेंगे, उसकी खूब-खूब तारीफ करेंगे और दूसरोंकी तारीफ कर करके ही अपनी जीविका चलाते हैं। पर जिसको कुछ पाना नहीं है, उसको किसीकी तारीफ करनेकी कोई जरूरत नहीं है।

'निःस्तुति' का एक अभिप्राय तो यह हुआ कि अन्यकी स्तुति वह करता नहीं। करता है तो अपनी करता है। यदि वह कहता है कि ईश्वर व्यापक है, परिपूर्ण है, अविनाशी है तो वह किसी दूसरे ईश्वरकी स्तुति नहीं कर रहा है अपनी महिमाका वर्णन कर रहा है। *'अहं मनुरभवंसूर्यश्च'*—मैं ही मनु हुआ, मैं ही सूर्य हुआ। स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि मैं भारतवर्ष हूँ। मैं बोलता हूँ तो भारत बोलता है, मैं चलता हूँ तो भारत चलता है। माने सर्वात्मासे ऐक्य है।

अब दूसरोंसे तारीफ नहीं करवाना—यह भी निःस्तुतिका अर्थ है। लोग क्या तारीफ करेंगे? बोले कि तुम्हारी नाक ऊँची है। अब उसमें हमारी क्या तारीफ हुई? कोई हमारी बनायी हुई थोड़े ही थी नाक कि जैसे हमारी बनाई हुई तसवीरकी तारीफ कर रहे हो! बोले कि तुम्हारी आवाज मीठी है। अरे, मैंने कोई अभ्यास करके थोड़े ही मीठीकी है। बोले कि तुम्हारी आँख बड़ी-बड़ी है! इसमें हमारी क्या तारीफ हुई? इसमें तो ईश्वरकी तारीफ हो गयी, जिसने बनायी है।

महात्मा लोग अपनेको देहरूप नहीं समझते हैं! वे व्यक्तित्त्वसे निष्क्रान्त होते हैं। तो 'निःस्तुति' माने *'स्तुतिभ्यो निष्क्रान्तः'*। दुनियाके लोग जितनी तारीफकर सकते हैं, उससे वे ऊपर हैं। वे तारीफ करेंगे हड्डी, माँस, चामकी, किसी कामकी, किसी भोगकी, किसी रहनीकी, किसी बोलकी, किसी चलनकी, किसी गुणकी। पर महात्मा तो निर्गुण है, तो उसकी क्य प्रशंसा हुई? जिसने सम्पूर्ण गुणोंको मायाका खेल समझकर छोड़ दिया, उसके गुणोंकी कोई प्रशंसा करेगा तो उसकी क्या प्रशंसा होगी? उसकी छोड़ी हुई चीजकी प्रशंसा होगी? जिसको उसने तुच्छ समझकर, मिथ्या समझकर, प्रतीतिमात्र समझकर छोड़ दिया है, उसकी प्रशंसासे ब्रह्मविद्‌की क्या प्रशंसा होगी?

ब्रह्मवेत्ता लोग न तो आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु देखते हैं, न तो मायाके गुणोंपर उनकी आस्था है। इसलिए, ईश्वरमें जो मायिक गुण हैं, उनकी भी वे प्रशंसा नहीं करते हैं और अपनेमें जो मायिक गुण है, उनका भी वे आदर नहीं

करते हैं और उसकी प्रशंसा करनेवालेको समझते हैं कि यह हमको नहीं जानता है!

'निर्नमस्कारः'—नमस्कार क्या है? नमन। 'नम प्रह्वीभावे'। 'नमन' का अर्थ है, झुकना। जैसे 'नमन' है, वैसे 'नमक' शब्द भी है। कड़ी चीजको जो गीली बना दे, उसका नाम 'नमक'।

एक बारकी बात है कि वृन्दावनमें सत्संग हो रहा था। श्रीउड़िया बाबाजी, हरिबाबाजी सब बैठे थे। सैकड़ों आदमी बैठे थे। मैं कथा सुना रहा था। एक बम्बईके सेठको उनके घरके लोग बलात् सत्संगमें ले आये। अब वे बेचारे आ तो गये; लेकिन वे वहाँ बैठ तो सकते नहीं थे। नमस्कार करना उनको आता ही नहीं था। अब वे सत्संगके बीचमें आकर ठूँठकी तरह खड़े हो गये। न हाथ जोड़ें, न बैठें और चुपचाप खड़े! तो जो उनके साथ थे, उन्होंने उन्हें पीछे बुला लिया।

किसीको धनका बड़प्पन होता है। किसीको अपनी पोशाकका ही बड़प्पन होता है। किसीको अपनी स्त्री सुन्दर हो तो उसका ही अभिमान होता कि हमारी स्त्रीके समान सुन्दर और कौन? नुमाइशमें ले जाकर दिखाते हैं! उत्तमांगना परिभ्वंगजन्य मद होता है। शास्त्रोंमें इसका वर्णन है।

अब किसीको यह ख्याल है कि हमारा कितना बढ़िया! हमारा भोग कितना बढ़िया! यह सब हृदयको कठोर करते हैं। इससे आदमी दूसरेको छोटा समझता है। अपने ही सरीखे मनुष्यको छोटा समझता है। जैसी आत्मा अपने हृदयमें है, वैसी ही दूसरेके हृदयमें है। पर, उसका ख्याल नहीं करता। वह समझता है कि वाह, हमारी मोटर लाख रुपयेकी हमारे बराबर और कौन?

अच्छा, ऐसे लोगोंको भी देखते हैं। जिनका मौसम आता है तो साल-दो-साल खूब अभिमानमें रहते हैं और साल-दो-साल बाद नर्वस हो जाते हैं। उनकी स्थिति भी बदलती रहती है।

'नमस्कार' का अर्थ क्या है कि यह जो परिच्छिन्न पदार्थोंको लेकर अहं हो गया है, विद्या, तप, त्याग, बलको लेकर जो अहं हो गया है, इसको दूर करनेके लिए नमस्कारकी क्रिया, साधनरूप मानी गयी है। 'नमस्कार' माने उसी अभिमानको गलाना, झुक जाना। वैष्णव लोग 'नमस्कार' शब्दका अर्थ मानते हैं, *'न मे इति नमः'*—मेरा कुछ नहीं जो कुछ है, प्रभु तुम्हारा ही है और जब मेरा नहीं है तो अभिमान काहे का? यह अभिमान बड़ा दुःख देता है। यह गाली किसको लगती है? अभिमानको। गरीबी किसको दुःख देती है?

अभिमानको। दूसरेका बड़प्पन किसको दुःख देता है? अभिमानको। यह अभिमान बड़ा दुःखद है।

'नमस्कारः' का अर्थ है अभिमान-रहित होना, ममता-रहित होना। यह तो साधन हुआ; लेकिन यह साधन किसके लिए है? अन्तःकरण शुद्ध होवे और परमात्माकी प्राप्ति होवे। अब जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, उसके लिए यह 'स्तुति' और 'नमस्कार' बाधित हो गये। बाधित हो गयेका क्या अर्थ हुआ? प्रयोजनकी पूर्ति हो गयी। माने जैसे जब सड़कपर चलना हुआ, तब जूता पहनकर चलते रहे और जब घरमें आ कर पलंगपर सोवे तब भी जूता पहने रहें—यह तो आवश्यक नहीं है न! अच्छा, गंगा पार करना था तो नावपर बैठे। अब गंगा पार हो गये, तो नावपर बैठना क्यों? जबतक तृप्ति नहीं हुई थी, तबतक भोजनकर रहे थे तृप्ति हो गयी तो भोजनकी जरूरत क्या? तो प्रयोजनकी पूर्ति हो जानेपर जो उस प्रयोजनका साधन होता है, वह अपने आप निवृत्त हो जाता है।

सम्पूर्ण नमस्कारका प्रयोजन है परिच्छिन्न अहंकारकी निवृत्ति होकर अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे एक होना। अब तो

'हीरा पायो गाँठ गठियाओ, बार-बार वाको क्यों खोले?'

मन मस्त हुआ, तब क्यों बोले?

मगन होकर बैठे हैं। न नमस्कार करते हैं और न नमस्कार करवाते हैं। अरे, हमारे पाँवमें क्या लगा है? जैसे सबका पाँव, वैसे हमारा पाँव! बोले कि महाराज आपके पाँवकी धूल लेंगे तो तर जायेंगे! जिनको तरनेका ख्याल हो वे तरें! वह तो तर चुका है, वह क्या करे? वह भी धूल ही लगाता फिरे?

देखो, तीन रीतिसे बाध होता है—प्रत्याम्नान, प्रतिषेध और प्रयोजन पूर्तिसे। इनमें-से प्रत्याम्नान कैसे होता है? देखो,

सर्वेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय।

सबको दही दो। परन्तु कौण्डिन्यको मट्ठा दो। यह क्या हुआ? सबको दही दो, इसमें जो दही देनेका विधान था, उसका प्रत्याम्नान हो गया यह कह देनेसे कि कौण्डिन्यको मट्ठा दो। जो दही देनेकी विधि थी, वह बाधित हो गयी।

ब्राह्मण सन्ध्या करे। ठीक है। लेकिन जब संन्यासी हो जाय, तब? सन्ध्याकी विधि गयी। न जनेऊ न चोटी। वह तो चली गयी। प्रतिषेध हो गया।

अब देखो, प्रयोजन-पूर्तिसे बाध होता है। नौकासे नदी पारकर लिया तो

अब न नौकामें बैठे रहेंगे और न सिरपर उठाकर ले जायेंगे। इस प्रकार तत्त्ववेत्ताके लिए नमस्कारका कोई प्रयोजन ही नहीं रह गया। सो, 'निर्नमस्कार:'।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज जब वृन्दावनमें रहने लगे तो लोग कहते थे कि चलो महाराज, बिहारीजी चलो। चलो भाई! तो भक्त लोग आग्रह करके ले जाते। अब गये तो वहाँ बिहारीजीके सामने खड़े हो गये। एक बार गये, दो बार गये, तीन बार गये तो वहाँ गाँवमें चर्चा चली कि उड़ियाबाबाजी दर्शन करने तो आते हैं, पर बिहारीजीको प्रणाम नहीं करते हैं, सिर नहीं झुकाते। हमलोगोंको मालूम हुआ तो हमने बाबासे कहा कि आप प्रणाम क्यों नहीं करते हैं? वे बोले कि बेटा, हमको तो याद ही नहीं आती है कि प्रणाम करना चाहिए। हम और बिहारीजी एक ही हैं, कोई दो थोड़े ही हैं। मैंने कहा कि गाँवमें तो बड़ी चर्चा होती है। बोले कि तुम कभी मेरे साथ चलना तो हमको याद दिला देना, तब हम कर लेंगे। अब फिर कभी गये तो मैंने याद दिलाया तो दोनों हाथ उठाकर प्रणाम किया।

यह नमस्कार किसको किसलिए? ब्रह्मवित्‌के लिए स्तुति और नमस्कार बाधित हो गये।

'निःस्वधाकार एव च'—'स्वधा' से 'स्वाहा' भी अपेक्षित है। संन्यास ग्रहणके समय जब विरजा होम होता है और श्राद्ध होता है, तो विरजा होमसे देवताकी पूजा समाप्त हो जाती है और उसी दिन जो अन्तिम श्राद्ध होता है, उससे श्राद्ध समाप्त हो जाता है। सर्व प्रायश्चितसे पापकी समाप्ति हो जाती है और अकर्ताऽहं, अभोक्ताऽहंसे कर्त्तव्यकी समाप्ति हो जाती है। कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। पितरोंके अस्तित्वको स्वीकार करना ही 'स्वधा' है और देवताओंके अस्तित्वको पृथक् स्वीकार करना ही 'स्वाहा' है। देवताओंको जब हवन करते हैं, तब 'स्वाहा' बोलते हैं। अब ऐसे समझो कि सम्पूर्ण पञ्चभूत हैं, उसमें राजा कल्पित है और उसमें विद्वान् भी कल्पित है और उसमें व्यापारी भी कल्पित है और बहुत काम करनेवाला भी कल्पित है और मैं पञ्चभूत हूँ। तो पृथिवी होकर सबको मैं धारण कर रहा हूँ, समुद्र होकर मैं लहरा रहा हूँ, बादल होकर बरस रहा हूँ, सूर्य और चन्द्रमा होकर सब जगह प्रकाश दे रहा हूँ, राजाके शरीरमें बैठकर मैं नाना प्रकारका भोग कर रहा हूँ। वायुके शरीरमें बैठकर मैं सबका प्राण हो रहा हूँ। आकाशके रूपमें सबके गमनागमनका आधार मैं ही हूँ। मैं हिरण्यगर्भ हूँ। अब सब देवता अपनेमें आ गये। इन्द्र, चन्द्र, रुद्र, विष्णु सब देवता अपने स्वरूपमें। अब बोले कि नहीं ईश्वर हूँ! अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका बीज! नहीं-नहीं, नित्य-शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ!

'स्वाहाकार' देवताओंको प्रसन्न करनेसे भोग मिलता है, ऐसी प्रसिद्धि है और 'स्वधाकार' पितरोंको प्रसन्न करनेसे सन्तान मिलती है। अब यह तो विरक्त, ब्रह्मवित् है। यह तो सर्वरूप है। यही देवता, यही पितर। इन्हींके संकल्पमें देवता, पितर सब स्थित हैं। तो इनको क्या 'स्वाहा' और क्या 'स्वधा'?

बोले कि अच्छा बाबा, कहीं कुटिया बनाकर तो रहना चाहिए न! इनकी कुटी कौन-सी है? एक महात्मा कहीं गये तो लोगोंने पूछा कि महाराज ! आपका मठ कहाँ है? वे बोले कि गगन मठ है। 'महाराज आपकी देवी कौन-सी है?' 'बोले कि अरे, सब देवियोंकी देवी तो मैं ही हूँ। सब देवी-देवताको बनानेवाली जो महामाया हैं वह अपने स्वरूपमें बिना हुए ही भास रही है, अध्यस्त है।

तो यह 'स्वाहा' भी माया है, 'स्वधा' भी माया है। ऋग्वेदमें जो नासदीय सूक्त है, जिसमें प्रलयावस्थाका वर्णन है, बड़ा विलक्षण है।

नासदासीत् नोसदासीत् तदानीं।

तो उसमें ऐसा है कि जब कुछ नहीं था तो, ***'आनीदवातं स्वध्या तदेतम्'***—हवा तो नहीं थी, पर वह जी रहा था। प्राणवायु नहीं थी, ***'अप्राणो ममः शुभ्रः '***—वह बिना प्राण, मनके जी रहा था। कैसे जी रहा था? 'स्वधया' इसमें जीवन शब्दका प्रयोग भी केवल 'स्वधा' से होता है। तो 'स्वधा' माने ***'स्वस्मिन् धीयते इति स्वधा माया'।*** सायणाचार्यने 'स्वधा' शब्दका अर्थ माया किया है। केवल मायासे ही उसमें एकत्व है। मायाको काट दो तो अद्वय ब्रह्म है।

यह महात्माजीकी कुटिया कहाँ है? आपलोगोंको मालूम नहीं होगा। साधुओंमें भी बड़े-बड़े बखेड़े होते हैं। तुम्हारी देवी कौन-सी है? तुम्हारी नदी कौन-सी है? तुम्हारा तीर्थ कौन-सा है? यह सब बताया जाता है, जब चेला बनाते हैं। माने दूसरे मठका साधु दूसरे मठमें जाये तो उसको मालूम नहीं होगा। तो पकड़ लेते हैं। बिना सम्प्रदायका होवे, तो भी पकड़ लेंगे कि इसको तो अपने सम्प्रदायका ज्ञान ही नहीं है। हमसे तो कोई पूछता ही नहीं है। हमारा अलखनन्दा तीर्थ है, ज्योतिर्मठ है, पूर्णादेवी है। यह है सम्प्रदाय माने साधुओंकी बात। यह ब्रह्मवेत्ताकी बात नहीं है। ब्रह्मवेत्ताके न मठ है, न देवी है, न भूमि है, न तीर्थ है। वह तो स्वयं ब्रह्म है।

तब फिर उसका निकेतन क्या है? बोले कि **'चलाचलनिकेतश्च'**—यह चल शरीर और अचल ब्रह्म। वह कभी अपनेको शरीर रूपसे भी देखता है और कभी अपनेको ब्रह्म रूपसे भी देखता है। जब वह अपनेको शरीर रूपसे देखता है,

तब उसके ब्रह्मत्वकी हानि नहीं होती और जब वह अपनेको ब्रह्म रूपसे देखता है, तब शरीर मरता नहीं। ब्रह्मत्व कोई भावना नहीं है। यह तो एक ठोस वस्तु है। कभी 'चल निकेत' माने देहधारी और कभी 'अचल निकेत' माने ब्रह्मरूप। ***'एतत् वै आत्मानं विदित्वात्'***— अपने आत्माको जान लिया फिर परिव्राटके रूपमें रहते हैं।

देखो, सम्राट् होता है। अरे 'राट्' में 'सम' लग गया तो 'सम्राट्' होता है। एक 'वैराज्य' होता है और एक 'भौज्य' होता है। पृथिवीके सुखको भोगना 'भौज्य' और विराट्के सुखको भोगना 'वैराज्य' है। तो साम्राज्य, भौज्य, वैराज्य, स्वाराज्य—यह अनेक भेद हैं। लेकिन यह तो पारिव्राज्य है। माने ***'सर्वं परित्यज्य व्रजति'।*** कहीं अनात्मामें आस्था ही नहीं है।

चलाचल निकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्।

एक महात्मा थे। जब सवेरे उनकी नींद टूटती तो वह ख्याल करते कि उनका मुँह किधर था? तो जिधर मुँह रहते नींद टूटती, उधरको चलते। यह नियम उन्होंने बना लिया था।

एक महात्मा थे। कहीं ध्यान, भजनके लिए बैठते। यदि लघुशंका लगती तो वहाँसे उठते और लघुशंका करनेके बाद जहाँ पहले बैठे थे, वहाँ नहीं उससे आगे चल पड़ते और मील, आध-मील चलकर फिर बैठते। भई, कहीं जाना तो है नहीं, कुछ पाना तो है नहीं, कोई उद्देश्य तो है नहीं, कुछ छोड़ना नहीं, कुछ लेना नहीं, देना नहीं। मस्त लोगोंकी दुनिया! जैसी मौज आ गयी, वही करने लगे! इसीसे ज्ञानी-पुरुष योगी भी हो सकता है। मनमें योग करनेकी आ गयी तो कौन रोकेगा? ज्ञानी पुरुष भक्त भी हो सकता है। कौन रोके उसकी भक्तिको? वह धर्मनिष्ठ भी हो सकता है। वह राजनीतिक नेता भी हो सकता है। दुनियामें हलचल मचा दे। क्या लेना, क्या देना? लग गया, सो लग गया।

यतिर्यादृच्छिको भवेत्।

☆

तत्त्व-परिनिष्ठा

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥ ३८॥

अब बताते हैं कि बाहर और भीतर सर्वत्र तत्त्वदृष्टि होनेसे तत्त्ववेत्ताके लिए बाहर-भीतरका भेद मिट गया और वह सदा सर्वत्र, सब अवस्थामें तत्त्वमें ही स्थिर रहता है।

'तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा'—'अध्यात्म' माने शरीरके भीतर। आत्मनि इति अध्यात्म। 'में', 'पर' जो सप्तमी विभक्ति होती है, उसके लिए 'अधि' उपसर्ग होता है। तो 'आत्मनि एव'—इस शरीरके भीतर जो चीज है, उसका नाम 'अध्यात्म'। अच्छा, यह जो ईश्वरकी बात करते हैं कि ईश्वर सबका कारण है। ईश्वर सर्वव्यापी है। ईश्वर नित्य है। तो जो सर्वव्यापी है, वह तुम्हारे हृदयमें है कि नहीं है? जो नित्य है, वह इस समय है कि नहीं है? जो सबका कारण है, वह तुम्हारे हृदयका कारण है कि नहीं है? शरीरके भीतर ईश्वर न हो तो अध्यात्म ही न हो। तो आध्यात्मिक जो तत्त्व है, अपने आत्माका स्वरूप, ईश्वरका स्वरूप, ब्रह्मका स्वरूप, मायाका स्वरूप—सब अपने शरीरके भीतर है। और, इस शरीरके द्वारा जो बाहर दिखता है, सो? वह भी तत्त्व ही है, ब्रह्म ही है। इधर भी ब्रह्म, उधर भी ब्रह्म। यहाँ भी ब्रह्म, वहाँ भी ब्रह्म। यह भी ब्रह्म, वह भी ब्रह्म। अब भी ब्रह्म, तब भी ब्रह्म। जब देख लिया तब? बोले कि **'तत्त्वीभूतः'**—स्वयं तत्त्व हो गया। **'तदारामः'**—उसीमें रमता है और **'तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्'**—फिर तो जब बाहर भी वही, भीतर भी वही, तो

सोवत बैठत पड़े उताने। कहे कबीर हम वही ठिकाने।

अब क्या करना? कहीं ब्रह्म तुमको छोड़कर जायेगा कि तुम ब्रह्मको छोड़कर कहीं जाओगे?

यह है तत्त्वसे अप्रच्युत होना।

'तत्त्व' तत्, तत्, तत्में एक 'त्व'—यह 'तत्त्व' शब्दका अर्थ होता है। जैसे देखो, 'मनुष्यत्व'। स्त्री है, बालक है, वृद्ध है, ये हजारों व्यक्ति हैं। व्यक्ति हजार होनेपर भी कोई काला है, कोई गोरा है, कोई मोटा है, कोई नाटा है। परन्तु, मनुष्यत्व एक है। एक मनुष्यके जन्मसे मनुष्यत्वका जन्म नहीं होता और एक मनुष्यकी मृत्युसे मनुष्यत्वकी मृत्यु भी नहीं होती और मनुष्यका बचपन, जवानी, अधेड़पन, बुढ़ापा, मनुष्यका स्त्रीपना, पुरुषपना ये सब भिन्न-भिन्न होनेपर भी मनुष्यत्व एक है। चोरसे मनुष्यत्व परहेज नहीं करता और साहूकारसे आसक्ति नहीं करता। मनुष्यत्व सबके भीतर एक सरीखा होता है। मनुष्यत्व गुणमूलक नहीं है, जातिमूलक है। मनुष्य तो आकृति ग्रहणा जाति है। शकल देखनेसे मालूम पड़ जाता है कि यह मनुष्य है।

समानप्रसवात्मिका जातिः।

एक तरहसे जो पैदा हों, उनकी जाति बन जाती है। अच्छी आकृति देखते ही जिनका पता लग जाये। जैसे घड़े छोटे, बड़े, लाल, पीले कई हैं। पर, कम्बुग्रीवादिमत्व जिसमें है, वह 'घट' है। देखो, पशुत्व है। पशुत्वमें तो मनुष्यत्वकी अपेक्षा भी विलक्षणता है। वह क्या है? मनुष्य तो एक ढंगके होते हैं और पशुत्वमें तो घोड़ा, हाथी, गाय, बकरी, भेड़, गधा—अलग-अलग हैं। बहुत प्रशंसा करनी होती है तो वेदमें ऐसा वर्णन आता है, ***'अपशवाऐते गौ अश्वः'***— गाय और घोड़े, ये पशु नहीं हैं। वहाँ उनकी पशु-जातिकी व्यावृत्ति नहीं है-पशु-साधर्म्यकी व्यावृत्ति है। यह बात इसलिए बतायी कि तत्त्व समझानेमें आसानी हो।

सोना, देखो। उसमें भी कई जातियाँ होती हैं। सोना एक किस्मका नहीं होता। आजकल एक नयी किस्म तो चल ही गयी है, चौदह कैरेटकी और एक उसमें बिलकुल स्वच्छ है। उसको 'कुन्दन' बोलते हैं। परन्तु, वह चाहे सोनेकी सिल्ली हो, कंगन हो, हार हो, कुण्डल हो, स्वर्णत्व नामकी जो वस्तु है, वह नाम अलग-अलग होनेसे बदलती नहीं है और शकल अलग-अलग होनेसे बदलती नहीं है। अलग-अलग कामोंमें उपयोग करनेपर भी बदलती नहीं है। बेच देनेपर भी बदलती नहीं है।

'तत्त्व' माने नाम, रूप, गुण, क्रियाकी कल्पनासे निर्मुक्त और सम्पूर्ण नाम, रूप, गुण, क्रियाओंमें अनुगत, जातिसे विलक्षण। जातिमें जो एकत्व है, वह व्यक्तिभेदकी अपेक्षासे है और परमार्थमें जो एकत्व है, वह व्यक्ति-भेदकी अपेक्षासे नहीं है।

तत्+तत्+तत्=अहं च+सच=मैं, तुम और वह, अहं+इदं+तत् तानि तेषां भावस्तत्त्वम्—उनमें जो एकत्वं च है, अद्वयत्व है, वह 'तत्त्व' है।

'अहं' माने आत्मा, 'इदं' माने जगत् और 'तत्' माने ईश्वर, ब्रह्म—इन तीनके तीनपनेका माने वह-वह गुण, धर्म, विशेषता, क्रिया जो अध्यारोपित हैं, उनका अपवाद करनेके बाद जो वस्तु शेष है उसको 'तत्त्व' बोलते हैं। 'अनारोपिताकार'। जहाँ जीव, जगत्, ईश्वरका भेद नहीं है, उसको 'तत्त्व' बोलते हैं।

पाश्चात्य भाषाके माध्यमसे अध्ययन करने पर कल्पित ईश्वर, निराकार ईश्वर या कर्त्ता ईश्वर या अन्तर्यामी ईश्वर या तटस्थ ईश्वर, उसीको 'तत्त्व' कहते होंगे—ऐसी भ्रान्ति हो जाती है। परन्तु वेदान्तका जो तत्त्व है, वह अन्तर्यामीसे विलक्षण है, सर्वज्ञसे भी विलक्षण है। वह सर्वशक्तिमान्से भी विलक्षण है। वह सगुण निराकारसे भी विलक्षण है। वह अचिन्त्य-शक्तिसे, सम्पन्नसे भी विलक्षण है। वेदान्तियोंका जो तत्त्व है, वह कसौटीपर नहीं आता है। कसौटी उसमें समाप्त हो जाती है। किसी कसौटीपर वह कसा नहीं जाता है। यह तो जगत्के मूल मायाको ही अनिर्वचनीय बताते हैं। फिर जगत् जिसमें अध्यस्त है, वह अवाङ्ग मनसगोचर जो तत्त्व है—वह यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रकी सीमामें नहीं आता।

अब दूसरा अर्थ देखो।

उपाध्यसंसृष्टत्वं तत्त्वं।

जो उपाधिसे संसृष्ट नहीं है। 'उपाधिसे असंसृष्ट माने क्या?' देखो, जिसमें 'व्याधि' होती है, वह शरीर, जिसमें 'आधि' होती है, वह मन और जिसमें 'समाधि' होती है, वह कारण—ये सब जिसमें होती रहती हैं, उस उपाधिके शान्त, विक्षिप्त होने और रहने-न-रहनेसे जिसपर कोई असर नहीं पड़ता है, उसे 'तत्त्व' कहते हैं।

'आध्यात्मिक दृष्ट्वा'—'आध्यात्मिकं' माने देह। देह माने मोटर, बैलगाड़ी, साइकिल, स्कूटर। 'दिह् उपचये'—कई पुर्जे जोड़कर जो चीज बनायी गयी हो, उसको 'देह' बोलते हैं। तो 'देह' हड्डी, माँस, हाथ, पाँव अलग-अलग और उनको कैसे जोड़ा गया है? बिना नट, बोल्टके हड्डियोंके कैसे जोड़ बैठाये

गये है। गाँठ एक नहीं लगायी और नसें ऐसी जालकी तरह फैली हुई हैं। भीतर ही क्रीम, स्नो पैदा होता रहता है। ऐसा स्नेह भीतर पैदा होता है, देखकर आश्चर्य होता है। तो इसमें 'अहं' करके बैठ जाते हैं कि यह 'मैं'। अशोधित 'मैं'। देखो, 'मैं' वस्तुका ज्ञान होनेके पहले जिसमें 'मैं' करके बैठते हैं, उसका नाम 'आध्यात्मिक'। अपने परमार्थ स्वरूप ज्ञानके पूर्व, अपनेको ब्रह्म जाननेके पूर्व जिस चीजको 'मैं' करके बैठते हैं, वह सब 'आध्यात्मिक'। परमार्थमें अध्यात्म और अधिभूतका भेद नहीं है! यही तो आश्चर्य है! विज्ञानकी किसी भी उपलब्धिसे तत्त्ववित्‌को आश्चर्य नहीं होता।

'आध्यात्मिकं तत्त्वं दृष्ट्वा'—वह जिसमें अध्यस्त है। और, **'तत्त्व दृष्ट्वा तु बाह्यतः'**—चामकी दीवार बनाकर जो बाहर मालूम पड़ता है। नारायण कहो! इतना खोखला भेदक है! 'भेदक' माने बाहर-भीतरका भेद बनानेवाली चीज इतनी खोखली है, पोली है, इतनी तुच्छ है कि उसमें तो बाहर-भीतर बनानेका कोई सामर्थ्य ही नहीं है। यह बाहरपना और भीतरपना बिलकुल भावनात्मक है। भावनात्मक नहीं कल्पनात्मक है। भावनात्मक और कल्पनात्मकका भेद क्यों किया जाता है? जिस कल्पनामें साधन बुद्धि होती है, उसको भावना कहते हैं। शालिग्राममें ईश्वर-बुद्धि 'भावना' है। क्यों? उससे अपना अन्तःकरण संसाराकारताको छोड़कर ईश्वरकारताको प्राप्त होता है। तो शालिग्राममें ईश्वर कल्पित है। परन्तु, कल्पित होनेपर भी वह भावना है। क्योंकि, वह हमारी बुद्धिको शत्रु आकार, मित्र आकार, स्त्री आकार, पुत्र आकारसे बचाकर अन्तःकरणको ईश्वराकार करती है।

'कल्पना' और 'भावना' में क्या फर्क? जहाँ साधन-बुद्धि होवे, उस कल्पनाको भावना बोलते हैं।

'तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः'—यह बाहर और भीतर! क्या देशमें बाहर-भीतर है? अच्छा तो, कालमें बाहर-भीतर है? अच्छा, आकाशमें बाहर-भीतर है? अच्छा, ज्ञानमें बाहर-भीतर है? यह बाहर-भीतर है कहाँ? तो बाहर-भीतरकी कल्पनाका जो अधिष्ठान है, साक्षी है, प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, केवल वही तत्त्व है। और, वह कौन है? 'तत्त्वीभूतः' वह तत्त्व स्वयं है।

देखो, श्रुति कहती है,

'वाचारम्भणां विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—विकार नाममात्र है, वस्तु नहीं है। क्यों? 'वाचारम्भणां'—वह केवल जबानी जमा-खर्च है, केवल

मुँहसे बोलकर बताया जाता है। जैसे शक्करके गधे, घोड़े, हाथी कुछ बना लो। जो उस हाथीका आकार है, वह विकार है, जो घोड़ेका आकार है, वह विकार है और 'वाचारम्भणां'—केवल नाममात्र है और सिर्फ जबानसे कहनेके लिए है। खानेमें सब-का-सब शक्कर है। इसी प्रकार अनुभव-दृष्टिसे सब-का-सब तत्त्व है, परमात्मा है और यह जो अलग-अलग नाम हैं, रूप हैं, वे खाड़में कल्पित नाम, रूपके समान हैं।

हम जब गाँवमें थे तो घरके पास पोखरी थी। उसमें-से मिट्टी निकालकर ले आते और उसका हाथी बनाते, घोड़ा बनाते। तब हम समझते थे कि बच्चे माटीका ही खिलौना बनाकर खेलते होंगे। गाँवमें मेलेमें भी जाते तो माटीका बना हुआ खिलौना खरीद कर ले आते। और जब बड़े हुए तो लकड़ीके खिलौने देखने लगे। एक सेठके घरमें हमने देखा कि उनके बच्चे माटीके खिलौनोंसे नहीं खेलते थे। वे या तो रसोइयोंसे गूँधा हुआ आटा ले आते और उसका हाथी, घोड़ा बनाकर खेलते और या फिर मोमके खिलौने बनाकर खेलते। पर, खिलौना अलग-अलग होनेसे तत्त्वमें तो अन्तर नहीं पड़ता न! अब दीवालीके दिन शक्करके खिलौने बनते हैं। तो 'मृत्तिकेत्येव सत्यं'। यह 'मृत्तिका' शब्द देश-विदेशमें घूम-फिरकर 'मैटर' बन गया है। जैसे घड़े, सकोरेके मूलमें मृत्तिका है। मृत्तिकासे जो बना, उसको 'मार्त्तिकम्' बोलेंगे। असलमें तो संस्कृतमें मृत्ति शब्द है। *'मृत्तिरेव मृत्तिका'*। *'मार्त्तृम'*। यह शब्द 'मैटर' के कितने पास है।

ब्रह्मसूत्रमें विचार किया गया *'तदनन्यत्वं आरम्भणा शब्दादिभ्यः'*—यह बाहर भीतर, मैं और यह और अब और तब यह क्या है? यह अब और तब कालमें कल्पित हैं। ये मनसे ही मालूम पड़ते हैं। वस्तुके साथ इसका रत्तीभर भी सम्बन्ध अगर जोड़ दें, तो नहीं बनेगा। कालमें अब और तब नहीं होता। जैसे रस्सीमें साँप और फूलकी माला नहीं होती। उसमें देखनेवाला अपने अन्तःकरणमें ही साँप या माला बनाता है। ऐसे ही काल तो रस्सीकी तरह है, उसमें अब और तबका फर्क केवल कल्पना करनेवाला ही बनाता है। काल तो निरवयव है और इसीलिए अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न कालनामकी कोई वस्तु नहीं है।

अच्छा, देशके टुकड़ेका नाम है, यहाँ और वहाँ। देश माने भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका देश नहीं। वह चीज, जिसमें लम्बाई, चौड़ाईकी कल्पना होती है। अब देखो, वह बिलकुल निरवयव है और उसमें यहाँ और वहाँ, अन्तःकरणवाले

मनुष्यके द्वारा कल्पित है। जैसे रज्जुमें सर्प है या माला है। जैसे ये दोनों रज्जुमें कल्पित हैं, वैसे देशतत्त्वमें यहाँ और वहाँ दोनों कल्पित हैं। इसीलिए, निरवयव देश अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे पृथक् नहीं है।

अब देखो, यह और वह, मैं और तू—सत्तामें यह एक-एक टुकड़ेकी कल्पना की गयी है। असलमें ये अखण्ड सत्तामें नहीं है। वह तो सत्ताके अदृश्य होनेके कारण, निराकार होनेके कारण उसको देखे बिना इस अन्तःकरणने ही मैं और तू, यह और वह कल्पना बनायी है। तो सत्ताका स्वरूप क्या है? अब और तब, यहाँ और वहाँ, मैं और तू, यह और वहकी कल्पना जिस अन्तःकरणमें हो रही है, उस कालका साक्षी, देशका साक्षी, विषयका साक्षी, करण इन्द्रियोंका साक्षी, अन्तःकरणका साक्षी, अन्तःकरणकी शान्तिका साक्षी जो आत्मा है, वह स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक है और यही सर्वाधिष्ठान है, यही ब्रह्म है।

इसीको 'तत्त्व' बोलते हैं। कैसा? आत्मा च स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः। यह बाहर और भीतरकी कल्पना रहित अजन्मा है। बोले कि घड़ेके पहले माटीकी दशा होती है! नहीं, नहीं, इसके पहले कुछ नहीं, यह अपूर्व है। आत्माका कोई कारण नहीं। यदि आत्मा किसीसे पैदा हुआ हो तो उसके कारणको कौन जानेगा? आत्मा ही तो प्रकाशित करेगा। 'अनपरः' इसका कोई कार्य नहीं है। क्योंकि, यह साक्षी होता है। परिणामको प्राप्त नहीं होता। 'अनन्तरो अबाह्यः'—यह देश परिच्छिन्न नहीं होता। इसमें बाहर-भीतरका भेद नहीं होता। 'तदेतद् ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म'—यह ब्रह्म है और यह आत्मा ब्रह्म है। **'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'**। यह सब-का-सब प्रज्ञप्तिघन है।

'प्रज्ञप्तिधन' का क्या अभिप्राय है? आप देखो, यह रुमाल है। तो रुमालका ज्ञान आँखके द्वारा हो रहा है। माने ज्ञेय हुई 'रुमाल', ज्ञानका साधन है 'आँख' और जाननेवाला हुआ 'मैं'। अब ज्ञान क्या है? इसको विषय-विषयी भाव बोलते हैं। यह रुमालका ज्ञान हमको नेत्रके द्वारा हुआ। अब समझो कि रुमाल नहीं है, घड़ी है। तो घड़ीका ज्ञान नेत्रके द्वारा हमको हुआ। रुमाल दूसरी चीज है और घड़ी दूसरी चीज है। परन्तु, नेत्रके द्वारा दोनोंका ज्ञान हमको होता है। अच्छा अब नेत्रको भी छोड़ दो। हमको ज्ञान होता है। अच्छा, ज्ञान होता है नहीं, ज्ञान है और मैं हूँ। अब 'मैं' और 'ज्ञान' में क्या फर्क है? तो जहाँ 'ज्ञान' और 'मैं' में फर्क नहीं रहेगा और रुमाल घड़ी, आँखका भेद नहीं रहेगा, उसको 'प्रज्ञप्ति' बोलते हैं। ज्ञानमात्र। माने ज्ञातृत्वके अभिमानसे रहित और ज्ञेयत्वकी उपस्थितिसे विनिर्मुक्त और

अन्तःकरण और बहिःकरणसे विलक्षण जो स्वयंप्रकाश वस्तु है, उसको 'ज्ञान' कहते हैं। **'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'**। इतना ठोस है वह कि उसमें देशका विस्तार नहीं, कालका प्रवाह नहीं और वस्तुके नाना नाम, रूप नहीं। बस, वही-वही है, दूसरी वस्तु नहीं है। उसके बिना 'सर्व' नहीं है। सूक्ष्म है, अचल है, निर्गुण है, निष्कल है, निष्क्रिय है। ***'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'***। उसका नाम है सत्य, वही है आत्मा और श्वेतकेतो! तुम वही हो!

देखो, श्वेतकेतु उसको कहते हैं, जिस हाथमें सफेद झण्डा हो। लाल झण्डा भी नहीं और तिरंगा भी नहीं है। सत्त्वगुणकी पताका फहरा रही है जिसके अन्तःकरणमें, वह श्वेतकेतु हुआ। शान्तिकी पताका है।

'इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वी भूतः'।

इस तत्त्वके दर्शनका फल क्या होता है कि हम अपनेको ही तत्त्वके रूपमें जान जाते हैं कि हम ही तत्त्व हैं।

तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्।

'तत्त्वीभूतः' माने अपने तत्त्व होनेका ज्ञान हो जाता है। माने अब तक जो हम अपनेको कोई नाम, रूप, गुण, अन्तःकरण, उम्र, वजनवाला समझते थे, वह भ्रम निवृत्त हो गया। वजन तो विषयमें कल्पित है, सौ-पचास वर्ष उम्र कालमें कल्पित है और साढ़े तीन हाथ देशमें कल्पित है और सम्पूर्ण देश काल वस्तु अपने अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मासे भिन्न नहीं है। तो अब तक जो अपनेको अतत्त्व माने आकृति मात्र समझते थे, वह भ्रम निवृत्त हो गया।

एक महात्मा थे। उनसे किसीने पूछा कि तुम कौन हो? वे बोले कि तुमको क्या दिखते हैं? वह बोला कि हमको तो आदमी दीखते हो। महात्मा बोले कि चमार हो। तुमको तो चाम दीखता है। साधु लोग जरा मुँहफट भी होते हैं। बम्बईमें तो बहुत लल्लो-चप्पो करनी पड़ती है कि लोग आना न बन्द कर दें। नहीं तो वह स्पष्टम्-स्पष्टम् बात कही जाय। हड्डी, माँस, विष्ठा, मूत्र, चामकी पुड़ियामें बँध हुआ शरीर और इसको कहते हैं 'मैं'। अरे, 'मैं' यह नहीं है भाई! जो इसको जानता है, सो है। जो इससे जुदा है, सो है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई, उम्र, वजन जिस कल्पनामें है, उसका जो साक्षी है, अधिष्ठान है, वह 'मैं' है। अरे, यह साक्षी और अधिष्ठान भी लोगोंको समझानेके लिए बोलते हैं। यह अनुग्रहपूर्वक महात्माओंने उसमें साक्षित्व, द्रष्टत्व, दृक्त्व, अधिष्ठानित्व, ऋत, सत्य, आत्मा ब्रह्म—इन सब कल्पित रेखाओं द्वारा उसको समझानेका प्रयत्न किया है।

तो 'तत्त्वीभूतः' माने अतत्त्वसे व्यावृत्ति हो गयी।

'**तदारामः**' अपन्ना मज़ा कहाँ है? अपने स्वरूपके बगीचेमें विहार करते हैं। 'आराम' माने आनन्द आरामण। उपनिषदोंमें बहुत वर्णन आता है,

आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

ऐसे वर्णन हैं। क्योंकि, स्त्री-पुरुष दूसरी भाषामें नहीं समझ सकते। 'आत्मरतिः' उसकी प्रीति कहाँ है? बोले कि अपनेमें। स्त्री,पुरुषसे प्रीति करती है और पुरुष, स्त्रीसे प्रीति करता है। क्योंकि, अपने घरमें जो चीज नहीं होती है, वह बहुत प्यारी होती है। अपनी साड़ी कितनी भी बढ़िया हो और दूसरेकी देखें तो मनमें आ जाता है कि यह बढ़िया है। स्त्रीमें जो पुंसत्व नहीं है, इसके लिए वह पुरुषके लिए व्याकुल होती है और पुरुषमें स्त्रीत्व नहीं है, इसलिए वह स्त्रीके लिए व्याकुल होता है। परन्तु यह स्त्रीत्व डौर पुंसत्व दोनोंके भावाभावका जो अधिष्ठान है उसका नाम आत्मा है।

'*आत्मरतिः*' अपने आपमें रमते हैं। खेलते किसमें हैं? '*आत्मक्रीडः*'— अपनेसे खेलते हैं। परस्पर समागम कहाँ होता है? '*आत्ममिथुनः*'—अपने आपमें अपनेका समागम होता है। आनन्द कहाँ आता है? आत्मानन्द हैं। '*एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः*'—इसका नाम ब्रह्मविदोंमें वरिष्ठ है। ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद् वरिष्ठ।

अब इस तत्त्वदर्शीके सम्बन्धमें भगवान् शंकराचार्यने एक बड़ी सुन्दर टिप्पणीकी है,

यथातत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मतत्त्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनु चलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति; समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूतः इति न तथात्मविद् भवेत्।

कोई अतत्त्वदर्शी अपनेको मन मानता है, तो अगर उसका शरीर इधर-से-उधर गया, तो कहता है कि हाय, घर छूट गया और मन इधर-से-उधर गया तो बोले कि हाय, तत्त्वसे चलित हो गये। लेकिन जो अपनेको तत्त्वके रूपमें ही जानता है, वह न शरीरके विचलनको अपना विचलन मानता है और न तो मनके विचलनको अपना विचलन मानता है।

जैसे देखो, किसी-किसीकी धनसे आसक्ति होती है। परन्तु धन बिलकुल दुकानकी चीज है, घरकी चीज नहीं है। जैसे वेश्या घरकी वस्तु नहीं है, आपणकी

वस्तु है वैसे ही यह धन आपणकी वस्तु है। इस दुकानसे उस दुकानमें, इस व्यापारसे उस व्यापारमें। यह तो जैसे *'रमता जोगी. बहता पानी'* की तरह अच्छा है। बहता हुआ धन ही धनको बढ़ाता है। रखा हुआ धन, धनको नहीं बढ़ाता। लेकिन जब धनसे मोह हो जाता है और धन चला जाये तो बोलते हैं कि हमारा सब कुछ चला गया। मैं तो मर गया महाराज! हमारा सार सर्वस्व तो चला गया! धनको सब कुछ माननेवाले धनके जानेपर ऐसा मानते हैं।

अच्छा, पुत्रसे मोह होवे तो? अब धन बेचारा तो धनीसे मोह करता ही नहीं। वह तो एक दिली प्रेम है। लेकिन बेटेसे, पत्नीसे, भाईसे ऐसा ख्याल हो जाता है कि दो दिली है। माने हम उनसे प्रेम करते हैं और वे हमसे करते हैं। लेकिन, जहाँ तक दोनोंके स्वार्थ मिलते हैं, वहाँ तक दिल भी मिलता है और स्वार्थमें अलगाव हुआ तो दिलमें भी अलगाव हो जाता है।

अच्छा, बोले भाई कि शरीरको ही 'मैं' बोल लो। तो यह भी साथ देनेवाला नहीं। हम नहीं चाहते कि बुड्ढा होवे, लेकिन शरीर हो जाता है।

'अरे बुढ़ापा तोरे मारे हम तो अब नकियाई गये।'

कमर झुक गयी, डण्डा लेकर चलते हैं, बाल सफेद हो गये, आँखसे दिखता नहीं। विद्यारण्य स्वामीको अपना बुढ़ापा खलता था **'मया पञ्चाशीते रधिकमपनीते तु वयसि'**—अरे, अब तो पचासी वर्षसे ज्यादा उम्र हो गयी भाई, अब क्या पूछते हो? तो यह 'त्यजन्तः'—यह शरीर हमारा त्याग कर रहा है, बदलता रहा है।

एक महात्माके शिष्योंने घोषणा कर दी कि हमारे महात्मा न कभी बुड्ढे होंगे और न कभी मरेंगे। यह सब ढोलकी पोल चलती है और बंगालमें तो बहुत ज्यादा चलती है। वहाँ कोई अच्छा साधु होवे तो उसके बारेमें यह अफवाह फैल जाती है कि ये न बुड्ढे होंगे न मरेंगे। पर सब मरते हैं। तो हमने यह देखा कि जिस महात्माके बारेमें यह ख्याल था कि ये बुड्ढे नहीं होंगे, उनके लोग रोज सवेरें उठकर पहले उनके बालों कि जाँच करते कि कोई बाल सफेद तो नहीं हुआ है। अगर कोई होता तो उनके अन्तरंग भक्त उसको निकाल देते कि कोई पका हुआ बाल न देख ले।

यह शरीर तो छोड़ रहा है। ये पुरुष रोज अपनी हजामत करते हैं। स्त्रियाँ अपनेको कितना रंगती हैं। बादमें तो बिलकुल बदसूरती आ जाती है। माने यह शरीर तो टिकनेवाला नहीं है। संसरी लोग बैटेको मेरा समझते हैं, धनको मेरा समझते हैं, विषयभोगको मेरा समझते हैं, शरीरको मेरा समझते हैं। इनमें क्या

टिकाऊ है? *'न किंचित् भोग्यं उत्पश्याम:'*— उपनिषद् कहते हैं कि इनमें कोई भोग्यवस्तु नहीं दिखती है।

देखो, भोगमें चार दोष हैं। क्या? विषय परिवर्तनशील है, इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है, रुचि बदलती रहती है और भोक्ता हमेशा अपनेको भोग्यके साथ जोड़ नहीं सकता। तो जो लोग समझते हैं कि अब ये हमारे साथ बँध गये, वे भ्रममें हैं। भोक्ता भोग्यके साथ बँध गये, वे भ्रममें हैं। भोक्ता भोग्यके साथ बँधेगा नहीं, रुचि एक सरीखी रहेगी नहीं, इन्द्रियोंमें शक्ति रहेगी नहीं और विषय बदल जायेगा। तो भोगमें क्या सुख है? यह तो महाराज विषयभोगसे क्षणिक-तृप्ति होती है। जैसे फोड़ेमें खूब दर्द हो और वह फूट जाये तो बड़ी शान्ति मिलती है, ऐसे-ही यह विषयभोगका सुख है। असलमें वर्तमान दर्दसे मनुष्यको दुःख नहीं होता। यह तो जो डॉक्टर लोग कह देते हैं कि इससे यह रोग हो जानेकी सम्भावना है, पीड़ा उसकी होती है।

एक आदमीको जुकाम हुआ। बड़ा घबड़ाया। बोले कि क्या हुआ? उसने बताया कि हम डॉक्टरके पास गये तो उसने कहा कि निमोनिया होनेका डर है। अब मैंने कहा कि तुमको डर काहेका लगता है? जुकाम है, उसकी तकलीफ हो रही है कि जो आगे निमोनिया होनेवाला है, उसकी तकलीफ है? यह देखो, मनकी कमजोरीसे डॉक्टर लोग अपनी फीस और अपनी दवासे जीविका चलाते हैं। तो इसीको 'दर्द' बोलते हैं। *'दरम भयं ददाति'*। इसमें भय हो जाता है, पीड़ा नहीं होती है।

एक बारकी बात है। हमारे गाँवमें गन्ना पेरते हैं रस निकालते हैं गन्नेका रस कड़ाहेमें पक रहा था। जब उबाल आता है तो उसको चलाते हैं कि वह कड़ाहेके बाहर न जाये। मैं नौ वर्षका था। मैं भी झुककर देख रहा था तो गिर पड़ा। गिर पड़ा तो एक हाथ उस रसमें चला गया। हमारे चाचा वहाँ थे। उन्होंने झट निकाल लिया और उसपर नारियलका तेल और आलू पीसकर लेपकर दिये। या मैं रोता था। उन्होंने पूछा कि रोते क्यों हो? तुमको बहुत तकलीफ तो नहीं होती है न? तब रोते क्यों हो? मैंने कहा कि बाबा मारेंगे।

इसीका नाम दुनियामें 'दर्द' है। एक आदमीको एक रात नींद नहीं आयी। तो दूसरे दिन उसको बड़ी तकलीफ हुई। क्या तकलीफ हुई? डॉक्टरने कह दिया कि नींद नहीं आवेगी तो पागल हो जाओगे। तो नींद न आनेकी तकलीफ नहीं हुई। पागल होनेके डरसे तकलीफ हुई। इसीको हमलोग कहते हैं कि आदमी डर मोल लेता है।

एक आदमी है। उसको दोपहरको ठीक भोजन मिला है, और शामको भी मिलेगा। यह पक्का है। पर, वह बहुत दु:खी है। किस बातसे दु:खी है? अगर हमारे बाप मर जायेंगे तो हमको रोटी खानेको कहाँसे मिलेगी? अब लो, इसीको 'दर्द' बोलते हैं।

तो देखो, कई लोग भोगकी कमीसे, कई लोग इन्द्रियोंकी शक्तिकी कमीसे, कई लोग शरीरकी कमीसे और कई लोग मनकी कमीसे दु:खी होते हैं। यह जैसे शरीर कभी पूरा होनेवाला नहीं है, वैसे मन भी कभी पूरा होनेवाला नहीं है। यह जो लोग समझते हैं कि हम दवा-दारू करके अपने शरीरको स्वस्थ कर लेंगे और फिर क्या मजा लूटेंगे! यह बिलकुल कल्पनाका आनन्द है। न तो शरीर कभी पूरा स्वस्थ होगा ओर न तो तुम्हारी कल्पनाका आनन्द तुमको कभी मिलेगा। इसी मृगतृष्णामें बहुतसे लोग हरिणकी तरह भटक रहे हैं। जैसे आयुर्वेदके द्वारा शरीरके स्वस्थ होनेपर सुखी होनेकी आशा व्यर्थ है, इसी प्रकार हमारा मन बिलकुल अचंचल, शान्त हो जायेगा और यहाँसे वहाँ नहीं हटेगा—जब ऐसा होगा, तब हम सुख भोग करेंगे—यह आशा भी बिलकुल वैसी-ही है। जैसे खोमचेवाले कि यह आशा कि हम जब करोड़पति होंगे, तब सुखी होंगे। अरे बाबा, खोमचेमें जो पड़ा है, वह बेचनेसे पहले दो- चार खा लो, उसके बाद बेचो। खुद तो भूखे रहे और बेचने लगे, यह क्या आनन्द है?

तो **'तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्'**—जो अतत्त्वदर्शी पुरुष है, वह मनको ही अपना 'मैं' मान लेता है और जब उसका मन चंचल होता है, तब वह समझता है कि मैं दु:खी हो गया। तो यह दु:खीपनेकी कल्पना जैसे संसारमें और-और जगह होती है, वैसे ही यहाँ भी होती है।

एक बच्चा था। उसके खिलौनेको किसीने शीशेके सामनेकर दिया तो उसको ख्याल हुआ कि हमारा खिलौना शीशेमें घुस गया। अब उसने शीशेपर जाकर हाथ लगाया तो पकड़में नहीं आया। तब वह रोने लगा और शीशेपर जाकर अपना सिर पीटने लगा। खिलौना तो मिला नहीं, सिर फूट गया।

अब देखो, शीशेमें क्या खिलौना घुस गया था? आपको मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मन कहीं आता-जाता नहीं है। मन तो ज्ञान है। जैसे कैमरा, फोटो लेनेके लिए किसी आदमीके पास नहीं जाता है, मकानके पास नहीं जाता। वह तो अपनी जगहपर रहता है, बाहरकी परछाईं उसके भीतर पड़ती है। इसी प्रकार आपके मनमें बाहरकी स्त्री, पुरुष, भोगकी केवल कल्पना आती है, परछाईं आती

है और वह थोड़ी देरके बाद बिलकुल अलग हो जाती है। यदि आप उसकी फोटो न लें, परछाईं पड़नेपर उसको निकल जाने दें, आप अपने मनको ज्यों-का-त्यों रहने दें, तो आपका मन ज्ञान स्वरूप ही है।

देखो, मन चंचल भी नहीं होता है। मनमें सिर्फ कल्पनाएँ होती हैं। जैसे स्वप्नके समय देशान्तर, कालान्तर, वस्त्वन्तरमें मन नहीं जाता है, वैसे जाग्रत्-अवस्थामें भी देशान्तर, कालान्तर, वस्त्वन्तरमें मन नहीं जाता है। यह तो फोटो लेनेका शीशा है और तुम फोटोग्राफर हो। जिसकी चाहो फोटो ले लो, उसके लिए रोओ और चाहे जिसकी फोटो मत खींचो।

जो अज्ञानीपुरुष है, यह मनकी तत्-तत् कल्पनाको, तदाकारताको, तत्-तत् चाञ्चल्यको सच्चा समझता है।

देखो, विषयको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानका नाम मन है। विषयके सम्बन्धसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी संज्ञा ही मन है। ज्ञानस्वरूप आत्मा बिलकुल अचल है और इसमें जो परछाइयाँ आती हैं, वे बिलकुल चंचल होती हैं। परछाइयोंके नाचको अपना नाच समझना ही भ्रम है। ये मनीराम न गोलोकमें जाते हैं, न वैकुण्ठमें जाते हैं, न ये समाधिमें जाते हैं, न हिमालयमें जाते हैं। ये तो बिलकुल असंग हैं। और अब तक न जाने कितने लोगोंकी, वस्तुओंकी प्रतिच्छाया इसमें पड़ी और माना कि यह मेरा, यह मेरा, यह मेरा। फोटो लेते-लेते परेशान हो गये और कोई फोटो भी नहीं टिकी। ऐसा यह मन है।

देखो जी, नवग्रह हमेशा किसीके भी अनुकूल नहीं रहते। तो जब तुम किसी ज्योतिषीसे पूछोगे कि हमारे सब कैसे अनुकूल होंगे? तो वह कुछ-न-कुछ जरूर बता देगा। लेकिन कुछ देर तो लगेगा कि हाँ, सब ठीक है। परन्तु, फिर वही-का-वही। जैसे कोई डॉक्टर कहता है कि तुम्हारे शरीरमें अमुक विटामिनकी कमी हो गयी है। अब सब विटामिन भला शरीरमें कैसे भरपूर होंगे? वैसे ही यह जो तुम्हारा ख्याल है कि हमारा मन चंचल है, इसलिए हम दुःखी हैं— यह बिलकुल वैसे ही जैसे नवग्रहमें से कोई दाएँ-बाएँ रहते-ही हैं; विटामिन कोई कम, ज्यादा रहते ही हैं।

रातको कोई दो बजेके करीब नींद खुली तो रेडियो चला दिया। उस समय समाचार आते हैं। समाचारमें आया कि ट्रेन एक्सीडेण्ट हो गया। अब उसका ख्याल आया कि कैसे हुआ होगा, कितने आदमी मरे होंगे? अब थोड़ी देर तक

तकलीफ हुई। अब यह कहो कि इससे आत्मदेवकी कुछ हानि हो गयी या मुक्तसे बद्ध हो गये या समाधिसे विक्षेप हो गया हो, सो नहीं। आत्मा नित्य समाधिमें स्थित है। यह विक्षेप आभास है, जैसे शीशेमें परछाईं।

तो जो लोग चित्तकी चंचलताको अपनी चंचलता मानते हैं कि हाय-हाय, मैं आत्मतत्त्वसे गिर गया, ईश्वरसे विमुख हो गया। क्यों? हमारा मन तो चंचल हो गया। और, जब कहीं मन एकाग्र होता है। बोले कि आ-हा, हा, मैं अब सम्पन्न हो गया। समाधि लग गयी। अरे, क्या पूछते हो बाबा? यह तो जानेवाला है। सट्टेका पैसा है। यह सब चेला बनानेकी ही पद्धति है कि आओ, हम तुम्हारी समाधि लगवा देते हैं; आओ हम तुम्हारा ध्यान करा देते हैं; आओ हम तुम्हारे मनको हमेशाके लिए एकाग्रकर देते हैं। यह आँख देखनेके लिए बनी है, नाक सूँघनेके लिए बनी है, कान सुननेके लिए बने हैं और मन संसारके नाना विषयोंकी कल्पना-जल्पना करनेके लिए बना हुआ है। जैसे आँख, कान, नाक कभी सो जाते हैं, वैसे मन भी कभी सो जाता है। उसके लिए कोई युक्ति करके भी सो जाते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग इस मनीरामकी चंचलता और अचंचलताको कोई महत्त्व नहीं देते हैं। हाय रे, समाधि नहीं लगी तो मुक्ति गयी और समाधि लग गयी तो मुक्ति आ गयी? नहीं! मुक्ति तो अपना स्वरूप है। क्योंकि, आत्मा एक रूप है। जो बचपनमें था, वही आज है। बीचमें कितने पाप आये और चले गये और कितने पुण्य आये और चले गये और कितने विक्षेप आये और चले गये और कितनी समाधि आयी और चली गयी।

हमने समाधियाँ भी बहुत देखी हैं। दूसरेकी नहीं, अपने मनकी समाधि देखी जाती है और आप अगर देखना चाहो तो हम उसकी विधा बता सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि आप हमारे पास फूल-माला लेकर आना और चन्दन लगाना और प्रणाम करके हमसे पूछना। हम आपको यह बात बताते हैं कि आपका मन स्त्रीमें गया और उसके बाद आपका मन पुत्रमें गया। स्त्रीमें जाने और पुत्रमें जानेके बीचमें कोई जगह बचती है कि नहीं बचती है? आप एक बार 'राम' बोलते हो और फिर 'कृष्ण' बोलते हो। राम और कृष्ण दोनोंके बोलनेके बीचमें मनका कोई काल होता है कि नहीं होता है? होता है और उस कालको 'संधि-काल' बोलते हैं। इसी तरह जब आप घड़ेके बाद कपड़ेको देखते हैं और कपड़ेके बाद आइनाको देखते हैं और आइनाके बाद अपने जूतेकी ओर देखते हैं, तो इनके बीचमें जो मनकी स्थिति होती है, उसका थोड़ा

लम्बाकर देना—इसीका नाम 'समाधि' होता है, 'ध्यान' होता है। अब आप कितना लम्बा ब्रढ़ा सकते हैं—आधा मिनट, एकाध मिनट, पाँच मिनट—यह बात आपके हाथमें है।

तो बाबा, जो जान लेता है कि मैं तो एक हूँ और चाहे समाधि लगे ओर चाहे न लगे। ब्रह्म तो अपना स्वरूप हैं। हम अपने स्वरूपसे प्रच्युत कभी होते ही नहीं। तो बाहर दीखे क्या?

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:।

ब्राह्मण जैसे बाहर आया और गया, कुत्ता बाहर आया और गया, चाण्डाल बाहर आया और बाहर गया वैसे ही भीतर आना-जाना होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता, १३:२७)

बदलती हुई चीजोंमें न बदलता हुआ जो अपना आपा है, उसका नाम परमात्मा है। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। वह नरक-स्वर्गमें नहीं जाता। नरक-स्वर्गकी कल्पना करके उसमें मशगूल हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह स्त्री-पुरुषकी कल्पना करके, उसमें मशगूल हो जाता है। और, वह हमेशाके लिए किसीमें नहीं होता। यह तो सारी कल्पनाएँ आती रहती हैं और जाती रहती हैं। तो **'तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्'**—हम कभी तत्त्वसे च्युत होते हैं, इस कल्पनाको आप स्थान ही मत दो। सोओ चाहे जागो, चाहे सपना देखो, चाहे काम करो, चाहे चुप रहो, चाहे खाओ, चाहे भूखे रहो, चाहे चलो, चाहे बैठे रहो; लेकिन इस कल्पनाको इस भ्रान्तिको कि हम परमार्थ सत्यसे च्युत हो जाते हैं, बिलकुल स्थान मत दो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

पुस्तक नाम	मूल्य
वेदान्त	
मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	80.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	120.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
केनोपनिषद्	50.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	180.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वरोपनिषद् (पेपरबैक)	125.00
श्वेताश्वरोपनिषद् (सजिल्द)	175.00
कैवल्योपनिषद्	10.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1 (अ. भाष्य)	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	55.00
दृग दृश्य विवेक	65.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्र.)	65.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	60.00
वेदान्त बोध	60.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	12.00
आनन्दानुभव	20.00
जीवन्मुक्ति विवेक	120.00
अष्टावक्रगीता	15.00
श्रीमद्भगवद्गीता	
गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	100.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	प्रेस में
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	100.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	80.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्य योग (गीता अ. 9)	35.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	150.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	30.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अध्याय-13)	100.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	25.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	55.00
योग: कर्मसु कौशलम्	6.00
मामेकं शरणं व्रज	20.00
गीता दर्शन भाग 1 से 13 तक	137.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	25.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
श्रीमद्भागवत	
भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	450.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
रास पंचाध्यायी	80.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	40.00
भागवतामृत	60.00
भागवत सर्वस्व	20.00
गोपीगीत	65.00
वेणुगीत	20.00
युगलगीत	40.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	15.00
उद्धवगीत	12.00
कपिलोपदेश	50.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	5.00

पुस्तक नाम	मूल्य
सद्गुरुसे क्या सीखें ?	5.00
उनकी कृपा	15.00
ऊखल बन्धन लीला	40.00
सत्संग महिमा	15.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	140.00
भागवत विमर्श (भाग-1)	20.00
भागवत विमर्श (भाग-2)	25.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
प्रणयगीत	50.00
गर्भ स्तुति	40.00
रामायण	
श्रीरामचरितमानस (तीनों भागोंमें)	600.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	25.00
अध्यात्म रामायण	125.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	50.00
भक्ति एवं साधना	
भक्ति एवं लीला	10.00
नारद भक्ति दर्शन	60.00
भक्ति सर्वस्व	70.00
भक्तिदर्शनामृत	40.00
अवतार रहस्य	15.00
माधुर्य कादम्बिनी	20.00
शिव संकल्प सूक्त	25.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	15.00
दैनिक साधना : मानसी सेवा	10.00
ध्यानके समय	15.00
हनुमत्स्तोत्र	10.00

पुस्तक नाम	मूल्य
श्रीअखण्डानन्द स्तवः	6.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	25.00
ध्यानकी युक्तियाँ	6.00
भगवान्के पाँच अवतार	50.00
अंग्रेजीमें अनुदित साहित्य	
God Realization	10.00
Attainment of Krishna	10.00
विविध	
पावन प्रसंग	80.00
आनन्दवाणी	60.00
आनन्द उल्लास	50.00
आनन्द बिन्दु	50.00
आनन्दवचनामृत	10.00
आनन्द वार्ता	10.00
व्यवहारशुद्धि	40.00
हृदयाकाशके हीरे	15.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	20.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	20.00
जीवन-एक यात्रा	20.00
व्यवहार और परमार्थ	25.00
ईश्वर दर्शन	10.00
भारतीय संस्कृति	10.00
जिज्ञासा और समाधान	25.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद्के आधार पर)	40.00
महाराजश्री : एक परिचय	20.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	10.00
स्पन्द तत्त्व	10.00
आनन्द मंजूषा	60.00
आनन्द निर्झर (13 पुस्तिकायें)	70.00

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

- प्रधान कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग मालाबार हिल, मुम्बई-400006, फोन : (022) 23682055
- शाखा कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** श्री अखण्डानन्द पुस्तकालय आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281124 फोन : (0565) 2540487/2540481

माण्डूक्यकारिका

(वैतथ्य प्रकरण) प्रवचन



माण्डूक्य उपनिषद् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तथा तुरीयके चार भेदोंकी कल्पना करके तत्त्वका प्रतिपादन करती है। आगम-प्रधान प्रथम संस्करण है। उसमें श्रुतिके द्वारा तत्त्वका श्रवण एवं निरूपण होता है। दूसरा प्रकरण मननकी प्रधानतासे स्वप्न और जाग्रत्का सर्वसाम्य-प्रतिपादन करके दृश्य प्रपञ्चको मिथ्या सिद्ध करता है। तीसरा प्रकरण निदिध्यासनकी [illegible]तासे अद्वैत-स्थितिका बोधन करता है। [illegible] प्रकरण द्वैतका सम्पूर्ण निषेध करके आत्माकी अद्वितीय ब्रह्मता [illegible]ता है। इस प्रकार ये चारों प्रकरण श्रवण-मनन-निदिध्यासन [illegible]त्कारकी प्रधानतासे विश्व-तैजस-प्राज्ञ तथा तुरीयका ही [illegible] करते हैं। चतुष्पाद ब्रह्मके प्रतिपादनके लिए ही यह प्रकरण-[illegible] है।

[illegible] हम वैतथ्य-प्रकरणपर विचार करते हैं। वैतथ्य-प्रकरण स्वप्न-स्थान-चैतन्यका निरूपण करता है। उसके दो भेद हैं, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य तथा उन्नीस मुख हैं। इसलिए भोक्ता-भोग्यके भेदसे इस प्रकरणमें अड़तीस श्लोक हैं।

यह वैतथ्य-प्रकरण मनन प्रधान है और युक्तियोंके द्वारा आगम प्रकरणोक्त अर्थको ही सिद्ध करता है लक्ष्यहीन मनन, कान्दिशीक होकर भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए मननका भी एक उद्देश्य होना चाहिए। वैतथ्य-प्रकरणका मनन 'अयमात्मा ब्रह्म'की सिद्धिके लिए है। इस बोधसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। प्रपञ्च बाधित होता है और बोधवान् पुरुष यावज्जीवन जीवन्मुक्त रहता है। वस्तुतः वह बोधवान् नहीं, ब्रह्म ही है।

मैं स्वाध्याय-प्रेमी अधिकारियोंसे इस वैतथ्य-प्रकरणके द्वारा मननके लिए सम्पुष्टि-ग्रहण करनेकी आशा रखता हूँ।

अखण्डानन्द सरस्वती



आनन्दकानन प्रेस

टेढ़ीनीम, वाराणसी ● फोन : 2392337

